

શ્રીવલ્લભાચાર્ય ટ્રસ્ટ, માંડવી-કચ્છ

સેમિનાર

આદ્યોજિત

- ૧ શબ્દચણ્ડીયા વિદ્વત્પરિચર્ચા, ગાંધીનગર-ગુજરાત
- ૨ અન્યરચ્યાતિવાદીયા વિદ્વત્સન્નોષ્ઠી, પુણે
- ૩ વાર્તાપરિચર્ચા, હાલોલ-ગુજરાત
- ૪ પુષ્ટિભક્તિમાર્ગીય સાધનાપ્રણાલી, મુમ્બઈ
- ૫ અન્ધકાવાદ વિદ્વત્પરિચર્ચા, પુણે
- ૬ સેવા-સમર્પણ, મુમ્બઈ
- ૭ કાર્યકારણભાવવિચાર, વડોદરા-ગુજરાત
- ૮ પ્રત્યક્ષપ્રમાણ સન્નોષ્ઠી, પુણે
- ૯ અધિકારપરિચર્ચા, હાલોલ-ગુજરાત
- ૧૦ કથાયા વા/ગુણપાન સાધના, મુમ્બઈ
- ૧૧ શરણાગતિ, મુમ્બઈ
- ૧૨ પુષ્ટિભક્તિસાધનામે પ્રતિબન્ધ
- ૧૩ World Philosophy Conference, Delhi (Cosponsored with Indian Philosophical Congress)
- ૧૪ International Conference on World Peace, Ahmedabad (Cosponsored with Uni of Gujarat)

આચાર્યવશજોકેલિયે અધ્યયનસત્ર:

- ૧ તર્કામૃતમ્ - ન્યાયસિદ્ધાન્તમુક્તાવલી
- ૨ વેદાન્તસાર

ગ્રન્થપ્રકાશન :

- | | | | |
|--|----------|---------------------------------------|----------|
| ૧ પ્રવેશિકા (ગુજ) | ૧૦ | ૨ પ્રવેશિકા (અગ્રેજી) | નિ શુલ્ક |
| ૩ પ્રમેયરત્નસગ્રહ (ગુજ) | | ૪ વાર્તાપરિચર્ચા | ૧૫ |
| ૫ પુષ્ટિવિધાનમ્(પાઠાવલી-વ્રજભાષા) | અપ્રાપ્ય | ૬ પુષ્ટિવિધાનમ્-૧ (પાઠાવલી, ગુજ) | ૨૫ |
| ૭ પુષ્ટિવિધાનમ્-૨ (વ્યાકરણમ્) | ૧૦૦ | ૮ પુષ્ટિવિધાનમ્-૩ (વ્રજભાષાવિયુતિ) | ૫૦ |
| ૯ અધિકારપરિચર્ચા(ગુજ -હિન્દી-વ્રજ) | ૧૦૦ | ૧૦ શ્રીભાગવતમહાપુરાણ(ગુર્જરભાષાનુવાદ) | ૩૦૦ |
| ૧૧ વિવેકપ્રયમ્ (સંસ્કૃત) | ૧૦ | ૧૨ સેવા ઝીર વ્રજલીલા (વ્રજભાષા) | અપ્રાપ્ય |
| ૧૩ શ્રીગોપીનાથપ્રભુચરણ(ગુજ -હિન્દી) | ૨૫ | ૧૪ સેવા અને વ્રજલીલા (ગુજરાતી) | નિ શુલ્ક |
| ૧૫ પુષ્ટિપ્રયેસ-૧(ગુજરાતી) | ૧૦ | ૧૬ સાધનાપ્રણાલી(ગુજ -હિન્દી-અગ્રેજી) | ૫૦ |
| ૧૭ પુષ્ટિપ્રવાહમયોદાભેદ(ગુજ -હિન્દી) નિ શુલ્ક | | ૧૮ રસદૃષ્ટિ તરફેણમા (ગુજરાતી) | નિ શુલ્ક |
| ૧૯ પુષ્ટિપાઠાવલી (હિન્દી) | ૧૦ | ૨૦ પુષ્ટિપાઠાવલી (ગુજરાતી) | ૧૦ |
| ૨૧ ચાલતભવેદાન્તનિવન્ધસગ્રહ(હિન્દી) નિ શુલ્ક | | ૨૨ પ્રત્યક્ષપ્રમાણ, વિદ્વત્સન્નોષ્ઠી | ૧૫૦ |
| ૨૩ ભાગવતાર્થપ્રકરણમ્, ગુજરાતી અનુવાદ, ગો વા શ્રીનાનુલાલ ગાધી | ૧૦૦ | | |
| ૨૪ શબ્દચણ્ડીયા વિદ્વત્પરિચર્ચા (સંસ્કૃત-હિન્દી-અગ્રેજી) | | | ૨૦૦ |
| ૨૫ અન્યરચ્યાતિવાદીયા વિદ્વત્સન્નોષ્ઠી (સંસ્કૃત-હિન્દી-અગ્રેજી) | | | ૧૫૦ |
| ૨૬ તત્વાર્થદીપનિવન્ધાન્તર્ગત શાસ્ત્રાર્થપ્રકરણમ્ | | | |
| (વ્રજભાષાદીકા) સાધારણસંસ્કરણ/રાજસંસ્કરણ | | | ૫૦/૭૦ |
| ૨૭ તત્વાર્થદીપનિવન્ધાન્તર્ગત સર્વનિર્ણયપ્રકરણમ્ | | | |
| (વ્રજભાષાદીકા) સાધારણસંસ્કરણ/રાજસંસ્કરણ | | | ૮૦/૧૦૦ |
| ૨૮ કાર્યકારણભાવમીમાસા વિદ્વત્સન્નોષ્ઠી(સંસ્કૃત-હિન્દી-અગ્રેજી) | | | ૨૦૦ |
| ૨૯ પુષ્ટિવિધાનમ્ પાઠાનુક્રમણિકા | | | ૧૦ |

३० शरणागति विचारगाथी एक पूरक प्रज्ञोत्तरी	नि शुल्क
३१ पुष्टिभविष्ये तथासाधना सरोष्टी	५०
३२ पुन्योत्तममहत्तम-त्रिभिधलीलानामायली(गुर्जरानुवाद)	२०
३३ वाल्लभप्रदान निप्रधसप्रत (हिन्दी)	नि शुल्क
३४ सिद्धान्तु आचमन (गुजराती)	नि शुल्क
३५ श्रीकृष्णचरित्र, गो वा श्रीनानुलाल गाधी (गुजराती)	८०
३६ Computer CD, www.pushtirarg.net	अप्राप्य
३७ Summary of Shuddhadvaita Vangmaya	15
३८ Manual of the Devotional Path of Pushti	65

सहयोग प्रकाशनः

श्रीभागवतसुनोधिनी गुर्जरभाषानुवाद

अनुवादक गो वा श्रीनानुलाल गाधी(य पुस्तक सद्मेही दी जावैगी)

१ दशमस्कन्ध जन्म प्रकरण	२ दशमस्कन्ध तामस प्रमाण प्रकरण
३ दशमस्कन्ध तामस प्रमय प्रकरण	४ दशमस्कन्ध तामस साधन प्रकरण
५ दशमस्कन्ध तामस फल प्रकरण	६ दशमस्कन्ध राजस प्रमाण प्रकरण
७ दशमस्कन्ध राजस प्रमय प्रकरण	८ दशमस्कन्ध राजस साधन प्रकरण
९ दशमस्कन्ध राजस फल प्रकरण	१० दशमस्कन्ध सात्त्विक प्रमेय-साधन-फल प्रकरण
११ दशमस्कन्ध गुण प्रकरण	१२ एकादशस्कन्ध अप्राप्य
१३ तृतीयस्कन्ध अ १ = अप्राप्य	१४ तृतीयस्कन्ध अ ६-१६ अप्राप्य
१५ तृतीयस्कन्ध अ २०-समाप्तिपर्यन्त अप्राप्य	१६ द्वितीयस्कन्ध अप्राप्य
१७ श्रीगुसाईजी विरचित दशमस्कन्ध टिप्पणी	
१८ Srimad Vallabhacharya His Philosophy and Life Prof J G Shah	100
१९ Srimad Vallabhacharya His Philosophy and Religion Prof J G Shah	300
२० Sri Vallabhacharya and His Teachings Dr Chimanlal Vaidya	100
२१ Doctrines of Vallabhacharya Ishverbhai S Amin	100

► गोशाला

► सस्कृत माध्यमसे अध्ययन करते विद्यार्थीओंकेलिये छात्रालय

सचालन श्रीवल्लभाचार्य ब्रजसस्कृति विकास ट्रस्ट समिति, गोकुल

► हस्तप्रतसंग्रह संरक्षण, पुस्तकालय

► यावत्प्राप्य साम्प्रदायिक श्लोकोकी पादानुक्रमणिका

► Digitalization of the manuscripts

► Catalogus Catalogorum of the manuscripts of Shuddhadvaita Pustibhakti Sampradaya

► Encyclopedic CD ROM comprising of entire original Sanskrit writings of Acharyas along with Vraj Hindi Gujarati & English literature written on the base of such writings

गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजीद्वारा सम्पादित-पुनर्मुद्रित
शुद्धाद्वैत पुष्टिभक्ति सम्प्रदायके
मूल संस्कृत ग्रन्थ

१ सव्याख्यपोडशग्रन्थ समुत्पत्तिकाव्यम् इत्यम्

खड १ श्रीयमुनाष्टकम् से सिद्धान्तरहस्यम्

खड २ नवरत्नम् से भक्तिवर्धिनी

खड ३ जलभेद से सेवाफलम्

२ सव्याख्यपङ्क्तिग्रन्था समुत्पत्तिकाव्यम् इत्यम्

३ तत्त्वार्थदीपनिबन्ध

खड १ शास्त्रार्थ-सर्जनिर्णयप्रकरण

खड २ भागवतार्थप्रकरण स्कन्ध १-५

खड ३ भागवतार्थप्रकरण स्कन्ध ६-१२

४ प्रकाश रश्मि व्याख्या सहित ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम्

खड १ प्रथमाध्याय नाथद्वारा टीकाकाराई भक्तिपुनर्भव

खड २ प्रथमाध्याय नाथद्वारा टीकाकाराई भक्तिपुनर्भव

खड ३ द्वितीयाध्याय

खड ४ तृतीयाध्याय

खड ५ चतुर्थाध्याय

५ श्रीमद्भागवतसुबोधिनी

खड १ प्रथम-द्वितीयस्कन्ध

खड ४ जन्मप्रकरण

खड ५ तामसप्रमाणप्रकरण

खड ६ तामसप्रमेय-साधनप्रकरण

खड ७ तामसफलप्रकरण

खड ८ राजसप्रमाण-प्रमेयप्रकरण

६ वेदान्ताधिकरणमाला-भावप्रकाशिका

७ विविधविवरणोपेत पत्रावतान्वनम्

८ प्रस्थानरत्नाकर

९ विद्वन्मण्डनम्

१० श्रीबालकृष्णग्रन्थावली

११ अवतारवादावली

खड १ भेदाभेदवाद, सृष्टिभेदवाद, आनिर्भावतिरोभाववाद, छायाविवाद,
प्रतिबिम्बवाद, अन्धकारवाद

खड ३ ब्राह्मणत्वादिदेवतावाद, जीवव्यापकत्वखण्डनवाद, जीवप्रतिबिम्बत्व-

खण्डनवाद , भागवतस्वरूपविषयकशङ्कानिरासवाद , उपदेशादित्रिषयकशङ्कानिरासवाद , भगवत्प्रतिमृतिपूजनवाद , ऊर्ध्वपुण्ड्रधारणवाद , तुलसीमाता-धारणवाद , शङ्खचक्रधारणवाद , भक्तिरसत्ववाद , भक्त्युत्कर्षवाद , नामफलादि-प्रकारवाद , जयश्रीकृष्णोच्चारणवाद , स्ववृत्तिवाद , चरादिसेवावाद , मूर्तिपूजनवाद , भागवतपाठादे शङ्कानिरासवाद

१२ पुष्टिविधानम् द्वितीयः खण्डः साधनः साधनः

१३ सव्याख्यश्रीमवोत्तमस्तोत्रम्

१४ श्रीपुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकार

क्र १, २ तथा ४/१, ४/२ को छोड़ कर सभी ग्रन्थ श्रीवल्लविद्यापीठ श्रीविठ्ठलेश्वर-प्रभुचरण आ हो ट्रस्ट (कलहापुर) द्वारा प्रकाशित

प्रकाश्यः

श्रीमद्भागवतसुबोधिनी तृतीयस्कन्ध, राजस साधन-फल प्रकरण, सात्त्विक प्रमेय-साधन-फल प्रकरण, गुण प्रकरण, एकादशस्कन्ध
श्रीपुरुषोत्तमचरण विरचित वादावली खंड १, गीता टीका, उपनिषद् टीका
उत्तावप्रतान-अपराधनिरूपणम् आदि

गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजीकी हिन्दी-गुजराती पुस्तकें

- | | |
|--|---------------------------------------|
| -वाल्लभवेदान्त निबन्धसंग्रह | -रसदृष्टिनी सरफेणमा (हिन्दी-गुजराती) |
| -विवेक | -विशोधनिका (तीन खंड) |
| -पुरुषोत्तमयोग (गुजराती-हिन्दी) | -गृहसेवा और ब्रजलीला (गुजराती-हिन्दी) |
| -नवरात्मम् (गुजराती-हिन्दी) | +श्रीयमुनाष्टकम् |
| -सिद्धान्तनु आचमन | -सिद्धान्तसूक्ति |
| -पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद | |
| -नवरात्मोपदेशका मानसविश्लेषण(गुजराती-हिन्दी) | |
| -श्रीवल्लभाचार्यके दर्शनका यथार्थ स्वरूप | |
| -शशांगगतिविचारगोष्ठी एक पूरक प्रश्नोत्तरी (गुजराती) | |
| -धर्म-अर्थ-काम-मोक्षकी पुष्टिमागीय विवेचना(हिन्दी-गुजराती) | |
| -भगवत्सेवानो सिद्धान्तशुद्ध प्रकार एक प्रश्नोत्तरी | |

सम्पर्क :

गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी,
ब्रजकमल, ६३ स्वस्तिक सोसायटी,
४ था रास्ता, जुहु स्कीम, बिलेपार्ले (पश्चिम), मुम्बई
फोन (०२२) २६१४४३२६

प्रकाशकीय

श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट(माडची-कच्छ) द्वारा सन २००३ में पूणे विश्वविद्यालयमें प्रत्यक्ष प्रमा विषयपर समायोजित विद्वत्सङ्गोष्ठीमें प्रस्तुत हुवे आलेखपत्रो एव उनपर हुई चर्चा को सङ्गोष्ठीतरलेख सहित ग्रन्थाकारमे प्रकाशित करते हुवे हार्दिक प्रसन्नता हो रही है

पूर्व समायोजित सङ्गोष्ठीओकी ही तरह इस सङ्गोष्ठीका भी आद्योपान्त ध्वनिमुद्रण किया गया था ध्वनिमुद्रित केसेट्स्की सहायतासे चर्चाको लिपिबद्ध करके उसे सशोधनार्थ चर्चाकारोको अवलोकनकेलिये भेजा गया प्रस्तुत ग्रन्थमें आलेख प्रस्तुतिकारद्वारा सशोधित-परिवर्धित चर्चाका प्रकाशन किया गया है

सङ्गोष्ठीमे समागत जो विद्वज्जन सशोधनार्थ प्रेशित उनके वक्तव्य / चर्चा को सशोधित नहीं कर पाये है उनको अनन्यगतिकतया यथावत् प्रकाशित कर दिया गया है

केसेट् बदलने, विजलीके न रहने, एक साथ बोलने जैसी परिस्थितिमे जिन सवाद / वक्तव्य का ध्वनिमुद्रण नहीं हो पाया था उन अशोको तत्तत्स्थानोमे ' ' तीन विरामचिह्नोद्वारा दिखलाया गया है

सङ्गोष्ठीमे आलेखोंकी प्रस्तुति जिस क्रमसे हुई थी उस क्रमको अध्येताओके सौकर्यार्थ बदलकर उनको नूतन क्रममे योजित किया गया है यह ध्यातव्य है

विशेषमे, गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी लिखित “चक्षुका चाक्षुषविषयदेशमें प्राप्यप्रकाशकारित्व, एक वाल्लभ दृष्टिकोण” आलेखको प्रत्यक्षप्रमाण विषयक अध्ययनमे उपकारक समझकर यहा प्रकाशित किया जा रहा है

अन्तर्में, इस सङ्गोष्ठीमें सहृदयभावसे सम्मिलित होकर प्रस्तावित विषयपर वैदुष्यपूर्ण आलेखकी प्रस्तुति करने एवं चर्चामें भाग लेने केलिये हम सभी विद्वज्जनोंके प्रति हृदयसे आभारी हैं.

श्रीवामनजयन्ती-

श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रादुर्भावोत्सव

वल्लभाब्द ५३०, वि.सं. २०६४

श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट द्वारा

शरद् गोस्वामी

www.pustimarg.net

अनुक्रमणिका

गोस्वामी श्रीश्याम मनोहर	भूमिका	१
गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरण	प्रत्यक्षप्रमाणकरणिरूपक तृतीया तरङ्ग	१७
डॉ. सुनन्दा शास्त्री	Prasthānaratākara Prastāvanā by Goswami Sri Shyammanoharji English Translation	५०
गोस्वामी श्रीश्याम मनोहर	प्रत्यक्षप्रमाणके बारेमे कुछ पुर स्फूर्तिक विचार, वाल्लभ दृष्टिकोण	६२
	चर्चा	८६
प्रो. सिद्धेश्वर भट्ट	Towards understanding perception	१०१
	चर्चा	१०७
डॉ. अच्युतानन्द दाश	Infrequently asked questions on perception and the outlook of Vallabha school of philosophy	११२
	चर्चा	१४३
डॉ. के. ई. देवनाथन्	प्रत्यक्षप्रमाणविषये विशिष्टद्वैतसिद्धान्त प्रस्थानात्माकरसरणि च	१७३
	चर्चा	१७८
प्रो. डी प्रह्लादाचार	द्वैतदर्शने प्रत्यक्षस्वरूपम्	१९३
	चर्चा	२०५
डॉ. सुनन्दा शास्त्री	Perception Sāṅkhya and Śuddhādvaitic views	२११
	चर्चा	२२८
ज्योर्ज करुविलेल	Thomistic philosophy of perception Some reflections	२३२
	चर्चा	२४६

डॉ एम् वी बोकिल्	Perception A Philosophical impasse	२६२
डॉ श्रीकृष्णमूर्ति शास्त्री	भाट्टमतरीत्या प्रत्यक्षविवरणम् चर्चा	२८० २६४
प्रो पी क मुखोपाध्याय	प्रासन्निक वक्तव्य चर्चा	३१७ ३२४
डॉ बलिराम शुक्ल	प्रत्यक्षप्रमाणम् न्याय-शुद्धाद्वैतवेदान्त- मतयो तौलनिक विवेचनम् चर्चा	३४५ ३५१
डॉ बी के दत्ताई	Jain theory of perception चर्चा	३६८ ३६७
डॉ विन्ध्येश्वरीप्रसाद मिश्र	श्रीमद्भागवतप्रस्थाने प्रस्थानरत्नाकरे च प्रत्यक्षप्रमाणविमर्श	४०७
प्रो यज्ञेश्वर शास्त्री	Advaitic theory of perception in comparision with Śuddhadvaita view चर्चा	४५० ४६६
डॉ अम्बिकादत्त शर्मा	वैभाषिक दर्शनमे प्रत्यक्षकी अवधारणा, तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य वल्लभ वेदान्त चर्चा	४८१ ५०२
प्रा पारसनाथ द्विवेदी	प्रत्यक्षे वाल्लभसौत्रान्तिकमतयो विमर्श	५१६
डॉ मंगला चिचोरे	Dharmakīrti and Vallabh on Pratyakṣa Juxtaposition	५४५
प्रो वशिष्ठनारायण झा	अध्यक्षस्थानीय समापन वक्तव्य	५६४

परिशिष्ट :

गोस्वामी श्याम मनोहर	चक्षुका चाक्षुषविषयदेशमे प्राप्यप्रकाशकारित्व, एक वल्लभ दृष्टिकोण	६०१
----------------------	--	-----

भूमिका

एक सुप्रसिद्ध वेदिक सूक्ति है कि “एक सद् विप्राः बहुधा वदन्ति तस्य धीराः परिजानन्ति योनिम्” इस वचनमे सावधानीसे ‘विप्रा’, शब्द वेदोंके अभ्यास करनेवालोंके अर्थमे प्रयुक्त हुवा है “वेदाभ्यासाद् भवेद् विप्र” फिरभी आधुनिक युगमे इस श्रुतिका प्राग “एक सद् अज्ञा/मूर्खा बहुधा वदन्ति” अर्थ किया जाता है पर क्या सभी विप्र मूर्ख ही होते हैं? यद्यपि बौद्धोंने “वेदाधीतिजडा विप्राः न परीक्षाक्षमाइति विप्रेभ्यएव वेदादे कृतं तै उपदेशनम्” कहा तो है और वैसे तो भगवान् बुद्धने भी विप्रोंको अवश्य मूर्ख ही माना होगा मगर मुझे लगता है कि भगवान् बुद्धको भी पढ़ानेवाले तो सब विप्र ही होंगे इस श्रुतिके निदर्शनतया अक्सर ‘अन्धहस्ति’न्यायका उदाहरण भी दिया जाता है उदाहरणके तोरपे डॉ सर्वपल्लि राधाकृष्णन् और दूसरे भी विद्वान् ‘अन्धहस्ति’न्यायके आधारपर ही इस श्रुतिका अभिप्राय समझाते हैं

अन्धता दो तरहकी हो सकती है एक चाक्षुष जन्मान्धता ऐसी कि जिसके कारण हम वस्तुका दर्शन ही कर नहीं पाये हो और दूसरी बौद्धिक हठाग्रहकी अन्धता कि स्वयं हमे किसी वस्तुके जो विकल्प अवगत हुवे हों उनके हठाग्रहके वश उस वस्तुके अन्यान्य विकल्पोंको देख न पानेकी बौद्धिक हठवादिता एक अन्धा पुरुष देख नहीं पाता तावता वह हाथीका स्पर्श भी न कर पाता हो ऐसा तो नहीं है ऐसी स्थितिमे हस्तिको स्पर्श करके वह जान न पाता हो ऐसा भी शक्य नहीं नेत्रहीन पुरुषोंकी अन्धतामें भी स्पर्शानुभव तो उतना ही सोलिड होता है जितना किसी नेत्रवान् पुरुषका चाक्षुष प्रत्यक्ष सोलिड होता है ऐसे स्पर्शिक आधारपर अन्ध पुरुषोंको जो गृहीत होता है ओर वे अपनी अनुभूतिओको ‘स्तम्भसदृशोऽयम्’ शब्दोंमे

अभिव्यक्त करते हैं तो सहृदय नेत्रवान्को वह सादृश्यानुभूति हास्यास्पद लगनेके बजाय पार्श्विलि दृ एक्स्पीरियम् लगनी चाहिये. चाहे टोटली दृ न भी लगती हो. किसी भी मूलतः वह टोटली अन्तु नहीं लगेगी. यों तो अन्धपुरुषको गृहीत होती हाथीकी स्तम्भाकारता या अन्य कुछ समग्राकारदर्शी नेत्रवानोंको भी सहसा बुद्धचारुढ़ कहां हो पाती है? नेत्रवान् भी तो केवल नेत्रगृहीत रूपकी ही आंशिक अनुभूति कर पाते हैं, स्पर्शगृहीत स्वरूपकी कहां! So there are all sorts of contradictions and debates are generated among us

हम वाल्लभ तो यह हृदयसे मानते हैं कि सत् विरुद्धमाश्रय है. कमसे कम ओर किसी कारणसे नहीं तो, इसी कारणसे कि ब्रह्मबोधक श्रुति स्वयं ब्रह्मके बारेमें “एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति” विधान करती है यह ‘बहुधा’ भी पुनः उस सीमा तक कि परस्पर एक-दूसरेके अनुभव और प्रतिपादन को हम स्वीकार न कर पायें! “सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेति का प्रमा? तो उभो यदि सर्वज्ञो विसंवादः कथं तयोः?” अब दोनों सर्वज्ञताका दावा करते हैं तो असर्वज्ञ बेचारे कहां जाये? यद्यपि धर्मकीर्तिने एक बात बड़ी अच्छी कही है कि “दूरं पश्यतु वा मा वा तत्त्वम् इष्टन्तु पश्यतु, प्रमाणं दूरदर्शी चेद् एतान् ग्रन्थान् उपास्महे”. पर भाई! ग्रन्थ भी कुछ देखता तो है ही. ओर यदि आप साईंस्के ऑब्जर्वेशन गीधके वीज्युअल् पर्सेप्शनके बारेमें पढ़ेंगे तो उसकी दृष्टिसामर्थ्यको मनुष्यकी सामर्थ्यसे कुछ अधिक ही विज्ञान स्वीकारता है. तो “एते ग्रन्था अपि उपासनीया भवन्त्येव अधिकारिभेदेन”. तो इसी तरह विप्रभेदेन ब्रह्मके निरूपणको स्वीकारने भी हमें उद्यत रहना ही पड़ेगा. और वैशेषिकोंके तो मतको ही ‘औलूक्य-मत’ कहा जाता था. भगवद्गीताके “वा निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी यस्यां जागर्ति भूतानि सा निशा पश्यतो मुने.” वचनके प्रकाशमें इसकी एक उपहासपूर्ण उपपत्ति भी अवश्य समझमें आती है : हम मनुष्य प्राणिओंको अधेरेमें दिखलाई नहीं देता, अपनी

इस असामर्थ्यको स्वीकारे बिना, उल्लुको तो उजालेमे भी ढिखलायी नहीं देता होनेसे, हमने उल्लुको मूर्ख पक्षी मान लिया। यूनानमे, परन्तु, उल्लु मूर्ख नहीं दर्शनशास्त्रीय बुद्धिप्रकर्षका पक्षी माना जाता था अतः यह भी सम्भव है कि कदाचित् उल्लु हम मनुष्य प्राणिओको ही मूर्ख मानता होगा कि मनुष्य कितना मूर्ख है कि अन्धेरेमे उसे दिखलाई नहीं देता

आदरणीय श्रीबलिराम शुक्लजीके साथ कल आपसी वार्तालापमें मेने कहा कि कोई भी बात जब स्पष्ट कहनी हो तब वह सरल नहीं रह जाती है और कोई भी बात सरल करके कहनी हो तो वह स्पष्ट नहीं रह जाती है

इसी तरहका कुछ चक्कर है न्याय और इतर दर्शनो के बीच भी है न्याय अपनी हर बातको स्पष्ट करना चाहता है, यह एक औलूक्यदृष्टि है और एक हमारी भी दृष्टि है कि हर बातको सरलतया कह देना चाहते हैं शायद हमारे अंदर अन्धकारमे देखनेकी शक्ति नहीं है, यह हम भी कबूल करते हैं मूल कारण उसमे यही है कि न्याय-वैशेषिक जब भी देखते हैं तब लक्षणप्रधान और आनुमानिक दृष्टिसे देखते हैं और जब लक्षणप्रधान दृष्टिसे न्यायको कुछ दिखलाई नहीं देता है तब न्याय समझता है कि अन्धकार हो गया और हम वेदान्ती जब देखते हैं तब हमारी दृष्टिमे लक्षणके बजाय प्रमाण या अनुभव प्रधान बन जाते हैं शाकर और वाल्लभ दोनों ही वेदान्तोंमे ब्रह्म तो स्वरूपतः अवाच्य माना गया है और माया तो शाकर वेदान्तमे सद्-असद्-सदसत्त्वेन भी अनिर्वचनीय मानी गयी है अतः श्रौत प्रमेयके प्रसंगमे लक्षणोंके निर्धारणमे अधिक न उलझना तो हमारे प्रमेयके विशिष्ट स्वरूपके अनुबोधबश हमें स्वाभाविक ही लगता है लक्षण और प्रमाण में कुछ वैसा ही विभाजन है जैसा दिवा और रात्रि में अथवा सरलतामे और स्पष्टतामे है लक्षण या

परिभाषा यथावगम होती है, अर्थात् वस्तुका बोध हमें कैसे हो रहा है उसके बारेमें होती है प्रमाण तो, जबकि, यथार्थ होता है अर्थात् वस्तु जैसी हो वैसी अनुभूति होनेपर वह प्रमाण मानी जाती है

कुछ विद्वानोंका सोच है कि वेदान्ती देख ही नहीं पाते हैं, केवल श्रुतिओंमें क्या कहा गया ही सुनते रहते हैं जबकि नैयायिक तो उनके प्रमेयोंको देखते भी हैं और सुनते भी हैं वे परन्तु कहना चाहेंगे कि हम 'श्रुतिदृष्ट्य' हैं और हैं ही इसीलिये भगवत्पाद शंकराचार्यने एक बड़ी मजेदार बात कही है "तार्किकस्तु परित्यक्तागमबलै अस्तिनास्ति-कर्ताकर्ता इत्यादिविरुद्ध बहु तर्कयद्भि आकुलीकृत शास्त्रार्थं येतु शान्तदर्पां तेषां करतलामलकइव निश्चित शास्त्रार्थं तस्मात् तार्किकताचाटभट्टराजाप्रदेश्यम् अभयं दुर्गम् इदम् अल्पबुद्ध्यगम्य शास्त्रगुरुप्रसादरहितै च 'तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके' इत्यादिविरुद्धधर्म-समवायित्वप्रकाशकमन्त्रवर्णोभ्य च" तो यह हुयी न प्रमाणदृष्टि

यह लक्षणदृष्टि नहीं है इसमें लक्षणौपयिकी स्पष्टता सम्भव नहीं न हो तो न हो पर जब प्रमाणसे सिद्ध होता है तो क्या किया जा सकता है? धर्मकीर्ति भी तो कहता था कि "यदि इदं स्वयम् अर्थानां रोचते तत्र के वयम्?" प्रमाणसे हमको कुछ समझमें आ रहा है लक्षणदृष्टि ही एकमात्र दृष्टि नहीं है प्रमाणदृष्टि भी एक दृष्टि है दिवा-रात्रिमें दर्शनके सामर्थ्यकी तरह होंगे इन दोनों दृष्टियोंका प्रभेद स्वीकार कर दोनोंका समादर करना चाहिये

जब प्रमाण किन्हीं विरुद्धधर्मोंका या क्रियाकलापोंका, जैसे भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यदाहृत "तद् एजति—तद् न एजति" कहता हो तो उसका लक्षण कैसे घडा जा सकेगा। विरुद्धधर्माश्रय तत्त्वकी परिभाषा हो पानी कठिन है कल श्रीबलिराम शुक्लजी कह रहे थे कि वे जब उपनिषदोंको पढ़ते हैं तब उन्हें कुछ असम्बद्ध प्रतिपादन होता सा

लगता है. असम्बद्ध हे ही, पर करें क्या? हर तथ्यको सम्बद्ध करना हमारी लक्षणबुद्धिका कार्य है. वस्तु, परन्तु, हमारी लक्षणबुद्धिके आधीन होती तो भूकम्प जलप्लावन युद्ध या वृश्चिक-व्याघ्र जैसी क्रूरता जगत्में होती ही नहीं. हम जगत्की ऐसी परिभाषा घड लेते कि ये सब भयंकर बाते तिरोहित हो जाती. पर ऐसी क्रूर भयंकर बाते भी जगत्की एक वास्तविकता है. इनपर हमारे सोची हुयी परिभाषाओंका कुछ भी प्रभाव पडता नहीं है पशुकी परिभाषा भूमिपर विचरनेवाले स्तनपायी प्राणीके रूपमें कर भी ले परन्तु व्हेल (तिमि) यदि भूमिका परित्याग कर सागरमें प्रविष्ट हो जाये तो क्या करना? हम पशुकी परिभाषा समुचित घड ले पर चमगादड भूमिके बजाय भकानकी छतपर ही विहार करने लग जाये तो क्या करना? तो इस तरहकी कुछ सीमाये लक्षणाधीन बुद्धिकी तरह प्रमाणाधीन बुद्धिकी भी हो सकती है. यह लक्षणदृष्टिकी और प्रमाणदृष्टिकी सीमाये है. इन सीमाओंके तहत वाल्लभदृष्टि एक बात कहना चाहती है पर दूसरी बात भी उतनी ही बुद्धिसंगत हो सकती है, ब्रह्म ओर ब्राह्मिकी सृष्टि मे प्रकट होती विरुद्धधर्माश्रयताके कारण

पाश्चात्य दर्शनेने एक शब्द मिलता है 'रिडक्शनिजम्' किसी वस्तुको किन्हीं बातोंमे एनलाईज् करके कभी द्रव्यको गायब कर दो, तो कभी गुण-धर्मोंको गायब कर दो कभी मेटर्को मेन्टल् कन्सेप्टस्मे डिफाईन् करके गायब कर दो. तो उधर माईन्डको मटीरिअली ऑर्गनाइज्ड कॉम्प्लेक्स फ़िनोमिनामे डिफाईन् करके गायब कर दो. इस तरहके एनलिटिक् एप्रोचमे रिडक्शनिस्टिक् एक्स्ट्रीमिटी या ऐकान्तिकता आ ही जाती है.. और उसके रिएक्शनमे आजकल एक युनिफिकेशनजम् भी चल पड़ा है. जिसमे जबरदस्ती सबको एक मान लो, जबरदस्ती सब दृष्टिओंका एक दृष्टिमे अन्तर्भाव कर लो अर्थात् अपनी मनपसंद दृष्टिको सर्वग्रासी बना देना. बृहदारण्यकोपनिषद्मे कहा गया है कि सृष्टाने सृष्टरूपको प्रकट करके उसे खा जाना चाहा. और तब सृष्टरूपने

“स ‘भाण’ इति अकरोत्” नाम-रूप-कर्मात्मिका सृष्टि अपने जन्म-स्थिति-लयके एकमात्र उपादानभूत धर्मी ब्रह्मके स्वरूप अथवा अप्रतिघसकल्प परमेश्वरके सर्वभवनसामर्थ्यके आधीन ही उत्पन्न स्थित या लीन हो सकती है तब भी ‘भाण’ उच्चारणकी क्रोशना करनेमें तो स्वाधीन होती ही है तो हम वाल्लभोको भी इस तरहसे ‘भाण्’ चिल्लानेकी इच्छा होती है, जब कोई हमें खा जाना चाहता हो खा मत जाओ हमारे साथ विमर्शक्रीडा करो “खा मत जाओ” इस अर्थमें नहीं कि हमारी आलोचना मत करो “खा मत जाओ” इस अर्थमें कि हमारा अपनी दृष्टिमें अन्तर्भाव मत मान कर चलो न हठारोपित युनिफिकेशनिज्म अच्छी बात है और न हठारोपित विविध दृष्टिओंके बीच असमानता ही सोचना कोई अच्छी बात है परस्पर सवादकेलिये ही इतना तो हम सभी स्वीकार ही सकते हैं जो कुछ हम आपसमें चर्चा या विमर्श करें उससे, तत्त्व विरुद्धधर्माश्रय हो या नहो मगर विरुद्धमति, विरुद्धवाद, विरुद्धोपपत्ति सबकी बुद्धिमें उभर सकती है और उन मति-वादोंका कमसे कम सवाद या अधिकाधिक विवाद तो होना ही चाहिये, एक दूसरेका एक-दूजेमें अन्तर्भाव या अतुलनीय वैषम्य ही मान कर नहीं चल पड़ना चाहिये सवाद तो विवादात्मक हो तब भी चलेगा।

जो भी सगीतके बारेमें थोड़ा-बहुत जानते हैं उन्हें यह बात अच्छी तरह अवगत होगी कि कोई भी अच्छा राग वादी, सवादी और विसवादी सुरोंके बिना प्रकट नहीं हो पाता तो इस सेमिनारकी विचारप्रक्रियाके एक अच्छे रागमें हम आपसी सगतिमें कोई ऐसा गीत गाये। अतः विरुद्धधर्माश्रय परमतत्त्वके विमर्शमें हम एक-दूसरेको मूर्ख न समझे, एक दूसरेको विप्र समझे और विप्र भी इस अर्थमें नहीं कि हम सर्वथा अन्धे हैं विप्र समझे एक-दूजेको इस अर्थमें कि हम सभीके पास अपना-अपना अनुभव है इस तरहका कोई एक नोन्-रिडक्शनिस्टिक् या नोन्-युनिफिकेशनिस्टिक् एप्रोच् हमारी गोष्ठियोंमें

होना चाहिये

सबसे बड़ी आपत्ति मुझे लगती है उदाहरणके तोर पर कहू तो, अंग्रेजी भाषामे कुछ मजेदार टर्म्स है, यथा समाजशास्त्रमे हम व्यक्तिको 'इन्डिविज्युअल्' कहते है इसका अर्थ होता है That which can not be divided There is a point in it If sociology attempts to divide individual then it ceases to be sociology It will be turned in to biology समाजशास्त्रको यदि समाजशास्त्र रहना है तो उसे व्यक्तिको इन्डिविज्युअल् मानना ही पड़ेगा पर क्योंकि समाजशास्त्र व्यक्तिको इन्डिविज्युअल् मानता है, इसलिये वह बायोलोजीपर जबरदस्ती करे "तुम उसका बायोलोजिकल डिविजन् मत करो।" तो यह तो उचित नहीं बायोलोजीको अपना काम अपने ढंगसे करना ही पड़ेगा अन्यथा वह बायोलोजी ही नहीं रह पायेगी अतः समाजशास्त्रका सिम्पल् इन्डिविज्युअल् बायोलोजीमें डिविजिबल् कॉम्प्लेक्स हो जाता है बायोलोजीका सेल्स वहा भी इन्डिविजिबल् है मगर केमिस्ट्रीमे वह भी मोलेक्युल् बन जाता है और वह मोलेक्युल् भी फिजिकल् एटम्समे डिवाइड हो ही सकता है यदि बायोलोजी या केमिस्ट्री यह सोच कर झगडा करें कि हमारे सेल्स या मोलेक्युल् क्योंकि इन्डिविजिबल् है इसलिये दूसरे शास्त्र उसका डिविजन् नहीं कर सकते तो यह बात नहीं चल पायेगी Human understanding will not allow it Because the same human understanding which has produced Biology and Chemistry has also given rise to Physics तो बायोलोजी या केमिस्ट्रीका जो सेल् या मोलेक्युल् होता है, वह फिजिक्समे अविभाज्य नहीं रह जाता है वह भी डिविजिबल् हो जाता है और हम इस तथ्यको अच्छी तरहसे जानते है कि फिजिक्सके एटम्स इन्डिविजिबल् थे 'एटम्' शब्द यूनानी 'अ-तोमन्' शब्दका अपभ्रंश है यह 'तोमन्' शब्द पुनः विभाजनार्थक था नैयायिकोंने अणु परमाणु द्व्यणूक त्रसरेणु आदि जो कल्पनाये की है वे बड़ी

मजेदार कल्पनाय है मगर इसमें समझने लायक तथ्य यह है कि इस कल्पनाके भीतर भी

मुझे अच्छी तरहसे याद है कि आजसे पचास-साठ साल पहले जब एक सौ छह या आठ तत्त्व विज्ञानने खोजे थे तब हिन्दुस्तानके आधुनिक विद्यालयोंमें पढ़े हुये लोग भैयाधिको और वेदान्तिओ पर दूट पड़े कि तुम पांच तत्त्व या सात पदार्थ मानते हो पर देखो वैज्ञानिकोंने एक सौ छह तत्त्व खोज निकाले हैं अरे मेरे भाई! उन एक सौ छहकी जगह बादमें एक सौ सत्ताईस तत्त्व खोज निकाले गये और भी न जाने कितने तत्त्व निकलते रहेंगे और कृत्रिम भी निर्मित हो पायेंगे पर उन सभी तत्त्वोंका “गणपति बापा मोरिया” करते हुये एटमिक् फिजिक्सने उनका इलेक्ट्रॉन् न्यूट्रॉन् प्रोटॉन् में विभाजन कर दिया अब वो सबके सब तत्त्व कहा गये! केवल सघात रह गये मैं जो बात कहना चाह रहा हू उसपर ध्यान दें कि उन्हें सघात, विवर्त, आरम्भ अथवा परिणाम आप जिस तरहसे भी उसे कहना चाहे कह ले, मगर उससे भी आगे बढ़ कर आज सब-एटमिक्-फिजिक्स आ गई है उसने उन इलेक्ट्रॉन् न्यूट्रॉन् प्रोटॉन् के भी सत्ताईस चार्जिस् खोज निकाले हैं अब हम सोच रहे हैं कि कहीं कोई ऐसा ‘कासार’ तत्त्व मिल जाय कि जिसपर जाकर इस अवयवधाराकी विश्रान्ति हो पाये—“को अद्धा वेद क इह प्र योचत् कुत आजाता कुत इय विसृष्टि, अर्वादेवा अस्य विसर्जनेन अथो को वेद यत आवभूव इय विसृष्टि यत आवभूव यदि या दधे यदि या न, यो अस्य अघ्यक्ष परमे व्योमन् त्सो, अग!”, वेद यदि या न वेद” इस अवयवधाराकी विश्रान्ति होगी की नहीं होगी हमको पता नहीं है “अणोर् अणीयान् महतो महीयान् आत्मा गुहाया परम् अस्य जन्तो. तम् अकृतु पश्यति धीतशोको धातु प्रसादात् महीमानम् ईशम्” इसलिये हम उसकी विरुद्धमाश्रय स्वीकारते हैं विरुद्धमाश्रय स्वीकारते हैं इसलिये हम इस एण्डन-मण्डनकी

प्रक्रियाको बहुत आनन्दसे लेते हैं हमें कोई सकोच नहीं होता है इस प्रक्रियामें क्योंकि जब तत्त्व विरुद्धधर्माश्रय है तब खण्डन-मण्डन तो होना ही है यदि खण्डन-मण्डन न होता तो उसकी विरुद्धधर्माश्रयतामें हमें सन्देह होने लगेगा हम तो हमारे ब्रह्मकी विरुद्धधर्माश्रयताको कथमपि सन्दिग्ध बनाना नहीं चाहते हैं इसलिये हम मुक्तमनसे खण्डन-मण्डनको आमन्त्रित करते हैं

कल एक बात भावनाप्रत्यक्षकी आयी थी मैंने अपने पेपरमें इस विषयका खास उल्लेख किया था, लुडविग् विट्गेन्स्टाईन्के फ्लक्चुएटिंग ग्राफके उदाहरण द्वारा

हम यह बात मानते हैं कि भावप्रत्यक्ष या भावनाप्रत्यक्ष उन्होंने 'भावप्रत्यक्ष' कहा हमारे यहाँकी परिभाषामें हम उसको "भावात्मकताका प्रत्यक्ष" कहेंगे भगवान्‌के दो स्वरूप हमारे यहाँ स्वीकारे गये हैं १ आलम्बनविभावात्मक और २ स्थायिभावात्मक हमारे भीतर भगवान्‌के बारेमें जो भाव पैदा होता है, उसे भी हम भगवान् मानते हैं यहाँ तक कि हमारे भीतर रही हुयी भगवद्भक्ति भी भगवान्‌का ही एक रूप है और उस भक्तिसे हम भगवान्‌के जैसे रूपकी धारणा करते हैं वैसे भगवान्‌का रूप भावात्मक होता है

यह भक्ति तो उपलक्षण है किसी व्यक्तिमें भगवान्‌के प्रति भक्तिका भाव नहीं है और द्वेषभाव है तो, वह भी भगवान्‌का ही एक रूप है, वह भी भगवान्‌के आनन्दका ही एक विलास है जो हमारे भीतर द्वेषकी तरह काम कर रहा है इस द्वेषके चशात् हम भगवान्‌का जो रूप घडते हैं वह भी भगवान्‌का आलम्बनविभावात्मक रूप होता है उपलक्षणविधिसे "गोप्यः कामाद्, भयात् कसः, द्वेषात् चैव, सम्बन्धाद् वृण्य., भक्त्या वय विभो." यो सारे रसभावोको यहाँ हम स्वीकारते हैं भगवान्‌के भावात्मक रूप एक नहीं अनेक

होते हैं “मल्लानाम् अग्नि, नृणां नखर, स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्, गोपानां स्वजनो, असता क्षितिभुजा शास्ता, स्वपित्रो रिशु, मृत्यु भोजपते, विराड् अविदुषा, तत्त्व पर योगिना, वृष्णीनां परदेवता, इति विदितो रगतः साग्रजः” इस तरह भगवान् के बारे में जितने भाव होते हैं वे सभी वस्तुतः भगवान् के भावात्मक रूप होते हैं यह हमारा सिद्धान्त है “त्व भावयोगपरिभावितहृत्सरोज आस्ते श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुसा यद्यदधिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय” यह आब्जेक्ट में रही हुयी किसी तरहकी प्लास्टिसिटी है जैसे कोई शिल्पकार पत्थर को घड़ कर मूर्ति बना देता है महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि प्रत्येक चिन्तक की दृष्टि में इस तरहकी कोई कारीगरी है आप वहाँ न्याय, वैशेषिक आदि सभी मतों को सकलित करके कहते हैं “सर्ववादानवसार नानावादानुत्प्रेषि तद् अनन्तमूर्ति तद् ब्रह्म अविभक्त विभक्तिमत्” इन प्रत्येक चिन्तकों की दृष्टि में, इन ऋषियों की दृष्टि में, और नास्तिकों की दृष्टि में भी इस तरहकी कारीगरी है कि जिससे यद्यदधिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे” स्तुति चरितार्थ हो जाती है वह वपुः प्रणयन करता है

स्वसृष्ट चेतनों के भावानुरूप परमतत्त्व द्वारा वपुः प्रणयन के कारण उसके द्वारा परिगृहीत भावात्मक रूपों में याथार्थ्य आहित हो जाता है ऐसे भाववाले द्रष्टा के हृदयारूढ भावों के कारण परमात्मा का वैसा भावात्मक स्वरूप अर्थाविसवादी ज्ञान से दृष्टिगोचर होने लगता है कल्पनादृष्टि और भावदृष्टि में यही अन्तर है कि कल्पनादृष्टि अपने कल्पित अर्थों के साथ सवाद होना नियत नहीं होता, यदि कल्प्यमान वस्तु में कल्पनानुसारी बन पाने की सामर्थ्य न हो तो भावदृष्टि के वश वह सम्भव बन जाता है हम यह मानते हैं कि सभी दृष्टिओं के साथ सवाद कर पाने की ब्रह्म के भीतर एक तरहकी प्लास्टिसिटी जैसी सामर्थ्य है शर्त यह है कि दृष्टि दिल की सचाई से होनी चाहिये, मति की सचाई से होनी चाहिये व्यवहार की सचाई से होनी चाहिये, पापण्ड से नहीं होनी

चाहिये यदि कोई दिलकी सचाईसे नास्तिक है, यदि कोई दिलकी सचाईसे अनीश्वरवादी है, तो फिर कोई चिन्ताकी बात नहीं है महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं “ब्रह्मतु शून्यमपि भवितुम् अर्हति शून्यस्य परन्तु एतादृक् सामर्थ्यं नास्ति यद् ब्रह्म भवेत्” ब्रह्ममे ऐसा सामर्थ्य है कि वह किसीके प्रति शून्यवत् हो पाता है, यदि कोई उसे वैसे भावयोगसे परिभावित करता है तो शून्यमे यह सामर्थ्य नहीं है शून्यवादका एक ऐसा भी इन्ट्रिंशन् हमारे यहा है शून्यवादका यह पोजिटिव् इन्ट्रिंशन् शून्यवादमे भी स्वीकारा गया है “न रूपाद्यभावाद रूप शून्य किन्तु रूपमेव शून्य शून्यतैव रूपम्” यह मोर-ओर-लेस् हमारी ब्रह्मदृष्टिके जेसी ही दृष्टि है ओर यदि इस अर्थमे शून्यवाद है तो हमको वह बहुत अच्छा लगता है वैसे एक बात सच कहू तो मैं यह मानता हू कि सर्वदृष्टिप्रहाणात्मक जो शून्यवाद है वह दर्शनशास्त्रमे एक ध्रुव है और सर्वदृष्ट्यनुग्राहात्मक हमारा शुद्धद्वैतवाद दूसरा ध्रुव है इन दो ध्रुवोंके बीच कुछ भूमध्यरेखाएँ हैं कुछ ककीरेखाएँ हैं कई रेखाएँ हैं उन सब रेखाओका इन ध्रुवोंसे न आत्यन्तिक भेद है न आत्यन्तिक अभेद है इन सभीके बीच किसी तरहका तादात्म्य है यह हमारा सिद्धान्त है इस सिद्धान्तके कारण हम तो यहा तक भी स्वीकारते हैं कि अनेकान्तवादका पक्ष हमारे पक्षके आस-पासका कोई पक्ष है मगर हमारा उसमे अन्तर्भाव नहीं है पहलेके कई सेमिनारोंमे इस पक्षका प्रतिपादन कर चुका हूँ

तो भावनाप्रत्यक्षके बारेमें मेरा यह ऑब्जर्वेशन है इसके बाद अवयव और अवयवी के प्रत्यक्षकी चर्चाके बारेमे मैंने कुछ बातें कल बताई थीं इस विषयमें वाल्लभ वेदान्तका यह स्पष्ट अभिप्राय रहेगा कि हमें अवयवीका प्रत्यक्ष होता ही है यह इस बातका भी स्पष्ट प्रमाण है कि तत्त्व निरवयव ही नहीं होता इसी तरह अवयवका भी प्रत्यक्ष हमें होता है, यह पुनः इस बातका स्पष्ट प्रमाण है कि अवयवका केवल सघात ही नहीं होता कस्मिश्चिद्

अवयविनि अवयवा भवन्ति केपुचिद् अवयवेषु पुन अवयवी भवति इसलिये केवल पुञ्ज ही होता है ऐसी बात नहीं है इसका स्पष्ट प्रमाण भी हम देख सकते हैं जैसे कारकी एसेम्ब्लिंग होती है अनेक कलपुर्जोंको जोड़ कर कार बनाई जाती है बनाई हुई कारमेंसे कोई कलपुर्जा निकाला भी जा सकता है जब हम एक पुर्जोंको निकाल कर दूसरा पुर्जा डलवाते हैं तो न्याय यह कहेगा कि अवयवोंके बदल जानेसे नूतन अवयवीका आरम्भ हुवा यह एक दृष्टि है लक्षणवादी दृष्टि सामान्य दृष्टि या सरल दृष्टि ऐसी है कि एक कारमेंसे किसी एक अवयवको निकाल कर दूसरा अवयव डाला जा सकता है निर्माणके समय अवयवोंमेंसे कार बनी परन्तु निर्माणके बाद अवयव कारमें अवस्थित हो जाते हैं वृक्षोंसे वन बनता है और वृक्ष वनमें होते ही हैं इस तरहकी बुद्धि भी होती ही है अवयवोंमें कार/वन है अथवा कार/वनमें अवयव/वृक्ष है हर सामान्य व्यक्ति यही कहेगा कि कारके बन्नेके बाद कारमें स्पेर्पार्ड्स होते हैं और बनानेवाला यही कहेगा कि स्पेर्पार्ड्सको जोड़नेसे कार बनती है

रही बात विकारप्रत्यक्षकी वाल्लभ वेदान्त विकारोंका प्रत्यक्ष स्वीकारता है यदि वह न होता तो इन्द्रियको 'अविकारी' कैसे कहते? ब्रह्मको 'अविकारी' कैसे कहते? अतः विकारका प्रत्यक्ष होता है मगर जब विकारका प्रत्यक्ष होता है तब वाल्लभमति ऐसी है कि कुछ न कुछ ऐसा है कि जो विकारमें उपादानभूत है और अविकारी है इसलिये हम उसे 'अविकृतपरिणाम' कहते हैं अब पुन विरुद्धधर्माश्रयता आ गयी फिरसे 'अर्धजरतीय'न्याय हो गया पर हमको ऐसा लगता है कि "यदि इदं स्वयम् अर्थानां रोचते तत्र के वयम्!"

इस बातसे मुझे अपनी पुरानी बात याद आ गई कुछ वर्ष पूर्व मेरी मूछमें एक ओर श्वेत ओर दूसरी ओर श्याम केश थे

मे जब हरिद्वार गया तब दूधपालेने जोरसे कहा “कहो भैया! कभी अहिरावण देखा था कि नहीं” मेने कहा भाइ देपले मुझे! मे क्या करू? क्या डाब् लगा कर आधी मूछको काली बनाता रहू? मेरे भीतर धीरज है कि मेरी मूछका जो भाग आधा काला है वह कभी सफेद हो जायगा तब तक धीरज तो रखनी ही पड़ेगी “तस्य धीरा परिजानन्ति योनिम्” तो जब कोई विकारी होता है तो कुछ अविकारी भी होता ही है इसलिये हम अविकृतपरिणाम स्वीकारते है

इसी तरह प्रत्यक्षानुभव ओर स्वप्नानुभव के विषयमे जो रिडक्शनिजम् अपना लिया गया कि स्वप्न निरात्मन् दीखता है, इसलिये सारे ज्ञान निरात्मन् होते है या प्रत्यक्षमें, निर्विकल्पकप्रत्यक्षके प्रामाण्याग्रहवश जो भी ज्ञान हो रहा है वह बाह्यार्थजन्य ही होता है, इसलिये सारे ज्ञान यथार्थ ही होते है इस तरहका रिडक्शनिजम् वाल्लभ वेदान्तको मान्य नहीं है क्योंकि हमारी बुद्धिमे “सशयो विपर्यासो निश्चय स्मृति स्वाप इति उच्यते बुद्धे लक्षण वृत्तित पृथक्” इस भागवतवचनके आधारपर कुछ ज्ञान बाह्यार्थजन्य माने गये है तो कुछ ज्ञान बाह्यार्थजन्य नहीं भी माने गये है अत सभी ज्ञानोका इन दोमेसे किसी एकमें अन्तर्भाव कर देना वाल्लभ वेदान्तकी दृष्टिसे मुझे मान्य नहीं लगता है

बर्ट्रन्ड रसेल्ने एक मजेदार उपहास किया है एक बार रसेल् सोविएट रशिया गये वहा उन्होंने किसी डायलेक्टिकल् मटीरियलिस्ट प्रोफेसरसे कहा कि At least you will also admit that there is something like mental phenomena in your brain which is not made of mater पर सोविएट सरकारका अधिकृत दर्शन क्योंकि Dialectical materialism था इसलिये उस प्रोफेसरने रसेल्से कहा कि No No We don't have anything like mind in our brain

क्या मजेदार बात है! But do you know how Russell responded? He simply said: "But my politeness forbids me to accept your proposition". So I am also in this sense little bit polite that I am also not ready to accept such reductionistic propositions.

दूसरी बात प्रत्यक्षके बारेमें जो डॉ. मंगलाजीने एक प्रश्न उठाया कि ज्ञान फलाविसंवादी होना चाहिये कि नहीं? अर्थात् हमारे ज्ञानमें सप्रयोजनता है कि निष्प्रयोजनता है? प्रत्यक्ष तो एक उपलक्षण है क्योंकि इस सेमिनारका विचार्यविषय प्रत्यक्ष है. परन्तु सारे ज्ञान और सारे अस्तित्वमें सप्रयोजनकता है कि निष्प्रयोजनकता है, यह विचार्य विषय होना चाहिये. किसी कारणसे हमारे भारतीय दर्शनमें इस विषयकी चर्चा बहुत नहीं हुयी है. उसका मुख्य कारण यह होना चाहिये कि हमारे यहां एरिस्टोटल् नहीं हुवा. एरिस्टोटल्ने चार कारणोंमें प्रयोजनको भी कारणतया स्वीकारा है. 'नियतपूर्वभावित्व' की हमारी कारणकी परिभाषाके अनुसार प्रयोजन कारणतया सिद्ध नहीं हो सकता है. क्योंकि प्रयोजन कार्योत्तरभावी होता है. मगर एरिस्टोटल्ने प्रयोजनको कारण माना.

आधुनिक विज्ञानके उदभवके साथ वहा यूरोपमें सृष्टिकर्ताका अस्तित्व निरस्त होता लगा तब नीट्जेकी प्रसिद्ध बात आपने सुनी होगी कि वह क्रिस्तमसके दिन चर्चमें टोर्च ले कर गया और घोषणा करने लगा कि "God is dead!". अब किसकी प्रार्थना कर रहे हो? हेतु उसमें क्या था? Existential Predicament. हेतु उसमें यही था कि जिस भगवान्के दिमागमें प्रयोजन था, जो भगवान् कर्ता कहा माना गया था वह कर्ता जब नहीं रहा तो अब वस्तु-सत्तामें प्रयोजनको आहित करनेवाला भी नहीं रहा. इसलिये सारा एविजिस्टेस् निष्प्रयोजन हो गया. Existential Predicament के अनुसार केवल चेतना

ही निष्प्रयोजन अस्तित्वमे प्रयोजनका आधान कर सकती है और मेरी चेतना अकेली होती तो सत्रिण एक ड्रामासे इस बातको बहुत अच्छी तरहसे उभारा है कि आपका अस्तित्व गैरलिये नरक है क्योंकि मेरे भीतर जो भी कुछ प्रयोजन है उनके साथ जो कुछ भी विरोध आता है वह आपके कारण आता है अतः 'नरक'का अर्थ है आप अह स्वर्ग है और त्व नरक है क्योंकि मेरे अहमे रहे हुवे प्रयोजनके आधानकी क्षमतामे त्वम् विघ्न करता है और जडवस्तु निष्प्रयोजन होती तो मे आधान कर देता मगर सामने भी यदि सप्रयोजन वस्तु हो और उसके और मेरे प्रयोजन यदि एक न हो तो अस्तित्व नरकायित हो जाता है यही समस्या प्रत्यक्षमे भी आती है कि प्रत्यक्ष ज्ञान और प्रत्यक्षके विषय मे सप्रयोजनता है कि निष्प्रयोजनता है

मैं अपनी बात स्पष्ट करना चाहूँगा कि बम्बईसे पूना आते है तो ट्रेनका प्रयोजन होता है पूना आना मगर वह प्रयोजन उस ट्रेनमे सवार हर यात्रीका बलात् नियमन कर नहीं पाता पूना आनेवाली ट्रेनमेंसे भी कोई लोनावाला न उतर सके ऐसा ट्रेनका प्रयोजन सर्वतो अतिशायी हो नहीं सकता तो ट्रेनका प्रयोजन यात्रीके ऊपर बन्धनकारी नहीं होता है और न यात्रीका प्रयोजन ट्रेनके ऊपर बन्धनकारी हो पाता है दोनोके प्रयोजनोमे हमको तादात्म्य स्वीकारना चाहिये दोनोके प्रयोजनमे प्रतिरूपता भी हो सकती है जब बम्बईसे पूना आती ट्रेनमे बैठ कर आप उलटे बम्बई जाना चाहते हो इस तरहकी कुछ लाचारिया है मगर बम्बईसे निकली ट्रेनमे हम बैठे है इसलिये हमको पूना ही उतरना यह आवश्यक नहीं है सारे प्रत्यक्षको फलाविसवादी या विकल्पोके प्रयोजनमे ही नियततया पर्यवसित होता माना नहीं जा सकता दर्पणगत प्रतिबिम्बका प्रत्यक्ष फलाविसवादी होनेपर भी यथार्थ नहीं होता और बहुत सारे ऐसे यथार्थ प्रत्यक्ष या प्रत्यय ऐसे हो सकते हैं जिनके साथ जुड़े किसी तरहके फलको खोज

पाना शक्य नहीं होता ऐसा भी नहीं कि सारा प्रत्यक्ष विकल्पके प्रयोजनमें पर्यवसित ही होता हो या सारे विकल्प निर्विकल्पक प्रत्यक्षके विषयमें ही पर्यवसित होते हों इस तरहकी ऐकान्तिकता हमको मान्य नहीं है।

इसीके सन्दर्भमें कहना चाहूंगा कि सेन्सा, सेन्सुइटा, परसेप्ट या कन्सेप्ट मेसे किसी भी एकमें सारी प्रत्यक्षानुभूतिके रिडक्शनिज्मका अनुष्ठान करने भी वाल्लभवेदान्त तैयार नहीं है प्रत्यक्षके बारेमें हमारे इस दृष्टिबिन्दुको हम स्पष्ट करना चाहते हैं

अन्तमें वक्तव्यके उपसहाराथ कहना चाहूंगा कि विभिन्न विचारधाराओंके अनुसार प्रत्यक्षानुभूतिकी इतनी सुविशद विवेचना कोई अध्ययनार्थी अपने पुरुषार्थके बलपर समझना या समझाना या लेखबद्ध करना चाहे, और वह भी इतने स्वल्प समयमें, तो यह सर्वथा एक अशक्यता ही प्रतीत होगी परन्तु इस विचारगोष्ठीमें सहभागी होनेवाले सभी महानुभावोंने जिस सरलतासे सभी सहभागियोंको स्वयं उनके और दूसरे मतवादोको भी भलीभांति अवधारित कर पानेको अपने-अपने तलस्पर्शी विवेचनसे लाभान्वित किया वह वस्तुतः धन्यवादप्रदानकी औपचारिकतासे कहीं अधिक स्मृहणीय महर्घता लिये हुवे है।*



* यह वक्तव्य वैसे तो प्रत्यक्षविचारगोष्ठीके अन्तिमदिवसीय सत्रके अध्यक्ष डॉ श्री वी एन झाजीके अध्यक्षीय वक्तव्यसे पूर्व समापनसमारोहमें दिया था परन्तु थोड़े-बहुत सशोधन-परिवर्धनके साथ इसे अविकल भूमिकाके रूपमें दे देना उपयुक्त लगता होनेसे यहा मुद्रित किया जा रहा है (गो श्या म)

* प्रत्यक्षप्रमाकरणनिरूपक, तृतीयः तरङ्गः *

प्रत्यक्षस्य लक्षणं तत्र प्रत्यक्षे चक्षुरादिभेदेन षट् करणानि इति निरूपणम् :

अथ प्रत्यक्षं निरूप्यते :—

“इन्द्रियात्मकं प्रमाण”=प्रत्यक्षम्.

दोषदुष्टेन्द्रियवारणाय ‘प्रमाणम्’ इति, शब्दादिवारणाय ‘इन्द्रिय’- इति, तानि चक्षु-त्वग्-घ्राण-रसन-श्रवण-मनोभेदेन षट्.

मनः इन्द्रियं नेति मतस्य निरासः :

यत्तु * मनो न इन्द्रियम्, “इन्द्रियेभ्य पा ह्यर्था ह्यर्घ्येभ्यश्च परम” (कठोप. १।३।१०) “मन सर्वेन्द्रियाणि च” (नारा.उप. १-मुण्ड उप. २।१।३) इत्यादिश्रुतो भेदनिर्देशात्. “मन षण्मानीन्द्रियाणि” (भग.गीता १५।७) इति भगवद्वाक्यन्तु “यजमानपञ्चमा इडा भक्षयन्ति” (श.प.ब्राह्म २।४।४।२५) “वेदानघ्रापयामास महाभारतपञ्चमान्” (ब्रह्मा पुरा २।३।३५।१४) इत्यादौ यथा अनृत्विजो यजमानस्य अवेदस्य महाभारतस्य च पञ्चत्वसंख्यापूरकत्वं तद्वत् मनस पदत्वसंख्यापूरकत्वेनापि उपपद्यते * इति केचिद् आहुः.

तत् न, “इन्द्रियाणा मनश्चास्मि” (भग.गीता १०।२२) इत्यस्य विरोधात्. नच * इदं विभूतित्वमात्रगमकं “नक्षत्राणाम् अहं शशी” (भग.गीता. १०।२१) “ज्ञानं ज्ञानवताम् अहम्” (भग.गीता १०।३८) इत्यादिवत् नतु तज्जातीयत्वस्यापि * इति वाच्यं, बाधकाभावात् उक्तश्रुते उत्कर्षमात्रपरत्वेनापि उपपत्ते. शशिनि नक्षत्रव्यवहारस्य—ज्ञाने च तद्वताव्यवहारस्य—अदर्शनात्, तत्र तन्मात्रपरत्वेऽपि, अन्यत्र तथा वक्तुम् अशक्यत्वात्. नच विनिगमनाविरह, प्रायपाठेनेव निर्णयात् “इन्द्रियाणि दशौक च” (भग.गीता. १३।५) इति वाक्यात् च. नच * इदं दत्तोत्तरम् * इति

वाच्यम्, अत्र तथा वक्तुम् अशक्यत्वात्, तथासति इन्द्रियेभ्यः पूर्वं
 “महाभूतान्तरकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियाणोवरा”
 (भग.गीता.१३।१५) इति पूर्वार्धे बुद्ध्या सहैव क्रमः स्यात्,
 “हस्तादि” (ब्र.सू.२।४।६) सूत्रे प्राणगणनायां भगवता व्याप्तेनापि अंगीकारात्
 च.

यद्वा इन्द्रियत्वम् अनिन्द्रियत्वं च इति उभयमपि अस्तु क्रियाज्ञान-
 मयत्ववत्, यमे देवत्वपितृत्वयोरिव उभयो निवेशोऽपि बाधकाभावात्,
 इन्द्रियत्वस्य अजातित्वात्. नच भावाभावविरोधो, धर्मान्तरत्वस्यापि उपगन्तुं
 शक्यत्वात् नच *अनिन्द्रियत्वे क्रमविरोध* शंक्य, उत्कर्षमात्रार्थमेव
 अनिन्द्रियत्वादरणाद् इति दिक्.

चक्षुरादीन्द्रियग्राह्यविषयाणां स्वरूपम् :

एतेषाम् इन्द्रियाणां स्वरूपन्तु—अणुतमम् अतीन्द्रियम् अनित्यं
 चिरस्थायि विकारि च, इति—अग्रे प्रमेयप्रकरणे वक्तव्यमिति, साम्प्रतं
 तद्योग्यविषयादिकमेव उच्यते प्रमाणविभागज्ञानार्थत्वात्.

तत्र चक्षुर्योग्या — उद्भूतरूपं, तद्वान् ^{१३१}, उद्भूतरूपवन्मात्रवृत्तयः,
 संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्वापरत्व-वेगा, कर्म च तदीयं,
 तेषां जाति, तत्समवाय च इति स्नेहद्रवत्वेतु त्वग्राह्ये इति वक्ष्यते
 ‘मात्र’ पदं वायुघटसंयोगादिवारणाय. आकाशस्यतु न संयोग प्रमाणाभावात्,
 तस्य स्पर्शो अन्तर्भावस्य वक्ष्यमाणत्वेन तत्र तदभावात् च. ‘समवाय’ पदम्
 अत्र तादात्म्यवाचकं ज्ञेयम्. तत्र द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति उद्भूतरूपवत्त्वेन
 योग्यता अतः परमाणुपिशाचादीनाम् उद्भूतरूपाभावेनैव चक्षुषा अग्रहो,
 नतु गहत्वसागानाधिकरण्यमपि तत्र निवेशनीयम्, अप्रयोजकत्वात्, परमाणुपु
 उद्भूतरूपसत्त्वे युक्त्यभावाद् इति. एव द्रव्यगतधर्मचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति
 उद्भूतरूपवन्मात्रवृत्तित्वेन योग्यता. धर्मगतजात्यादिचाक्षुषं प्रति योग्यद्रव्य-वृत्ति-
 वृत्तित्वेन सा बोध्या. उद्भूतत्वञ्च आविर्भूतत्वम् अनुद्भूतत्वं च

तिरोभूतत्वम्—इति च ग्रहणेऽपि ^{पा० ३२} पूर्वं रूपस्य ग्रहणं, मुख्यतया तस्येव विषयत्वात्, ततो द्रव्यादीनान्तु रूपद्वारकम् ^{पा० ३३} इति बोध्यम्.

वाह्यास्तु, *रूपाद्यतिरिक्तं द्रव्यं न* इच्छन्ति, तत्तु आगमापायिषु रूपादिषु स्थिरत्वेन घटादे अनुभूयमानत्वादेव निरस्तम्.

अथ त्वग्-योग्या — उद्भूतस्पर्श, तद्वान्, उद्भूतस्पर्शविन्मात्रवृत्तय उक्तगुणादय, तेषां जाति, तत्समवाय च. नच *वायु वायुपरिमाणं च त्वचा न गृह्यते* इति वाच्यं, “वायु वाति” “स्वल्पो वायु” “महान् वायु” इत्याद्यनुभवापलापप्रसङ्गात्.

एवं घ्राणयोग्या — उद्भूतो गन्ध, तद्वान्, तज्जाति, तत्समवाय च.

एव रसनायोग्या — उद्भूतो रस, तद्वान्, तज्जाति, तत्समवाय च.

श्रोत्रयोग्या — उद्भूत शब्द, तद्वान्, तज्जाति च इति.

अन्येतु *घ्राणरसनश्रवणानां द्रव्याग्राहकत्व न* इच्छन्ति.

तत् न अस्माक रोचते, तमसि रसनया दुग्धादे, घ्राणेन चम्पकादे, श्रवणेन भेयदि, अनुभवस्य व्याप्तिज्ञानविधुराणामपि दर्शनाद्, अनुव्यवसायविरोधेन स्मृतिरूपत्वस्य तत्र वक्तुम् अशक्यत्वात् च. नच *उपनीतभानं तद्* इति वाच्य, तथात्वे मानाभावाद् घ्राणादीनां द्रव्याग्राहकत्वस्य ^{पा० ३४} अभ्युपगमेकशरणत्वाद् इति दिक्. तेन उद्भूततत्तद्गुणा पृथिवी पञ्चानाम् इन्द्रियाणां योग्या, तादृश्य आपो घ्राणव्यतिरिक्तानां चतुर्णां, तादृशं तेजो घ्राणरसनभिन्नानां त्रयाणां, तादृशो वायु त्वक्श्रवणयो द्वयो, आकाशस्तु प्रमेयबलादेव चाक्षुष, उद्भूतराब्दस्तु श्रावणोऽपि प्रतिध्वनिश्रवणेन गर्भगृहाद्याकारावगमात्. दिक्कालौतु ग्राह्यार्थविरोपणतयेव गृह्येते न साक्षात्

मनसस्तु कामादयो वृत्तयएव मनोग्राह्याः ।

केवलात्मनः इन्द्रियाग्राह्यत्वनिरूपणम् :

आत्मातु, केवलः, शास्त्रीयसाधनम् अन्तरेण न प्रत्यक्षो, तथा ^{पा ३५} तद्धर्मा च. किञ्च “केवलात्मा लौकिकप्रत्यक्षाविषय विभुत्वाद् आकाशादिवत्. स्वात्मा लौकिकप्रत्यक्षायोम्य आत्मत्वात् परात्मवद्” इति अन्वयव्याप्त्या तन्निश्चयात्, सिद्धान्तेतु, ^{१८१} “यन् स्पृशन्ति न विदुर्मनो- बुद्धीन्द्रियासव” (भाग.पुरा.६।१६।२३) इति वाक्यात्; तथा, अणुत्वात् परमाणुवद् इति अनुमानात् च. ‘अहं’बुद्धिस्तु ^{१८२} पटावृतघटबुद्धिवद् अहंकारसंसर्गाद्वारिका व्यवहारोपयोगित्वात् प्रमाभासरूपैव, अहन्तातादात्म्यभावेन भ्रमरूपत्वात् “यन् स्पृशन्ति नविदुर्मनोबुद्धीन्द्रियासव” (भाग.पुरा.६।१६।२३) इति वाक्ये मनसो असंसर्गादिकथनात् च.

तमःप्रतिबिम्बादिग्रहणप्रणाली :

तम-प्रतिबिम्ब-गन्धर्वनगरेन्द्रजालादि-प्रतीतिरपि पदार्थस्वभावादेवेति, न तत्र कार्यकारणभावान्तरापेक्षा नापि तामसेन्द्रियस्य ^{पा ३६} .

अन्धकारस्थ-घटादिषु नृचक्षु प्रति मायया तमोजननात् तदेव विषयीक्रियते, नतु विषय तदावृतत्वात्. एवञ्च विषयालोकसंयोगस्य सहकारितापि न कल्पनीया, अभास्वर-द्रव्य-चाक्षुषत्वावच्छिन्नं ^{पा ३७} प्रति दूरत्व-व्यवधानाभावादिविशिष्ट ^{पा ३८} “स्य विषयतयेव निर्वाहाद्, “यथाहि भानोन्मद्यो नृचक्षुसं तमो निहत्याद् नतु तद् विद्यते” (भाग.पुरा.११।२८।३४) इति वाक्ये भगवता मूर्योदयस्य नृचक्षु-सम्बन्धि-तमो-निवारकत्वेनैव कथनेन आलोकसंयोगस्य विषयादिसंस्कारकताया विरुद्धत्वात्. एवञ्च उलुक्त्रिडालादीनाम् आलोकसंयोगाभावे वस्तुचाक्षुषमपि अनुकूलीभवति. तमस्तु पदार्थान्तरमेव न तेजोऽभावः, “अन्धकारोऽस्मिन् ध्वान्तम्” (अम.को.१।८।३) इत्यादिनामपाठा-त्, “ध्वान्ते गाढेऽन्धतमसम्” (अम.को.१।८।३) इत्यादिभेदपाठात्, “हृत्पुनः तममा वाग्रे ज्येति प्रतीत्ये स्वेनेजमापिदन्तीत्रमा मप्रत्ययन तम” (भाग पुरा ११।३।१४)

इति वध्यघातकविरोधकथनात् च. विशेषस्तु अन्धकारवादे अस्माभि
प्रपञ्चितइति न इह प्रतन्यते.

तथा प्रतिबिम्बस्यापि पदार्थान्तरत्वं तद्वादादेव अवसेयम्.

तन्यायेन गन्धर्वनगरादेरपि, मायिकत्वस्य सर्वत्र तुल्यत्वात्.

अभावस्य उपादानकारणे आविर्भावतिरोभावयो. च अन्तर्भावात् तद्ग्राहक-
सामग्री-ग्राह्यत्व-निरूपणार्थम् अभाव-चतुष्टय-स्वरूप-विचार. :

अभावस्तु, कारणे आविर्भावतिरोभावयो च, यथासम्भवम् अन्तर्भवतीति
तद्ग्राहकसामग्र्येव गृह्यते. कथम् अन्तर्भाव ? इति चेद् उच्यते प्रागभावध्वंसौ
समवाय्यवस्थाविशेषरूपौ :—

(१) “तिरोभावसहकृता कार्याविर्भावानुकूलावस्था” = प्रागभाव .

(२) “तादृशी कार्यस्थितिप्रतिकूलावस्था” = ध्वंस

इति, तदतिरेके मानाभावात्.

(१) नच * “इह कपाले घटो नास्ति” इति प्रतीतिरेव तत्र मानम् *
इति वाच्यं, तस्या घटत्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताकाभाव-विषयतया घट-
संसर्गाभाव-सामान्यत्वेन प्रागभावात्मक-विशेषानवगाहित्वात्. नापि “इह कपाले
घटप्रागभाव” इति प्रतीति तत्र मानं, तस्याएव अभावात्. तथा आग्रहेऽपि
असार्वजनीनत्वेन प्रतिवाद्यानादरणीयत्वात्

किञ्च अनया प्रतीत्या आपाद्यमान प्रागभाव किं सकलघटप्रतियोगिक
एक उत यत्किञ्चित्तत्प्रतियोगिको नैक ?

न आद्य, तस्य प्रतियोगिनाश्वत्वोपगमाद् यत्किञ्चिद्घटोत्पत्तावपि
तन्नाशसम्भवे “इदानीम् अत्र कपाले घटो नास्ति — इदानीम् अत्र घटप्रागभाव”

इति प्रतीतिवाधापत्तेः. नच *सकलप्रतियोगिनाशय स* इति वाच्यं, तथा सति एकस्मिन् घटे उत्पन्नेऽपि तत्प्रागभावानाशात् तदवयवत्वेन प्रतीयमानेषु कपालेष्वपि “अयं घटो नास्ति—अत्र एतद्घटप्रागभाव” इति प्रतीत्यापत्तेः. नच *प्रतियोगिसत्तया प्रतीतिप्रतिबन्धात् न दोष* इति वाच्यं, तथा सति प्रागभावप्रतियोगिनो एकत्र स्थितौ सकल-प्रतियोगि-नाशयत्वस्यापि अयुक्तिसहत्वात्, प्रतियोगिनां नश्वरत्वेन साफल्यस्यापि अशक्यवचनत्वाद्, एवं नाशकानिर्वाच्यत्वे “विनाशयऽभाव प्रागभाव” इति लक्षणासम्भवापत्ते च. नच *गन्धाद्यनधिकरणकाल-वृत्त्यभावत्वस्य अदृष्टत्वावच्छिन्नानधिकरण-काल-वृत्त्यभावत्वस्य वा तल्लक्षणस्य सत्त्वात् न लक्षणासम्भव* इति वाच्यं, सृष्टिपूर्वदशायां जन्यज्ञानसामर्थ्यभावेन ज्ञातु अभावात् तदा तत्सत्त्वस्य अप्रामाणिकत्वेन अनवसरपराहतत्वात्. ईश्वर पश्यति। इति चेत् तर्हि तदाज्ञया मंस्यामो न भवद्वाचा इति दिक्.

न द्वितीयो, अभावज्ञानस्य धर्मिप्रतियोगिज्ञानाधीनतया तदानीं प्रतियोगिज्ञानाभावेन तत्प्रागभावस्य ज्ञातुम् अशक्यत्वात्. घटत्वेन रूपेण प्रतियोगिज्ञानाङ्गीकारे प्रागभावस्यापि सकलप्रतियोगिसामान्यतायां पूर्वविकल्पीय-दूषणापत्तेः नच *घटत्वादिरूप-सामान्यलक्षण-प्रत्यासत्त्या भाविघटविषयक लौकिकज्ञानस्य संस्कारवशाद् उपनीतभानस्य वा शक्यवचनत्वात् न एवम्* इति वाच्यम्, अनुभवाभावेन भाविघटविषयकसंस्कारस्य अभावेन उपनीतभानस्य अशक्यवचनत्वात् अलौकिकज्ञानपक्षेऽपि पूर्वं सकलघटादिविषयक-तादृशज्ञानोत्तर प्रागभावस्य प्रतियोगिनाशयत्वानुसन्धानाद्, विरोधप्रतिसन्धाने तत् संकोचनीयम्. पूर्वं तादृशप्रतिसन्धाने संकुचितमेव तद् उत्पद्यते इति वा वक्तव्यम् तदुत्तरञ्च भाविघटीयप्रागभावज्ञानं वक्तव्यम् तथा सति आत्माश्रय, भावित्वस्य प्रागभावघटितत्वात्. यदि च वर्तमान-कालोत्तर-कालवर्त्युत्पत्त्याश्रयत्वं भावित्वम् इति उपैवते तदातु प्रागभावाप्रतीतिरेव

एतेनेव “घटो भविष्यति” इति प्रत्ययेनापि तत्प्रतीतिरपि अपास्ता, भविष्यत्ताप्रत्ययस्य तैनेव सम्भवात्.

नापि अनुमेयत्वम् तथाहि “कपाल घटप्रागभाववत् घटीय-चरम-सामग्रीवत्त्वाद् यो यच्चरमसामग्रीवान् स तत्प्रागभाववान् पटीय-चरम-सामग्री-विशिष्ट-तन्तुवद्” इत्यादिषु प्रयोगेषु प्रागभावरूप-साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न-साध्याप्रसिद्ध्या अनुमानासम्भवाद् इति अतः तद्^{पा ३९} प्राहक-मानाभावात् सामयिकात्यन्ताभावेनापि प्रतीतिनिर्वाहात् च न प्रतीत्यादिना तत्सिद्धिः

* ननु मास्तु प्रतीत्यादिना तत्सिद्धिः तथापि घटत्वेन कपालत्वेन सामान्य-कार्य-कारण-भावे सत्यपि, एतेभ्यः कपालेभ्यः एतद्घटोत्पत्तो कपालत्वेन नियमासम्भवाद्, एतत्कपालत्वेन नियमाङ्गीकारे च विनिगमानावि-हाद्, बहुकपालजन्ये घटे गौरवग्रासात् च तद्देशनियामक कश्चिद् वक्तव्य तादृशश्च भावाभावयो मध्ये न प्रागभावाद् अन्यइति, तद्देशनियामकतया प्रागभावः सेत्स्यति* इति चेत्,

मैव, सत्कार्यवादे कार्यस्य कारणे सतएव अभिव्यक्ते, कारणादेव देशनियमसम्भवेन च तथासिद्धे अभ्युपगमैकशरणत्वाद्, बहुकपाले घटेऽपि समुदायस्येव कारणत्वेन गौरवाभावात्, ज्वो भाविनो अद्य अभावेन तत्कालवेशिष्टश्चस्य आवश्यकतया तेनैव निर्वाहात् च नच *प्रागभावा-ङ्गीकारे उत्पन्नस्य पुनः उत्पत्तिप्रसङ्गः, कालोपाधीना क्रमिकत्वेन तद्वेशिष्ट-तिरोभावकृत-सामग्रीविघटनादेव तदभावसिद्धे अतो न एवमपि प्रागभावसिद्धिः नच *यत्र पक्वे घटे युगपत्^{पा ३९} स्पर्शरूपरसगन्धाना पाकजानाम् उत्पत्तिः, तत्र, कारणस्य कालवेशिष्टश्चस्य च साधारणत्वात् तादृशस्पर्शादिप्रागभावः विना न निर्वाहः* इति शक्यः, तादृशविपरिणामस्य पाकसहकृत-स्पर्शादिस्वभावेनैव सम्भवात्, स्वभावस्य धर्मत्वेन तत्कल्पनेऽपि लाघवात् च एवम् अव्याप्यवृत्तिसायोगादे तत्तदवच्छेदेन उत्पत्तावपि कारणस्वभावस्येव नियामकत्व बोध्यम् नच *प्रागभावानङ्गीकारे कारणशरीरे प्रविष्टस्य पूर्ववर्तित्वस्य कथं ग्रहणं तस्य प्रागभाववच्छिन्न-ममयवर्तित्वरूपतया प्रागभावग्रहाधीनत्वाद्* इति वाच्यम्, आविर्भावकशक्त्याधारत्वस्यैव कारणत्वेन ‘पूर्ववर्तित्व’ घटितलक्षणस्यैव अनादरणीयत्वेन तद्ग्रहणस्य अनावश्यकत्वाद्

आवश्यकत्वेऽपि कार्यविषयकाग्रिम-जनन-ज्ञानेनैव तदग्रहणसम्भवाद् अन्यथा प्रागभावस्यापि कारणत्वेन तन्निष्ठपूर्ववर्तित्वस्यापि प्रागभावघटिततया तदग्रहणे आत्माश्रयेण प्रागभावकारणतादिज्ञानस्यापि असम्भवापत्तेः. प्रागभावस्य ज्ञायमान-कारणावस्थाविशेष-व्यंग्यत्वेन तस्य च उक्तरीत्या प्रागभावज्ञानाधीनज्ञान-कत्वेन चक्रकापत्तेः च. नच * तस्य न कारणावस्थाव्याप्यत्वम् * इति वाच्यं, घटजननाकूलां कारणावस्थाम् अपश्यत कस्यापि “इह घटो भविष्यति, इदानीम् अत्र घटप्रागभाव” इति बुद्ध्यनुदयेन तथात्वस्य तवापि आवश्यकत्वात्. नच * अभ्यासपाटवादेव उदयसम्भवात् न तथा * इति वाच्यं, तथा सति कारणादर्शनेऽपि तदुदयापत्तेः. तस्मात्^{१६} न कारणावस्थातिरिक्त प्रागभावः.

(२) तथा ध्वंसोऽपि, कार्यस्थितिप्रतिकूलां कारणावस्था पश्यतएव “इह घटो ध्वस्त” इत्यादिप्रत्ययात्. नच * सामयिकात्यन्ताभावस्य घटाप्रतिकूलत्वाद् ध्वंसानङ्गीकारे घटोन्मज्जनापत्तिः * इति वाच्यं, तादृगवस्थया सत्त्वात् निमित्तविघटनात् च तथा आपादयितुम् अशक्यत्वात्. यत्रच अवस्थातिरोभावः तत्र उन्मज्जनेऽपि बाधकाभावः. अतएव ताम्रादिघटेषु भङ्गोत्तरमपि निमित्तान्तरेण पुनःसन्धानमपि युज्यते. तस्य घटान्तरत्वाङ्गीकारस्तु केवलम् अभ्युपगमेक-शरणइति शब्दनित्यतावादोक्तिदिशैव अवगन्तव्यम्.

किञ्च आश्रमवासिरुपवर्षस्थ-कुरुषाण्डवसेन्य-प्रदर्शनस्य कश्यपकृतस्य तक्षकदग्धवटतरूज्जीवनस्य च भारतादौ दर्शनात्, तादृशस्थले पदार्थान्तरत्वस्य वक्तुम् अशक्यत्वं च इति विद्वन्मण्डने प्रभुचरणैरेव व्युत्पादितम्.

नच ‘ध्वस्त’-‘प्रागभाव’शब्दाभिलाषबाधः, ‘कार्य-कारणा’दिशब्द-यत्-सापेक्षवृत्तिकत्वेन कार्यस्थितिम् अग्रिमजननं च अपेक्ष्य कारणएव तदभिलाषस्य मुखेनेव उपपत्तेः. एवं ‘भावि’-‘ध्वस्त’शब्दावपि अग्रिमजनन-पूर्वस्थिती अपेक्ष्य, सत्येव कार्ये प्रयुज्येते न अमतिः, तेन जननानुकूल-कारणावस्था-निरूपकत्वं भावित्वं स्थितिप्रतिहूलकारणावस्थानिरु-

पकत्वं ध्वस्तत्वम् इति बोध्यम्. नच * प्रागभावध्वंसदशायां कार्यसत्त्वे
तदर्शनप्रसङ्गः * शङ्कनीय, सोक्ष्म्यादेव तदभावोपपत्तेः. मूक्ष्मत्वञ्च
अनुदभूताकृतिकत्वम्

सत्कार्यवादप्रपञ्च उत्पत्तिवाददूषणं च आविर्भावतिरोभाववादे सम्यग्
उपपादितमिति न इह तद्विस्तारः.

तस्माद् ध्वसोऽपि कारणावस्थातो न अतिरिच्यते.

(३) अन्योन्याभावस्तु : प्रतियोगितावच्छेदकारोपापवाद-लक्षणकत्वे
प्रतियोगितावच्छेदकता-नियामक-सम्बन्धावच्छिन्न- प्रतियोगितावच्छेदकात्य-
न्ताभावरूपत्वे च अत्यन्ताभावएव, तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न-
प्रतियोगिताकाभाव-रूपत्वेतु अतिरिक्त

तत्र अतिरिक्तपक्षे “घट पटो न” इत्यादिप्रत्ययस्य तादात्म्यसम्बन्धारोप-
पूर्वक-तदभावावगाहितया प्रतियोगि-तिरोभाव-सकीर्णानुयोगि-स्वरूपविष-
यत्वात् स्वरूपएव निविशते. यदिच तत्र “घटप्रतियोगिकान्योन्याभाववान्
पट” इति बोधः आपाद्यते तदा पृथक्त्वएव निविशते तच्च
आविर्भावविशेषएव, तस्यैव इतरव्यावर्तकत्वाद् इतरव्यावृत्तत्वात् च. “अयम्
अस्माद् भिन्नो अन्य पृथग्” इत्यादि-व्यवहार-साधकत्वेन तस्य
आविर्भावातिरेके मानाभावात् “घट पटो न” इत्यत्र पञ्चम्यभावस्तु
अनुशासनाभावात् स्वरूपात्मकत्वाद् वेति न तेनापि अतिरेकसिद्धिः

नच * इतरतिरोभावएव घटापटाद्याविर्भावः * इति वाच्यं, तस्य
व्याप्य-वृत्तित्वे घटाप्रतीतिप्रसङ्गाद्, अव्याप्यवृत्तित्वे तस्यापि तिरोभावान्तरं
कल्पनीयम् इति कल्पना तोल्यात्, अतो भावमुखप्रतीते “आविर्भावतिरोभावौ
शक्ती वै मुखैरिण” () इतिवाक्यात् च आविर्भावाभ्युपगमस्य

आवश्यकत्वात् नाग-ताम्रैक्ये कास्यवद् अविविक्तौ विवक्षित-वस्त्वावि-
र्भाव-तदितर-तिरोभावावेव पृथक्त्वम् तस्य भावप्रतीत्याधिक्याच्च आविर्भाव-
विशेषत्व तेन पृथक्त्वग्राहकसामग्र्येव तद्ग्रह

(४) अतः परम् अत्यन्ताभावो अवशिष्यते स तु तिरोभावएव, “इहभूतले
घटो नास्ति” इत्यादिप्रतीते तिरोभावावगाहितत्वात्, तिरोभावएव हि ‘नास्ति’
इति व्यवहारदर्शनाद्, घटाभावाभावस्य घटात्मकत्वेन सकीर्णत्वेऽपि
अभावमुखप्रतीत्या तिरोभावत्वाव्यभिचारात् ‘अभाव’ पदेनापि भाव-प्रतियोगिक-
पृथक्त्ववानेव प्रतीयते, “न भावो अभाव” — इति भावभिन्नो अभावइति
स च निषेधपूर्वको भावएव, अन्यथा असत्त्वात् खपुष्पवत् निस्वभाव स्यात्,
तथा सति न प्रतीयेतैव अतः प्रतीत्यनुरोधाद् भावान्तरविलक्षण
तिरोभावशक्तिरूपएव सिद्ध्यति तस्मात् न अभाव एभ्यो अतिरिक्त
तत्र अत्यन्ताभाव केवलतिरोभावात्मा प्रतियोगि-तद्व्याप्येतरप्रतियोगिग्राहक-
सामग्र्यैव गृह्यते सामग्रीतु पूर्वोक्तेन्द्रियाणि तद्व्यापारा च

प्रत्यक्षकरणरूपाणाम् इन्द्रियाणां षड्विध-व्यापारस्वरूपनिरूपणम् .

तत्र इन्द्रियाणि उक्तानि तेषां व्यापारो विचार्यते प्रत्यासत्तिरूप

स तावत् लौकिकालौकिक-भेदेन द्विधा तत्र अलौकिक
त्रिधा (क) सामान्य- (ख) योगज- (ग) माया-भेदात्

(क) तत्र सामान्यम् अनुगताकारेण तदव्यक्तिज्ञाने उपयुज्यते, तस्य
तथात्वञ्च अनुभवसिद्ध, (ख) द्वितीयो अनागतातीतातीन्द्रियादि-वस्तुसाक्षात्कारे,
भगवद्ध्यानादेरपि अत्रैव निवेश, (ग) तृतीया तु अविद्यमानानां पदार्थानां
बुद्धौ उपस्थापने अतएव नैयायिकानां ज्ञाने प्रत्यासत्तिभ्रम एतयोश्च तथात्व
शास्त्रसिद्धम्, “अनागतमतीतञ्च वर्तमानमतीन्द्रियं विप्रकृतं व्यवहितं सम्बन्धं पश्यन्ति
येन” (भाग पुरा १.०।६.१।२१) “यद्विषयानुष्ठानमपि धैर्येण धिगनुसरन्ति हि
तत्त्वमानसः” (भाग पुरा २।४।२१) भक्त्या मामभिजानानि’ (भग गीता १.८।५५)

“तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व” (तैत्ति उप ३।३) “ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि तद् विद्याद् आत्मनो मायाम्” (भाग पुरा २।१।३५) इत्यादिवाक्यात्

लोकिकस्तु पञ्चविध ^{पा १० *२} —

(क) सयोग (ख) तादात्म्य (ग) सयुक्ततादात्म्य

(घ) सयुक्तविशेषणतादात्म्य (ङ) स्वरूप च

इति भेदात्

तत्र चक्षुषा द्रव्यग्रहे सयोगएव प्रत्यासत्ति

केचित्तु * इतरेन्द्रियवैलक्षण्यात् चक्षुषो अप्राप्यप्रकाशकारित्व स्वीकृत्य दूतत्व-व्यवधानाभाव-सहकृतयोग्यता-मात्रेण प्रतीतिनिर्वाहात् तत्सयोग न * स्वीकुर्वन्ति

अन्येतु * नेत्रेन्द्रियगोलकस्य स्वच्छत्वेन तत्र वस्तुन प्रतिबिम्बे सति योग्यतामात्रेण मायाद्वारिका प्राप्ति स्वीकृत्य सयोगस्य द्वारत्व * खण्डयन्ति

तद् उभयमपि असङ्गत, भगवता सयोगस्वीकारात्, “चक्षुस्त्वष्टरि सयोज्य त्वष्टारमपि चक्षुषि तत्र मा मनसा ध्यायन् विश्व पश्यति दूत” (भाग पुरा ११।१५।२०) इति एकादशे भगवद्वाक्यात् अत्र तत्तत्प्रतियोगिकस-योगद्वयनिरूपणेन योग्यता-प्रतिबिम्ब-पक्षानङ्गीकारात्, ^६ “दूरे घट पश्यामि - निकटे हरि पश्यामि” इत्यादि सार्वजनीनाबाधितप्रत्ययात् च, निविडतम-काचाद्यन्तरितोपलब्धिस्तु अग्ने स्थालीभेदकत्ववत् चक्षुःकिरणानां स्वच्छकाचा-दिभेदकत्वादपि सङ्गच्छते अतएव गोलकस्य सच्छिद्रतापि निरस्ता शेषा ध्रुवादिविषयपर्यन्त गतानां पुन अन्तःप्रवेशस्तु मनस इव वेगादपि सम्पद्यते एव दूषणान्तरमपि निरसनीयम्, अस्य शास्त्रस्य अकाल्पनिकत्वात् प्रतिबिम्बस्तु अदण्डवारितत्वाद् भवति तेन मायापि प्रत्याययतीति चक्षुषा भूयोज्ञानम् उत्पद्यते तेजस्सयोगबाहुल्यइवेति न तस्य गतार्थता अतएव इन्द्रियान्तरापेक्षया

चक्षुषा भूयोज्ञानमपि युज्यते. तस्माद् अस्ति चक्षुष संयोगो द्रव्यग्रहणे व्यापारः.

सएव योग्य-गुण-क्रिया-जाति-साक्षात्कारेऽपि उपयुज्यते. तेषां वस्तुतो द्रव्याभिन्नत्वात्. संयुक्ततादात्म्यं वा अस्तु. एवं त्वग्-घ्राण-रसन-ग्रहणेऽपि ज्ञेयम्. श्रोत्रेण शब्दग्रहणे तु संयोगएव व्यापारः. शब्दो हि वायुना उपनीत श्रोत्रपर्यन्तं यदा आयाति तदा श्रोत्रावच्छिन्नत्वचा वाहकवायुसंयोगे तमेव संयोगं व्यापारयित्वा श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दो गृह्यते. शब्द-ग्राहक-सामग्री-प्राबल्येन ^{१२} संयोगाश्रयस्य वायो-अप्रत्यक्षत्वात् न तस्य संयोगस्य ग्रहणम्. संयोगग्राहकसामग्रीप्राबल्ये तु संयोगस्यापि ग्रहणं, यथा कर्णाभ्यर्णम् आगतस्य वार्ताश्रवणे वक्तृ-मुख-वायु-संयोगस्य. अभावे विशेषणतेव, शब्दग्रहे संयुक्त-वायूढ-शब्द-स्वरूपमेव वा द्वारम्.

मनसस्तु वहिर्विषये स्वसंयोगद्वारक इन्द्रियसंयोगादि, स्वधर्माणां ज्ञानसुखादीनां ग्रहणे तादात्म्यं, वृत्तीनां ग्रहणे तु वृत्तिस्वरूपमेव द्वारम्.

तिरोभावस्तु इन्द्रिय-संयुक्त-विशेषणतया गृह्यते.

सदसदात्मकवस्तुन असत्ताग्रहणे अनुपलब्धिः प्रमाणम् इति मतस्य विमर्शं पार्थसारथिमतम् :

पार्थसारथिमिश्रास्तु *वस्तुमात्रं सदसदात्मना द्विविधम्. तत्र यद् यदा यत्र सद्रूपेण वर्तते तत् तत्र तदा प्रत्यक्षादिभि 'अस्ति' इति प्रमीयते. यदा तु असद्रूपेण वर्तते, तदा सद्रूपबोधकानां प्रत्यक्षादीनाम् अकिञ्चित्करत्वाद्, योग्यानुपलब्धिरूपेण तद् वस्तु 'नास्ति' इति प्रमीयते. तस्माद् योग्यानुपलब्धि-रूप-प्रमाणान्तर-गम्यएव अभावः. योग्यानुपलब्धिश्च स्वरूपसती कारणं न तु ज्ञानमपि तस्या अपेक्षितम्. अन्यथा तस्या अपि प्रमेयत्वात् प्रमाणापेक्षायां अनवस्थापते. नच *अन्धको हस्ताभ्यां वस्तुन सर्वतः परामर्शं, जांतायामपि योग्यानुपलब्धौ "किं कश्चिद् देशो अवशिष्टः!"

इति सन्दिहानस्य वस्त्वभावबुद्धयनुदयात्, कदाचिद् अपरामृष्यापि सर्वत परामृष्टम् इति भ्रान्त्या योग्यानुपलब्धिनिश्चये वस्त्वभावबुद्धयनुदयात् तस्या ज्ञातायाएव कारणत्वम् * इति शङ्क्यं, तादृशबुद्धयनुदयादेः योग्यानुपलम्भीय-योग्यताऽज्ञानज्ञानकृतत्वात्. तद्योग्यताया ज्ञातायाएव उपयोगेऽपि अनुपलब्धे स्वरूपसत्याएव कारणत्वेन अदोपात्. नच *अभावज्ञानम् इन्द्रियेणैव अस्तु! * इति शङ्क्यम्, इन्द्रियव्यापाराभावेऽपि तज्ज्ञानदर्शनात्. केनचित् प्रातेरेव आगते माथुरे दीर्घतमे शुक्लवाससि पुंसि, मध्याह्ने पृष्ठे, श्रोतु प्रतियोग्यस्मरणादेव प्रातःकालीनतदभावज्ञानस्य अनुभव-साक्षिकत्वात्. नच *प्रातः अवगतो अभावः तदा स्मर्यते * इति वाच्यं, प्रातः प्रतियोगिनः कथञ्चिदपि बुद्धौ अनारोहात्, तत्प्रतियोगिकस्य अभाव-स्यापि तथात्वेन, तत्स्मरणस्य सर्वथैव अशक्यवचनत्वात्. एवं सिद्धे योग्यानुपलब्धे कारणत्वे यत्र इन्द्रियव्यापारानुपरमे सन्निहित-देश-काल-वर्ती अभावः प्रतीयते तत्रापि सैव कारणं नतु इन्द्रियादिकम् * इति आहुः.

इह केवलार्द्धतवादिन वेदान्तपरिभाषाकारस्य मतम् :

वेदान्तपरिभाषायान्तु * योग्यानुपलब्धे कारणत्वेऽपि किं तत्स्वरूपं (१) योग्यस्य प्रतियोगिनो अनुपलब्धि इति वा ? (२) योग्ये अधिकरणे प्रतियोगिनो अनुपलब्धि इति वा ? (३) योग्यत्वविशिष्टानुपलब्धि इति वा ? (१) न आद्यः, स्तम्भे पिशाचभेदाप्रत्यक्षत्वापत्ते. (२) न द्वितीयः, आत्मनि धर्माद्यभावस्यापि प्रत्यक्षत्वापत्ते. (३) तृतीयस्तु स्यात्, कर्मधारयाश्रयणात्. तस्या योग्यत्वन्तु तर्कित-प्रतियोगिसत्त्व-प्रसज्जित-प्रतियोगिकत्वम्. तदर्थश्च गृह्यमाणस्य अभावस्य यः प्रतियोगी तस्य सत्त्वेन, अधिकरणे तर्कितेन, यस्याः अनुपलब्धे प्रतियोगिभूतम् उपलब्धिस्वरूपम् आपादयितुं शक्यते तादृशत्वम्. स्फीतालोकवति भूतले “यदि घटः स्यात् तदा उपलभ्येत” इति आपादयितुं शक्यत्वात्, तादृशस्थले घटाभावो अनुपलब्धिगम्यः. अन्धकारेतु तादृशापादनासम्भवात् न अनुपलब्धिगम्यः. अतएव स्तम्भे पिशाचसत्त्वे स्तम्भवत् प्रत्यक्षतापत्त्या तत्र तदभावो अनुपलब्धिगम्यः. आत्मनि धर्माद्यसत्त्वेऽपि आत्मनो अतीन्द्रियत्वेन निरुक्तोपलम्भापादनासम्भवात् न अनुपलब्धिगम्यः.

नच * अधिकरणेन्द्रियसन्निकर्षस्थले, उक्तरीत्या, अभावस्य अनुपलब्धिगम्यत्वं तव अनुमतम्. तत्र इन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधानाद् इन्द्रियस्यैव अभावाकारवृत्तौ कारणता अस्तु * इति वाच्यं, प्रतियोग्यनुपलब्धेः अभावग्रहे हेतुताया क्लृप्तत्वेन कारणत्वमात्रस्य अधिकस्य कल्पनात्, इन्द्रियस्य अभावेन समम् असन्निकर्षाद् अभावग्रहहेतुत्वाभावाद्, इन्द्रियान्वयव्यतिरेकयोः अधिकरणज्ञानाद्युपक्षीणत्वेन तेषाम् अन्यथासिद्धत्वात् च. * ननु “भूतले घटो न” इत्यादौ भूतलांशे ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वम् उभयसम्मतं, तत्र वृत्तिनिर्गमने भूतलावच्छिन्नचैतन्यवत् तन्निष्ठ-घटाभावावच्छिन्न-चैतन्यस्यापि प्रमात्रभिन्नतया घटाभावस्यापि प्रत्यक्ष-तैव आयाति * इति चेत्, न, तस्याः प्रतीतिः प्रत्यक्षत्वेऽपि तत्करणस्य न प्रत्यक्षत्वं “दशम त्वम् असि” इत्यादि-वाक्य-जन्य-ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वेऽपि तत्करणस्य वाक्यस्य प्रत्यक्षानन्तपातित्वाभ्युपगमात्. नच * फलवैजात्यं विना कथं प्रमाणवैजात्यम् * इति शङ्क्यं, वृत्तिवैजात्यमात्रेण प्रमाणवैजात्योपपत्तेः तस्माद् अभावस्य अनुपलब्धिगम्यत्वमेव * इति उक्तम्.

इह कणभक्षाक्षपादमते :

वैशेषिकास्तु, उक्तरीतिकामेव योग्यानुपलब्धिं स्वीकृत्य, * स्फीतालोके तत्सहकृतेन चक्षुषा, तमसि च तादृशा त्वचा, घटाद्यभावप्रत्यक्षः; तथैव इन्द्रियान्तरे तत्तद्ग्राह्याभावप्रत्यक्षं, संसर्गाभावप्रत्यक्षे प्रतियोगियोग्यताया अन्योन्याभावप्रत्यक्षे अधिकरणयोग्यताया अपेक्षां च * आहुः.

नैयायिकास्तु * अनुपलब्धे पूर्वोक्तां योग्यताम् अनादृत्य योग्यसहकारि-सम्पन्नत्वरूपामेव योग्यताम् * इच्छन्ति.

अतएव (ते!) *अन्धकारे आलोकाधिकरण-सन्निकर्षात्मक-योग्यसहकार्यभावाद् योग्यानुपलब्ध्यभावेन न घटाभावग्रहः चक्षुषा. जलपरमाणी च इन्द्रियसन्निकृष्ट-महत्त्ववद्-विशेषणतारूपस्य तस्य अभावात् न पृथिवीत्याभावग्रहः. भूतले पिशाचात्यन्ताभावस्तु अयोग्यत्वादेव न गृह्यते अत्यन्ताभावे योग्यतातु योग्यमात्रप्रतियोगिकत्वरूपा योग्यधर्मावच्छिन्न-

प्रतियोगिताकत्वरूपा वा बोध्या. सर्वाभावसाधारणातु न काचिद् योग्यता
किन्तु गुणयोग्यतावद् अननुगतेव * इति आहुः.

अत्र स्वसिद्धान्तनिरूपणम् :

ममत्तु प्रतिभाति — अनुपलब्धे न अभावग्रहं प्रति करणत्वं, “चक्षुषा
अवगतः” इतिवद् “अनुपलब्ध्या अवगतः” इति प्रत्ययाभावाद,
योग्यप्रतियोगिकत्वरूपया अभावनिष्ठयोग्यतयेव निर्वाहात्. अत तद्योग्यत्वादिवि-
चारो व्यर्थएव. नच *योग्यानुपलब्धे अकारणत्वे घटवत्यपि भूतले
घटाभावग्रहप्रसङ्गः, तस्य घटाक्रान्तत्वेन देशान्तरे इन्द्रियसन्निकृष्टाभावासत्त्वेऽपि
तद्विशेषणत्वेन असत्त्वाद् इन्द्रियसन्निकृष्टोद्भूतरूपवद्-विशेषणतारूप-
प्रत्यासत्त्यभावादेव तद्धारणात्. अतएव न अन्धकारे, तमोवृत्तत्वेन भूतलस्य
असन्निकृष्टत्वात्. * अनावरकत्वपक्षेऽपि अभावस्य प्रतियोगि तद्व्याप्येतर-
प्रतियोगिग्राहक-यावत्सासामग्री-ग्राह्यत्व-नियमेन सामर्थ्यभावादेव चारणात्,
गृहान्तर्देशस्य असन्निकृष्टत्वेन सन्निकृष्ट-विशेषणतारूप-प्रत्यासत्त्यभावेऽपि
तेजोऽभावस्य तमोरूपमायाबलादेव भानसम्भवात् च भूतले पिशाचात्यन्ताभावो,
जलपरमाणौ पृथिवीत्वाभावश्च, अयोग्यत्वादेव न गृह्यते. स्तम्भे पिशाचभेदस्तु
स्वरूपात्मा वा पृथक्त्वात्मा वा इति तद्ग्राहकसामर्थ्येव गृह्यते. नच
* द्विष्टगुणप्रत्यक्षे यावदाश्रयप्रत्यक्षस्य हेतुत्वात्, न एवम् * इति शङ्क्यं,
पृथक्त्वभिन्नत्वस्य तत्र विशेषणीयत्वात्. अन्यथा तत्प्रतीतिबाधापत्तेः. नच
इष्टापत्तिः, अनुभवविरोधात् नच * भिन्नत्वस्य विशेषणत्वे सिद्धं भेदेन *
इति वाच्यं, भेद-प्रतियोगिक-भेदवत् पृथक्त्व-प्रतियोगिक-पृथक्त्वाङ्गीकारेण
अतिरेकेऽपि अदोषात्. नच * सन्निकर्षकल्पनम् अप्रामाणिकम् * इति वाच्यम्,
अनुभवविरोधाद्, “इदानीं घट — प्राच्यां घट” इत्यादिप्रतीतिषु
विशेषणीभूतयो कालदिशो विशेषणतयैव भानदर्शनात्, शास्त्रदीपिकायामपि
तथा अङ्गीकारात्. नच * तयो संयोगेनैव भानम् * इति वाच्यं, तस्य
सदातनत्वेन तयो सदा भानापत्तेः. नच * अयोग्यत्वात् न दोष * इति
वाच्यं, तस्य विशेषणत्वदशायामपि तुल्यत्वात्. नच * संयुक्तसंयोगेन
तमोभानम् * इति वाच्यं * संयुक्तसंयोगस्य प्रत्यासत्तित्वं, * अनुपलब्धे करणत्वम्,

अभावस्य असन्निकृष्टस्य भानम्, इति कल्पनात्रयगौरवात् न च * कल्पनातौ-
 ल्यम्! * इति वाच्यं, मानान्तरकल्पनाया अप्रमाणिकत्वात्. प्रत्यक्षसूत्रीय-
 'सत्संप्रयोग' (जेमि.सू १।१।४)-पदे कर्मधारयाश्रयणेऽपि अविरोधात्. 'सन्निक-
 र्षा' निरुक्त्या करणत्वस्य अशक्यवचनत्वाद्, असन्निकृष्टस्य मानान्तरेण
 उपलम्भाङ्गीकारे विप्रकृष्टदैशिकाभावग्रहापत्ते च.

* अथ योग्यताज्ञापके तर्के अधिकरणप्रत्यक्षस्यापि सहकारित्वात् न
 दोष * इति चेत्, न, अभावज्ञानस्य अनुपलब्ध्यधीनत्वेन, अनुपलब्धि-योग्यता-
 ज्ञानस्य उक्ततर्काधीनत्वेन, तर्कस्य च अभावसंसृष्टाधिकरण-प्रत्यक्षाधीनत्वेन
 अभावज्ञानाधीनत्वात् च चक्रकापत्तेश्च. न च * योग्यताया अज्ञातायाएव
 उपयोग * इति वाच्यं, तर्कोपन्यासवैयर्थ्यापत्ते. तज्ज्ञानार्थमेव तदुपन्यासाद्,
 अन्धकारेऽपि तद्ग्रहापत्ते च. न च * तत्र योग्यता नास्त्येव * इति वाच्यं,
 हस्तेन तज्ज्ञानात्. अतो "हस्ताभ्यां घटाभावं जानामि—चक्षुषा तु न
 पश्यामि" इति अनुव्यवसायाद् ऐन्द्रियकमेव घटाभावज्ञानम्. न च * इन्द्रियाणाम्
 अधिकरणज्ञानाद्युपक्षीणत्वं शक्यम्, अधिकरणज्ञानोत्तरं नेत्रनिमीलनेऽपि
 योग्यानुपलब्ध्या घटाभावग्रहापत्ते. न च * फलीभूतज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वानुरोधेन
 तत्कारणस्य प्रत्यक्षत्वं न युक्तिसहं, "दशम त्वम् असि" इत्यादि-वाक्यजन्य-
 प्रत्यक्षस्थले व्यभिचाराद् * इति वाच्यं, तदसगतत्वस्य शब्दपरिच्छेदएव
 उपपादितत्वात्. वृत्तिवैजात्यस्य प्रमाणवैजात्योपपादकत्वे, फलवैजात्यस्य
 तदनियतत्वाद् आकस्मिकत्वापत्ते. वृत्तिनियतत्वाङ्गीकारेण समर्थितुं फलस्य
 वृत्तिनियतत्वेन, वृत्तेश्च प्रमाणनियतत्वेन, फलाद् वृत्तित्वद्वारा प्रमाणनिर्णयस्य
 अनपनोद्यत्वात्. उक्तवाक्याद् "दशमो अहम्" इति प्रत्यक्षोत्तरम् "आत्मानं
 दशमं पश्यामि" इति 'जानामि' इति शब्दात्, 'प्रत्येमि' इति वा विशेषवृत्त्युदये,
 यत्नं विनापि प्रमाणनिर्णयात्. शब्दे चक्षुरादिसहकारित्वस्य परोक्षवृत्तिजनकत्वस्य
 च निश्चयेन, शब्दात् प्रत्यक्षस्य सर्वथा अनुपपन्नत्वात् च. अतो वृत्त्यनुरोधेनापि
 कारणम् इन्द्रियमेव. यत् पुन मध्याह्ने प्रतियोग्यस्मरणात् प्रातः कालीन-माशुराभाव-
 ज्ञानं शास्त्रदीपिकायाम् उक्तं, तदपि न युक्तिसहं, प्रातः प्रतियोगिनी
 बुद्धचनारूढत्वेन स्मरणाभावस्य ध्वंसरूपताया अशक्यवचनत्वात् प्रागभावा-

त्यन्ताभावरूपत्वे प्रश्नात् प्रागपि तत्सत्त्वेन तदापि तदभावज्ञानप्रसंगाद्, भेदरूपत्वेऽपि तथात्वात् च, अभावत्वेन संसर्गाभावत्वादिना च तत्कारणताया दुर्घटत्वात् सहकार्यन्तरापेक्षायाम् उक्तदोषप्रसंगात् च. अतः प्रश्नेन प्रातःकालीनसंसर्गशाब्दे जाते तस्य बुद्धौ आरोहे विरोधसंसर्गेण अभावज्ञानं मानसं, मायाद्वारकं वा मानसम्-इति, न तेन स्मरणाभावस्य कारणत्वसिद्धिः. एतेनैव सहकारित्वमपि दत्तोत्तरम्. तस्माद् अभावज्ञानम् अभावयोग्यतया साधितम् ऐन्द्रियकमेव इति निश्चयः. इति अभाववादः.

सांख्यमतानुसारेण वृत्तिसामान्यस्वरूपनिरूपणं तत्र मायावादि-नैयायिकयोः च विप्रतिपत्तेः विमर्शः :

प्रकृतम् अनुसरामः : उक्तसन्निकर्षजन्यमपि सविकल्पकं ज्ञानं चाक्षुषादिभेदेन बुद्धिवृत्त्या जन्यतइति वृत्तिं विचार्यते

तत्र, नेत्रनिमीलने कृते बहिर्दृष्टपदार्थस्यैव कश्चिद् आकारो नेत्रान्तरभासते. स आकारो न बाह्यवस्तुन, आश्रयम् अतिहाय तत्र तस्य अशक्यवचनत्वात्. अतः स आन्तरस्यैव कस्यचन भवितुम् अर्हतीति तदाश्रयत्वेन सांख्ये आहंकारिकं तत्त्वान्तर 'वृत्ति' नामकं कल्प्यते

यथाहि प्रवचनसूत्रद्वयं :—

“प्रमार्शप्रकाशलिगाद् वृत्तिसिद्धिः” (सां प्र.सू.५।१०६) “भागुणाभ्या तत्त्वान्तर वृत्तिः” (सां प्र.सू.५।१०७) इति. अर्थस्तु : ‘प्र-मा’ पूर्वोक्तरीतिकम्-आकारज्ञानं, तत्सहितो यो ‘अर्थप्रकाशो’ विषयज्ञानं, एवम् उभयविधाद् ‘लिगाद्’ (‘वृत्तिसिद्धिः’) वृत्तिसत्तानिश्चयः. यदि वृत्तिः न स्याद् उक्त आकारो न प्रतीयेत अतैजसत्वाद्, अचलं चक्षुः विप्रकृष्टं विषयम् अप्रानुवत् तत्प्रकाशनं न कुर्यात्, जायतेच तद् उभयम् अतः सा अस्ति इति निश्चयः. एवं ‘भागो’ विभागो अहंकाराद् विभज्य

विषयदेशावधिगमनं, 'गुण' उक्ताकार, 'ताभ्यां' कृत्वा आहंकारिकं
 "तत्त्वान्तरं वृत्ति" इति. अभियुक्तोक्तिश्च "वृत्तयः प्रसदरूपा
 स्फारिताक्षस्य यत्र च अदृष्टानुग्रहात् तत्तत्-(तत्र)सम्बन्धार्थान्बोधिका"
 ().

(द्रष्ट. : सां.प्र.वृ.सार.५।१०७) इति.

अमूर्ताया तस्या कथं क्रिया इत्यत तृतीयं सूत्रं :—

"न द्रव्यनियमं तद्योगाद्" (सां.प्र.सू.५।१०८) इति.
 अनियतत्वात् पदार्थानां 'न द्रव्य'एव क्रिया 'नियम' किन्तु यत्र
 यत् प्रमाणतः सिध्यति तत्र तद् अनुमन्यामहे; अतो, दूरस्थवस्तुन
 आकारग्रहणदर्शनात् सापि क्रियावती इति अर्थः.

इति (तत्रैव).

एवं मायावादिनोऽपि * अन्तःकरणविशिष्टस्य चैतन्यस्य प्रमातृत्वम्
 अंगीकृत्य तस्मिन् ज्ञानसूक्ष्मावस्थारूपं विषयसंस्कारम् आधातुं विषयेन्द्रिय-
 सन्निकर्ष-सामर्थ्य-जन्याम् अन्तःकरणपरिणामरूपां वृत्तिम् * अंगीकुर्वन्ति.

नैयायिकादयस्तु * नयनकिरणानां निर्गमनेन विषयसन्निकर्षाद् ज्ञानम्.
 तेनच भावनासंस्काराख्यं गुणान्तरं चरमस्मृतिनाशम् आत्मनि अंगीकुर्वन्तो
 वृत्तिपदार्थमेव न * इच्छन्ति.

अथ उक्तपक्षयोः आलोचनपूर्वकं स्वमतनिरूपणं च :

तत्तु नेत्रान्तरानुभवस्य सार्वजनीनत्वाद् अप्रयोजकमिति वृत्तिः सर्वथा
 अभ्युपेयैव परन्तु या बुद्धिवृत्तिः "संस्काराधानाद्यर्थं जन्यते" इति उच्यते,
 सा वृत्तिः बुद्धेः न तत्त्वान्तरं नापि अन्तःकरणपरिणामान्तरं किन्तु बुद्धितत्त्वस्य
 कालक्षुब्धसत्त्वादिगुणकृतो अवस्थाविशेष एव. नच * तस्य अवस्थाविशेषत्वे
 निर्गमाभावेन विषयासंसर्गात् तदाकारकत्वं वृत्ते दुर्घटम् * इति शङ्क्यं, मायागुणस्य

रजस चञ्चलत्वेन विक्षेपकत्वेन च दर्पणे मुखस्येव नेत्रगोलकेऽपि
वाह्यविषयाकारसमर्पणे तदाकारकत्वस्य सुघटत्वात्. सएव मायिक आकारो
नयनकिरणेषु नेत्रमुद्रणे प्रत्यावृत्तेषु गोलकान्तरं अनुभूयते. एवमेव इन्द्रियान्तरेऽपि
वृत्ति ज्ञातव्या. यद्यपि सा न अनुभूयते तथापि तादृशसंस्काराधानात्
निश्चीयते. “एकादशा आसन् मनसोहि वृत्तय आकूतय पञ्च धियो अभिमान
मात्राणि कर्माणि पुर च तासा वदन्ति हैकादश वीरभूमि” (भाग.पुरा.५।११।९) इति
जडभरतवाक्यात् च. भूमिषु पञ्चानां ज्ञेयत्वेन विषयत्वं तत पञ्चानां
कार्यत्वेन, पुरस्य स्वकार्यत्वेन ज्ञेयम् सस्कारस्तु “जातस्य ज्ञानस्य सूक्ष्मावस्था”
इति उक्तम् बुद्धिश्च कर्मज्ञानेन्द्रियानुग्राहिका इति वक्ष्यते. साच वृत्तिद्वारैव
अनुगृह्णातीति इन्द्रियजन्यस्य विशिष्टज्ञानस्य नानाभेदा अतो अवस्थयेव
निवहि साख्याभिमतस्य अन्त करणातिरिक्त-पदार्थान्तरत्वस्य निष्प्रमाणकत्वात्.
“काम सकल्प” (बृह उप १।५।३) इति श्रुतौ ‘कामा’दिपदानि शक्तानि ‘धी’ पदं
लाक्षणिकम्” इति मायावादिकल्पनायाऽपि वैरूप्यादिदोष-ग्रस्तत्वात् च तद्
उभयमपि असंगतम्

अतो बुद्धे अवस्थाविशेषएव वृत्ति इति निश्चय

* ननु इन्द्रियार्थसम्प्रयोगोत्तर सम्प्रयुक्तार्थाकारसमानो बुद्धौ आकारो
जायतइति प्रमा भवतु, भ्रमादिकन्तु न भविष्यति शुक्त्यादौ तद्विरुद्धस्य
रजताद्याकारस्य अभावेन बुद्धौ मायाकृततत्समर्पणयोगाद् अन्यथाख्यातिप्रभृतीनां
च अनङ्गीकाराद्* इति चेत्, न, स्वभावगुणानुग्राहादेव तस्यापि सिद्धे,
पूर्वोत्पन्नस्य रजताद्याकारकसंस्कारस्य रजसा बहिक्षेपे, सम्प्रयुक्तार्थाकारस्य
तमसा आवरणे च, भ्रमस्य सुखेन वस्तु शक्यत्वात् एव नानाविधाद्
गुणक्षोभज-वृत्ति-भेदादेव अन्येऽपि ज्ञानभेदा उन्नेया.

जाग्रदवस्थायां पञ्चविधेन्द्रियसन्निकर्षमात्रजन्यं ज्ञानं निर्विकल्पकं तदेव
संशयादिबुद्धिवृत्त्यनुगृहीतं सत् सविकल्पकं ज्ञानं भवति इति निरूपणम् :

यदा विषयेन्द्रियसयोगात् निर्विकल्पकं तदा इन्द्रियदेशे बुद्धे वृत्ति.

तथा इन्द्रियानुग्रहे सविकल्पकम्, अननुग्रहेतु न. वृत्त्यन्तरेण पूर्ववृत्ते नाशे सविकल्पकस्य संस्काररूपेण अवस्थानं, तस्य उद्बोधकै उद्बोधे मायोपस्थापित-मायिकार्थ-महकृता स्मृति, राजसै रागादिभि संस्कारप्राबल्ये मायया विषयाकारावरणपूर्वकं मायिकपदार्थ-सहितस्य ज्ञानस्य गोलकाग्रभागे क्षेपे भ्रमः, किञ्चिदावरणे संशयः, सत्त्वेन सर्वथावरणभंगे विक्षेपस्यापि निवृत्तौ विशेषदर्शनम् इत्यादि.

वृत्तिविषयातु वृत्ति न भवतीति अनुभवानुसारेणैव निश्चीयते. नच * वृत्तीनां गुणजन्यत्वे मानाभाव * शङ्क्यो, “जाग्रत्स्वप्न सुषुप्तं च गुणतो बुद्धिवृत्तय तासां विलक्षणो जीव साक्षित्वेन विमिश्रित” (भाग.पुरा.१.१.१३.१७) इति एकादशे हंसवाक्यात्, संशयादिवृत्तीनां तदवान्तरभेदत्वेन तदनतिरेकात्.

यत्तु “जाग्रद्भोगप्रद-कर्मोद्बोधे जागरणं, तदुपरमे निद्रया स्वप्नसुषुप्ती” इति मतं, तत्रापि कर्मोद्बोधोपरमहेतो अवश्यवाच्यत्वेन लाघवाद् ईश्वरेच्छानुगृहीतानां परस्परपमर्दकादिस्वभावानां गुणानामेव अवस्थाहेतुत्वं साधीय.

तस्माद् बुद्धिगुणजन्या तदवस्था वृत्तिः. सा यदा अनुगृह्णाति तदा वक्ष्यमाणप्रक्रियया सविकल्पकं ज्ञानं जन्यते.

तथाहि :—

“अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।

विविधाश्च पृथक् चेत्या दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥

शरीरं वाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्राप्नोति नरः।

न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥”

(भग.गीता.१८।१४-१५)

इति गीतायां कार्यमात्रं प्रति पञ्च हेतव उक्ता.

तत्र : 'अधिष्ठानं'=शरीरं, 'कर्ता'=जीव, 'करणं'=वा-

ह्याभ्यन्तर, 'चेष्टा' = प्राणादिवायुकर्माणि, 'दैव' = काल-
कर्म-भगवदिच्छादि

“इंस्वर सर्वभूतानां हृद्देशे, अर्जुन! तिष्ठति ब्राम्हण सर्वभूतानि यन्नाल्लभन्ति
मायया” (भग गीता १८।६१) इति वाक्याद् अन्तर्यामी वा 'दैव' पदवाच्यो
“देवानां समूहो दैवम्” इति तत्तदिन्द्रियाधिष्ठातारो वा एव सति ज्ञानजनक-
मनसयोगादि-हेतुभूत-क्रियायामपि एतान्येव कारणानि

तत्र अयं क्रमो दैवानुकूल्येन अन्तर्यामिणा मनस्तत्कार्यार्थं प्रेर्यते,
तत् च इन्द्रियप्रेरणाय तत्तदिन्द्रियेण ससृज्यते तत्र तत्तदिन्द्रियदेवतानुकूल्ये
विषयसमृष्टे इन्द्रिये स्वावच्छिन्ने मनसि पूर्वं निर्विकल्पकम् उत्पाद्यते
तदा इन्द्रियदेशे बुद्धे वृत्तिस्ततो बुद्ध्यापि वृत्तिद्वारा तदनुग्रहे सविकल्पक
भवति

चाक्षुषेतु नयनकिरणा विषयपर्यन्तं गच्छन्ति, इन्द्रियान्तरेतु किरणाभावाद
इन्द्रियेण सह विषयं मनः प्राप्नोति तदा, क्रमेण सहैव वा, निर्विकल्पक
सविकल्पकं च तत्तदिन्द्रियसमृष्टे मनसि उत्पद्यते ज्ञानद्वयेऽपि विषयेन्द्रियस्पर्शादिकं
व्यापारं

नच *नयनानां किरणान्नीकारे चक्षुषो व्यापकत्वापत्त्या “अणवश्च”
(ब्र सू २।४।७) इति सूत्रविरोधः * शक्नीयः, अर्चीरूपाणां किरणानां
सूर्यमण्डलाद् भेदस्य “आदित्यो वा एष” (महाना उप १।२।२) इति अनुवाके
श्रावणात् ते अखिलमेरूत्तरदेशान् व्याप्नुवानस्य आदित्यमण्डलस्य
दश-सहस्र-योजन-परिमाण-स्मरणेन तेषां तत्परिमाणाबाधकत्ववत् सूर्याध्यात्मि-
कचक्षुषः किरणानामपि तथात्वेन सूत्रविरोधात् यद्वा “तथा प्राणः” (ब्र सू २।४।१)
इत्यत्र प्राणेषु जीवातिदेशस्य सिद्धान्ते अङ्गीकारात् सर्वशरीरे जीवस्येव सामर्थ्याद्
वा गुणाद् वा व्याप्तिवत् तेषामपि देवतासामर्थ्याद् वा गुणाद् वा व्याप्त्यङ्गीकारस्य
वक्तव्यत्वात् “गुणाद्वा आलोकवद्” (ब्र सू २।३।२५) इति सूत्रे आलोकस्य

गुणत्वांगीकारात् तैजसस्य चक्षुष आलोक-रूप-गुण-व्याप्यंगीकारेऽपि अदोष. एवमपि सूत्राविरोध चाक्षुष-रूप-कार्य-सिद्धयो सम्भवात्. अतएव त्वच सकल-शरीर-व्यापित्वमपि देवता-सामर्थ्य-स्पर्श-गुणाभ्यां युज्यते अन्यथातु सूत्रविरोध-सार्वत्रिक-स्पर्शानुभव-बाधयो अन्यतरद् आपद्येतेव. तस्मात् नयन-किरण-गमन-द्वारिकैव प्रत्यक्षप्रक्रिया साधीयसी.

या पुन * आलोकेन मायाकार्य-तमो-जनन-प्रतिबन्धे कृते, ज्योती-रूप-सूर्य-देवतया अण्वात्मकचक्षुषि सन्मुखाव्यवहित-देशस्थ-पृथुबुध्नोदराकारे विशिष्टरूपे प्रापिते सत्त्वप्रधानबुद्धे अन्तेरेव तदाकारतासम्पत्तौ अणुरूपं जीवं प्रति ज्ञानाश्रिताध्यात्मिक-घटाभिव्यक्तिरेव चाक्षुषं, दूरस्थगन्धशब्दयोस्तु वायुना घ्राण-श्रोत्र-समीप-प्रापणे अन्त सत्त्वात्मकबुद्धे तदाकारतासम्पत्तौ ज्ञानाश्रिताध्यात्मिक-गन्धशब्दाभिव्यक्तिरेव घ्राणजं श्रावणं च, प्रत्यक्षमिति आध्यात्मिकाधिभौतिकयो अभेदात् न बाह्यघटाग्रहणनिबन्धनो दोष* इति केषाञ्चित् प्रत्यक्षप्रक्रिया.

तत्र आलोकेन तमोजनन-प्रतिबन्ध-कथनम् अयुक्तं, “यथाहि भागो उदयोनृचक्षुषा तमो निहन्त्याद्” (भाग.पुरा.११।२।८।३४) इति एकादशरक्न्धीय-भगवद्-वाक्ये तमो निहन्तृत्वकथनात्. एवं ज्योतीरूप-सूर्यदेवताया पुरुषचक्षुषि विषयनिष्ठ-रूपप्रापकत्व-कथनमपि तथा, बहुषु पश्यत्सु तान्-तान् प्रति रूपे प्रापिते विषयस्य नीरूपताप्रसंगेन पाश्चात्यानां तददर्शनप्रसंगात्, तद्दर्शनार्थं तस्मिन् विषये पुन रूपान्तरोत्पादनानयनादिरूपाप्रामाणिक-कल्पना-प्रसंगात् च, सन्ध्यायाम् अस्तंगते सूर्य रूपप्रापकदेवताया गतत्वात् तदानीं घटाद्यदर्शनापत्तेश्च.

नच * “निरी नेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहावित्वाद् दर्शयति न” (ब्र.सू.४।२।१९) इति सूत्रे “अथ या एता हृदयस्य नाइच” (छान्दो.उप.८।६।१) इति नाही उपक्रम्य “अमुष्माद् आदित्यात् प्रतीयन्ते ता आमु नाडीषु सुता आम्हो नाडीम्हो प्रतीयन्ते ते अमुष्मिन् आदित्ये सुता” (छान्दो.उप.८।६।२) इति

दहरविद्यास्थश्रुत्या रात्रावपि आदित्यरश्मिसम्बन्धस्य उक्तत्वात् तदानीं सन्ध्यायाञ्च नाडीसृप्तरश्मिभि विषयरूपप्रापणात् न घटाद्यदर्शनप्रसंग * इति वाच्यं, नाडीसृप्तरश्मिनां हृदयाग्रप्रद्योतन-जीवोत्क्रमण-मात्र-कार्यार्थतायाएव श्रावणेन तद्रश्मीनां रूपप्रापकताया वक्तुम् अशक्यत्वात्. तदानीमपि रूपप्रापकत्वाङ्गीकारे तदानीं नश्यत्वाद् अस्तमिते आदित्ये “किञ्ज्योति अयं पुण्य” (बृह.उप.४।३।२) इत्यादिज्योतिर्ब्राह्मणविरोधस्य प्रत्यक्षविरोधस्य च दुष्परिहरत्वात्. अतो “नेतृत्व द्रव्यशब्दयो” (भाग.पुरा.३।२६।३७) इतिवद् आदित्यादिरश्मीनां रूपप्रापकत्वस्य अशब्दगोचरत्वात् सूर्यरूपदेवताया रूपप्रापकत्वाङ्गीकारः सर्वथा न युक्तः.

किञ्च चक्षुषि रूपप्राप्तिश्च प्रतिबिम्बभवनरूपैव, सातु मायया “ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत” (भाग.पुरा..२।१।३३) इति वाक्यात्, तस्या विक्षेपकत्वात् च.

एवञ्च बुद्ध्याकारसमर्पकत्वमपि प्रतिबिम्बस्येव आध्यात्मिकरूपमपि मायामयं मनोमयत्वात्. तस्यच न सत्यता — अर्थक्रियाकारित्यमात्रम्. परम् आधिदैविकन्तु शब्दैकनिष्ठ भगवदात्मकं तत् सत्यमेव. आधिभौतिकन्तु प्रपञ्चात्मकम्. तस्यतु कार्यरूपत्वेऽपि कारणरूपेणैव सत्यत्वं, नतु स्वेन रूपेण, विकाराणां वाचारब्धत्वात् सदसदग्रन्थिरूपत्वात् च; तदेव च लौकिकव्यवहारविषय

सविकल्पकज्ञानजन्य-हानोपादानोपेक्षाबुद्धिस्वरूपाणि :

तत्र सविकल्पकं प्रमेयानन्त्याद् अनन्तविधं भवति. तत्रापि कारणान्तरसमवधानेन संशय-विपर्यास-निश्चय-स्मृति-भेदा जाग्रति भवन्ति, यथासम्भवं स्वप्नेऽपि ते.

सविकल्पक-जन्य-हानोपादान-बुद्धौतु विशेष :

“इन्द्रियैर्विषयाकृष्टैः क्षिप्त ध्यायतां मन चेतनां हते बुद्धे सम्ब्रतोयमिव हृदाद्”

(भाग.पुरा.४।२२।३०) इति वाक्याद् विषये इन्द्रियाकर्ष. तत तै मनस, तच्च अशुद्धमिति तत्र कामोत्पत्तौ उपादानबुद्धि, तादृशे मनसि द्वेपोत्पत्तौ तु हानबुद्धि. नच इदम् अप्रयोजकं कामिनी कुचकुम्भदर्शनादौ चक्षुष, शीतादिकालेषु उष्मादिना त्वचो, रागादियुक्तगीतेन श्रवणस्य, चन्दनादिगन्धेन घ्राणस्य, भक्षितस्यापि दध्यादे पुन आस्वादनेन रसनस्य, तैश्च मनस आकर्षस्य अनुभवसिद्धत्वात्.

मनसश्च रूपद्वय : बाह्यम् आन्तरं च इति तृतीयस्कन्धे तत्त्वस्तुतौ “पराहृतान्तर्मनस” (भाग पुरा.३।५।४४) इत्यस्य सुबोधिन्यां स्थितम्. तत्र आन्तरं येन विषयेण इन्द्रियद्वारा कृष्यते तद्विषयिणी हानोपादानबुद्धि भवति, येन तु न आकृष्यते तद्विषयिणी उपेक्षाबुद्धिरिति युगपत् नानाबुद्धिसत्त्वम्. नच * तत्र वेगाद् यौगपद्याभिमानएव * इति वाच्यम् ऐकाम्बुदशायां पुस्तकदर्शने युगपत् नानाक्षरापेक्षाज्ञानस्थले वेगाङ्गीकारस्य अनुभवविरुद्धत्वाद् अतो रूपद्वयमेव युक्तम् इति. यदा मनसो अनाकर्ष तदा उपेक्षाबुद्धि. अतएव तस्या न स्थिरत्वम्, अभ्यासाद्यभावात्.

स्वसिद्धान्ताभिमतसविकल्पकज्ञानजननप्रणाडी :

इदञ्च सर्वं ज्ञानम्, अन्त करणाद्यध्यासाद्, जीवात्मा स्वस्मिन् अभिमन्यतइति अस्य ज्ञानस्य लौकिकानाम् आत्मधर्मत्वप्रवाद इति. अन्त करणाध्यासस्तु, हृदयदेशे जीवस्य अन्त करणानां च स्थितत्वात्, तेषु तत्प्रतिबिम्बः; तस्य प्रतिबिम्बस्य इन्द्रियेषु प्रतिबिम्बान्तरे इन्द्रियाध्यास, तस्य देहे प्रतिबिम्बे देहाध्यासश्च भवति. प्रतिबिम्बश्च तत्प्रकाशस्य तेषु संक्रमेण भवति सूर्यस्येव, नतु मुखस्येव सन्निधिमात्रेण, इति निर्णीत “यथा जलमथ आपात”(भाग.पुरा.३।२७।१२) इत्यत्र तृतीयस्य सप्तविंशे अध्याये.

स्वप्नात्मिकाया. बुद्धिवृत्ते. स्वरूपम् :

एवञ्च पूर्वकृतस्य प्रारब्धकर्मण पक्वस्य जाग्रति फलभोगो भोगे क्रियमाणे आहारश्रमादिभि यदा निद्रा भवति, तदा ‘स्वाप’ - स्वप्नवृत्ति.

तत्र अयं हृदयदेशात् निःसृत्य 'हिता'भिधानासु शुक्ल-नील-हरित-लोहित-पीत-रसभृतासु केशमहस्रभागवद् अण्वीषु नाडीषु द्वासप्तति-सहस्र-सहस्राकासु तस्यान्तस्याञ्चिद् ईश्वरेच्छादिवशेन अन्तर्वहिकरणानि आदाय परिवर्तते, तदा चैतन्यसकोचनेन बहिरिन्द्रियेषु मनसि च प्रकाशासक्रमात् प्रतिबिम्बो न भवति, बुद्ध्यहंकारयोरैवतु भवति, तदा बुद्धिसहितो अहंकाराध्यासेन स्वाप्न सुखदुःखादि भुङ्क्ते तत्र प्रकाशो भगवतो, विषयश्च मायिको, भोगे बुद्धिः करणं, भोगश्च अहंकारे यदा पुनः निद्राया तमस उद्रेक ईश्वरेच्छादिवशात्, तदा अयं तैः सर्वैः सह पुरीतति प्रविशति. पुण्डरीकाकारो मासपिण्डो हृदयः, तद्वेष्टिता नाड्य 'पुरीतत्'—शब्देन उच्यन्ते तदा सुषुप्ति कदाचिद् भगवदिच्छया तस्य हृदयस्य अन्तर्, य 'आकाश' शब्दवाच्य परमात्मा, तत्र सम्पद्य शेते द्विविधायामपि सुषुप्तौ कर्मासमर्गाद् दुःखाभाव द्वितीयस्या परमानन्द इति विशेषः ततः पुनः भगवदिच्छादिवशेन परमात्मनः सकाशात् सर्वेषां प्राणादीनाम् आत्मान्तानां व्युच्चरणं ततो जागरणे स्वस्थानस्थिति पूर्वोक्तरीत्या तत्तदनुभवादि च इति

सविकल्पकज्ञानजनने नैयायिकाभिमत-सयोगसम्बन्ध-घटित-प्रणाडी-विमर्शः :

नैयायिकास्तु * "आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियम् अर्धेन, इतिक्रमेण आत्मन्येव ज्ञानम् उत्पद्यते" इति आत्मधर्मत्व गन्यज्ञानस्य * आहुः

तत्तु श्रुतिविरोधादेव अपास्तं, विभो निरवयवस्य आत्मनः सयोगः प्रति कर्तृत्वायोगात् च न च * अन्यतरकर्मज एव सयोगः तत्र अस्तु * इति वाच्यं, मनसा एव कर्तृत्वापातात्, तस्यैव क्रियाश्रयत्वाद्, जीवे गुणाधीनत्वेन कर्तृत्वायोगाद् इति

उक्तविषये मायावादाभिमत-प्रतिबिम्ब-प्रणाडी-विमर्शः :

मायावादिनस्तु * ब्रह्मात्मकम् एकमेव ज्ञानं स्वीकृत्य बुद्धौ तस्य प्रतिबिम्बः, तस्यैव व्यावहारिकज्ञानत्वं च आगीकृत्य, चिदुपरागावरणभगाभेदाभि-व्यक्तिपक्षान् जीवस्य किञ्चिज्ज्ञत्वाय * आहुः

तदपि अस्मात्, प्रतिबिम्बस्य वक्तुम् अशक्यत्वात्, ब्रह्मणो नीरूपत्वात्, बुद्धेश्च अस्वच्छत्वात्. दर्पणवत् किञ्चिद्देशावच्छिन्नस्वच्छत्वम् अंगीकृत्य आकाशस्येव ब्रह्मण प्रतिबिम्बांगीकारेऽपि ब्रह्मण सच्चिदानन्दरूपत्वेन सदानन्दयोरपि प्रतिबिम्बापातात्. नच इष्टापत्तिः, ज्ञानवत् तयोरपि भानापत्तेः, सर्वदा सर्वेषाम् अन्तःशरीरस्थ-सर्वज्ञानापत्तेः च; प्रतिबिम्बाधारत्वयोग्यायां बुद्धौ ज्ञानस्येव आन्तराणां नाड्यादीनां सन्निहितत्वेन तत्प्रतिबिम्बेऽपि बाधकाभावात् किञ्च अविद्यायां ब्रह्मप्रतिबिम्बभूतानां जीवानां व्यापकतया स्वतः सर्वपदार्थसंसृष्टत्वाद् बाधकाभावेन अविद्यायामपि सर्वप्रतिबिम्बसम्भवेन तत्तत्संसर्गे द्विगुणीकृत्य जाते सर्वतादात्म्यापन्नस्य ब्रह्मण इव तेषामपि सर्वसंसृष्टत्वात् साक्षित्वात् च वृत्ति विनेव स्वरूपचैतन्येन सर्वाविभासकतायाः शक्यवचनत्वेन ब्रह्मवत् सर्वेषां सर्वज्ञता स्यात्. नच * अन्तःकरणभेदेन प्रमातृभेदात् तदनापत्तिः, व्यापकत्वेन सर्वेषां सर्वान्तःकरणसंसृष्टतया प्रमातृभेदस्यापि अकिञ्चित्करत्वात्. संसर्गतौल्ये एकस्यैव एकान्तःकरणवैशिष्ट्यं न अपरस्य इत्यत्र हेत्वभावात्. अदृष्टादीनां हेतुताकल्पनस्यापि अनेनेव न्यायेन निरसितुं शक्यत्वात्.

* ननु दूषणग्रासात् मा अस्तु व्यापकानेकजीववादः किन्तु व्यापकैकजीववादो अस्तु तथाच तस्य सर्वज्ञतायाम् इष्टापत्तिः * इति चेत्, सत्यम् इष्टापत्तिः स्याद् यदि एकत्रैव सर्वज्ञता स्यात् नच एवम्, अविशेषण एकस्यैव सर्वशरीराधिष्ठाने सर्वत्र अविद्योपहितस्य साक्षिण एकत्वात् सर्वत्र उपाधौ सर्वप्रतिबिम्बेषु संसृष्टत्वात् च, ब्रह्मण इव जीवस्यापि सर्वेषु प्रतिबिम्बेषु सर्वज्ञतायां बाधकाभावात्. नच * ब्रह्मापि एकत्रैव सर्वज्ञं न सर्वत्र * इति वाच्यं, ब्रह्मविष्णुशिवादि-शरीरावच्छेदेन सर्वज्ञताप्रतिपादक-शास्त्रविरोधापातात्. नच * अविद्योपाधौ सर्वप्रतिबिम्बेऽपि अन्तःकरणभेदेन प्रमातृभेदात् तन्निकटस्थस्यैव ज्ञानं प्रमातुं भविष्यतीति न सर्वत्र सार्वज्ञ्यापत्तिः * इति वाच्यं, प्रमात्रभेदे करणभेदस्यैव साक्ष्यभेदे प्रमातृभेदस्यापि अप्रयोजकत्वात्, सर्वत्र साक्षिण एव भासकत्वात् नच * तस्य अविद्योपहितरूपेण न साक्षित्वं किन्तु अन्तःकरणोपहितरूपेण, तथाच रूपभेदेन साक्षिभेदात् न सार्वज्ञ्यापत्तिः *

इति वाच्यम्, अप्रयोजकत्वात्. तथासत्यपि हृदयनाडीप्रभृतीनाम् आन्तराणां अन्तःकरणे प्रतिबिम्बितानां ज्ञानन्तु अस्य निर्बाधगति आन्तरसर्वज्ञताया दुर्वारत्वात्. * ननु सर्वेषां प्रतिबिम्बो न अस्माभिः अंगीक्रियते * इति चेत्, मा एवं, यद् अयं न स्वीक्रियते, कः तत्र हेतुः ? न तावद् असन्निधिः, अविद्याया व्यापकत्वात्. नापि विम्बालोकसंयोगाभावः, सूर्यादि विद्यमानत्वाद्, अन्तःकरणस्थलेऽपि अन्तःकरणस्य अन्तःसन्निहितत्वाद्, अन्तर्गृहगतदर्पणप्रतिबिम्बित-सूर्यप्रकाशेन आन्तरवस्तूनां प्रतिबिम्बदर्शनाद्, इहापि जीवचैतन्य-प्रकाशितान्तःकरण-संसृष्टे आन्तरबिम्बे आलोकान्तर-संयोगानपेक्षणात्. जीवचैतन्येन आन्तरप्रकाशानङ्गीकारे साक्षात् संसृष्टान्तःकरण-तद्धर्मादीनामपि अनवभासप्रसंगात्. मतेच तदवभासे तद्देव तत्संसृष्टानामपि अवभासाद् अहंकारादिवद् हृदयनाडीप्रभृतीन्यपि अनुसन्धीयेरन्, संस्काराधायकस्य अवभासस्य तुल्यत्वात् अथ एकप्रतिबिम्बावरुद्धे दर्पणादौ अन्यस्य प्रतिबिम्बादर्शनाद् व्यापकजीवावरुद्धे अविद्यादौ इतरेषां प्रतिबिम्बो न भविष्यतीति अवरोधेनैव प्रतिबिम्बाभावे हेतुः इति विभाव्यते, तदपि असंगतम् एकप्रतिबिम्बावरुद्धे अन्यप्रतिबिम्बः तदा न भवति यदा विम्बान्तरं पूर्वबिम्बव्यवधेयं भवति इह तु ब्रह्मणो व्यापकत्वेन परिच्छिन्नानां सर्वेषां ब्रह्मान्तर्वर्तित्वेन तद्व्यवधेयत्वाभावात् न जीवेन तत्प्रतिबिम्बावरोध इति दुर्वारैव सर्वेषां प्रतिबिम्बः इति. * ननु भवतु सर्वेषां प्रतिबिम्बः तथापि न जीवस्य सर्वज्ञतापत्तिः भवित्री, जीवसाक्षिवादस्य अनङ्गीकारात्. तथा सति कूटस्थचैतन्यं वा जीवाभिन्नं सर्वप्रत्यभूतं शुद्धं ब्रह्मैव वा परमेश्वरस्यैव रूपान्तरं वा साक्षी भविष्यति तस्य तु सर्वज्ञत्वेऽपि अदोषः. जीवस्तु, यथा सर्वगतं गोत्वसामान्यं स्वभावाद् अश्वदिसंगित्वाभावेऽपि सांस्नादिमद्व्यक्तो संसृज्यते, तथा विषयादौ सन्नपि जीवस्वभावाद् अन्तःकरणेनैव संसृज्यते. यदाच अन्तःकरणपरिणामो वृत्तिरूपो नयनद्वारेण निर्गत्य चक्षुःशिवेन ज्ञातः इति दीर्घप्रभाकरेण परिणम्य विषयं प्राप्नोति, तदा तम् उपारुह्य जीवः तं विषयं गोचरयति. केवलान्वदाहचस्य तृणादेः अयं पिण्ड-समारूढाग्नि-दाहचत्ववत् केवलजीवचैतन्याप्रकाशस्यापि घटादेः अन्तःकरण-वृत्त्युपारूढ-तत्प्रकाशत्वं युक्तमिति चिदुपारागार्थत्वेन वृत्तिनिर्गमम् अपेक्ष्य वृत्तिसंसृष्टविषय-

मात्रावभासकत्वात् तस्य किञ्चिज्ज्ञत्वम् उपपत्स्यते* इति चेत्, मा एवं, एवं स्वभाववादेन समाधानेऽपि जीवस्य प्रकाशप्रतिबिम्बत्वाद् अवच्छिन्नत्वे च ज्ञानरूपत्वात् स्वप्ने 'स्वयञ्ज्योतिष्' (बृह.उप.४।३।९) प्रतिपादनात् च प्रकाशरूपत्वेन स्वप्नइव परोक्षवृत्ताविव च पूर्वपूर्वानादि-संस्कारवशादेव इन्द्रियं विनैव वृत्त्युपपत्ते ज्ञानेन्द्रियाणि वृथैव स्युः.

किञ्च अयं पिण्डसमारोहेण दाहकस्य अग्ने साक्षात्संसृष्ट-दाहकत्व-दर्शनाद् वृत्त्युपारोहेण प्रकाशकस्य जीवस्य साक्षाद् अन्तःकरण-संसृष्ट-प्रकाशकत्वं सुतरां सुवचमिति अन्तःकरणे प्रतिबिम्बितानां प्रकाशो अस्य स्यादेवेति अधिकं तत्र अनुप्रविशेत्.

वस्तुतस्तु एवमपि गोत्वस्य सकलगोव्यक्तिष्विव एकस्यैव जीवस्य सर्वान्तःकरणसंसर्गस्य वक्तव्यत्वात्. तथा सति तत्तदन्तःकरणवृत्तिनिर्गमिण तत्तद्विषयप्राप्तौ तत्तद्वृत्त्युपाख्यस्य जीवस्यापि तत्तद्विषयोपरागसम्भवात्, सर्ववृत्तिसंसृष्टविषयाणां गोचरीकरणे बाधकाभावेन किञ्चिज्ज्ञत्वस्य अनुपपन्न-त्वमेव. अतो विषयविषयिभावो वा, विषयसन्निहित-जीवचैतन्य-तादात्म्या-पन्न-वृत्तिविषय-संयोगद्वारको जीवविषययो परम्परसम्बन्धो वा, अन्तःकरणवृ-त्त्युपादनस्य जीवस्य वृत्ति-विषय-संयोग-जनित कार्याकार्यसंयोगात् कारणाकार-णसंयोगात्मा साक्षात् संयोगो वा अन्तःकरणोपहितस्य विषयावभासकचैतन्यस्य विषय-तादात्म्यापन्न-ब्रह्म चैतन्याभेदाभिव्यक्तिद्वारा विषय-तादात्म्य-सम्पादनं वा, अन्यद् वा यत्किञ्चन चिदुपरागत्वेन अभिधित्सितं तस्य सर्वस्य वृत्तिसंसर्गजनितत्वेन वृत्तिजनकानां च अन्तःकरणानां सर्वशरीर-व्यापक-जीव-संसृष्टत्वेन, सर्वेषां सर्वज्ञतापत्ति अनिवार्येव. तत्रापि अनुपदोक्ते विषय-तादात्म्य-सम्पादन-पक्षे मैत्रस्य चेन्नदर्शने "अहं चेन्न" इत्याद्याकारकज्ञा-नापत्तिं अधिका आयातीति फलगून्वेव एतानि कल्पनानि.

अथ जीवः सर्वगतोऽपि अविद्यावृत्तत्वात् स्वयम् अप्रकाशमानतया विषयान् अनवभासयन् विषयविशेषे वृत्त्युपरागादी आवरणतिरोधानेन तत्रैव

अभिव्यक्त तमेव विषयं प्रकाशयतीति आवरणभंगपक्ष किञ्चिज्ज्ञत्वार्थम् आलम्ब्यते, तदापि आवरणस्य वृत्युपरागतिरोभाव्यत्वाद् जाते वृत्युपरागे तेन आवरणभंगे सर्वान्तकरणसंसृष्टो जीव तत्तद्विषयेषु अभिव्यक्त तं-तं विषयं प्रकाशयेदेवेति न किञ्चिज्ज्ञत्वोपपत्तिः. एवञ्च चैतन्यमात्रावरकाज्ञानस्य खद्योतप्रकाशेन महान्धकारस्येव ज्ञानेन एकदेशाज्ञाननाशो वा, पटवत् संवेष्टनं वा, भीतभटवद् अपसरणं वा, चैतन्यमात्रावरकस्यापि अज्ञानस्य तत्तदाकार-वृत्ति-संसृष्टावस्थ-विषय-चेतन्यानावरकत्व-स्वाभाव्यं वा, मूलाज्ञानावस्था-भेद-रूपाज्ञानान्तर-नाशो वा, अन्यो वा, यः कश्चनावरणभंगो निरुच्यतां स सर्वोऽपि वृत्युपरागजन्यएवेति जाते वृत्युपरागे पूर्वोक्तरीत्या सकलान्तकरणसंसृष्टस्य जीवस्य सर्वज्ञतैव आयातीति न एतेऽपि रोचिष्णव पक्षाः.

* ननु एकस्मिन्नपि जीवे जन्मान्तरम् आपन्ने पूर्वजन्मानुसन्धानादर्शनात् शरीरभेदस्य सुखाद्यननुसन्धान-प्रयोजकत्वं क्लृप्तमिति सएव किञ्चिज्ज्ञताया अपि प्रयोजको भवतु. तथाच व्यापकस्यापि जीवस्य शरीरान्तरे शरीरान्तरीयान्त करण-वृत्त्यादिभिः ज्ञानं न भविष्यतीति न सर्वेषां सार्वज्ञ्यापत्तिः * इति चेत्, न, शरीरभेदस्य अननुसन्धानप्रयोजकताया योगिकायव्यूहे जातिस्मरे भूतादौ च व्यभिचारेण तस्य किञ्चिज्ज्ञतायामपि अतन्त्रत्वात्.

एतेनैव भोगायतनभेदस्य विश्लिष्टोपाधिभेदस्य च अननुसन्धानप्रयोजकत्वं परास्त बोध्यम्, “उद्यदायुधदोर्दण्डा पतितस्वशिरोक्षिभिः पश्यन्तो पातयन्ति स्म क्वन्धा अप्यस्मिन् युधि” (महाभा.) इति भारते भूतार्थावदात् च. नच * योगिप्रभृतिषु प्रभावविशेषेण अनुसन्धानेऽपि पूर्वोक्तोपाधीनाम् उत्सर्गतं तथात्वात् न अननुसन्धान-प्रयोजकत्व-हानिः * इति वाच्यं, बहुषु व्यभिचारदर्शनात्. एकत्र तथा दर्शनेहि औत्सर्गिकाननुसन्धान-तन्त्रत्वाविधात प्रभाव-विशेष-समवधान-वशात् कल्पयितुं शक्यते, नतु बहुषु तथादर्शने. अतो मनुष्यविशेषेषु भूतेषु, मनुष्याद् उत्कृष्टद्योनिषु सर्वेषु च, पूर्वजन्मीनज्ञानस्य तत्रतत्र उक्ते शास्त्रस्य प्रामाण्यात् च, न पूर्वोक्तोपाधीनाम् अननुसन्धानतन्त्रत्वं साधीय.

नापि अन्त करणभेदस्य तथात्वं, दृष्टिसृष्टिवादे पूर्वपूर्वस्य अन्त करणस्य नष्टत्वेन अग्रिमाग्रिमस्य तस्य भिन्नत्वात् पूर्वदृष्टानुसन्धानाभावप्रसंगात्. साक्ष्यैक्येन तत्समर्थनितु अन्त करणभेदस्य अप्रयोजकत्वात्, तत्तदन्तकरणै अस्य सर्वज्ञतायाएव आपत्तिः. अन्तकरणवैजात्येन समर्थनन्तु मज्जत्-फेनावलम्बन-कल्पत्वात् कदर्यमेव. “पादेन स्पृशामि”-“कर्णाभ्यां शृणोमि”-“चक्षुषा पश्यामि” इति बाह्यकरणभेदेऽपि एकस्य ज्ञानवत् “तेन-तेन अन्त करणेन तत्तद् जानामि” इत्यादिज्ञानस्य अन्तकरणवैजात्येऽपि सुवचत्वात् सृष्टिदृष्टिवादम् आलम्ब्य अन्त करणैक्याङ्गीकारेण समर्थनेऽपि बहिःकरणवैजात्यस्येव अन्त करणभेदस्यापि अप्रयोजकत्वाद् उक्तदूषणं निर्बाधमेव. नच * फलबलात् न अन्तकरणभेदस्य अप्रयोजकत्वम् * इति वाच्यं. फलबलस्य साधनभेदकल्पनामात्रप्रयोजकत्वेन अन्त करणभेदकल्पने अप्रयोजकत्वात्. फलबलेन जीवभेदकल्पनेऽपि दोषाभावात्. अतो व्यापक एक प्रतिबिम्बो जीव इतिपक्षे कथमपि न सर्वज्ञतापत्तिपरिहारः.

* ननु तर्हि अस्तु नानाणुजीववादः. तथासति अन्त करणे प्रतिबिम्बित-चैतन्य-रूपस्य जीवस्य परिच्छिन्नत्वेन सर्वसंसर्गाभावात् न सर्वज्ञतापत्तिः भवित्री. विषयप्रकाशस्तु विषय-संसृष्ट-वृत्ति-द्वारा, तडागसलिलस्य कुल्याद्वारा केदारसलिलैक्यवद्, जीवस्य विषयावच्छिन्न-ब्रह्मचैतन्याभेदाभिव्यक्तौ भविष्यतीति किञ्चिज्ज्ञत्वम् उपपत्स्यते* इति चेत्, न इदं युक्तं भाति, “सलिल एको दृष्टाऽद्वैतो भवति” (बृह.उप.४।३।३२) इति श्रुत्या सुपुप्तावेव जीवब्रह्मणो एकीभावश्रवणात् तदितरत्र तदुपगमे श्रुतिविरोधाद्, जाग्रदादौ व्यावर्तकोपाधे विद्यमानत्वात् च, दर्पणसत्त्वे विम्बप्रतिबिम्बयोरिव जीवब्रह्मणो अभेदस्य अशक्यवचनत्वात्.

किञ्च जीवब्रह्मणो इदानीम् अभेदे अन्योऽन्यधर्म-विनिमयाद् ब्रह्मणो अल्पज्ञता अन्यस्य सर्वज्ञता च आपत्स्यत-इति न उक्त-दूषणोद्धार-सम्भवः. यदिच विम्बभूतं विषयाधिष्ठान-चैतन्यमेव साक्षाद् आध्यासिक-सम्बन्ध-लाभाद् विषयप्रकाशकमिति आध्यासिक-सम्बन्धोपलक्षित-चैतन्यात्मना जीवैकीभावो,

नतु बिम्बत्व-विशिष्टरूपेणेति भेदस्यापि सद्भावात् न उक्तदूषणापत्तिः *
 इति विभाव्यते, तदापि विषय-तादात्म्यापन्न-ब्रह्मणा तु एकीभावो अस्य
 जातएवेति “अहं घट” इत्याकारक-ज्ञानापत्तिः, अध्यासेन अन्तःकरणतादात्म्या-
 पत्त्या ‘अहम्’ इति ज्ञानवद्, अन्तःकरणधर्माणां सुखादीनां स्वस्मिन् अभिमानवद्
 विषयधर्माणामपि अभिमानप्रसङ्गो, “अयं घट” इत्यादिज्ञानाभावः च स्यात्

यदिच * विषयावच्छिन्नं ब्रह्मचैतन्यं विषयसंसृष्टाया वृत्ते अग्रभागे
 विषयप्रकाशकं प्रतिबिम्बम् अर्पयति, तस्य प्रतिबिम्बस्य जीवेन एकीभावे
 अभेदाभिव्यक्तिः, तस्या सत्यां विषयप्रमितिः * इति विभाव्यते, तदा तु
 सुतराम् असङ्गतं, वस्त्वन्तरावरुद्धे दर्पणादौ प्रतिबिम्बादर्शनाद् विषयसंसृष्टे
 अग्रभागे ब्रह्मप्रतिबिम्बायोगात् विषयप्रकाशस्यैव अभावप्रसक्तेः. किञ्च
 प्रतिबिम्बार्पकं चैतन्यं यदि विषयाद् बहिः तदा तस्य वृत्तिसंसृष्टत्वात्
 प्रतिबिम्बायोगः ? यदिच विषयान्तः तदापि विषयेन व्यवधानात् तथा. यदि
 विषयाद् दूर्वर्तिनः तदा विषयावच्छिन्नत्वस्यैव अयोगः. किञ्च
 अन्तःकरणोपाधि-परिच्छिन्न-प्रतिबिम्बस्य अणुत्वाद् ऊर्ध्वदर्शने वृत्तिद्वारा तस्य
 निर्गमात् प्राणानामपि निर्गमापत्तिः, “तमुक्तामन्तः प्राणानूक्तामन्ति” (बृह.उप.४।४।२)
 इति श्रुतेः. किञ्च एवं कल्पनैकशरणत्वे गोलकद्वारा तैजसस्य वेगवतो
 वृत्तिरूप-परिणामस्य निर्गमादेव प्रमातृ-वृत्ति-विषय-चैतन्याभेद-सिद्ध्या विषय-
 प्रकाश-सम्भवे गोलकातिरिक्तेन्द्रिय-कल्पनापि वृथा स्यात्. तस्माद्
 अनादरणीयाएव एते पक्षाः

एतेन प्रमाणचैतन्यस्य विषयावच्छिन्न-चैतन्याभेद-ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वप्रयो-
 जक इत्यपि निरस्तम्

किञ्च यत्र भ्रमदृष्टो गृह्यते तत्र वृत्त्युपरज्जकस्य भ्रमणस्य
 विषयनिष्ठत्वाभावेन ततः चिदुपगमायोगात् तदग्रहणापत्तिः नच * तत्र
 अर्निवचनीयं तज्जन्यतइति सुखेन तदग्रहणसम्भवः * इति वाच्यं, वृत्त्या
 घटाकारिकया आवर्णाभिभावेन भ्रमणांशो विक्षेपस्य अशक्यवचनत्वात्

किञ्च वृत्त्या विषयचेतन्याभेदाभिव्यक्तावपि विषयप्रकाशके ब्रह्मचैतन्ये तदभावात्, नयनप्रदेशे तदननुभवेन इन्द्रियेऽपि तदभावाद्, वृत्तिमात्रजनकस्य इन्द्रियसम्प्रयोगस्य विषयकारणत्वात्, क्लृप्तेष्व सम्प्रयोगेणापि विषये तदाधानायोगाद्, अन्तःकरणावच्छिन्नेऽपि “अहं भ्रमामि” इति अननुभवात् स भ्रमः सर्वत्र अलब्धसत्ताको घटेऽपि न स्याद्, यस्मात् क्वापि असन् घटदेशे अनुभूयते, तस्मात् तद्देशावच्छेदेन जायमाने मनोधर्मरूपे ज्ञाने अस्ति, तत् चेत्, प्रमातृविषय-चैतन्याभिन्नं स्यात्, तदा स भ्रमः सर्वानुभवगोचरः स्यात्. यस्मात् न एवं तस्मात् तज्ज्ञानं कार्यरूपं भिन्नमेव इति निश्चयः. नच *शुक्ति-रजतादिस्थले इदमाकारवृत्तो सत्यामपि रजताध्यासदर्शनात् अंशतएव आवरणनाशइति, अंशान्तरेण भ्रमविक्षेपोऽपि भविष्यतीति, न तदननुभवानुपपत्तिः * इति वाच्यं, ^(१) विषये तत्सत्त्वे अन्येषामपि तदननुभवापत्तेः, ^(२) अन्येषां घटद्रष्टृणां प्रमाणवृत्त्या तदंशावरणनाशाद् अस्यापि तदननुभवापत्तेश्च विषयाश्रितावरणपक्षस्यैव दुष्टत्वात्, ^(३) पुरुषाश्रितपक्षेतुः उक्तरीत्या, - प्रमातरि प्रमाणे प्रमेये च वक्तुम् अशक्यत्वेन घट्टुकुटीप्रभातवद् अननुभवस्य सर्वानुभवगोचरत्वस्य वा आपातात् शुक्तिरजतस्यापि एतत्तुल्यत्वाद्, ^(४) एवंमूलाज्ञानावस्थारूपाज्ञानानां नानात्वं अङ्गीकृत्य, घटावरकाज्ञानस्य घटाकारकवृत्त्या निवृत्तावपि, नैश्चल्यावरकस्य अनिवृत्त्या भ्रमविक्षेपादरणेऽपि, पूर्वोक्तरीत्या पुरुषनिष्ठतैव तस्य वाच्येति चैतन्याभेदस्य पूर्वत्रदेव असिद्धे, वृत्ते ज्ञानात्मकत्वमात्रकल्पनया तस्य उत्पत्तिनाशशालित्वमात्रेण निर्वहि विषयावरण-तन्नानात्व-कल्पनयो गुरुत्वाद् अप्रमाणिकत्वात् च

एतेनेव घटावरकाज्ञानगतावरण-शक्तिमात्रनिवृत्तिः नतु विक्षेप-शक्ति-निवृत्तिरपि इति पक्षो निरस्तो बोध्यः, नैश्चल्यावरणम् अन्तरेण भ्रमणविक्षेपासम्भवाद् आवरण-शक्ति-निवर्तकताया अप्रयोजकत्वात् च, जलप्रतिबिम्बित-वृक्षाधोग्रत्व-भ्रमेतु प्रतिबिम्ब-पदार्थस्य अतिरिक्तत्वेन, मूलसमीपवर्तिनि जले मूलस्य — ततो विप्रकृष्टे अग्रस्य — प्रतिबिम्बाद् प्रतिबिम्बत्वेनैव अवगाहाद् भ्रमत्वस्यैव दुर्बलत्वेन तत्र आवरणादि कल्पनायाएव अयोगात् च इति दिक्.

अतो जन्यज्ञानस्य इन्द्रियान्वय-व्यतिरेकानुविधान-दर्शनात्, शक्तिग्राह-
केषु कोशादिषु 'प्रेक्षोपलब्धिं चित् मंविद्' (अम.को.१।५।१) इति 'चिदा' दिभि
सह 'बुद्धे' ऐकार्थ्येन वृत्तेः ज्ञानात्मकत्वनिश्चये तत्र ज्ञानोपचारपक्षस्य अयुक्तत्वात्
च जन्यज्ञानम् अतिरिक्तमेव तदुत्पत्तिप्रणाडी च पूर्वोक्तरीतिकेव इति निश्चयः

भगवत्साक्षात्कारप्रणाडी :

भगवत्साक्षात्कारेण न एषा प्रणाडी. तस्य प्रमेयबलादेव भवनात्
“नायमात्मा.” (मुण्ड.३।२।३) इति श्रुतो इतरसाधननिरासेन उपलक्षणविधया
निरस्तत्वाद्, उत्तरार्धे (द्रष्ट. “यमेवेप वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैव आत्मा विवृणुते
तनुं स्वाम्” इत्यस्मिन्निशे : मुण्ड ३।२।३) वरणस्य लाभसाधनत्वकथने स्वस्यैव
तनुविवरणसाधनत्वोक्ते च. वरणञ्च अनुग्रह. सच धर्मान्तरमेव नतु फलदित्सा,
“यस्य अनुग्रहम् इच्छामि” () इति वाक्यात्. सच भक्तिबीजभूतो
अतो “भक्त्या माम् अभिजानति” (भग.गीता.१८।५५) “भक्त्या त्वनन्यया शक्य”
(भग.गीता.११।५४) “भक्त्या अहम् एकया ग्राह्य” (भाग.पुरा.११।१४।२१)
इत्यादिषु न विरोधः. अवतारदशायान्तु “मां सर्वे पश्यन्तु” इत्याकारिकया
सामान्येच्छयापि दर्शनं; तत्रापि, नानाविधाभि यथा “मल्लानामशनि...”
(भाग.पुरा.१०।४३।१७) इत्यादौ

एवञ्च भक्त्या सामान्येच्छया च इति द्वेधा दर्शनम्. उभयथापि
प्रमेयबलमेव कारणमिति न विरोधः स्वसाधनसामग्र्यादिभि दर्शनज्ञानन्तु
अभिमानमात्रात्. अतएव “अविज्ञात विजानतां विज्ञातम् अविजानताम्” (केनोप.२।३)
इत्यादिश्रुति सङ्गच्छते. “मनसैवानुद्रष्टव्य” (बृह.उप.४।४।१९) इत्यादावपि
प्रमेयबलानुगृहीतमेव तदभिप्रेतमिति श्रुत्यन्तराविरोधाय अनुसन्धेयम् इति शुभम्.

इति प्रस्थानरत्नाकरे प्रमाणपरिच्छेदे प्रमाकरणस्वरूपनिरूपके द्वितीये कल्लोले
प्रत्यक्षप्रमाकरणनिरूपको तृतीय तरङ्गः.

समाप्त

‘Prasthānaratnākar’ Prstāvanā

by Goswami Sri Shyammnoharji

प्रत्यक्षप्रमाके करणका निरूपण

English Translation Dr Mrs Sunanda Y Shastri

Sense organs should be understood as the means of direct perception. The sense organs of six kinds viz eye, skin, nose, tongue, ear and mind (मनस्) Mind is internal and external both, since it is connected with action and knowledge. These sense organs are atomic in size, beyond the grasp of gross sense organs and though they are not eternal, still they are long lasting and changing or subject to transformation.

As their objects, the manifested form, objects having manifested form, number, measurement, disjunction, conjunction, division, otherness, separateness, speed etc qualities, action manifested in these, their category (जाति = universality) indicated by suffix (त्व) (Tva) and all these qualities, actions and properties with their substratum.

Qualities, actions and properties and their oneness with the substance, in which the manifested touch and (objects) having manifested touch are perceivable by the skin (tactual). Substance having manifested smell, and the qualities actions and properties of such substance and their oneness with

substratum are perceivable by nose (olfactory) Taste, substance having taste, qualities, actions and properties of substance having manifested taste and their oneness with substratum are perceivable by tongue (Gustatory) Sound, substance having sound, qualities, actions and properties of substance having manifest sound and their oneness with substratum, are perceivable by ear (auditory)

According to some thinkers, nose, tongue and ear these organs do not perceive the substance, but only perceive qualities But according to Vallabha Vedānta, it is better to hold that these sense organs perceive the substance It is because in the experiences of milk after drinking milk in the darkness of night, of flowers after smelling Campaka etc fragrant flowers and of trumpet after hearing trumpet sound etc, objects are directly perceived by tongue, nose and ear respectively

The Earth having manifested qualities, becomes object of the five sense organs Water having manifested qualities becomes the object of four sense organs, except nose Fire becomes object of three sense organs except nose and tongue Wind becomes object of two sense, organs viz skin and ear The sky is formless therefore, not perceivable by the eyes, but by the power of object to be known (प्रमेयबल) space becomes visible to eyes Similarly directions and time both are not perceivable by the sense organs, still they both being the adjectives of perceivable objects, are perceived

Desire etc are variations of mind are perceived by the mind

Soul, in its true form is perceivable only through the means prescribed in the scriptures and not by the worldly direct perception Though the soul being one with the notion 'I' (ego) becomes perceivable by the intellect having notion 'I' (ego) Or perception of the soul, in its pure form, cannot be perceived by ordinary perception Only through proper means, prescribed by the scriptures, the perception of soul is possible The self can be experienced through the notion 'I'(ego) by an individual due to the identification of self with ego

Reflections, illusory or ghost figures and hypnosis are experienced not because of the perceiving ability of sense organs, but because of the nature of that particular object, therefore, it is unnecessary to search cause and effect in appearance Similarly, darkness is not accepted as the absence of light but it is Māyika (illusory) object It is connected with the basic construction of human eyes Hence other animals are able to see into darkness, since illusory (मायिक) darkness cannot cover their eyes Human eyes become covered by the illusory (मायिक) darkness due to the lack of proper/enough light Similarly, refraction also is accepted as one illusory (मायिक) object This topic is discussed at length in Andhakāravāda and Pratibimbavāda

Among the kinds of Abhāva (non existence) accepted by Naiyākas prior non existence (प्रागभावा) is condition of

substance considered as (उपादान) (material cause) or (समवायी) coherent of the name form and actions of the effect with concealment (तिरोभाव) and favourable to the manifestation (आविर्भाव) of effect Similarly Posterior non existence (प्रध्वसाभाव) is unfavourable State of the effect Thus, by perceiving the material cause, the method of perception of prior non existence and posterior non existence can be understood This topic has been explained in detail in 'Āvirbhāvatirobhāvavāda' chapter of Avatāravādāvalī, therefore, not discussed here in detail As far as the 'Mutual non existence' (अन्योन्याभाव) is concerned It should be noted that it is in two ways Viz first of all, in the example of "Pot is not cloth" The absence of pot in the cloth is experienced and objected as "Can pot be cloth?" which is refuted as "Pot cannot be cloth" Thus, the mutual non existence can be perceived The point to be noted here is, the relation by which cloth is absent in the substratum pot, by the same controlling relation Clothness is absolutely absent in the substratum pot Accepting thus mutual non existence (अन्योन्याभाव) does not remain as an independent variety of non existence and it becomes 'Absolute non existence' (अत्यन्ताभाव) As Pot exists in the pot by the relation of identity (तादात्म्य), it does not exist in the cloth, such kind of explanation is given about Mutual non existence By imposing non existence of cloth on the pot and then negating it, the total form of pot is revealed by the concealment of cloth Therefore, it is proper to include the mutual non existence of cloth and pot in the form of cloth and

pot The last kind of non-existence i.e Absolute non existence (अत्यन्ताभाव) should be understood as concealment (तिरोभाव) Because 'Absolute non-existence' cannot be deemed as essenceless like sky flower (खपुष्प) The absence of anything in any place is called its 'Absolute non existence', then definition of absence is formed through the experience of concealment of that object Then only "Pot is not on the floor" such kind of perception of the floor associated with concealment of pot is perceived

After the explanation of sense organs, their actions need to be explained The action of sense organs is called (प्रत्यासत्ति)-contact It is of two kinds, viz (1) Ordinary actions and (2) Extra Ordinary actions

Ordinary actions are again of five kinds viz

- (1) Contact (सयोग)
- (2) Identity (तादात्म्य)
- (3) Conjunction and identity (संयुक्ततादात्म्य)
- (4) Conjunction cum adjectivity (संयुक्तविशेषणता) and
- (5) Essence (स्वरूप)

Visual perception of substance takes place when the substance comes in contact with the eyes The perception of emotions like determination, doubt, pleasure etc, which arise within through mind (मनस्), takes place through identity contact Perception of qualities, actions and properties in the substance is possible through conjunction and identity

(सयुक्ततादात्म्य) contact Concealment (तिरोभाव) is always perceived in the form 'conjunction cum identity' (इन्द्रियसंयुक्त-विशेषणता) contact with sense organs Similarly, to perceive mental states, form of those mental states themselves become contact

Extraordinary activities are of three kinds viz 1 Universal (Samanya), 2 Supra sensuous (Yogj) and 3 Māyā

General properties in the persons are perceived by the universal contact Therefore, universal contact is useful in the inherent knowledge of particular person Future, past or extra sensory things are perceived by Supra sensuous contact The Mayika contact creates perceptual error without manifesting non existent or concealed objects presenting in the intellect in particular time space

After this discussion, the author has discussed in detail the Anupalabdhi Pramana (non apprehension), which is presented to define perception of non existence of the object, according to those schools of thought, which accept object as existing and non existing both In this regard, after evaluating the views of SriParasanath Misra, Vedanta paribhasakār, VaisesAesYikas and Naiyayikas, the author has expressed his own view, stating that, it is not necessary to accept non apprehension (Anupalabdhi) as an independent means of valid knowledge to perceive non existence Because, just as after perceiving particular object through the eyes, its

knowledge is manifested Similarly, we do not get knowledge of any object through non apprehension (अनुपलब्धि)

Indeterminate knowledge created by the Sense object contact achieves its visual etc determinate state through mental states Therefore, discussion of nature of mental states becomes necessary

Form of the objects seen outside, can be felt within after closing eyes This form cannot be of the outer object, because abandoning outer substratum, entering of that form within seems impossible So, that form has to be accepted as the form of some inner object within Sāṅkhya school calls it Vṛtti (state) as different egoistic principle Naiyāyikas believe that the rays of the eyes reach the object and there is sense object contact Through this sense object contact some kind of impression is formed, which is inherent in the Atman, accepting thus, they reject the Vṛttis (state)

It is necessary to note that, the form of the perceived object in the eyes is matter of experience (अनुभवगोचर), therefore, it is proper to accept internal state It should not be deemed as different principle or different inherent property of Atman Because, this is some particular state of intellect according to Vallabha Philosophy How can the internally set intellect take form of outer object, answer to such doubt is When sense organs combined with the mind come in contact with outer objects, then form of the object

is reflected in sense organs, just as one's face is reflected in the mirror. Continuous mixing and friction of the Sattva, Rajas and Tamas cause disturbance, and non disturbance in the intellect, therefore, due to this disturbance, mental state, sometimes is transformed, partially or totally taking the shape of reflections in the sense organs of outer objects and sometimes it may not take any shape also. It happens so, because intellect helps cognitive organs and organs of actions, therefore, when intellect is in position of helping the organs determinate knowledge and favourable activity to that arise. Sometimes, when helping nature of intellect is obstructed due to increase of Rājas or Tamas, then doubt or determinate knowledge of error arises. Thus, all these mental states are particular state of intellect only. After intellect is shaped in the form of object supplied by sense object contact, then only direct perception takes place. Otherwise if intellect is shaped in the form different than the object then it is believed to be an error. Similarly, due to the various kinds of mental states, all other subdivisions of knowledge should be understood as an outcome of different mental states. As per the statement of Bhāgavata, *"Mental states, viz awakening, dreaming and deep sleep are emerge from Gunas and individual soul is definitely different from them as spectator"* proves that all kinds of knowledge is mental state only. When the enjoyment giving Karmas arise, that is waking state, when those Karmas become dormant then it is dream or state of deep sleep. Instead of accepting such kind of theory, it is proper to accept that the mixing and friction among three Gunas, which

are manifested for the sport of Lord, goes on according to will of God Thus, it is better to accept that Gns are the nearest cause of different states of intellect That is why, in the eighteenth chapter of Bhagavad-gītā it is said that body as substratum (अधिष्ठान), Jiva as agent(कर्ता), instruments(करण) such as sight etc external sense organs, four kinds of internal instruments, action of Prāna etc vital airs called Cestā, time and Lords will called destiny(दैव) or the inner controller(अन्तर्यामी) of all living beings described in the 61 verse in the 18 chapter of Gītā, become instrumental in all our activities

The process of direct perception is like this ¹Mind becomes ready for particular action inspired by inner controller (अन्तर्यामी) ²Then mind inspires concerned sense organs ³When sense organs are in agreement with their preceding deities, then only sense organs come in contact with objects ⁴Then indeterminate knowledge is generated after object are reflected in sense organs ⁵Then, along with the mixing and friction of three Gunas in intellect, intellect may grace the sense organs, partially or totally ⁶Then mental states accordingly manifest and different kinds of determinate knowledge arise ⁷Emotions like attachment, aversion or neutrality etc become strong according to the different kinds of determinate knowledge, ⁸from those emotions, inner and external activities, like will efforts etc emerge ⁹Then the activity of accepting or rejecting or neutral attitude takes place and ¹⁰In the end, gain and loss which is cause of happiness and sorrow or

indifference manifest

According to the method described above, all the activities done through intellect are deemed by Jīva (individual self) as happening within due to superimposition of Antahkarana (अन्तःकरणाध्यास) imposition of Pāna (प्राणाध्यास) imposition of sense organs (इन्द्रियाध्यास) imposition of body (देहाध्यास) on it and due to forgetting one's own real nature (स्वरूपविस्मृति)

Consequently, they appear as the properties of the soul on one hand and on the other except these properties, the principle like soul is not even accepted. Really speaking, this happens because the consciousness of the soul is reflected in the inner organs, i.e. vital air, sense organs and body.

The process of dream knowledge takes place in some different way than the above mentioned method of direct perception. In this process, soul consciousness in the form of properties shrinks and is averted from body, sense organs and mind and only is reflected in the ego (अहङ्कार) and intellect. Therefore, soul consciousness, due to superimposition of ego and intellect, does the activity of creating happiness and sorrow by enjoying the objects in intellect according to Karma.

After sleeping due to the excess of Tamas, the soul in the form of pure consciousness, withdrawn from the happiness and sorrow producing Karmas, enjoys the Supreme bliss in

the inner most heart (हृदयाकाश) with self knowledge through the enigmatic knot Citta (consciousness/intellect/mind)

After this discussion, the author has discussed and explained Naiyāyika's and Śāṅkara's view in this regard and explained the method of realization of God according to Vāllabha doctrine, in the end of this chapter

Difference between the method of emergence of knowledge of direct perception and the method of realization of God is, the realization of God takes place by the power of the Lord/times/(प्रमेय) and not by the power of means of valid knowledge

'This self is not attained through study, nor through the intellect, nor through much hearing The very self which this aspirant seeks is attainable through that fact of seeking, this self of his reveals his own nature''

(Mundakopaniṣad III n 3)

—this statement from Mundakopaniṣad Supports that realization of God is possible by His' acceptance only Meaning of the word (वरण) (Acceptance) should not be taken in the sense of desire to give fruit related to the mundane world or to liberation It is to be taken in the sense of desire to give an experience of his own form 'or' to inculcate extreme love for 'His Own form' This acceptance (वरण) is only in the form of Grace (अनुग्रह)

The acceptance by the God Lord during the period of incarnation becomes the seed to sprout and bloom devotion towards the God, but during the period of non incarnation (अनवतारदशा) acceptance by the God takes the form of desire of the God to manifest before, the devotee Thus, a devotee or non-devotee, everyone can perceive the God The method is same, i.e. through the power of object to be known, i.e. God's power this 'Daršana' (vision) is possible and not through the means of valid knowledge



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

प्रत्यक्षप्रमाणके बारेमें कुछ पुर स्फूर्तिक विचार (वाल्लभ दृष्टिकोण)

गोस्वामी श्याम मनोहर

(उपक्रम)

वाल्लभ दृष्टिकोणके अनुसार यह सम्पूर्ण दृष्टदृष्ट्यात्मक नाम-रूप-कर्मात्मक जगत् उस एकमेवाद्वितीय सच्चिदानन्द ब्रह्मकी सत्यसकल्पता तथा सर्वभवनसामर्थ्य की इतिकर्तव्यतारूपा आविर्भाव-तिरोभावरूपा शक्तिओद्वारा सम्पन्न होती एक लीला है ब्रह्म तत्त्व लौकिक प्रत्यक्षानुमानादि प्रमाणोंसे गम्य कोई प्रमेय न हो कर एक शास्त्रीय प्रमेय ही है अतः प्रत्यक्षग्राह्य नाम-रूप-कर्मात्मकी ब्रह्मात्मकता भी प्रत्यक्षका विषय न हो कर श्रुति-स्मृति-सूत्र-पुराण-तन्त्र-इतिहासरूप शास्त्रवचनैक-गम्य प्रमेय है फिर भी उस ब्रह्मकी लीलाके रूपमें प्रकट हुवे ये नाम-रूप-कर्म तो प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणोंसे गम्य बनते ही हैं और अतएव अपने लीलार्थ परिगृहीत इन नाम-रूप-कर्मात्मक पहलुमें ब्रह्म भी प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका प्रमेय भी बनता ही है अतएव महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण कहते हैं

“अनन्तमूर्ति तद् ब्रह्म कूटस्थ चलमेव च विरुद्धसर्वधर्मा-
णाम् आश्रय युक्त्यगोचरम् ब्रह्मैव हि सर्वाधार, यथा
भूमि सहजविरुद्धानामपि मूषकादिजीवानां, कारणगतधर्म
पृथिव्या भासते विशेषेण लौकिकयुक्ति अत्र नास्ति,
तदगम्यत्वात् ननु अवतारेषु भगवत्त्वश्रुते लौकिकप्रमाणविष-

यत्त्ववद् लौकिकयुक्तिविषयत्वमपि कुतो न ? इति आशङ्क्य
 आह 'आविर्भावतिरोभावे मोहन वदुरूपत इन्द्रियाणान्तु
 सामर्थ्याद् अदृश्य स्वेच्छयातु तत्' चक्षु न स्वसामर्थ्येन
 भगवन्त विषयीकरोति किन्तु भगवदिच्छयैव 'सर्वे पश्यन्तु'
 इत्येतद्रूपया तद् दृश्यम् "

(त दी नि प्र १।७१-७२)

अत लौकिक विषयोके शास्त्रीय स्वरूपके बारेमे लौकिक प्रत्यक्षादि
 प्रमाणोका प्रामाण्य अवनसरपराहत होनेपर भी शास्त्रीय विषयोके लौकिक
 स्वरूपके बारेमे प्रत्यक्षादि प्रमाणोका प्रामाण्य वाल्लभ चिन्तनमें भी
 सर्वथा स्वीकारा ही गया है क्योंकि अन्यथा ब्रह्म या ब्रह्मात्मिका
 लीला के प्रतिपादनार्थ, सर्वथा अदृष्ट या अश्रुत रहनेपर तो, ब्रह्मविषयिणी
 परोक्ष शाब्दी प्रमाके जननके व्यापारमे भी शास्त्रवचन अक्षम हो जायेंगे

अतएव रूपसृष्टिके साथ-साथ तत्प्रतिरूप एव तदन्तर्गत नामसृष्टिके
 प्राकट्यका प्रयोजन रूपलीलाद्वारा व्यामुन्ध एव बद्ध चिदशरूप जीवात्माओका
 नामलीलाद्वारा उद्धार प्रतिपादित हुवा है ' जीवात्मचैतन्य अपने चिदश
 होनेके रूपमे नतो रूपसृष्टिमे अन्तर्गणित होता है और न नामसृष्टिमे
 ही फिरभी उसी चिदशके जीवभावापन्न होनेपर वह अपने ज्ञानकर्मादि
 व्यापार रूपसृष्टि और नामसृष्टि के साथ सहत हो कर ही सम्पन्न
 कर पाता है नामसृष्टि और रूपसृष्टि के बीच रहे इतरेतरविलक्षण
 स्वभावका निरूपण महाप्रभु यो करते है कि रूपसृष्टि अन्तवती स्थूल
 विकृत एव जडात्मिका होती है जबकि नामसृष्टि अनन्त सूक्ष्म अविकृत
 एव बोधात्मिका होती है^१ यो बन्धनकारिणी रूपसृष्टि और मुक्तिदायिनी
 नामसृष्टि दोनो ही भगवल्लीलारूपा ही होती है अतएव श्रुत्यादिशास्त्रैकगम्य
 तत्त्वस्वरूपोंकी प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे अगम्यता बन्धनकारिणी लीला होती
 है क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे गम्य रूपरसगन्धस्पर्शशब्दादि विषय स्वय

बन्धनकारी होते हैं इन्हीं, किन्तु, प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे गम्य नाम-रूप-कर्मोंके श्रुत्यादि शास्त्रोंके वचनोपे प्रतिपादित या विहित स्वरूप मुक्तिसम्पादक भी हो पाते हैं एतावता सिद्ध होता है कि बन्धनकी तरह मुक्ति भी उसी परम तत्त्वकी एक लीला है और अतएव प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका इस अर्धजरतीयन्यायसे प्रमाण ओर अप्रमाण होना दोनों ही भगवल्लीलाके ही दो विलक्षण अनुभाव हैं^१ अस्तु

(विषय)

प्रत्यक्षके प्रामाण्यका, इस अर्धजरतीयन्यायसे, अभ्युपगम हमें सोचनेकी इस दिशाकी ओर अग्रसर करता है कि प्रत्यक्षानुभूति अपने किस स्वरूपमें प्रमाण होनेकी पदवीपर आरूढ़ हो नहीं पाती ?

वाल्लभ दृष्टि इस विषयमें यो है कि प्रत्यक्षानुभूतिका केवल एक अनुभूतिके रूपमें प्रमाण होना नियत या अनिवार्य न होनेपर भी उससे पैदा होनेवाली बोद्धिकी निश्चिति, जिसके आधारतया बुद्धिका सात्त्विकी अवस्थामें होना एक अनिवार्य निकष माना गया है^२, इस रूपमें वह अनुभूति प्रमाणपदवीपर आरूढ़ हो पाती है

(सशय)

स्पष्ट है कि प्रत्यक्षानुभूति निर्विषयकचैतन्यरूपा तो हो ही नहीं सकती अतः प्रत्यक्षानुभूतिके घटक (विषय / कर्म, तथा, विषयी / बाह्याभ्यन्तरकरण तथा कर्ता या अधिष्ठान यो) न्यूनतम दो या तीन तो स्वीकारने ही पड़ते हैं अतः इस जिज्ञास्यविषयके मूलमें कुछ विकल्प इस तरह सशयात्मना उभरते हैं यथा —

१ क्या प्रत्यक्षानुभूति निश्चेष्ट (passive) ग्राहक

वाह्याभ्यन्तर करण या कर्ता के ऊपर सचेष्ट (active) वाह्य विषयोंका कोई वास्तविक प्रभाव (real impression) है?

२. अथवा क्या यह प्रत्यक्षानुभूति विषयद्वारा विषयीपर आरोपित कोई मिथ्या प्रभाव (super-imposed impression) होता है?

३. अथवा क्या यह प्रत्यक्षानुभूति निश्चेष्ट (passive) वाह्य विषय, उसे द्रव्य (Matter) प्राकृत विषय (Natural object), वस्तुका अकल्पित स्वरूप (Thing-in-itself=Noumenon), स्वप्रयोजनक अभोग्य वस्तु (pour soi), परप्रयोजनक या अस्वप्रयोजनक भोग्य वस्तु (en soi) जिस किसी भी रूपमें देखा जाये, उसके बारेमें सचेष्ट (active) विषयी ज्ञानकरण अथवा ज्ञाता का कोई प्रतिभाव (reaction/expression) है?

४. अथवा क्या यह प्रत्यक्षानुभूति ज्ञानकरण/ज्ञाता द्वारा विषयपर किया गया कोई मिथ्या आरोपण (projection/superimposition) है?

५. अथवा क्या यह प्रत्यक्षानुभूति विषयीके गुणधर्मोंका इकतरफा मिथ्यारोपण न हो कर विषय और विषयी दोनोंके गुणधर्मोंके अन्योन्यारोपणात्मक अध्यासरूपा घटना है?

६. अथवा क्या यह प्रत्यक्षानुभूति इन दोनोंके बीच उभयत्र परस्पर घटित होती क्रिया-प्रतिक्रियारूपा कोई उभयविलक्षण घटना है?

७. अथवा क्या यह प्रत्यक्षानुभूति दोनोंमें निगूढ सम्भावनाके तोरपर रहे हुवे अनभिब्यक्त गुणधर्मोंकी

अन्योन्यसहयोगवश उभरनेवाली कोई वास्तविकता या अभिव्यक्ति है ?

ये हैं : जिज्ञास्य विषयरूप प्रत्यक्षप्रमाणके बारेमें संशयकी विभिन्न कोटियोंके विभिन्न कल्प.

(पूर्वपक्ष)

१. हम देख सकते हैं कि जिज्ञास्यविषयके बारेमें संशयका प्रथम कल्प सांख्यसदृश निष्क्रिय पुरुषचैतन्य तथा सक्रिय जड़प्रकृति के द्वैतवादी चिन्तनमें मान्य होना शक्य होनेपर भी शुद्धाद्वैतवादी वाल्लभ वेदान्तमें मान्य नहीं हो सकता है.

२. द्वितीय कल्प उन दार्शनिक चिन्तनोंमें सम्भव है जो चेतन्यको सर्वथा निर्गुण निष्क्रिय निराकार या निर्धर्मक मानते हैं परन्तु वाल्लभ चिन्तन चैतन्यको उसके मूलस्वरूपमें तो निर्गुण निष्क्रिय निराकार या निर्धर्मक तो कथमपि नहीं मानता. अतः प्रत्यक्षकी ऐसी व्याख्या भी वाल्लभ चिन्तनमें पूर्वपक्षमें ही अन्तर्भूत होगी.

३. इसी तरह तृतीय कल्पमें भी मूलतः बाह्य विषय और विषयी के बारेमें एक तरहका द्वैतवादी पूर्वाग्रह तो भासित हो ही रहा है. क्योंकि बाह्य विषय प्रत्यक्षानुभूतिके जननव्यापारमें निश्चेष्ट सहयोगी (active partner) होते हैं या होता है. वाल्लभ वेदान्तकी दृष्टिके अनुसार जड़ द्रव्यका अकल्पित वास्तविक स्वरूप सच्चिदानन्दात्मक ही होता है, जो जीवचेतनाद्वारा सामान्यतया प्रत्यक्षग्राह्य नहीं हो पाता. सच्चिदानन्द ब्रह्मके सत्यसंकल्प और सर्वभवनसामर्थ्य के वश मंदरांमें चैतन्य और चिदंशमें आनन्द के तिरोभाववशा प्राकृत सदंशोंमें

गृहीत होती जड़ताका कुछ विषयगत आधार (objective ground) होनेपर भी चिदानन्दांशके तिरोभाववश उन जड़ द्रव्योंमें चेतना या आनन्द के ऐकान्तिक अत्यन्ताभावकी प्रतीतिमें हेतु जीवात्माओंका अपना परिच्छिन्न बोधसामर्थ्य भी विषयगत आधार (subjective ground) स्वीकारा गया है. अतः इस सन्दर्भमें वाल्लभ वेदान्त प्रत्यक्षानुभूतिके गोचर विषयोंको (nonmena/phcnomena) के ऐकान्तिक वर्गोंमें विभक्त करनेको जर्मनीके अज्ञेयवादी इमानुएल कान्टकी तरह समुद्यत नहीं हो पाता. रही बात द्रव्यके बारेमें निश्चेष्टताकी तो, ऐसी (inertia) की धारणा भी पुनः शुद्धाद्वैत वेदान्तको रास नहीं आ सकती है. क्योंकि न्याय-सांख्यमतोंकी तरह जड़ प्राकृत द्रव्योंका भोग्यभावात्मना प्रकट होना तथा पुरुषचैतन्यका भोक्तृभावसे मण्डित होना, वाल्लभ वेदान्तमें भी, लीलार्थ प्रकट ऐच्छिक द्वैतके अनुरोधवश तो मान्य है ही. वाल्लभ वेदान्तमें, फिरभी, न तो न्यायमतकी तरह जड़ द्रव्यको सर्वथा निष्क्रिय और न सांख्यमतकी तरह पुरुषचैतन्यको ही सर्वथा निष्क्रिय माना गया है. और न केवल जड़ प्रकृतिको ही सक्रिय माना गया है. अतः पुरुषचैतन्यको केवल भोक्तृभावापन्न (en soi) मान लेने भी वाल्लभ वेदान्त समुद्यत नहीं है क्योंकि उसके भोक्तृभावके घटक वाह्याभ्यन्तर करण स्वयं भोग्यभावापन्न जड़प्रकृतिसे उसे उधार मिले हुये होते हैं अंशी परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णको वाल्लभ वेदान्त “क्रीडार्थम् आत्मनः इदं त्रिजगत् कृतं ते” (भाग.पुरा.८।२१।२०) तथा “अत्ता चराचरग्रहणात्” (ब्र.सू.१।२।१९) वचनोंके आधारपर मूलभोक्ता स्वीकारता होनेसे, उन्हें ही (primordial en soi) स्वीकारेगा. जीवात्माओंके तो ब्रह्मके चिदंश होनेके कारण उनका कर्तृत्व-भोक्तृत्वकी आंशिक अभिव्यक्ति ही होती है. यह हम देख सकते हैं कि ब्रह्मसूत्रगत ‘चराचर’ पद भी जड़जीवके प्रभेदका वाचक नहीं माना गया है. क्योंकि अक्षरब्रह्म कूटस्थचैतन्य अचर भी होता है और अशभूत

जीवचैतन्य चर भी इसी तरह आकाशको जड होनेपर भी अचर माना गया तो अन्य भौतिक तत्त्वोंको चर भी अतएव जडजीवात्मक उभयविध जगत्को ब्राह्मिक सन्दर्भमें वाल्लभ वेदान्त न तो ऐकान्तिकतया भोग्य ही ओर न ऐकान्तिकतया भोक्ता ही मान पाता है व्यवस्थित विकल्पवश ब्रह्मके सदशभूत जड द्रव्योमें प्रकट भोग्यभाव तथा जीवात्माओंमें जड द्रव्योद्वारा निरूपित प्रकट भोक्तृभाव होनेपर भी, पारमात्मिक भोक्तृभावनिरूपित प्रकट भोग्यभाव भी स्वीकार्य है ही

४ इस प्रकारका मत भारतीय चिन्तनमें तो उपलब्ध न होनेपर भी पाश्चात्य चिन्तनमें अनुभववादिओंद्वारा प्रस्तावित किया गया है इस अनुभववाद विरु तर्कवाद के आपसी विरोधाभासके बारेमें वाल्लभ वेदान्तकी धारणा कुछ इस तरहकी सोची जा सकती है कि प्रत्यक्षगोचरतया अनुभूयमान सारेके सारे प्रत्यय न तो हमारी चेतनामें, तर्कवादी (Rationalistic) धारणाके अनुरूप अन्तर्निगूढ ही रहते हैं और नहीं अनुभववादी (Empiricistic) धारणाके अनुरूप केवल इन्द्रियार्थसत्सम्प्रयोग-जन्य ही पुनश्च, अर्धजतीयन्यायेन, चेतनाके भीतर बाह्य उद्बोधकसामग्रीवशात् उद्वुद्ध होते हैं और कुछ बौद्धिकी चेतना अपनी सात्त्विकी राजसी या तामसी अवस्थाओंके अनुरूप अपने भीतर घड़े प्रत्ययोंका बाह्यप्रक्षेपण भी करती है 'प्रस्थानरत्नाकर' ग्रन्थके प्रमास्वरूपबोधोपयिकज्ञानभेदोपभेदनिरूपक कल्लोलमें दशविधज्ञानकी निरूपक आद्य तरंगमें^४ इस विषयका विस्तारपूर्वक भलीभाँति उपपादन हुआ है

५ भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यने अपने शारीरकभाष्यके उपोद्घातमें इस तरहके अध्यासका^५ मनोरम निरूपण किया है परन्तु महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यवरण अपने भाष्यमें इस प्रक्रियाका प्रत्याख्यान इन शब्दोंमें करते हैं

(क)“वेदेनैव तावत् कर्तव्यं योध्यते वेदश्च परमाप्ता

अक्षरमात्रमपि अन्यथा न वदति अन्यथा सर्वत्रैव तदविश्वासप्रसगात् नच कर्तृत्वे विरोधो अस्ति, सत्यत्वादिय-मवत् कर्तृत्वस्यापि उपपत्तेः सवधा निर्धर्मकत्वे सामानाधिकर-ण्यविरोध 'सत्य'- 'ज्ञाना'दिपदानां धर्मभेदेनैव तदुपपत्तेः नच कर्तृत्व ससारिधर्मो देहाध्यासकृतत्वाद् इति वाच्य, प्रापञ्चिके कर्तृत्वे तथैव नतु अलौकिककर्तृत्वे प्रतीतञ्च निषेध्य न अप्रतीत न श्रुतिप्रतीतम् सत्यत्वादयश्च लौकिका ततः सवनिषेधे तदज्ञानमेव भवेत् नच सत्यत्वादिक लोक नास्त्येव, व्यवहारमात्रत्वात् कारणगतमेव सत्यत्व प्रपञ्चे भासते इति वाच्य, तर्हि कर्तृत्व तथा कुतो न अगीक्रियते? स्मृतिश्च स्वीकृता भवति 'कर्ता कारयिता हरिः' इति नच आरोपन्यायेन वक्तुं शक्य तथा सति अन्यस्य स्यात् तत्र न प्रकृते, अग्रे स्वयमेव निषिध्यमानत्वात् न जीवानाम्, अस्वातन्त्र्यात् नच अन्येषाम्, उभयनिषेधादेव तस्माद् ब्रह्मगतमेव कर्तृत्वम् एव भोक्तृत्वमपि" (ब्र सू भा १।१।२)

(ख) "कर्तृत्व ब्रह्मगतमेव तत्सम्बन्धादेव जीवे कर्तृत्व तदशत्वाद् ऐश्वर्यादिवत् नतु जडगतम् इति" (ब्र सू भा २।३।४१)

अतः भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यद्वारा प्रतिपादित आध्यात्मिकी प्रक्रिया प्रत्यक्षानुभूतिके बारेमें सर्वांशमें वाल्लभ वेदान्तमें अभिमत हो नहीं पाती है

६ इसके बाद आते पष्ठ कल्पके मूलमें भी किसी तरहकी द्वैतवादी पूर्वधारणा ही सुस्पष्ट झलकती है अतः लीलार्थ प्रकट विषय-विषयीके द्वैतवश प्रत्यक्षानुभूति इन दोनोंके बीच एक क्रिया-प्रतिक्रियारूप प्रकट

हुयी वास्तविक घटना है, इस अशमे तो वाल्लभ वेदान्तको भी कोई आपत्ति न होनेपर भी, विषय-विषयीके बीच रहे मौलिक अद्वैतको भुलाया न जाये, तभी यह कल्प वाल्लभ वेदान्तमे मान्य हो पायेगा अतएव श्रीमद्भागवतके द्वादशस्कन्धमे “आसीद् ज्ञानम् अथोहि अर्थो एकमेव अविकल्पित तन्मायाफलरूपेण केवल निर्विकल्पित वाङ्मनोजोचर सत्य द्विधा समभवद् बृहद् तयो एकतरोहि अर्थो प्रकृति सा उभयात्मिका ज्ञानन्तु अन्यतमो भाव पुरुष सो अभिधीयते तमो रज सत्त्वम् इति प्रकृते अभवन् गुणा मया प्रक्षोभ्यमाणाया पुरुषानुमतेन च सञ्चोदिता भावा सर्वे सहत्यकारिणो अण्डम् उत्पादयामासु मम आयतनम् उत्तम, तस्मिन् अह समभवम् अण्डे सलिलसंस्थितौ” (भाग पुरा ११।२४।२-१०) कहा गया है अतः यहां निरूपित एकका अनेकवद्भाव और उन अनेकवद्भावापनोंमे पुनः परस्पर सहत्य अर्थक्रियाकारिताके सिद्धान्तको न भुलाया जाय तो विषय-विषयीके बीच क्रिया-प्रतिक्रियारूपेण प्रत्यक्षानुभूतिको एक वास्तविक घटनाके रूपमे स्वीकार करनेमे वाल्लभ वेदान्तको कोई सकोच नहीं होगा अन्यथा यह भी कल्प पूर्वपक्षकुक्षिमे निविष्ट ही स्वीकारना पड़ता है

(उत्तरपक्ष / सिद्धान्तपक्ष)

अतः अवशिष्ट अन्तिम सातवा “यह प्रत्यक्षानुभूति दोनोंमे निगूढ सम्भावनाके तोरपर रहे हुवे अनभिव्यक्त गुणधर्मोंकी अन्योन्यसहयोगवशा उभरनेवाली कोई वास्तविकता या अभिव्यक्ति है” ऐसा कल्प ही हमारे सामने वाल्लभ सिद्धान्तके रूपमे प्रस्तुत होता है

एतदर्थ कुछ मौलिक प्राग्धारणाओंको बुद्धिगत रचना जिज्ञास्यविषयके भलीभांति समाकलनके हेतु उपकारक हो सक्ता है

प्रथम प्राग्धारणा

उनमें सर्वप्रथम तो यह कि यहूदी-ईसाई-इस्लामी धर्मग्रन्थोंमें गृष्टिका

प्रादुर्भाव जैसे एक सीधी रेखाके रूपमें स्वीकारा गया है, वैसे वेदादि शास्त्र या वाल्लभ वेदान्तमें वह नहीं स्वीकारा गया है यहाँ वह चक्रकाकार रेखामें स्वीकारा गया है क्योंकि ब्रह्मकी परिभाषा “यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति, तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म” (तैत्ति उप ३।१) में ही “जायन्ते-जीवन्ति-प्रयन्ति-अभिसंविशन्ति” यों चारों ही क्रियापदोंमें वर्तमानकालका प्रयोग इसकी गवाही देता है अतः एकमेवाद्वितीय तत्त्वका अनेकवद्भावापन्न होना, उस सजातीय-विजातीय-स्वगत-भेदवर्जित तत्त्वका सजातीय-विजातीय-स्वगत-भेदवत्तया प्रकट होना, देश-काल-स्वरूपतो अपरिच्छिन्नका अपने-आपको देश-काल-स्वरूपके परिच्छेदोंमें प्रकट करना, उस विशुद्ध विज्ञानात्मक तत्त्वका अपनेसे पृथक् ज्ञेयार्थतया भी प्रकट होना, उस कृत्स्नप्रज्ञानघन एकरस तत्त्वका अज्ञान सशय भ्रम स्मृति स्वप्न निद्रा आदि अनेकरसभावोंमें प्रकट होना, यह सभी कुछ सकृद्वर्तित होनेवाली आकस्मिक घटना न हो कर कोई सनातन असकृदावर्तनोंके चक्रोंमें चलती रहनेवाली एक लीलाके रूपमें स्वीकारा गया है अतएव उस आत्मरमणशील^६ चेतनाम अनात्मवत् जड-जीवात्मिका सृष्टिका प्रादुर्भाव लीलारूप माना गया है अतएव बृहदारण्यकोपनिषद्में इसे यों कहा गया है

“सर्वं नैव रेमे तस्माद्-एकाकी न रमते स द्वितीयम् ऐच्छत्- स ह एतावान् आस यथा स्त्रीपुमासौ सम्परिष्वक्ती-स इममेव आत्मानं द्वेधा आपातयत् स ह इयम् ईक्षाञ्चक्रे ‘कथन्तु मा आत्मनएव जनयित्वा सम्भवति, हन्त तिमोसानि’ इति सा गो अभवत्- ऋषभ इतर ता समेव अभवत् यदिदं किञ्चन मिथुनं तत् सर्वम् असृजत सो अवेद ‘अहं वाव सृष्टिं अस्मि’- ‘अहं हि सर्वम् असृक्षि’ इति ततः सृष्टिं अभवत् सृष्ट्या ह एतस्या भवति य एव वेद”

(बृह उप १।४।३-५)

एतावता सिद्ध होता है कि उस अखण्डबोधरूप परमतत्त्वका निजात्मद्वेधापादन, अर्थात् विषय ओर विषयी बनना, आंख-मिचौनीके जैसी कोई क्रीडा है. अर्थात् छिपे हुवे विषयको विषयी खोज रहा है और विषयीके छिप जानेपर उसे विषय खोजने लग जाता है। यह निरन्तर चक्रवत् चलती लीलामे उस एकमेवाद्वितीय तत्त्वका अनेकवद्भावापन्न होना और अनेकवद्भावापन्न हो जानेपर पुन अपनी एकमेवाद्वितीयताको खोजने लग जाना ही सृष्टि-प्रलयके चक्रतया उपनिषदोंमें प्रतिपादित हुवा है

हमारा जिज्ञास्यविषय प्रत्यक्षप्रमाण भी इस प्रक्रियामें अपवाद हो नहीं सकता. अत विषयी चेतनामें प्रकट हुवा लीलात्मक अज्ञान विषयके बारेमें इच्छा-यत्न-उपलब्धिके अनुरोधवश परोक्षापरोक्ष अवभासोंसे निराकृत होनेकी एक क्रीडा है. उसी तरह विषयके इर्दगिर्द रहे आवरणोंमेंसे विषयकी भी झलक प्रकट करनेको कुछ न कुछ काल-कर्म-स्वभावके अनुरोधवश क्रीडा चलती रहती है. अन्यथा सर्वथा अनवगत अनाकाक्षित अदभुत या अनिष्ट विषयोंके आकस्मिक परोक्षापरोक्ष विज्ञानकी सम्भावना ही प्रकट हो नहीं पाती। एतावता सिद्ध होता है कि प्रत्येक वस्तु ज्ञानविषय बन कर विषयी ज्ञानके साथ जुडना चाहती है और प्रत्येक चेतना आत्मरत रहनेके बजाय ज्ञेयार्थविषयिणी बनना चाहती है. यदि यह क्रीडा चक्रवत् निरन्तर्य लिये हुवे न होती, तो सभीके लिये सीधी ऋजुरेखाके रूपमें निर्विकल्प समाधिकी अवस्थाको पा लेना एक सुलभ सिद्धि ही हो जाती। निष्कर्षतया "प्रत्यक्षानुभूति विषय ओर विषयी दोनोंमे निगूढ सम्भावनाके तोरपर रह हुवे अनभिव्यक्त गुणधर्मोंकी अन्योन्यसहयोगवश उभरनेवाली कोई वास्तविकता या अभिव्यक्ति है" यह सिद्ध हो जाता है.

द्वितीय प्राग्धारणा :

द्वारा महत्वपूर्ण पक्ष यह भी है कि ज्ञानके परोक्षावभासके

अन्यान्य सभी उदाहरणोमे रूपसृष्टि (percept) और नामसृष्टि (concept) के बीच प्रकट ऐच्छिक द्वैतकी ही प्रधानता रहती है प्रत्यक्षावभासमे, जबकि, इन दोनोंके बीच पुन एक निगूढ तादात्म्यका अनुसन्धान सुलभ बन जाता है, क्योंकि प्रत्यक्षानुभूति अपनी आद्यावस्था निर्विकल्पानुभूति (sense datum) के स्तरपर विषयीकी इच्छा आकाक्षा या प्रयत्न से नियततया जन्य नहीं होती अतः विषयीसे वाढ्यार्थ न केवल अपरोक्षावभासेगित दिशाके अनुतोषवश अपितु वैसे अवभासप्रयुक्त प्रवृत्तिहेतुक अन्यथानुपपत्तिके बलपर भी वाढ्यार्थ और निर्विकल्पानुभूति के बीच जन्यजनकभाव सिद्ध होता है यद्यपि बृहदारण्यकोपनिषद्मे इन नाम-रूप-कर्मके तादात्म्यका निरूपण यो उपलब्ध होता है कि—

“त्रय वा इदं नाम रूप कर्म तेषां नाम्ना वाग् अतोहि सर्वाणि नामानि उत्तिष्ठन्ति ब्रह्म एतद्वि सर्वाणि नामानि विभर्ति अथ रूपाणां चक्षु अतोहि सर्वाणि रूपाणि उत्तिष्ठन्ति ब्रह्म एतद्वि सर्वाणि रूपाणि विभर्ति अथ कर्मणाम् आत्मा अतोहि सर्वाणि कर्माणि उत्तिष्ठन्ति ब्रह्म एतद्वि सर्वाणि कर्माणि विभर्ति तदेतत् त्रयं सद् एकम् अयम् आत्मा आत्मा उ एकं सन् एतत् त्रयम्”
(बृह उप १।६।१-३)

तथापि यहा नाम-रूप-कर्मके उत्थानहेतु ‘उत्तिष्ठन्ति’ और आधारहेतु ‘विभर्ति’ के सूक्ष्म प्रभेद ऐच्छिक द्वैत और स्वाभाविक अद्वैत के ही लिंग है अतः स्पष्टतया नाम-रूप-कर्मके बीच रहे इस निगूढ एवं घनिष्ठ ब्राह्मिक तादात्म्यका अनुसन्धान प्रत्यक्षानुभूतिमे शक्य जो बन जाता है, वही इस प्रत्यक्षप्रमाणका असाधारण महत्त्व है बाल्लभ वेदान्तमे नाम और रूप को, जर्मनीके सत्रहवीं सदीके चिन्तक लाइब्निजके मोनाडस्की तरह, आत्मपर्याप्त समानान्तर गवाक्षविहीन प्रकोष्ठोपम नहीं माना गया है ओर न इन नाम-रूपोको आविद्यक विकल्प ही अर्थात्

अविद्याकल्पित मिथ्याभास ही क्योंकि इनकी त्रयीका आत्मतया एकत्व और एकात्माका नाम-रूप-कर्मतया त्रित्व कण्ठोक्त सिद्ध है यह तादात्म्य, क्योंकि, विषयके परोक्षावभासमे यद्यपि सुबोध्य नहीं होता, फिरभी, प्रत्यक्षानुभूति एक ऐसा प्रयागराज है कि जहा नाम-रूप-कर्मकी त्रिवेणीका पवित्र सगम हो ही जाता है

प्रस्तुत विमर्शकि यहा इस मुकामपर पहुचनेपर ही तैत्तिरीयोपनिषद्मे निरूपित “सो अकामयत ‘बहु स्या प्रजायेय’ इति स इद सर्वम् असृजत यदिद किञ्च सच्च त्यच्च अभवत्, निरुक्तञ्च अनिरुक्तञ्च, निलयनञ्च अनिलयनञ्च, सत्यञ्च अनृतञ्च सत्यम् अभवत् यदिद किञ्च तत् ‘सत्यम्’ इति आचक्षते” (तैत्ति उप २।६) उस परम तत्त्वकी विरुद्धधर्माश्रयताका सत्यापन शक्य बन जाता है

तृतीय प्राग्धारणा -

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके आत्मज श्रीविठ्ठलनाथ प्रभुचरणद्वारा वाल्लभ वेदान्तके नामाभिधानार्थ प्रयुक्त ‘साकारब्रह्मवाद’ पदके अभिप्रायका विमर्श करनेपर ‘ब्रह्म’पद त्रिविध अपरिच्छिन्नताका भाव द्योतित करता है परन्तु ‘साकार’ पदसे विरुद्धधर्मका भाव द्योतित होता है जैसा कि महाप्रभु स्वयं भी कहते है “ब्रह्मणि विरुद्धधर्मा सन्तीति ज्ञापनार्थम् आह ‘अनन्तमूर्ति तद् ब्रह्म कूटस्थ चलमेव च विरुद्धसर्वधर्माणाम् आश्रयो युक्त्यगोचरम्’ अनन्ता मूर्तयो यस्य (तद्) ब्रह्म एक व्यापक च तेन अनेकत्वम् एकत्व च निरूपितम्” (त दी नि प्र १।७१) अत आधुनिक सूक्ष्मजैविकविज्ञानके (Microbiology) के एककोशीय जीवाणु (protoplasmic cell) मॉडलपर कुछ कहना हो तो यह कहा जा सकता है कि ‘साकार’ पदबोधित परब्रह्म भगवान् पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण Nucleus के जैसे होते है इसी तरह ‘ब्रह्म’पदबोधित त्रिविध अपरिच्छिन्नता / व्यापकताको ‘अक्षरब्रह्म’ कहा गया है यह एककोशीय जीवाणुमें Cytoplasm की तरह होता है यहीं नाभीकीय सत्यसरूप

तथा सर्वभवनसामर्थ्य द्वारा आत्मद्वेधापादन (splitting of cell) की प्रक्रिया सम्पन्न होती है^७ सच्चिदानन्दरूप अक्षरब्रह्मकी पञ्चविधता काल-कर्म-स्वभाव-प्रकृति-पुरुषतया निरूपित हुयी है इनमे प्रकृति सत्त्वजस्तमोगुणोकी साम्यावस्थारूपा सदश होती है महद् (व्यष्टिचित्तोकी समष्टि), अहकार (व्यष्टिक्रियाशक्तिओकी समष्टि) इस तरह ये हमारे भीतर प्रत्यक्षोपकरण मन बुद्धि इन्द्रिय तन्मात्रा पञ्चमहाभूतोंके अवान्तरोपादानकारणरूप बनते हैं आनन्दाशके तिरोभावपूर्वक जीवचेतनाकी समष्टिको पुरुष माना गया है यह साराका साराका आत्मविभाजन cytoplasm के जैसे अक्षरब्रह्मात्मक प्रकोष्ठमे सम्पन्न होता माना गया है इनमे Nucleus स्थानीय पुरुषोत्तमको सर्वस्तुविषयक स्वाभाविक= अनौपाधिक ज्ञानसे सर्वदा युक्त माना गया है यह स्वभावसिद्ध सर्वज्ञता, किन्तु, जीवचेतनामे आनन्दाशके तिरोधानवश तिरोहित हो जाती मानी गयी है अतः ब्रह्मके चिदशोमे चेतनाका स्वरूप निर्विषयक चैतन्यवत् हो जाता है बादमे ब्रह्मके ही सदशभूत प्राकृत चित्त अहकार मन इन्द्रिय तन्मात्रा बुद्धि आदि उपाधियों या उपकरणों के सहयोगवश ही वह जीवचेतना पुनः सविषयक ज्ञानवान् ज्ञाता बन पाती है अतः जिसे हम 'विषयी' कहते-समझते हैं वह चेतनैकरस या बोधैकरस (homogeneously cognisant spirit) न हो कर चेतनाचेतन तत्त्वोंका सघात होता है निष्कर्षतया जिसे हम प्रत्यक्षोपलब्धि समझते हैं, उसे भी चेतनाचेतनसघातमे घटित होनेवाली एक विलक्षण घटनाके रूपमे निहारना आवश्यक होता है अतः हमारी प्रत्यक्षोपलब्धि भी हमारा सहज सामर्थ्य न हो कर विषयीके घटक चेतनाचेतन उपादानोंका सघातोपाधिक सामर्थ्य ही होता है अतः सघातोपादानभूत तत्त्वोंकी परिच्छिन्न सामर्थ्यके अनुरूप परिच्छिन्न सामर्थ्य भी वहा अनुक्तसिद्ध ही हो जाता है

ये तो प्रत्यक्षानुभूतिके सिद्धान्ताभिमत स्वरूपके बारेमे तत्त्वमीमासकीय या पराभौतिकी (metaphysical) प्राधारणाएँ हैं ज्ञानमीमासकीय (epistemological) प्राधारणोंपर भी थोड़ा सा दृष्टिपात अपेक्षित है

चतुर्थ प्राग्धारणा :

यह सागूचा निरूपण श्रीमद्भागवततृतीयस्कन्धके छब्बीसवें अध्यायके आधारपर ही प्रस्थानरत्नाकरकारने भी किया है. अतः विस्तारपूर्वक तो वहीं देख लेना उपकारक होगा फिरभी थोड़ी सी रूपरेखा यहाँ भी दी जा सकती है

हम देख चुके हैं कि जीवचेतनाका साक्षात् सम्पर्क जिस प्राकृतिक तत्त्वके साथ जुड़ता है, उसे 'महत्' या 'चित्त' कहा गया है इसके बारेमें भागवतकारिकाकी सुबोधिनीमें महाप्रभु कहते हैं कि चित्त वह पदार्थ है जो सदशमें प्रकटी प्रकाशोपम चिदशके प्रति प्राथमिकी, दर्पण (या कैमेरामें भरी जानेवाली (photosensitive reel) के जैसी, चैतन्यका ग्रहण और उसे प्रकट करनेकी सामर्थ्य है इसे ब्रह्माण्डकी अकुरावस्थाके रूपमें निरूपित किया गया है इस चित्तमें से जो द्वितीय तत्त्व प्रकट होता है वह क्रियाशक्तिमान् अहकार है इसमें निजोपादानके गुणके अलावा क्रियाशक्तिका भी वैशिष्ट्य उल्लेखनीय है अर्थात् अब चित्त न केवल चैतन्यको अपने भीतर प्रतिफलित कर पाता है अपितु अहकारात्मना परिणत चित्त प्रतिक्रिया भी प्रकट करने लग जाता है हम देख चुके हैं कि चित्तको अकुरोपम माना गया सो अहकारात्मना सक्रिय हो पानेके कारण अब उसमें न केवल चैतन्य अपितु विश्वके मूलाकुरमें रही सूक्ष्मावस्थागत विविध नाम-रूप-कर्मोवाले मन इन्द्रिय और तन्मात्राओं के प्रति समानता तथा सचेष्टता भी प्रकट हो पाती है और इस तरह वे स्थूलभावापन्न हो जाते हैं शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध तन्मात्राएँ ही घनीभूत हो कर आकाश वायु तेज जल और पृथिवी के रूपोंमें परिणत हो जाते हैं। इसका सुविशद निरूपण तो आकर ग्रन्थमें ही अवलोकनीय है फिरभी यहाँ उसके स्थालीपुलाकन्यायेन निरूपणका मुख्य प्रयोजन यह दिखलाना है कि कैसे एकमेवाद्वितीय सच्चिदानन्दके सदश और चिदश अपने मौलिक रूपमें एकरस (homogeneous) होनेपर भी

आत्मविभाजन (self-splitting) द्वारा भिन्नरस (heterogeneous) बन जाते हैं। इन भिन्नरसभावापन्न सदंश ओर चिदंश के परस्पर संहत हो कर एक-दूसरेके प्रति क्रिया-प्रतिक्रियाशील होनेपर जीवशास्त्रीय mitotic ओर meiotic आत्मविभाजनपूर्वक उत्तरोत्तर विकास भी शक्य बन जाता है।

एतावता सिद्ध होता है कि नामकी बोधात्मकता और रूपकी जडात्मकता आत्मविभाजनकी जीवशास्त्रीयक प्रक्रिया सदृश एक प्रक्रिया है। अतः इन दोनोंके बीच रहे वैरूप्यके तिलका ताड़ बना कर निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ओर सविकल्पक प्रत्यक्ष में अन्यतरके पक्षपाती बन कर किसी एकतरके प्रत्याख्यानको वाल्लभ वेदान्ताभिमत प्राग्धारणाओके विमर्श करनेपर अनावश्यक सिद्ध किया जा सकता है। अतएव विषयमें विषयी और विषयीमें विषय ओतप्रोत माने गये हैं निष्कर्षतया बाह्य रूप आन्तर नामका उद्बोधक होता है ओर आन्तर नाम बाह्य रूपके विकल्पोंका अवगाहन कराता है। इस प्रक्रियाका सर्वाधिक प्रस्फुटन प्रत्यक्षानुभूतिमें ही सम्भव होनेसे ज्ञानमीमांसकीय प्राग्धारणाओके आधारपर भी सदंश-चिदेशका, नाम-रूपका; एवं, अनुभूति तथा संस्कार का पवित्र संगमस्थल होनेके कारण ही प्रत्यक्ष प्रमाणतया भी आदरणीय होता ही है। अतः विशुद्धचैतन्य ओर नामरूपकर्म; अथवा तो, नाम या रूपके बीच भी किसी एकको अनावश्यक ही अविश्वसनीय, मिथ्या या असत् मानना वाल्लभ वेदान्तको श्रुत्यादि शास्त्रोंके अभिप्रेतार्थतया आवश्यक नहीं लगता।

पञ्चम प्राग्धारणा :

हम देख आये कि प्रथम ब्राह्मिक सदंश प्रकृति गुणत्रयीकी साम्यावस्था है। उन्हीं तीनों गुणोंकी साम्यावस्थामे कालकृत गुणक्षोभवशात् प्रकट हुवा वैषम्य यह समूचा महदादि पञ्चभूतान्त प्राकृत विकार है। अतएव प्रपञ्चकी छोटी हो या बड़ी प्रत्येक घटनाओमें गुणत्रयीका

वैषम्य अनुस्यूत रहता है। परिणामतः निर्विकल्पकानुभूतिके बाद बुद्धिमें सात्त्विकावस्थाके प्रबल होनेपर अध्यवसायाकारक परोक्षपरोक्ष भान होता है। राजसावस्थाके प्रबल होनेपर संशयाकारक ज्ञान प्रकट होता है। और तामसावस्थाके प्रबल होनेपर अज्ञान निद्रा भ्रमाकारक ज्ञान प्रकट होता है^१। इसका भी सुविशद विवेचन 'प्रमेयरत्नार्णव' नामक ग्रन्थके 'प्रपञ्चविवेक' और 'ख्यातिविवेक' नामक प्रकरणोंमें तथा प्रस्थानरत्नाकर के भी प्रमास्वरूपबोधोपयिक-ज्ञानभेदोपभेदनिरूपक कल्लोलके द्वितीय तृतीय तथा चतुर्थ तरंगोंमें हुवा ही है। यहां इसके उल्लेखका प्रयोजन तो केवल इतना ही है कि प्रत्यक्षानुभूति स्वयं अनुभूतिके स्तरपर प्रमाकारिका संशयाकारिका या भ्रमाकारिका कुछ भी हो सकती है। क्योंकि बुद्धिका कार्य, श्रीमद्भागवततृतीयस्कन्धके पूर्वोक्त अध्यायमें, बुद्धिको परिभाषित करते हुवे यों कहा गया है कि "समनस्केन्द्रियोंमें द्रव्यके स्फुरित होनेपर, अर्थात् सामान्यज्ञानके सम्पन्न होनेपर, उसे विशेषज्ञानमें पर्यवसित करनेवाली बुद्धि होती है।"^{१०} अतः प्रत्यक्षप्रमा न केवल बुद्ध्याश्रिता घटना होती है और न केवल इन्द्रियाश्रिता ही; प्रत्युत, इन्द्रिय और बुद्धि उभयाश्रिता घटना है। अतएव जैसे सर्वथा इन्द्रियोंसे अगोचर वस्तुके बारेमें बुद्धि प्रत्यक्षप्रमा प्रकट नहीं कर पाती, वैसे ही बुद्धिसे सर्वथा अगृहीत अथवा सर्वथा अग्राह्य या असम्भाव्य वस्तुओंके बारेमें इन्द्रियां भी सहसा प्रत्यक्षप्रमा प्रकट करनेमें सक्षम नहीं हो पाती हैं। इसे आधुनिक मनोविज्ञानने भी अनेक प्रयोगोंद्वारा सिद्ध किया है। निष्कर्षतया पुनः दोहराना चाहेंगे कि "प्रत्यक्षानुभूति दोनोंमें निगूढ़ सम्भावनाके तोरपर रहे हुवे अनभिव्यक्त गुणधर्मोंकी अन्योन्यसहयोगवशा उभरनेवाली कोई वास्तविकता या अभिव्यक्ति है" अस्तु।

[संगति]

प्रत्यक्षप्रमाके बारेमें इन सेद्धान्तिक प्राग्धारणाओंका विहंगावलोकन कर लेनेपर कुछ महत्त्वपूर्ण संगतिओका विचार कर लेना इस विषयमें प्रसंगोपात्त होगा।

(१) श्रीमद्भागवतके पूर्वनिर्दिष्ट “महत्-तत्त्वाद् विकुर्वाणाद् भगवद्दीयंसम्भवात् क्रियाशक्ति अहकार त्रिविध सम्पद्यत, वैकारिक तैजसश्च तामसश्च यतो भवो मनसश्च इन्द्रियाणाञ्च भूताना महतामपि” (भाग पुरा ३।२६।२३-२४) इस वचनमे अहकारको क्रियाशक्तिमान् माना गया है तथा इसीमेसे मन इन्द्रियो आर तन्मात्राओं की उत्पत्ति स्वीकारी गयी है वेसे तो सर्वत्र उपादानकारणके गुण उपादेय कार्यमे अनुगत होते है अत चित्तोपादानकतावश इन्द्रियोंमे ज्ञानशक्ति और अहकारोपादानकतावश क्रियाशक्ति यों साक्षात् / परम्परया द्विविध शक्तियोका अनुगम मन तथा इन्द्रियोंमे माना गया है साथ ही साथ इन्द्रियोंमें पाच ज्ञानेन्द्रिय ओर पाच कर्मेन्द्रिय यो विभज्यानुगति भी निरूपित हुयी है अतएव “एकादशा आसन् मनसोहि वृत्तय आकूतय पञ्च धियो अभिमान” (भाग पुरा ५।११।९) वचनमे “‘आकूति’ + ‘धी’ + ‘अभिमान’ = ११ मनोवृत्तियाँ” ऐसा समीकरण भी कण्ठोक्त है साथ ही साथ “वाचनिके शास्त्रे वाचनिक्येव व्यवस्था” उचित होती है, फिरभी मनको, क्योंकि ग्यारहकी ग्यारह इन्द्रियोका प्रेरक अधीश्वर माननेके साथ-साथ भगवद्गीतामे “मन पृष्ठानि इन्द्रियाणि” (भग गीता १५-७) वचनमे इन्द्रियरूप भी माना गया है अत अपेक्षित बाहर सख्याका अनुल्लेख इस तथ्यकी और इंगित करता है कि सख्या अनियततया यथासन्दर्भ सापेक्ष होती है ऐकान्तिक नहीं एतावता सघातस्वभाव, ज्ञान, इच्छा ओर प्रयत्न के आधीन सभी इन्द्रियोंकी चेष्टा अनुभवसिद्ध होनेसे कर्मेन्द्रियोंमे भी किसी प्रकारकी अनुभूति और ज्ञानेन्द्रियोंमे भी किसी प्रकारका कर्म भी क्यों स्वीकारा नहीं जा सकता ?

उदाहरणतया वागिन्द्रिय और रसनेन्द्रिय केलिये मुखमे एक ही जिह्वा उभयविध शक्तिओंसे सम्पन्न रहती है पाणीन्द्रिय वैसे एक कर्मेन्द्रिय होती है परन्तु द्रव्यके गुल्त्वके ज्ञानार्थ वह ज्ञानेन्द्रियका कार्य भी करती ही है पायूपस्थेन्द्रिया भी कर्मेन्द्रिया है फिरभी मलमूत्रादिकी वेगवाधा ओर वेगोपशम के अभिज्ञानार्थ ज्ञानेन्द्रियोंका काम भी करती

ही है इसी तरह चरण कर्मेन्द्रिया होनेपर भी धावनश्रम और श्रमोपशम के विज्ञानार्थ ज्ञानेन्द्रियोका कार्य भी निभाते ही है इसी तरह ज्ञानेन्द्रियोंके अन्तर्गत चक्षु वैसे रूपादि प्रत्यक्षकी करण है परन्तु पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण-ऊर्ध्व-अधो दिशाओंके निरीक्षणार्थ वह कर्मेन्द्रियकी तरह भी बरतती है पराशराबाहुल्य तथा पराशरामान्दय के अनुरूप नेत्रगोलकके भीतर अन्तर्पटलको (iris) सजुचित / विकसित करनेकी क्रिया कर्मेन्द्रियवत् ही चक्षु सम्पन्न करती है नासिका एकाकिनी ही गन्धग्रहण तथा श्वसनीय वायुके पूरण-रेचनकी क्रिया भी करती ही है यों दोनों ही कार्य करती है कर्णेन्द्रियके कर्णशूर्प यद्यपि मनुष्ययोनिगे बाह्य कर्म नहीं करते परन्तु पशुओंमें तो स्पष्टतया ध्वनिम्रोतकी दिशामे कर्णेन्द्रियचालनद्वारा श्रवणोपकरण बनते उन्हे देखा जा सकता है रसनेन्द्रियके लिये भी कहा जाता है कि लालारस उत्पन्न करनेकी क्रिया न करे तो आस्वादनार्थ भी समर्थ वह नहीं हो पाती इसी तरह त्वगिन्द्रिय भी कट-फट जानेपर पुनरसन्धानकी क्रिया करती ही है इससे सिद्ध होता है कि इन इन्द्रियोंके ज्ञानोपकरण तथा कर्मोपकरण होनेके प्रभेद “प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति” न्यायका अनुसरण है नकि किसी एकतरफे अन्यतरफे आत्यन्तिक अभावके वश एतावता सिद्ध होता है कि केवल कर्म ही इच्छातन्त्र नहीं होता अपितु प्रत्यक्षानुभूति भी इच्छातन्त्र होती है वैसे भगवत्पाद श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि—

“कर्तव्ये हि विषये न अनुभवापेक्षा अस्तीति श्रुत्यादीनामेव प्रामाण्य स्यात्, पुरुषाधीनात्मलाभत्वात् च कर्तव्यस्य कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा वा कर्तुं शक्य लौकिक वैदिक च कर्म यथा अश्वेन गच्छति पद्भ्याम् अन्यथा वा नवा गच्छति इति तथा ‘अतिरात्रे षोडशिन गृह्णाति नातिरात्रे षोडशिन गृह्णाति’, ‘उदिते जुहोति अनुदिते जुहोति’ इति ननु वस्तु एव / नैवम् अस्ति / नास्ति इति वा विकल्प्यते विकल्पनास्तु पुरुषबुद्ध्यपेक्षा न वस्तुवाधाल्पज्ञान पुरुषबुद्ध-

चपेक्षम् किन्तर्हि? वस्तुतन्त्रमेव तत्, नहि स्थाणौ एकस्मिन्
स्थाणु वा पुरुषो वा इति तत्त्वज्ञानं भवति तत्र पुरुषो
वा अन्यो वा इति मिथ्याज्ञानम् स्थाणुमेव इति तत्त्वज्ञानं
वस्तुतन्त्रत्वात् ”

(ब्र सू भा १।१।२)

श्रुत्यादि शास्त्रोपेक्षे जहा “त्य स्त्री त्व पुमान् असि त्व कुमार
उत वा कुमारी त्व जातो भवसि विश्वतोमुख ” (श्वेता उप ४।३)
“एकएव अग्नि बहुधा समिद्ध, एक सूर्यो विश्वम् अनुप्रभूत, एकैव
उपा सर्वम् इदं विभाति, एक वा इदं विवभूव सर्वम्”, “पुरुषएव
इदं यद् भूतं यच्च भव्यम्” (ऋक्संहि ८।५।१२, १०।१०।२) जैसे वचन
उपलब्ध होते हैं वहां एककी अनेकताके अथवा एककी अनेकताके
प्रतिपादनको सशय या भ्रान्ति का जनक माना नहीं जा सकता
स्वयं भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यके भी —

“वृष्टश्च लोके विवक्षात शब्दप्रयोग ‘ग्राम आगत’,
‘ग्राम शून्य’ इति कदाचिद् ‘ग्राम’ शब्देन निवासमात्रविव-
क्षाया ‘ग्राम शून्य’ इति शब्दप्रयोगो भवति कदाचिद्
निवासिजनविवक्षाया ‘ग्राम आगत’ इति कदाचिद्
उभयविवक्षायामपि ‘ग्राम’ शब्दप्रयोगो ‘ग्राम न प्रविशेद्’
इति ”

“तस्मात् तार्किकचाटभट्टराजाऽप्रवेश्यम् अभयं दुर्गम् इदम्
अल्पबुद्धचगम्य शास्त्रगुरुप्रसादादहितं च ‘तद् एजति तद्
न एजति तद्गुरे तद् अन्तिके इत्यादिविरुद्धधर्मसमवायित्वप्रकाश-
कमन्त्रवर्णोभ्य च ”

(बृह उप भा १।४।७, २।१।२०)

ऐसे उद्गारोका विमर्श करनेपर ऐसा प्रतीत नहीं होता कि प्रमात्मक

बोध ऐकान्तिकतया वस्तुतन्त्र ही होता है अन्यथा जीवात्मा और ब्रह्म के आत्यन्तिक भेदवर्जित होनेपर भी ब्रह्मके प्रमात्मक साक्षात्कारके हेतु श्रवण मनन निदिध्यासन जैसी इच्छातन्त्र क्रियाओंको अनावश्यक होना अधिक उचित होता

श्रीमद्भगवद्गीताके, परन्तु, “अदृष्टपूर्वं हृषितो अस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथित मनो मे तदेव दराय, देव!, रूप” (भग गीता ११।४५) वचनमे भगवान्‌के मानुष रूप और विराट् रूप दोनोंके दर्शन अर्जुनको अपनी इच्छा या अभ्यर्थना के आधारपर इतरेतरविकल्पतया हुवे एतावता प्रत्यक्षानुभूतिको भी ऐकान्तिकतया वस्तुतन्त्र नहीं माना जा सकता है अन्यथा योगिप्रत्यक्षको अप्रत्यक्ष मानना पड़ेगा अतएव उन्नीसवीं सदीके जर्मनीके लुडविग् विट्गन्स्टीन् भी निर्विकल्पानुभूति और प्रत्यय के बीच तारतम्य दिखलाते हुवे कहते हैं “Sensation gives knowledge about external world Images tell us nothing, either right or wrong, about external world (Images are not hallucination, nor yet fancies) While I am looking at an object I Cannot imagine it Images are subject to will”¹² इसे वे अधोनिर्दिष्ट आकृतिद्वारा समझाते हैं —



वाल्लभ वेदान्तकी दृष्टिके अनुसार परन्तु यह कहा जा सकता है कि अनिच्छातन्त्र कल्पनाके कारण उत्पन्न होती प्रतीति बहुधा मायिकी ही होती है भावानुरूप प्रतीतिका, किन्तु, अवास्तविक होना आवश्यक नहीं, यदि वस्तुमे भावानुसरणसामर्थ्य हो तो श्रीमद्भागवतमे, अतएव, आता है कि “त्व भावयोगपरिभावितहृत्सरोज आस्ते श्रुतेक्षितपथो ननु, नाथ!, पुसा यद्यदधिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपु प्रणयसे

सदनुग्रहाय” (भाग पुरा ३।१।११) संगीतशास्त्रके सप्तस्वरोंमें से किसी भी एक स्वरके बारेमें गायकके अपने कण्ठस्वभावके अनुरोधवश स्वेच्छया पङ्कजभाव स्थापित कर लेनेपर अवशिष्ट सभी ऋषभ गन्धार मध्यम पञ्चम धैवत निषाद स्वर श्रुतिगोचर होने लगते हैं, “पदत्सु जायतइति पङ्कज” व्युत्पत्तिके अनुरूप इन्हें केवल इमेजके रूपमें अवाह्य मान कर खपाया नहीं जा सकता गायकेतर श्रोता इसे अपने कर्णोंद्वारा साक्षात् सुन सकता है अतएव कर्म और ज्ञान के बीच इच्छातन्त्र और वस्तुतन्त्र होनेका प्रभेद भी आत्यन्तिक नियति नहीं है वाल्लभ वेदान्त कर्म और ज्ञान दोनोंको ब्रह्मात्मिका शक्तियोंका अनुभाव ही मानता है और परस्परपकारक भी”^१ अस्तु

(२) एक ओर विषय प्रत्यक्षानुभूतिकी चर्चके अन्तर्गत यहाँ उल्लेखनीय लगता है कि श्रीमद्भागवतके उल्लिखित स्थलपर ही “द्रव्याकृतित्व गुणता व्यक्तिस्थानात्ममेव च तेजस्त्व तेजस रूपमात्रस्य वृत्तयः” (भाग पुरा ३।२६।३९) कारिकाकी सुबोधिनीमें महाप्रभु कहते हैं

“द्रव्यस्य घटादे या आकृति सेव रूपस्य, पृथुबुध्नोदराकार रूपमपि आतानवितानात्मक च ‘द्रव्यस्येव आकृति’ इति द्रव्यस्य न उपमेयत्वम् अतो रूपस्यैव लक्षणम् ‘गुणता’ इति सर्वदा उपसर्जनतया प्रतीति नैव शब्दादिषु, स्वतन्त्रतयापि प्रतीयमानत्वात् व्यक्ते सस्थेय सस्था यस्य यदि व्यक्ति वक्रा भवति रूपमपि वक्र भवेदिति उपविष्टे रूपवति रूपमपि उपविष्ट भवति आतानवितानात्मकसकुचीकरणयो भेदात् तेजसश्च तेजस्त्व रूपतन्मात्रत्व सूक्ष्मावस्था रूपतन्मात्रस्य सर्वगतरूपस्य वा घतघ्नो वृत्तयः तेजसो लक्षणानि आह ‘द्योतन पावन पानमदन हिममर्दन तेजसो वृत्तयस्तु एता शोषण क्षुत् तुडेव च’ द्योतन सूर्यादेरिव”

(सुबो ३।२६।३९-४०)

इस आचार्यवचनके विमर्श करनेपर ऐसा नहीं लगता कि रूपके चाक्षुष प्रत्यक्षार्थ नेत्रकिरणोंका नेत्रोंसे बहिर्निर्गमन और विषयदेश पर्यन्त गमन कर प्राप्यकारी होना अनिवार्य हो आधुनिक युगमें एकीकृत इलेक्ट्रोमेनेटिक तरंगविस्तारके सिद्धान्त (The unified theory of electromagnetic field) के अनुसार चक्षुर्ग्राह्य प्रकाश तो रूपद्योतनक्षम किरणोंके प्रभेदोंमें एक अतीव क्षुद्रांश होता है आधुनिक युगमें मानवचक्षुसे अग्राह्य एक्सरे इन्फ्रारेड अल्ट्रावायोलेट ध्वनितरा के ग्राहक उपकरणों अलावा उष्णताग्राहक उपकरणोंसे भी रूपाकृतिका ग्रहण शक्य हो गया है अतः न तो सूर्यके चक्षुर्ग्राह्य प्रकाशकिरणोंकी और न तथाकथित नेत्रकिरणोंकी ही कोई अनिवार्य आवश्यकता अब रूपग्रहणार्थ स्वीकारी जा सकती है

असकृत् स्वीकृतिद्वारा हम यह तो स्पष्ट कर ही चुके हैं कि वाल्लभ वेदान्त शास्त्रव्याख्यारूप चिन्तन है नकि तार्किक उत्प्रेक्षारूप और प्रस्थानरत्नाकरकारके शास्त्रावगाहनसे अधिक या तत्सम शास्त्रावगाहनकी कथा तो दूर, उनके शास्त्रावगाहनकी तुलनामें अपना एकचतुर्थांश भी शास्त्रावगाहन प्रस्तुत लेखकका हो तो अपने-आपको कृतकृत्य मान लेता। फिरभी “नभपतन्ति आत्मसम पतत्रिणो” न्यायेन ऐसा लगता है कि कदाचित् चाक्षुषकिरणोंके बहिर्निर्गमनका सिद्धान्त श्रुत्यादि शास्त्रसिद्ध न हो कर प्रस्थानरत्नाकरकारकी एक कामचलाउ उत्प्रेक्षा ही है अतः प्रस्थानरत्नाकरकार भी न्याय आदि मतोंकी तरह उसीके सहारे चाक्षुष प्रत्यक्षकी व्याख्या करनेमें कल्पनालाघव मान कर अग्रसर हुवे हैं अन्यथा दर्पणमें तो नयनकिरणोंका परावृत हो कर स्वमुखग्रहण करना शक्य भी हो, तावता केमेरामें बाह्य दृश्यका प्रतिफलित हो जाना सूर्यकिरणोंकी रूपवाहकताके बिना कथमपि उपपन्न हो नहीं सकता ग्रन्थकारकी यह युक्ति कि सूर्यकिरणोंद्वारा रूपनयन स्वीकारनेपर द्रव्य रूपविहीन हो जायेगा^{१५} महाप्रभुके इस विधान कि “घट आदि द्रव्यकी जो आकृति होती है वैसी ही रूपकी भी रूप भी घटकी तरह

पृथुबुध्नोदराकार होता है रूप पट द्रव्यकी तरह आतानवितानात्मक होता है 'द्रव्यके जैसी आकृति' ऐसे कहनेके कारण द्रव्यको उपमेय नहीं मान लेना चाहिये इसे रूपका लक्षण जानना चाहिये 'गुणता' कहनेके कारण रूपकी सर्वदा उपसर्जनतया प्रतीति होती है तेजका लक्षणोंका निरूपण 'द्योतन आदि तेजस्की वृत्तिया होती है सूर्य जैसे द्योतन करता है" इसके साथ मेल खाती हुयी नहीं गलती है

अतएव चक्षुर्ग्राह्य रूपवद् वस्तुके प्रत्यक्षमे चक्षु और सूर्यकिरण का संयोग, तत्तादात्म्यापन्न रूप, तज्जनक सूर्यकिरणोका रूपवद्द्रव्यके साथ संयोग, और, वहा उस रूपवद्द्रव्यम रूपकी तादात्म्येन विद्यमानता यो परम्परया अनेकसम्बन्धोंका ऊह अकाम गले पतित होता है अतएव ऐसे सम्बन्धोकी भी अपरिगणना प्रस्थानरत्नाकरमे यत्किञ्चित् सशोधनकी अपेक्षा रखती है, यदि ये परिगणित सम्बन्ध स्वयं श्रुत्यादिशास्त्रसिद्ध या आचार्यवचनसिद्ध न हों तो अन्यथा "वाचनिके शास्त्रे वाचनिक्येव व्यवस्था" भी हमे सर्वदा स्वीकार्य होनी ही चाहिये प्रत्यक्षत उपपन्न न होनेपर प्रत्यक्षतोर्ग्राह्य लौकिक वस्तुओंके किसी अलौकिक आध्यात्मिक या आधिदेविक स्वरूपविषयक ऐसी प्रक्रिया भी स्वीकारी जा सकती है उदाहरणतया शिवपुराणमे यह उल्लेख मिलता है कि "तत सम्प्रेक्ष्य मदन हसन् देव त्रियम्बक नयनेन तृतीयेन सावज्ञं तम् अवैक्षत ततो अस्य नेत्रजो वह्नि मदन पार्श्वत स्थित अदहत् तत्क्षणादेव" (शिवपुरा १।१०१।४०-४१) अत कोई मापक यन्त्र हो तो प्राणीके नयनोंमेसे भी निम्नत होती उष्णताका मापन सर्वथा अशक्य कथा नहीं फिरभी सुदूर दृश्यवस्तुदेश पर्यन्त उनका गमन कुछ क्लिष्टकल्पना लगती है ऐसे ही किसी असामान्य या अलौकिक सन्दर्भमे नेत्रोंसे भी किरणोकी उपपत्ति सोची जा सकती है

[उपसंहार]

अन्तमे आधुनिक विज्ञानने भी प्रकाशकी तरंगरूपता और कणगुच्छरूपता

यो विरुद्धधर्माश्रयता मान्य की ही है तावता हमारी चेतनामें प्रत्यक्षानुभूतिका उद्भव भी ब्रह्माश्रित चेतनामें अनुस्यूत ब्राह्मिकी विरुद्धधर्माश्रयताका ही आशिक अनुभाव है अतएव महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणके एक उद्गार —

अचिन्त्यानन्तशक्ते तद् यद् एतद् उपपद्यते ।

अतएव श्रुती भेदा सृष्टे उक्ता हि अनेकधा ॥

(त दी नि १।४०)

अपने इस आलेखनका उपसंहार करना चाहेंगे कि प्रत्यक्षानुभूति भी उस सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णके मूलस्वरूपकी अनुभूति न भी हो तो क्या हुवा? है वह उसके लीलाविहारकी अनुभूति ही! इति शम्

+

सन्दर्भ

१(क) “रूपप्रपञ्चकरणाद् आसक्तस्वाशवारणे श्रुतिम् आत्मप्रसादाय चकार आत्मानमेव स विचित्रो रूपप्रपञ्चो, जीवा च अशा, अल्पाना विचित्रे भ्रमो भवत्येव अत निवारणार्थं श्रुति चकार तस्या स्वरूपम् आह ‘आत्मानम्’ इति ननु अन्तर्यामिणैव कथं न निवार्यते तत्र आह ‘आत्मप्रसादाय’ इति, अन्तःकरणप्रसादाय जीवान्तर्यामिणौ पूर्वमेव हृदये प्रविष्टौ, भोगभोजनार्थं, तदनुभोगेन मालीन्यं चित्ते जातं न अन्तःस्थितेन दूरीकर्तुं शक्यम् अतो बहिःस्थितेन प्रवेशसमर्थेन तद् दूरीकर्तव्यमिति श्रुतिनिर्माणम् इति अर्थः” (त दी नि प्र २।१८-१९)

(ख) “शब्दएव प्रमाणं तत्रापि अलौकिकज्ञापकमेव तत् स्वतः सिद्धप्रमाणभावः प्रमाणं वेदा सर्वएव^{त दी नि प्र} तथाच प्रत्यक्षादिषु भ्रान्त्यस्यापि दर्शनात् तेषु नैकान्तिकं प्रामाण्यम् अतः तानि विहाय आप्तवाक्यत्वाद् वेदादय एव आद्रियन्ते इति अर्थः ननु वेदादीनां चेत् शब्दत्वेन प्रामाण्यं तर्हि लौकिकेऽपि तुल्यं

प्रत्यक्षोपजीवकत्वात् प्रमाणान्तरतौल्यं च इत्यत आहु 'तत्रापि' इत्यादि नहि अस्माभिः शब्दत्वेन वेदानां प्रामाण्यम् उच्यते अपितु अलौकिकज्ञापकशब्दत्वेन, औत्पत्तिकमूत्रानुरोधात् तथा सति यथा धर्मो सपरिकरे नोदनैव प्रमाणम् अत्र (सपरिकरे ब्रह्मणि) वेदादेव मानम् इत्यतो न तौल्यं नवा प्रत्यक्षोपजीवकत्व, नहि वेदोदितो धर्मो वा ब्रह्म वा अन्येन प्रमातुं शक्यते, तयो तदेकवेद्यत्वस्यैव तन्मीमासासिद्धत्वाद् (त दी नि प्र आ भ १।७)

१“रूपसृष्ट्यपेक्षया नामसृष्टिः विलक्षणा अनन्तवती रूपसृष्टिः अनन्ता नामसृष्टिः स्थूला रूपसृष्टिः सूक्ष्मा नामसृष्टिः विकृता रूपसृष्टिः अविकृता नामसृष्टिः जडरूपा रूपसृष्टिः बोधरूपा नामसृष्टिः एव चतुर्धा वैलक्षण्यम् उक्तम्” (सुबो १०।१३।४३)

२(क)“सर्वयोनिषु, कौन्तेय!, मूर्तयः सम्भवन्ति या तासां ब्रह्म महद् योनिः अहं बीजप्रदः पिता, सत्त्वं रजः तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः निबध्नन्ति, महाबाहो!, देहे देहिनम् अव्ययम् तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकम् अनामयं, सुखसगेन बध्नाति ज्ञानसगेन च, अनघ!, रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासगसमुद्भवं तद् निबध्नाति, कौन्तेय!, कर्मसगेन देहिनं, तमस्तु अज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिना प्रमादालस्यनिद्राभिः तद् निबध्नाति भारत!” (भग गीता १४।४-८)

(ख)“सर्वभूतेषु येन एकं भावम् अव्ययम् ईक्षते अविभक्तं विभक्तेषु तद् ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् पृथक्त्वेन तु यद् ज्ञानं नानाभावान् पृथग्बिधान् वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तद् ज्ञानं विद्धि राजसम् यत्तु कृत्स्नवद् एकस्मिन् कार्ये सक्तम् अहेतुकम् अतत्त्वार्थवद् अल्पं च तत् तामसम् उदाहृतम्” (भग गीता १८।२०-२२)

३“१ सर्वात्मभूतम् अविकृतं स्वस्वरूपात्मकं नित्यं २ धर्मरूपं नित्यं ३ वेदात्मकं नित्यं ४ सृष्टिबीजताभावापन्नानेकशब्दरूपं नित्यं ५ तत् तादृशद्विविधशब्दात्मकशरीर-विशिष्टमेव लोके प्रकटीभवितुं लौकिकं प्रमाताए प्रमेयं च आश्रयते तत्र शब्दशरीरविशिष्टस्य प्रमात्राश्रयणं 'पर्यन्त्या'ख्यया शब्दावस्थया तद्बोधकश्रुत्या च अवसीयते तथाच आनुभविकोक्तिः 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमाद् क्रतोः अनुबिद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्दने भासते' तत्र प्रमेयाश्रयः प्रमेयानन्त्याद् अनन्तमेव प्रमातरितुं अन्तःकरणेन्द्रियाश्रयणात् पञ्चधा तत्र इन्द्रियेषु (निर्विकल्पकत्वेन) एकधा अन्तःकरणेषु चतुर्धा” (प्रस्थानतत्त्वाकर पृ २-७)

“‘युष्मद्’ - ‘अस्मत्’ प्रत्ययगोचरयो विषयविषयिणो तमप्रकाशवद् विरुद्धस्वभावयो इतरेतरभावानुपपत्तौ सिद्धाया तद्धर्माणामपि सुतराम् इतरेतरभावानुपपत्ति इत्यतो ‘अस्मत्’प्रत्ययगोचरे विषयिणि चिदात्मके ‘युष्मत्’प्रत्ययगोचरस्य विषयस्य तद्धर्माणा च अध्यास, तद्विषय्येण विषयिण तद्धर्माणा च विषये अध्यासो मिथ्या इति भवितु युक्त, तथापि, अन्योन्यस्मिन् अन्योन्यात्मकताम् अन्योन्यधर्मान् च अध्यस्य इतरेतराविवेकेन अत्यन्तविविक्तयो धर्मधर्मिणो मिथ्याज्ञाननिमित्त सत्यानृते मिथुनीकृत्य ‘अहम् इद-मम इदम्’ इति नैसर्गिको अयं लोकव्यवहार” (ब्र सू शा भा १।१।१)

“आत्मरति आत्मक्रीड” (छान्दो उप ७।२।५।२)

“तुलनीय” “The cell has main two parts a nucleus, containing the genetic material deoxyribonucleic acid (DNA), and a surrounding cytoplasm. The nucleus cell headquarter governs the major activities of the cytoplasm, its finest hour, however, comes at reproducing time, when chromosomes containing DNA split. It is in the cytoplasm that the cell’s day to day business is carried on” pp 14 The body by Alan E Nourse

“द्रष्टव्य सुबोधिनी ३।२६।१-७२

“द्रष्टव्य सुबोधिनी ३।२६।३०-३१

“द्रष्टव्य प्रस्थानरत्नाकर प्रमास्वरूपबोधोपययिकज्ञानभेदोपभेदनिरूपककल्लोल तरंग तृतीय

““वैकारिकाद् विकुर्वाणाद् मनतत्त्व यद् विदु ‘अनिरुद्धा’ख्य हृषीकाणाम् अधीश्वरम्” (भाग पुरा ३।२६।२८)

“ pp 174 The Wittgenstein Reader=Aspect and Image Ed by Anthony Kenny Pbl Black well USA

“द्रष्टव्य तत्त्वार्थदीपनिबन्ध १।११-१२ तथा तत्त्वार्थदीपनिबन्धप्रकाश २।२८

“द्रष्टव्य प्रस्थानरत्नाकर पृ १४८-१५०

चर्चा

गोस्वामी श्याम मनोहर

सिद्धेश्वरभट्ट : आपने दो प्रकारकी प्राग्धारणाये प्रस्तुत कीं १ सत्ताशास्त्रीय ओर २ ज्ञानशास्त्रीय क्या मूल्यमीमासीय प्राग्धारणा प्रस्तुत नहीं की जा सकती थी? क्योंकि प्रत्यक्ष ही नहीं, ज्ञानकी सारी प्रणालिये मूल्योन्मुखी होती है प्रत्यक्षमे भी, जिसको हम देखना चाहते हैं उसीको देखते हैं, नहीं देखना चाहते हैं उसको हम तिरस्कृत कर देते हैं तो प्रत्यक्षविषयक मूल्योन्मुखी प्राग्धारणापर भी आप प्रकाश डालें

दूसरी बात सदश ओर चिदश के विषयमे तो आपने बात की पर आनन्दाशको क्यों छोड़ दिया? यह इसलिये पूछ रहा हूँ क्योंकि मूल्यकी चर्चामें हम परिणति तो आनन्दमें ही करते हैं क्योंकि ज्ञानपिपासा भी केवल बौद्धिक क्रीडा तो नहीं है। अन्ततो गत्वा उससे आत्मरञ्जन भी होता है और निश्चयसकी प्राप्ति भी होती है अत आनन्दाश भी महत्वपूर्ण है और यदि इन तीनोंको हम एकीभूत मान ले तो अद्वैतवेदान्तकी चिन्मात्र ब्रह्मकी, जिसकी अभिव्यक्ति बादमें त्रिविध चैतन्यके रूपमें होती है, अवधारणा और शुद्धाद्वैत ब्रह्मवादकी अवधारणामें क्या फर्क होगा?

गो श्याम • त्वरामें आलेख पत्र लिखनेके कारण मूल्यमीमासाकी दृष्टिसे प्रत्यक्षके विषयमे मैं कुछ लिख नहीं पाया हूँ चर्चक बाद मेरे आलेख पत्रमें कुछ परिवर्धन कर दूँ तो वह हो जायगा आनन्दके प्रत्यक्षकी मीमासा मैंने इसलिये नहीं की क्योंकि श्रीपुरुषोत्तमचरणोंने प्रस्थानरत्नाकरमें उस सम्बन्धमें दिशानिर्देश किये हैं अतः उस बारेमें विशेष

कथ्य मुझे अपनी इस त्वरामे प्रतीत नहीं हुआ और प्रमाणचैतन्य और प्रमेयचैतन्य के बारेमें मैं यह कहना चाहूंगा कि वहां वह सारा विषय प्रमात्रोपाधिक विषयोपाधिक या अन्तःकरणोपाधिक चैतन्य, इस तरहका प्रभेद अद्वैतवेदान्ती करते हैं इस तरहका प्रभेद हमारे दर्शनमें स्वीकार्य नहीं हुआ है इसलिये अपने आलेखमें अद्वैतकी अध्यासभाष्यकी प्राक्रियाको पूर्वपक्षमें रखकर मैंने यह दिखलानेका प्रयास किया है कि हमारे यहां केवल अध्यास नहीं है वस्तुतः सयोग भी है क्योंकि सदश और चिदश ब्रह्मकी इच्छासे संयुक्त हुवे हैं केवल अपने अध्यासके कारण संयुक्त नहीं हुवे हैं “तच्छक्त्या अविद्यया तु अस्य जीवससार उच्यते” अब संयुक्त हो गये हैं तो उसके बाद उनको भ्रम भी हो जाता है इसलिये मैंने अपने आलेखपत्रमें लिखा है कि “सर्वशामे मान्य नहीं है” कुछ अशामें मान्य है मगर अध्याससे हम सारी बातको उठाना नहीं चाहते हैं—उठाना चाहते हैं ब्रह्मकी इच्छासे, ब्रह्मसकल्पसे तो सदश और चिदश का संयोग अथवा शुद्ध चेतना और अन्तःकरण और बाह्य करण का संयोग अपनी इच्छासे नहीं हुआ है परन्तु ब्रह्मकी लीलाके सकल्पके कारण हुआ है अब ब्रह्मके सकल्पवशात् हुआ है और हमारी चेतना और हमारे उपकरण परिच्छिन्न हैं इसलिये हमको भ्रम भी हो जाता है—परन्तु केवल भ्रम ही नहीं होता है यह हमारा सिद्धान्त है इसीको मैंने अपने आलेख पत्रमें “सर्वशामे मान्य नहीं है” यह लिख कर जताया है (द्रष्टव्य सगोष्ठ्युत्तरलेखन)

कश्चित् : (प्रश्नो ध्यनिमुद्रणयन्त्रे न श्रूयते)

गो श्याम : अल्पस्य प्रतिप्रिम्बो न भवति इत्येतस्मिन् विषये मराप्रभुश्रीवल्लभाचार्यचरणैरेव निबन्धे तादृक् प्रतिपादनं कृतम्

अस्ति तस्माद् विम्ब-प्रतिविम्बभावेन अध्यासो नास्ति अस्माक
मते अयोगोलकन्यायेन चैतन्यस्य आवेशो भवति अन्त करणेषु
देहेन्द्रियादिषु च तदावेशेन अध्यासो भवति, विम्ब-
प्रतिविम्बभावेन अध्यासो न भवति तस्माद् रूपम् अस्ति
चेद् भवतु नास्ति चेद् मा भूत् न तेन कोपि .

कृष्णमूर्तिशास्त्री : ओर नीरूप प्रतिविम्बको ग्रहण भी कर सकता
हे यह श्रीवल्लभाचार्यजीको मान्य हो सकता हे ऐसा
मुझको लगता है क्योंकि “आभासएव च” सूत्रके भाष्यमे
जीव तो परमात्माका प्रतिविम्ब हे यह सिद्धान्त हे इस
विषयमे श्रीवल्लभाचार्यजीका सिद्धान्त तो देखा नहीं हे
लेकिन अद्वैतमे तो ऐसा ही हे “रूप रूप प्रतिरूप बभूव”
ऐसी श्रुति है इसी तरह “यथा हि अयं ज्योति आत्मा
विवस्वान् अपो भिन्नात् क्रियते भिन्नरूप, देवा क्षेत्रेषु
एवम् अजो अयम् आत्मा” तो श्रुति - सूत्रके अनुसार जीवको
प्रतिविम्ब माननेमे इनको कोई विरोध नहीं होना चाहिये
इसीलिये १५५ पृष्ठपर उसे पहले कह कर वे कहते है
कि “अयं पिण्डसमारोहेण दाहकस्य अग्ने साक्षात्सृष्ट-
दाहकत्वदर्शनाद् वृत्त्युपायोहेण प्रकाशकस्य जीवस्य साक्षाद्
अन्त करण-ससृष्टप्रकाशकत्व सुतरा सुवचमिति अन्त करणे
प्रतिबिम्बिताना प्रकारा” अन्त करण तो नीरूप यहा वाल्लभ
मतमें भी है यहा अयोगोलकका दृष्टान्त उन्होंने यह
भी कहते है “अन्त करणे प्रतिबिम्बिताना” प्रतिविम्बाधारत्वम्
(द्रष्टव्य सगोष्ठ्युत्तरलेखन)

देवनाथन : अप्रत्यक्षेऽपि हि आकाशे बाला तलमलिनताम् अध्यस्यन्ति
इति अध्यासभाष्ये उक्त तस्य का गति ?

गो. श्या. म. : अस्मिन् विषये पुरुषोत्तमचरणानाम् एतादृशो अभिप्रायो वर्तते
आकाशस्तु न इन्द्रियसामर्थ्येन प्रत्यक्षो भवति किन्तु पिशाचवत्
स्वसामर्थ्येन प्रमेयबलसामर्थ्येन प्रत्यक्षो भवति तस्मात्

प्रतिबिम्बोऽपि तस्य चक्षुः शक्यते पिशाचादीनां स्वसामर्थ्येनैव
प्रत्यक्षयोग्यता वर्तते, इन्द्रियसामर्थ्येन नास्ति अस्माकं मते
प्रमेयबल प्रमाणबलम् इत्यादिरूपेण बलभेद कश्चन स्वीकृतो

डॉ कृष्ण शास्त्री : आकाशस्य बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्व वा मानसप्रत्यक्षत्वम् ?
आकाशको प्रत्यक्ष मानते है ?

गो श्याम : न इन्द्रियसामर्थ्याद्

कृष्णमूर्तिशास्त्री : आकाश तो प्रत्यक्ष ही नहीं है अतएव “अप्रत्यक्षेऽपि
हि आकाशे अध्यस्यन्ति” इति अध्यासभाष्ये भगवान्
शंकराचार्यजी आकाशका प्रत्यक्ष नहीं मानते कल्लभाचार्यजीका
सिद्धान्त तो मुझको ज्ञात नहीं है

यज्ञेश्वरशास्त्री : वाल्लभे अनुपलब्धिप्रमाण न अंगीकृत परन्तु अभावस्य
प्रत्यक्ष स्वीकृतम् कथम् अभावस्य प्रत्यक्षम् ? नैयायिकै
विशेषविशेष्यभावसन्निकर्ष स्वीकृत प्रत्यक्षस्य कृते वाल्लभमते
कीदृश सम्बन्ध पुरस्कृत्यते ? (द्रष्टव्य सगोष्ठ्युत्तरलेखन)

कृष्णमूर्तिशास्त्री : उनका पूछना ऐसा है कि सभी ज्ञानेन्द्रिय और
कर्मेन्द्रिय दोनों दोनोंके काम करती है ऐसा आपने अपने
पत्रमे लिखा है इसपर उनका प्रश्न है

गो श्याम : मैने इसीलिये अपने पत्रमें ‘रसनेन्द्रिय’ शब्दका प्रयोग
नहीं किया है मैने लिखा है कि एक जिह्वा रसनेन्द्रियका
कार्य भी करती है और शब्दोच्चारणका कार्य भी करती
है मैने ‘एक जिह्वा’ कहा है ‘रसनेन्द्रिय’ नहीं कहा
है

बलिराम शुक्ल : जिह्वा इन्द्रिय नहीं है वह शरीरावयव है

गो श्याम : मेरा प्रतिपिपादयिषित इतना ही है कि जिह्वारूपी अवयवमें,
आप उसको ‘इन्द्रिय’ न कहें, ज्ञानेन्द्रियत्व और कर्मेन्द्रियत्व
दोनोंकी समानाधिकरणता है

बलिराम शुक्ल : वह तो ठीक है

कृष्णमूर्तिशास्त्री : गुरुत्वं ज्ञायते चेत् कर्मेन्द्रियेण न गृह्यते, अनुमानके सहयोगसे ही कर्मेन्द्रिय गुरुत्वको गृहीत करती है (द्रष्टव्य : संगोष्ठ्युत्तरलेखन).

गो. श्या. म. : मेने पहले ही इसीलिये कह दिया है कि मूलकारणों कहीं इस तरहमे प्रतिपादन नहीं किया है. मुझको ऐसा लगता है कि इन्द्रियोमे ज्ञानेन्द्रिय ओर कर्मेन्द्रिय के रूपमे इस तरहका ऐकान्तिक विभाजन प्राधान्येन व्यपदेश है. मूलतः सभी इन्द्रियां ज्ञान ओर कर्म दोनों कार्य करती हैं.

कृष्णमूर्तिशास्त्री : हो सकता है. क्योंकि इन्द्रियोकी उत्पत्तिके बारेमे शास्त्रमे चर्चा हुयी है. सत्त्वगुणके प्राधान्यसे जो इन्द्रिये उत्पन्न हुईं हे वो ज्ञानका ग्रहण करती है. रजोगुणके प्राधान्यवाली इन्द्रिये क्रियाको करती है उपादानके गुण उपादेयमे आते हे इस तरह उपादान-उपादेयभावको सोचनेसे अलग-अलग जब कहते है तब तो सामान्येन व्यपदेशा भवन्ति इस न्यायको नही चला सकते हे . उच्यते आहंकारिकत्वे सर्वेः इन्द्रियैः सर्वं कार्यं कर्तुं शक्यते वा अविशेषात्? न (द्रष्टव्य : संगोष्ठ्युत्तरलेखन).

शुक्लजीके कुछ कहने पर

गो. श्या. म. : नेमित्तिके सति निमित्तानुसरण भवति नतु निमित्तमस्तीति नैमित्तिको अन्वेष्टव्यः

कृष्णमूर्तिशास्त्री : वेयक्तिकरूपेण है त्वगिन्द्रिय इससे वह स्पर्शका ग्रहण कराता है इसीलिये व्यवस्थामे बाधा पड़ेगी.

वशिष्ठनारायण झा : 'कर्मेन्द्रिय' कहते है तो मतलब होता है कर्मजनक इन्द्रिय. 'ज्ञानेन्द्रिय' कहते है तो मतलब होता है ज्ञानजनक इन्द्रिय. दोनोंमें रहा हुवा जनकत्व भिन्न-भिन्न धर्मोंसे निरूपित है एक जगह ज्ञाननिरूपकत्व है, दूसरी जगह कर्मनिरूपकत्व है. निरूपक धर्मोंके भिन्न होनेके कारण ये दो एक नहीं हो सकते है

गोस्वामीजी! यहा विरुद्धधर्माश्रयत्व दिखलाना चाहते है पर क्या यह यहा सम्भव हे? हाथसे यदि चलनक्रियाकी उत्पत्ति होती है तो चलनक्रियाकारी क्रियानिरूपित धर्म वहा है और 'ज्ञानेन्द्रिय' जब कहते है तो अब बात यह हे कि दोनोको इन्द्रिय कह दिया यहा भी इसको इन्द्रिय कह दिया, वहा भी इन्द्रिय कह दिया तो किसी एक को मुख्य मानकर दूसरेको गोण माने तब ही इससे काम बनेगा दोनोको एकाकार करनेसे दिक्कत होगी ऐसी मेरी समझ है यह एक बात हुई

दूसरी बात, मै यह जानना चाहता हू कि जैनियोंके अनेकान्त और आपके विरुद्धधर्माश्रय के बीच क्या अन्तर है?

गो श्या म : निरूप्य-निरूपकभावके भेदसे धर्मभेद तो होता है उन धर्मोमे हम सकीर्णता बताना नहीं चाहते है पर भिन्न धर्म एक धर्ममि या विरुद्ध धर्म एक धर्ममि सामानाधिकरण्येन रह नही सकते है ऐसा हम नहीं मानते विरुद्धधर्माश्रयता ब्रह्मका गुणधर्म है और ब्रह्म क्योकि अभिन्ननिमित्तोपादान है अत महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य कहते है कि चूहे - बिल्लीमें वध्य-घातकता होनेपर भी पृथ्वी उन दोनोको धारण कर सकती है इसी तरह इन्द्रियोंमें दोनों धर्मोंका सामानाधिकरण्य है एतावता दोनों धर्म विरुद्ध नहीं है ऐसा नहीं है निरूप्य-निरूपकभावमें जो विरोध आ रहा है वह तो विरोध ही है अत मै उन धर्मोंमें सकीर्णता नहीं कहना चाहता हू और जैनमताद् विशेषो भवतु मा वा भवतु तत्र नास्माक आग्रह श्रुत्यर्थ प्रतिपादितो भवति न वा? अविशेषोऽपि भवतु चेद् विशेषोऽपि भवतु भवतु नाम श्रुत्यादिप्रमाणै सिद्धम् अस्ति न वा नहि आर्हतै महावीर सर्वज्ञतया अभ्युपगतइति अस्माभि परमेश्वर सर्वज्ञो न भवति अवश्यमेव

अंगीकरणीयम् !

वशिष्ठनारायणज्ञा : ...जैसे एक व्यक्ति पिता भी है, पुत्र भी है, स्वामी भी है. तो इतने राव धर्म होते हुवे भी उनमें विरोध नहीं है...

गो. श्या. म. : “नहि विरोध उभयं भगवति अपरिगणित-गुणगणे ईश्वरे अनवगाह्यमाहात्म्ये अर्वाचीन-विकल्प-वितर्क-विचार-प्रमाणा-भास-कुतर्क-शास्त्रकलिलान्तःकरणाश्रय-दुस्वग्रहवादिनां विवादानवसरे” (भाग.पुरा. ६।१।३६). अस्माकम् अभिप्रायः एतस्मिन् विषये एतादृशोऽस्ति. यत्र सामानाधिकरण्यं तत्र विरोधो नास्ति. अन्यत्र तु तेषां विरोधः स्पष्टएव.

कृष्णमूर्तिशास्त्री : अतएव देवानाथाचार्यैः इदम् उक्तम् यत् प्रमाणेन गृह्यते विरुद्धमिति न स्वसम्प्रतिपन्नमिति यत्... प्रमाणेन अवगम्यते” इति भामतिकारा वदन्ति. प्रमाणेन अवगम्यते ... विरुद्धता नास्त्येव. यत्र तु नावगम्यते तत्रैव विरोधः. अतएव वेदान्तिभिः मन्दान्धकारे प्रकाशस्यापि तद्विरुद्धस्य तमसः सामानाधिकरण्यं स्वीकृतम्.

गो. श्या. म. : यत्र विरुद्धयोः धर्मयोः एकाधिकरण्यं तत्र विरोधो नास्ति, अन्यत्र तेषां विरोधः

कृष्णमूर्तिशास्त्री : बन्धनकारिणी रूपसृष्टिः मुक्तिदायिनी नामसृष्टि. ये दोनो ही भगवान्की लीलारूपा सृष्टि है. यहां नामसृष्टिको ‘मुक्तिदायिनी’ कहा है उसका तात्पर्य क्या है ?

गो. श्या. म. : श्रीमदाचार्यचरणानां वचनमेव उद्धृतम् अस्ति. सन्दर्भे दृष्टिः प्रदीयताम्. “रूपप्रपञ्चकरणाद् आसक्तस्वांशवारणे, श्रुतिम् आत्मप्रसादाय चकार आत्मानमेव सः” (निबन्धकारिका १८)- ‘विचित्रो रूपप्रपञ्चः. जीवाश्च अंशाः. अल्पानां विचित्रे भ्रमो भवत्येव. अतः तस्मिन् निवारणार्थं श्रुतिं चकार. तस्याः स्वरूपम् आह आत्मानम् इति. ननु अन्तर्यामिणैव कथं न निवार्यते ? तत्र आह आत्मप्रसादाय इति. अन्तःकरणप्रसादाय.

जीवान्तर्यामिणी पूर्वमेव हृदये प्रविष्टौ भोगभोजनार्थं तदनुभोगेन मालिन्यं चित्ते जातं, न अन्तःस्थितेन दूरीकर्तुं शक्यम्. अतो बहिःस्थितेन प्रवेशसमर्थेन तद् दूरीकर्तव्यमिति श्रुतिनिर्माणम् इति अर्थः” (निबन्धप्रकाश). इसका तात्पर्य यह है कि जीव आंशिकी चेतना है और आंशिक उपकरणोंके सामर्थ्यसे युक्त है. अतः किसी विचित्र वस्तुको देखनेपर हमको भ्रम होना स्वाभाविक है. अतः “जिह्वा एकतो, अच्युत^१, विकर्षति मा अवितृप्ता, शिश्नो अन्यत, त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चिद्, घ्राणो अन्यत चपलदृक् क्व च कर्मशक्ति. बह्व्यः सपत्न्यश्च गेहपतिं लुठन्ति” हर विषय हमारी इन्द्रियोंको इस तरह आकृष्ट करता है कि मोह उत्पन्न हो जाता है. अब यदि श्रुति न हो तो रूपोमे आसक्त हमारी इन्द्रियोंको कौन छुड़ाये? इसलिये भगवान्ने नामसृष्टि की. सारी नामसृष्टि श्रुतिसे उत्पन्न हुई है ऐसे महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यने प्रतिपादन किया है. प्रस्थानरत्नाकरमें भी प्रारम्भमे ही वह बात बता दी है कि सारी नामसृष्टि श्रुतिपूर्विका है.

डॉ. कृष्ण.शास्त्री : इसपरसे एक प्रश्न उठता है कि जब नाम-रूप सब भगवान्का ही गृहीत रूप है... तब नाम-रूपका जो इन्द्रियोसे... “परञ्च खानि व्यतृणोत् स्वयम्भूः तस्मात् पराङ् पश्यति न अन्तरात्मन्” ऐसी हिंसा तो कहां होती है? रूपदर्शन और शब्ददर्शन भी तो परमात्माकी लीला है, परमात्माके रूपमें इनको देखते हैं. इसमें विषयज्ञान बन्धक है और आत्मज्ञान मोचक है इस तरहकी व्यवस्था कैसे हो सकती है?

गो. श्या. म. : भगवान्के विराट् स्वरूपमें भगवान्ने न केवल अपने मित्र अर्जुनका प्रदर्शन कराया परन्तु दुर्योधनका भी. तो भगवान्की विराटतामें ये सब मौजूद हैं. और इस तरहका प्रभेद लीलार्थ प्रकट हुवा है. इसीलिये “एको अहं बहु

स्यां प्रजायेय” की व्याख्या करते हुवे महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि ‘प्रजायेय’ नाम प्रकर्षेण जायेय. प्रकर्षेण जननं कीदृग्? उच्चनीचभावेन जायेयम्. तद् उपलक्षणम्. उच्चनीचभावेन जायेयं नाम विरोधिभावेनाऽपि जायेयम्. सबसे बड़ी मजेदार बात यह है कि रावण हो या शिशुपाल हैं वे भगवान्‌के द्वापाल.

कृष्णमूर्तिशास्त्री : शिशुपालको ही जल्दि मुक्ति होगी. वह कृष्णशरीरपर पहुंच गया. भीष्मके साथ ऐसा नहीं हुवा.

गो. ज्या. म. : इसीलिये हम जल्दि मुक्ति नहीं चाहते हैं, भक्ति चाहते हैं. “मम उत्तमरलोकजनेषु सख्यं संसारचक्रे भ्रगतः स्वकर्मभिः त्वन्मायया आत्मात्मजदारोगेहेषु आसक्तचित्तस्य न नाथ भूयात्”. भक्ति चाहते हे, मुक्ति नहीं चाहते हैं

.....+

संगोष्ठ्युत्तरलेखन

श्रीसिद्धेश्वर भट्टजीका यह कहना कि सत्ताशास्त्रीय और ज्ञानशास्त्रीय प्राग्वारणाकी तरह मूल्यमीमांसाराम्बन्धी प्राग्वारणा भी मुझे दर्सानी चाहिये थी. यह बात अशत. सत्य है इस अर्थमे कि मैं विचार्यबिन्दुके निर्देशपूर्वक उन्हे दर्सा नहीं पाया. अशत यह बात अनवधानताप्रयुक्त भी है जो स्वयं मुझे भी अपनी अनवधानताके कारण तब चर्चाकालमे स्फुरित नहीं हुवा. अन्यथा अंशी सच्चिदानन्द ब्रह्मके सदृशरूप जड और चिदंशरूप जीव के पृथक्तया आविर्भूत होनेपर भी परस्पर गाढभावेन सम्पृक्त हो जाना और वह भी उस सीमा पर्यन्त कि दोनोका एक-दूजेमे तादात्म्याध्यास हो तो तादात्म्याध्यास नहीं होना चाहिये था और अन्तमे तादात्म्याध्यास ही अभीष्ट हो तो व्यर्थ पृथक्तया प्रकट नहीं करना चाहिये था. यह

मेरे आलोखपत्रगत “स वै नैव रेमे ” आदि बृहदारण्यकोपनिषद्के वचनके मेरे द्वारा लिखी गयी व्याख्याके आधारपर ध्वनित हो ही जाता है वहा यह स्पष्ट शब्दमे निरूपण किया है उस अखण्डबोधरूप परमतत्त्वका निजात्मद्वेधापातन, अर्थात्, विषय और विषयी बनना, आख-मिचौनी जैसी कोई क्रीडा है अर्थात् छिपे हुवे विषयको खोज कर चेतना विषयी बनना चाहती है और इसी तरह छिपी हुयी वस्तु चेतनाको खोज कर उसका विषय बनना चाहती है हमारा जिज्ञास्यविषय प्रत्यक्षप्रमाण भी इस प्रक्रियामें अपवाद नहीं अतः विषयी चेतनामे प्रकट हुवा लीलात्मक अज्ञान विषयके बारेमें जिज्ञासा लिप्ता प्रयत्न या उपलब्धि के अनुरोधवश परोक्षापरोक्ष अवभासोसे निराकृत होता है उसी तरह विषयके इर्दगिर्द रहे आवरणोमे से विषय भी अपनी झलक देनेको कुछ न कुछ काल-कर्म-स्वभावके अनुरोधवश क्रीडोपम कुछ न कुछ क्रिया प्रकट करते ही है

यह अश प्रत्यक्षानुभूतिकी मूल्यमीमासकीय विवेचना है जहा तक आनन्दाशके प्रत्यक्षका प्रश्न है तो “एतस्यैव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्राम् उपजीवन्ति” (बृह उप ४।३।३१), “कोहि एव अन्यात् क प्राण्याद् यद् एष आकाशे आनन्दो न स्यात्” (तैत्ति उप २।७), “या प्रीति अविवेकाना विषयेषु अनपायिनी” (विष्णुपुरा १।२०।१९) जैसे वचनोके आधारपर समस्त उपकरणोपेत आत्मचेतनामे विषयानुराग इतना प्रबल होता है कि विषयविरक्तका किसी न किसी विषयासक्तिमें फस जाना उतनी अनहोनी बात नहीं लगती जितनी कि विषयानुपणीका विरक्त हो जाना! यह स्वभावसिद्ध परस्परकर्षण ही जड-चेतनाके बीच प्रत्यक्षानुभूतिके सारे मूल्योंका निर्वाहक होता है बाल्लभ वेदान्त, अतएव, अयोगोलकन्यायेन प्रमात्रवच्छिन्न और अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य तो स्वीकारता है परन्तु विषयावच्छिन्न चैतन्यकी, विषयके अकल्पित होनेके कारण उसे प्रत्यक्षप्रक्रियामे अपेक्षा नहीं लगती ब्रह्मको अभिन्ननिमित्तोपादानतया स्वीकारा गया होनेके कारण जड-चेतना दोनोका तिरोहित अशी तो वह स्वीकारता ही है

आदरणीय श्रीकृष्णमूर्ति शास्त्रीजीका प्रश्न कि नीरूप पदार्थ प्रतिबिम्बप्राही क्यों नहीं बन सकता है? वस्तुतः अप्रसक्तविमर्श है क्योंकि मीमांस्य मुदा

यह था कि नीरूप बिम्बका कहीं प्रतिबिम्ब पड़ सकता है या नहीं? नीरूप उपाधिमें प्रतिबिम्ब पड़ सकता या नहीं यह भीमास्य विषय ही नहीं था फिरभी नीरूप आकाशमें तलमलिनताके उदाहरणको ले कर किसी तरहकी कोई चर्चा करनी हो तो जैसा कहा जा चुका तदनुसार नीरूप आकाश चक्षुसामर्थ्येन अदृश्य होनेपर भी रूपवत् पदार्थोंके आधारभूतविशेषणतया अथवा स्वसामर्थ्येन प्रमेयबलद्वारा चक्षुर्ग्राह्य बनता स्वीकारा गया होनेसे उसमें अविद्यमान तलमलिनताका अधिष्ठान बन सकता है एतावता वह तलमलिनता वहा प्रतिबिम्बित नहीं मानी जा सकती है क्योंकि तब तो मलिनबिम्बको कहीं खोजना अनिवार्य हो जायेगा रही बात अन्तःकरणमें विषयोंके प्रतिबिम्बकी तो वाल्तभ वेदान्त वहा यह स्पष्टीकरण देना चाहेगा कि अन्तःकरण ऐकान्तिकतया निरूप नहीं होता क्योंकि वह स्वतः नीरूपप्राय होनेपर भी विषयोपरागवश अपनी रूपग्राहिका वृत्तियोंके कारण अस्थायी फिरभी वास्तविक रूपग्रहण भी करता ही रहता है मृत्तिकामें घटाकृति सहज न होनेपर भी कुम्भकारके प्रयत्नोके वश वह वास्तविकतया प्रकट होती है अथवा जैसे चित्रकारकी तूलिकाद्वारा कागज या भीति वर्णाकृति धारण कर लेती है तद्वत् रही बात एक ही इन्द्रियद्वारा बोध और क्रिया दोनों उत्पन्न हो सकती है या नहीं, इस 'विवादकी तो इस विषयमें अवधेय है कि सृष्ट्युत्पत्तिकी प्रक्रियामें स्वयं त्रिगुणात्मिका प्रकृति क्रियाशक्तिमती और गुणातीत चेतनात्मक पुरुष बोधशक्तिमान यो इन दोनोंके परस्पर संयुक्तरूपेण ही महद् अहंकार मन ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय पञ्चतन्मात्रा और पञ्चमहाभूतों का क्रमिक विकास हुवा माना गया है अतः जहां क्रिया अनुभूतिगोचर होती हो पर बोध अनुभूतिगोचर न होता हो वहां वैसा स्वरूपप्राकट्य, अथवा जहां बोध अनुभूतिगोचर होता हो क्रिया अनुभूतिगोचर न होती हो वहां वैसा स्वरूपप्राकट्य, स्वीकारना उचित होता है पर जहां दोनों निजानुभूतिगोचर होते हो वहां उभयरूपता स्वीकारनेमें क्या आपत्ति होनी चाहिये? ऐसा विशेषतः इसलिये कि धातु या शिला आदिमें बोध अनुभूत नहीं परन्तु सजीव प्राणिओंमें बोध एवं क्रिया दोनों प्रकट अनुभूतिगोचर होते ही हैं अतः प्रकृति-पुरुषकी संयुक्तोपादानता स्वीकारनेमें सकोच क्यों होना चाहिये? वस्तुतः शिला-धातु आदिमें संयुक्तोपादानता है ही फिरभी पुरुषचैतन्यको वहां तिरोहित मानना पड़ता है, जबकि प्राणिओंमें अतिरोहित

श्रीयज्ञेश्वरजीके प्रश्नका समाधान तो आधारपत्रमे ही समाहित होनेसे
 पिष्टपेषण अनावश्यक है फिरभी सक्षिप्त सूचन इतना अवश्य ही दिया
 जा सकता है चारो तरहके अभावकी व्याख्या वाल्लभ वेदान्त तिरोभावकी
 सैद्धान्तिकी प्रक्रियाद्वारा करता ही है अतः अनुपलब्धिको प्रत्यक्ष अनुमिति
 शाब्द ज्ञानके तिरोभावके रूपमे स्वीकार कर तत्तत् प्रमाणोंमे ही अन्तर्भाव
 स्वीकारना उचित होगा क्योंकि जहा पर्वतके बारेमें प्रत्यक्षगोचरतया अनुपलब्धि
 होती है अनुमितिसे उपलब्धि होती है सृष्टिकी ब्रह्मोपादानकता या ब्रह्मकर्तृकता
 के बारेमे अनुमित्यात्मक अनुपलब्धि होती वहा शाब्दी उपलब्धि तो होती
 ही है अतएव नैयायिकोंने प्रतियोगी और अभाव को समानेन्द्रियसे ग्राह्य
 माननेका ज्ञानशास्त्रीय प्रस्ताव प्रस्तुत किया है स्वयं शाकर वेदान्तमे भी
 मूलतः अनुपलब्धि प्रमाणतया मान्य थी कि नहीं, यह विचार्य विषय है
 ऐसा सहज सम्भव है कि “व्यवहारे भाड़ा” नीतिके अन्तर्गत अनुपलब्धिको
 परवर्ती कालमे कभी प्रमाणतया मान्य किया गया हो



TOWARDS UNDERSTANDING PERCEPTION

Prof S R Bhatt, Delhi

Perceptual Cognition has been a basic and important factor in human life, in fact for all life in general. It may be regarded as pivotal to mental functions and physical behavior of human beings and its central and pervasive role needs no special mention.

The claim of primacy and significance of perception as a foundational mode of knowing can hardly be a matter of dispute and disagreement as all other modes of knowing like inference seem to originate in perception and find their ultimate validation in perception. It cannot be denied that all cognitive processes in the empirical sphere begin with perception but there may be difference of opinion whether they end up in perception.

There can again be no unanimity in regarding empirical perception as the sole variety of perception. In spiritual, mystical, religious and some schools of moral thinking there has been an acceptance of trans empirical perception. In fact there have been claims that this alone is genuine and truly veracious perception. However as a worldly being our main

concern in with empirical perception, which may be the subject matter of our deliberations, though some references to the trans empirical may not be ruled out. Without denying the validity of trans empirical perceptions that are intuitive realizations of a higher type available only to realized souls it must be pointed out that they are beyond the ken of our thought and language. They are to be experienced and not to be analyzed or deliberated upon.

The role of perception in cognizing the reality has always been regarded as inevitable and valuable. Through perception alone the reality is said to be directly apprehended. It has been a perennial human quest to know the reality as it is. That is why truth claim is built in knowledge claim. But the basic epistemological issue has been substantiation of truth claim. The entire exercise of *Pramana Sastra* of epistemology has been undertaken precisely for this purpose. It has been argued that in perceptual cognition truth claim can be self substantiated but in the face of the possibility, or rather actual and painful experience, of perceptual errors this claim gets falsified. We do say '*Pratyakse kim pramanam?*', i.e., what is the need for evidencing truth in perception as it is self evidencing, but at the same time we do doubt the verdicts of our own perception.

With the rise of science and its phenomenal successes the attitude of scientism and positivism has cropped up in some quarters. It has not only been claimed that all perception

is sense perception with or without the aid of external instruments and appliances technology has produced, it has also been maintained that 'scientific method generated perception' alone can guarantee of objectivity and reliability and, further, it alone can have the feature of being shared (sharedness). In view of the proven hollowness of this claim the positivistic attitude has lost its creditability in the fields of natural sciences but its borrowed remnants in the social sciences still persist. There are many natural scientists that have the gradual realization of the limitations of the scientific method and consequent disenchantment from its absolute sway. They have come to maintain that even this knowledge can be subjective and falsifiable. Of course the impact of this conclusion is being felt in the field of social sciences as well but still old dogmatism is seen persisting in some quarters. It must, however, be accepted that no finality can be claimed in the sphere of human knowledge and these issues come up again and again as puzzles for our consideration.

PUZZLES OF PERCEPTION

There are several issues concerning its nature, process, types, extent, limits and their transcendence that pose problems and puzzles for our consideration. The phenomenon of perception in sub human species has its own problems and puzzles but the complex biological structure constituting human organism and its intricate functioning through cognitive senses and brain is no doubt mind boggling and equally wondrous is its cognizing capacity, potential or actualized, which is

vast and variegated. Added to this is the availability of freedom of will and selectivity of attention, choice of the objects of perception and degrees of concentration. The macro and micro objects which are external to the cognizing consciousness as well as the subtle and sophisticated mental objects that are inherent in consciousness present innumerable riddles as they become percepts for human intelligence, natural or artificial. Perceptual cognitions do not remain simple sensations but get conceptualized and verbalized. The latter variety of perception is highly complex and intricate having a fine and subtle networking which is quite amazing. For a self reflective mind it is both an amusement and a puzzle to observe and to analyze this astonishing fit of human mind.

In fact there are countless puzzles of multifarious and multi dimensional perceptual cognition and only some of them can be indicated for our consideration. We may take up any or all of these or any other of our choice and interest in our deliberations. Some of the issues are as under

- 1 Is perception a direct experience of the real? What is perceived—an independently existing object or its impression or just a mental projection? Is perception presentative or representative?
- 2 Perception is usually taken to be self evidenced. Is it really so?
- 3 Is perception foundational or basic source of knowing?
- 4 Perception with external aids is taken to be accurate. Is

it really so ?

- 5 It is believed that there are social, racial, individual's subconscious or previous birth's impressions that are operative and influencing perceptual process. Can this be regarded as tenable ?
- 6 Is 'Nirvikalpaka Pratyaksa' a psychological fact or a logical myth? How is it related to the 'Savikalpaka Pratyaksa' ?
7. Is perception both empirical and trans-empirical ?
- 8 Who is the perceiver? Consciousness, conscious self, or mind or senses and brain as parts of the body ?
- 9 What is the role of various physical and mental factors in generating, facilitating or influencing perceptions? They may pertain to structure of body, development of mind, circumstantial placement of object or any other type
- 10 Can there be error free or non erroneous perception? What are the causes of error and can they be eliminated absolutely? Can we meaningfully talk of degrees of truth and error ?
- 11 Can there be objectivity in perception ?

These issues can be approached keeping the following points in view

- 1 Relation between consciousness, mind, cognition and perception
- 2 The conscious and the non-conscious aspects of perception
- 3 Total experience and perception
- 4 Perception of objects in normal people and those with handicaps

- 5 Perception in the context of Media and Arts
- 6 Perception and Artificial Intelligence
- 7 Aeronautical perception
- 8 Relation between language and perception
- 9 Perception of abnormal people or biased people Is there a secret self or a racial self?

The phenomenon of perception of perception is of concern to common human as well as to specialists in perhaps every field. In every discipline one comes across puzzles pertaining to it and they have been demanding our attention for all the times. Some of the problems may be age old and some might be caused by the explosion in our knowledge. There is a need for an interdisciplinary dialogue drawing upon varied perspectives for mutual understanding and exchanges of ideas with the spirit of the ancient saying "Vāde vade jāyate tattvabodhah". In this Jnanayajna there can be alternative approaches to these issues from varied perspectives though the focal point can be Prasthānaratnakara.



चर्चा

प्रो. एस्. आर्. भट्ट

कृष्णमूर्तिशास्त्री : अद्वैतवेदान्ते ...

डी. प्रह्लादाचार : भट्टमहाभागानाम् आशयो यथा मया अवगतः तथा अनुद्यते. ममापि केचन संशयाः भवन्ति. भट्टमहाभागे: उक्तं यत् अद्वैतदर्शने अन्तःकरणं साम्प्रदायिकरीत्या यद्यपि चक्षुर्द्वारा बहिर् निर्गत्य विषयाकारं लभते. अन्तःकरणस्य यो विषयाकारो भवति सा वृत्तिः. When Antahkarana goes out through the sense organ and takes the shape of the object that itself is called 'Vritti' This is the view of the Advaita But it seems that you explained in a slight different manner The main intention of Advaita here is to say that the Antahkarana becomes attentive to the object through the senses I have some doubts here A blind person also can be attentive to the object So, according to you the Indriya is not 'Dvāra' here

सिद्धेश्वरभट्ट : Some other Indriya will be the Dvāra

डी. प्रह्लादाचार : तत्र अन्तःकरणस्य या विषयाकारता दर्शने प्रतिपाद्यते तत्र केवल आलंकारिकतया उच्यते वा अथवा वस्तुतः अन्तःकरणं बहिर् गच्छति. अन्तःकरणं हि तैजसम् इति अंगीक्रियते. तैजसत्वादेव तस्य चक्षुर्द्वारा बहिर्गमनं युज्यते.

सिद्धेश्वरभट्ट : This is not to be taken literally

डी. प्रह्लादाचार : That is the point. Whether this is it

to be taken literally or figuratively

बलिराम शुक्ल : Antahkarana is not a Jada dravya like water They are using metaphor

प्रद्योतकुमार : We have here two alternative views One is saying that it should not be taken literally and other is saying that it should be Now think over what if we take it literally ?

कृष्णमूर्तिशास्त्री : मनसो बहिर्गमने को दोष ? उच्यताम् सकोच-
विकासशाली तैजसम् इन्द्रिय

के ई देवनाथन् : गच्छत्येव It literally goes out

सिद्धेश्वरभट्ट • Generally we take a concrete tangible object to move We do talk of the movement of the mind But it is only figurative and not literal

कृष्णमूर्तिशास्त्री : एव चेत् तर्हि चक्षुष प्राप्यकारित्वमपि न स्यात्
नैयायिकमते चक्षूरप्ययो गच्छन्ति, चक्षुष श्रोत्रस्य च
प्राप्यकारित्वम् इत्यादि यद् उच्यते नैयायिकै तत्र चक्षु
कथं गच्छति ? इति उक्तौ किम् उत्तरम् भवदपेक्षया ?
अतिसूक्ष्मत्वाद् गमनमिव इत्येव उच्यते

सिद्धेश्वरभट्ट : गमनमिव, नतु गमनम्

कृष्णमूर्तिशास्त्री : नैव नैव, गमनमेव इवकार एवकारार्थे अतएव
सकोचविकासशाली

प्रद्योतकुमार : अन्त करणस्य जडत्व तैजसत्वं च जडतया तैजसतया
च अन्त करणस्य बहिर्गमन सम्भवति Since you said
that all these views are depended basically on the
If this is so and that is a good point also conception
of Antahkarana is important And there is no doubt
about this that the Advaita Vedāntins are very
categorical about two things that Antahkarana is

Jada and the Antahkarana is Taijas. So because of this. Why they insist on these two? And these accounts for its literal going out. Number one thing. And the second thing is that even when it goes out, Prahladachryi sometimes might be suggesting that only that even that part which is in between that also is Vriti. So Antahkaran is separated in three parts. One, Antahkarana that remains inside. The other that is in between the person and the object. And other is the object. All these three

बलिराम शुक्ल : अन्त करणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्य

सिद्धेश्वर भट्ट : In order to understand the perceptual cognition we have to take into account the psychological factors, the physiological factors, the optical factors and the epistemic factor. All these four must be taken into account. You can't just make epistemic analysis and say that this is the explanation of the perceptual process. You also have to go to an ophthalmologist, neurologist and explain. And I think the neurologist will laugh at it if you say that Antahkarana goes out.

प्रद्योतकुमार : Let him laugh. We will laugh at his ignorance. Bring anyone.

डी प्रह्लादाचार : Prof. Bhatt told that these views need not be considered as alternative views. They may be considered as complementary to each other. But I think it is not so. Eg. take Advaitin's view.

When Antahkaranavacchinna caitanya i.e. pramana
 -vacchinna caitanya and pramatrvacchinna caitanya
 visayavacchinna caitanya these three Caitanyas
 becomes one Then we perceive the object This
 is the perception of the object But the Nyaya
 view is altogether different here They don't
 understand what is this Caitanya being reflected
 in this Antahkaran vrtti They don't have such
 concept at all Antahkaran Vrtti is something doesn't
 exist as per the Nyaya school Therefore
 Antahkaranavrtti pratibimbata Caitanya and that
 Caitanya is going to manifest pramatrvisayavacchi
 nna caitanya etc all those things are not at all
 acceptable to the Nyāya School Similarly whatever
 is accepted by the Nyaya school is not totally
 acceptable to Advaitins

कृष्णमूर्तिशास्त्री ऐसा नहीं हो सकता है क्योंकि “इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य
 ज्ञान प्रत्यक्ष” इति न्यायशास्त्रेऽपि इदम् उच्यते तत्र ज्ञान
 नाम बुद्धे वृत्ति एवञ्च ‘वृत्ति’शब्देन यद्यपि न उक्तम्
 डी प्रह्लादाचार शास्त्रिमहाभागा । शृण्वन्तु न्यायदर्शने ज्ञानम् आत्मनो
 गुण आत्मभिन्नो, नतु आत्मस्वरूपम् चैतन्यमेव ज्ञानम्
 इदञ्च ज्ञान यदा अन्तःकरणवृत्तिप्रतिबिम्बितं भवति तदा प्रत्यक्ष

सिद्धेश्वरभट्ट • I understood your point My brief replay
 would be that the reality is too complex to be
 approached in a strait jacketed manner such that
 one particular model will explain all gamut all aspects
 of reality There are some aspects that Advaitic

model will hold good, there are some other model that Buddhist model will hold good There will be some other aspect of reality where

डी.प्रह्लादाचार : No, the point that I am making is that how can we consider them as complementary to each other ? That is the point

सिद्धेश्वर भट्ट : Because one aspect is explained by one model Another aspect is explained by another model

डी.प्रह्लादाचार : That means they are alternative models

सिद्धेश्वर भट्ट : No Not alternative



Infrequently Asked Questions on Perception And the Outlook of Vāllbha School of Philosophy

Achyutananda Dash

Perception, the principal and primary means for acquiring knowledge, perhaps is the only meeting ground of the *śāstra* and the science. The *śāstra* examines perception with reasoning whereas the science examines the same with experiments. The results brought about by both these processes are surprisingly very close, almost identical, and therefore the scientific nature of *śāstra* is left with little doubt. The process of acquiring perceptual knowledge in science and *śāstra* has been defined in clear terms, almost with certainty. At times science honestly confesses its inability to explain adequately many intriguing phenomena in perception whereas *śāstras* do not seem to be doing so. Is it because, there is no reason for reasoning to fail? Sense Object Contact (SOC), which is the very foundation of perception according to *śāstra*, is generally accepted of two types (a) empirical (*laukika*) and (b) transcendental (*alaukika*). The former is of six types depending upon six sense organs including the mind and the latter is of three types depending upon three types of transcendental relations namely (i) universal, (ii) cognitive and (iii) yogic¹. However, there remains ample scope for

asking questions on the procedural as well as cognitive aspects of perception, which demands more reflections. For instance, the scientists still ponder on the questions like - 'how the brain interprets the inverted image it receives from the retina of the eyes', 'how the brain appreciates different tonal qualities' and 'how to fix the position of the source of sound' so on and so forth². The śāstras, on the other hand appear to be seriously pondering on the cause effect relationship between the SOC and the cognitive state. The śāstras also ponder on the justifiability as well as preferentiality of one cognitive state over the other in accordance with reasoning. The reasoning on the background of longstanding experience and logical principles is no doubt dependable, but it does not mean that that is not subject to verification. The tradition is always open to new ideas and it appreciates reasonable concepts coming from any corner of humanity. We, therefore, wish to investigate on some infrequently asked questions on perception and look into the answers in śāstras, especially in the Vāllabha school of Vedānta in this paper. This may give new insights to the richness of the śāstric world.

Primacy of Perception

We know perception is the foremost of cognitive means, because, its causes are non epistemic, non epistemic in the sense that it is not caused by any other cognitive instance. Gaṅgeśa defines perception as 'jñāṅkaranaka jñanam' (knowledge, that is not caused by any other cognition), and that distinguishes it from other cognitive instances like those caused

by inference, verbal testimony etc. The primacy of perception is undisputed for that is the beginning of cognition and other cognitive instances somehow or other depend upon perception. The Jains advocate in favor of primacy of perceptual cognition on account of 'clarity' (vaisadyam)³. The clarity is explained in terms of 'immediacy' since the perception is caused being independent of mediation of any other cognition⁴. This goes close to Gaṅgeśa's above said definition. The question is 'is it enough to ascertain the primacy of perception only on the ground of it being independent of mediation of other cognitive instances'? Moreover, it further may be asked that whether the perception that is just caused by SOC is cognizable or describable or not.

Bhartrhari the doyen of grammarian philosophers on the contrary advocates strongly that every piece of knowledge is intertwined with the 'word'⁵ and there is no knowledge that is bereft of 'word'. This leads to the theory that perception is 'linguistic'. Vācaspati Miśra justifying the linguistic nature of perception says 'It is linguistic not in the sense that it arises from 'word' as its means, but rather it arises in word. Word is here the cause only qua object, and there is an identity between the entity and the word'⁶. The grammarians essentially uphold this view and go to the extent that the relation between 'word' and 'meaning' is identity (tādātmya)⁷.

Buddhists, however, think that it would be too wide

of perceptual cognition if it were accepted to be incorporating 'word'. To them the perception should be strictly reflexive and exclusive of the object (artha mātra nirbhāsam), free from name (nāma) and generic property (jāti). Dharmakīrti goes a step forward and defines perception to be free from 'conception' (kalpanā) and 'error'⁸. The term kalpanā here refers to every input cognitive instance that either is related to linguistic expression or otherwise to the subjective imagination. According to Dharmakīrti perception can present bare particular which is of 'its own nature' (svalaksana) and which is radically different from that which is related to that of the common in many (sāmānya laksana).

In view of the radical opposition between Bartrhari and the Buddhists, most schools of Hindu philosophy sought to accommodate both by admitting two types, or rather two levels of perception: one non linguistic and non conceptual (nirvikalpaka) and the other linguistic, conceptual and thus judgemental (savikalpaka). It is of course, unanimously accepted that the savikalpaka perception is useful as far as the cognitive behavior is concerned. This language centric perceptual cognition, to my mind, questions the primacy of perception on one hand and its upajīvakatā of the other cognitive instances on the other.

Modern scientists add more doubt on the primacy of perception when they say that we start with 'simple perception' and then go further to reconstructing 'full perception' by

mind (past experience) To quote H S Subrahmanyam

“We often begin with simple perception and then work backwards to reconstruct the full perception out of its elements When we look we are not looking with our eyes, we are looking with our mind (past experience) Perception is not passive It is an active construction It is multidisciplinary physical, physiological, psychological and metaphysical”

This observation though rejects the exclusivist theory of the Buddhists, it equally questions the validity of *Gangesa's* definition viz ‘jñāṇikaranaka jñānam pratyaksam’, for scientifically speaking perception includes many more aspects beyond just bare sense object contact This need more elaboration and we shall deal on this issue while discussing on the *jñāna laksana pratyāsatti* Before coming to that let us see what else the modern thinkers say on perception

‘Attention’ according to scientists is another basic factor in perception¹⁰ Attention is intentional J N Mohanty, therefore, argues in favour of intentionality of conception of knowledge¹¹ The intentionality can further be extended to the selective nature as far as the perceptual cognition is concerned For instance, while watching a football match, we focus only on the ball and the ball carrier and the rest is in the background With that we have full satisfaction

of watching the entire match. But is it so? It further may be argued that does 'the background' refers to the 'past experience' that gives a satisfaction of watching the 'whole match' as such? If 'yes', then the question again may be asked what is the role of 'past experience' (smṛti) in perception? Any way, if the reconstruction theory of modern science is accepted than the primacy and supremacy of perception will remain questionable.

Gosvāmī Śrī Puruṣottama seems to be thinking in the same direction while arguing in favor of establishing the primacy of Śabda in his Prasthānaratnākara. Though he agrees to accept the subordination of śabda to perception as far as the empirical knowledge is concerned, still he thinks that the perception of transcendental psychological and metaphysical aspects are not possible without śabda and thus he advocates that primacy be given to Veda or śabda alone amongst the pramāṇas. To quote Gosvāmī Śrī Puruṣottama

“अतो लोकानधिगतार्थ-गन्तृत्वात् तदर्थस्य प्रमाणान्तराबा-
ध्यत्वेन नित्यम् अर्थेन सह सम्बद्धत्वेन च वेदात्मकशब्दस्यैव
मूर्धन्यत्वम् उचितम्, न अन्यस्य इति निश्चयः”

This indeed is a challenge to the tradition on the primacy of perception and possibly Gosvāmī Śrī Puruṣottama supports the theory of reconstruction when he argues for the primacy of Śabda. According to Prof J N Mohanty the thesis of primacy of perception is to be understood at least in the

sense that all pramānas begin with perception¹³ It neither necessarily refers to the supremacy of perception nor advocates that the perception is independent of other cognitive instances Therefore, we need to reinvestigate whether 'jñānākaranakam jñānam pratyaksam' the definition of perception given by Gaṅgeśa is still valid or not Moreover, empirically speaking if the theory of reconstruction can be incorporated into the śāstric tradition or not?

Perceptual Mechanism In Śāstra and Science *

The causal mechanism of perceptual cognition (pratyaksa), which is almost unanimously proposed by all, that first of all, the soul is connected with the mind, the mind is connected with the sense organ, and then the sense organ is connected with the object which produces the perceptual cognition¹⁴ Here, I suggest a formula of cognitive mechanism that may be treated as a 'skeletal causal model' for any cognitive event¹⁵

$$(I + F) \rightarrow R$$

Here I stands for 'Instrumental cause', F stands for 'Function or Auxiliary action' and R stands for 'Result' or the 'end product'

This is the standard mechanism of the causation of any cognitive event For instance, in the '(I + F) → R' model of visual perception, I is the eye, F is 'the connection' which is technically called sannikarsa (perceptual functional relation¹⁶)

or vyāpāra (function) in Nyāya system of Philosophy The R is the result namely the cognitive structure

The result or the cognitive structure can be presented in the PSV-model Here P stands for prakāra, S stands for samsarga and V stands for viśeṣya in the cognitive structure

If we take an example like

A 'Parvato vahniman' (The hill is fire possessive) as an instance of perceptual cognition, the P in that case will be vahnī (fire), and the V is parvataḥ (the hill) The relation, i.e., the S between P and V is samyoga (contact) Let us see how the causal mechanism of the perceptual cognition functions First of all, the viewer sees the fire (or may be the hill first, the order does not matter) through his eyes, (the causal instrument of perception) The perceptual functional relation (sannikarsa) between the eye and the object is samyoga (contact) It may be underlined here that the 'connection' between the instrument (eye in the present case) and the object (the fire / hill in the present case) does not function as the relation in the qualifier qualificand structure of the perceptual cognition of 'parvato vahnīmān' The connection between the eye and the fire / hill, which is F of I, first of all present the perceptual cognition of the fire and the hill independent of their mutual relation The perceptual knowledge at that stage is 'ayam parvataḥ' (this is a hill) and / or 'ayam vahnīḥ (this is fire) in which the eye acts as the instrument of single object perception and the connection

between the 'eye' and the 'object' is the 'operator' (vyāpāra - function), without which no instrument can be an instrument¹⁷ Thereafter, the viewer perceives the 'contact' (samyoga) by his eye only through the perceptual functional relation (sannikarsa) called samyukta-samavāya (inherence in what is connected) This is S in the PSV-model of the cognitive structure, which acts as the vyāpāra between the 'contact' and the eye (It may be recalled here that the eye is in contact with the hill and the fire in which the 'contact' (samyoga) inheres being a guna (a separate category called 'quality' in the Nyaya Vaiśeṣika system) This 'contact' (samyoga) functions as the relation between the fire and the hill making it a compact cognitive state as 'samyoga sambha ndhena parvato vahniman', (the hill is possessed of fire through the relation of 'contact') In the objective structure, or in the empirical reality, there is in fact a 'contact' between the objects, which now in the cognitive state of the viewer functions as the relation In other words, all the entities in the perceptual state of 'parvato vahniman', i.e., both the relata (the P = fire and the V = hill) and the relation (S - 'contact') are seen / perceived by the viewer Technically speaking, thus, the perceptual cognitive relation is called 'sannikarsa bhāṣya' i.e., the relation that is apparent through sannikarsa (perceptual functional relation) in the system of Navya Nyāya, which distinguishes the perceptual cognitive episode from other cognitive episodes of the same objective structure We must understand that this 'cognitive relation' is different from the 'objective relation' as well as 'functional

relation' There are only two types of primary 'objective relations' generally accepted in Navya Nyāya, samyoga (contact) and samavāya (inherence)¹⁸ The samyoga and samavāya, when function as relations between the sense organ and the object concerned, they are called 'functional relations' These two are simple functional relations These two functional relations conjunctively make further three complex functional relations, namely, 'samyukta samavāya' (inherence in what is connected), samyukta samaveta samavāya (inherence in what is inherent in what is connected) and samaveta samavaya (inherence in what is inherent) which function as vyāpāra for different perceptions Gaṅgeśa gives an account of how the perceptual functional relations (sannikarsa) function According to him, by 'samyoga' (contact) matter (dravya) is seen, by 'samyukta samavaya' (inherence in what is connected) quality and action are seen, by samyukta samaveta samavāya (inherence in what is inherent in what is connected), the universal or generic properties belonging to the qualities like colour ness etc (rūpatva etc) are seen, by samavaya (inherence) the 'word' (śabda) is cognised, and by samaveta samavāya (inherence in what is inherent) the invariable property of word (śabdatva) is cognised¹⁹ There is another type of functional relation accepted in Navya Nyaya called 'indriya sambaddha viśesanata sannikarsa' (the perceptual functional relation of sense organ connected qualifier ness) for the perceptual cognition of abhāva (absence) and samavaya (inherence)²⁰ Thus there are in total six types of perceptual functional relations, which act as the function i.e., F, in the causal

mechanism of perceptual cognition. The author of Prasthāna Ratnākara, however, accepts five types of empirical functional relations as (a) samyoga (contact), (b) tādātmyam (identity), (c) samyukta tādātmyam (identity in what is connected), (e) samyukta viśesanatā (the qualificrness in what is connected) and (f) svarūpa (self linking or reflexive relation). There are reasons for accepting these functional relations and we wish not to delve into them now.

The pertinent question in present context is, if there is an instance of a cognitive state like

4

B "ghatavad bhūtaḥ" "The ground is pot-possessive" then what would be the cognitive mechanism? The relational structure of perceptual cognition of (B) would be "samyogena ghata-visistam bhūtaḥ" (the ground is pot-possessive through the relation 'contact'). Here 'the ground' and 'the pot' both are seen by the perceptual instrument eye through the functional relation (vyapara) called 'contact' (samyoga sannikarsa). The cognitive relation between 'the ground' and 'the pot' is also 'contact', i.e. S, in our PSV model. This relation 'S' is also seen by the eye itself, through the functional relation called 'inherence in what is connected' (samyukta-samavaya), which is F of I in the causal mechanism. Therefore, the samyoga sambandha that is apparent in the cognitive relational structure of perceptual cognition of 'ghatavad bhūtaḥ' is called sannikarsa bhāṣya (apparent by perceptual functional relation).

Now let us see if we can see:

With this background, now let us see if we can see the objective structures of the phenomena like:

C "bhūtale ghatah" (The pot is on the ground),

D "parvate vahnih" (The fire is on the hill)

When we are talking of seeing, it obviously mean that these situations are instances of perceptual cognition (pratyakṣa) itself. The question may be asked that is there any difficulty in seeing (C) or (D)? Well, one can perceive the ground as the locus of the 'pot' or the 'hill' as the locus of fire. The perception of (C) or (D), that gives a different cognitive structure, is certainly different from the perception of (B) 'ghatavad bhūtaḥ' or (A) 'parvato vahnimān', because, in this case, the viewer sees the ground or hill as the location of pot and fire respectively, but not just as 'the ground is pot-possessive' or 'the hill is fire possessive'. The question in other words is how to see the 'location' (adhikaranatā)? It further may be asked that how the perception of (D) 'parvate vahnih' cause the cognitive structure that is different from that of (A) 'parvato vahnimān'? In these two cases of perception, the objective structure of the cognitive events, of course, do not differ from one another. In both the cases the eye object contact remains the same and the objective relation, namely, 'contact' (samyoga) remain the same. However, everybody realises that the perceptual cognition of (A) 'parvato vahnimān' is different from that of (D) 'parvate vahnih', since in one case he sees the hill as fire possessive

and in the other the fire as located on the hill. The question again arises is - if the perceptual relation namely 'contact' remains the same in both these instances of cognitive structure of perception then how these two be treated as different instances of perception? We can solve the problem in the following argument. The cognitive structure of both these instances of perceptual cognition, namely 'parvato vahnimān' and 'parvate vahnī', ought to be different from each other depending upon their different perceptual cognitive relations, and they are 'contact' in one case and 'location' / 'substratum' (adhikarana) or 'super-stratum' (ādheya) in the other. The way, in which, the perceptual cognitive relation 'contact' plays its role in the cognitive structure of (A) 'parvato vahnimān' by perception itself through the functional relation namely samyukta-samavāya sannikarsa, has already been explained above. Now in the cognitive structure of (D) 'parvate vahnī', where the hill is perceived as the location (of fire), the perceptual relation namely 'location' or 'substratum' is also perceived, is to be explained. The question is what is the perceptual functional relation between the eye and the 'location' (adhikarana)? Can we see 'location or substratum' (adhikarana) directly through our eyes? The answer will be 'yes' if and only if it belongs to one of the seven basic categories (sapta padārthas) of the Nyāya-Vaiśeṣika system. However, we do not find it in the standard list. Therefore, none of the standard six empirical perceptual functional relations will be useful for seeing 'location'. May we think that the 'location' is perceivable through the mind, which also functions as

an instrument in perceptual cognition? This may be called 'jñāna-laksana-sannikarsa' (or jñāna-laksanā pratyāsatti²¹), where the prior knowledge of location functions as the perceptual functional relation (sannikarsa) with the mind. That gives rise to a special kind of perceptual cognition, which is otherwise called mānasa pratyaksa (mental perception or perception through past experience)²². This amounts to saying that jñāna laksana-pratyāsatti is accepted when the six empirical functional become inapplicable and still the perceptual cognition takes place.

E "Surabhi candanam" "The sandalwood [is] fragrant" is given as a śāstric example for jñāna laksanā pratyāsatti. Here only the sandalwood comes in contact with the eye and then the fragrance of the sandalwood is remembered, because, the fragrance that invariably is related to the sandalwood from a prior knowledge. In the same manner, when the hill is intended to be perceived as location of fire and of course if the hill as well as fire are directly found in the range of the eye, then through jñāna laksana sannikarsa the 'location-hood' of the hill is perceived giving rise to the cognitive structure of 'parvate vahnih'. Similarly (C) 'bhūtale ghatah' can be explained where the prior knowledge of 'location-hood' (adhikaranatā) of the ground is remembered in the event of eye contact with the pot which is on the ground, giving rise to the said cognitive structure where 'location' plays the role of perceptual cognitive relation. Therefore, it can be said without any hesitation that it is through

jñāna laksanā-pratyāsatti, that the perception of the kāraṇa relations function as perceptual relations. The kāraṇa relations like kartṛtva (agency), karmatva (object hood), karanatva (instrumentality) or adhikaranatva (locus hood) etc are perceptible through the jñānalaksanā-pratyāsatti, if and only if the cognitive structure demands these properties to be instances of perceptual cognition. The situations like 'pacantam paśyati', 'pacamānam paśyati' (sees someone who is cooking), are perceptible, where the performer of the main action becomes the object of seeing. Gaṅgeśa accepts anuvyavasāya (introspective cognition) for the perception of kartṛtva (agency), karmatva (object hood), dhātv arthatva / kriyātva (action hood) etc.²³ He further says that, since it is otherwise not possible to perceive the kāraṇa relations they are perceived through the mind.

Similarly one can see a royal official (rāja puruṣa) even when someone is just seeing the person (puruṣa). The royalty (rāja sambandhitva = belonging to the royalty) if known earlier, is remembered in this case and thus the perception of rāja-puruṣa can be an instance of jñānalaksana-sannikarsa. We may take another instance like 'I saw the Prime Minister of India'. Here, it might be the case that I saw a person called Mr Atal Bihari Vajpayee. However, I did not see Atal Bihari Vajpayee as a person, but as the Prime Minister of India. This perception is possible only through jñānalaksana-sannikarsa, only if I have the prior knowledge of 'Premier-ship'. In fact, in some cases the transcendental cognitive relation

is so strong that it suppresses the empirical sense object contact completely. We can take the example of 'I see my mother' or 'I see my teacher', where though the visual object is a person with a normal name and a form completely disappears from the sight and what is seen is 'the mother', 'the teacher', that is a 'feeling', a 'concept' heavily embedded with 'culture'. Therefore, such perceptual cognitive events can arise only through the mind that takes the 'given concept' into account. Needless to say that, such a perceptual cognitive structure would be different from sentential cognitive structure (*śābdabodha*), since the causal mechanism and the relation in the sentential cognitive structure will be totally different from that of the perceptual cognition.

Some scholars consider to accept the functional relation 'qualifier-ness what is connected with the sense organ' (*indriya-sambandha viśesanatā*) for the above case of 'adhikaraṇa pratyakṣa'.²⁴ Adhikaraṇa, though is one amongst the *kāraṇas* it holds a special position as far as the perception of absence or inexistence (*abhāva*) is concerned. Naiyāyikas disagree with the Mīmāṃsakas to accept *anupalabdhi* as an independent *pramāṇa* for the perception of *abhāva*. They say one can see 'bhūtale ghaṭābhāvaḥ' by one's own 'eye' through the cognitive functional relation 'qualifier-ness that is connected with the sense organ'. The perception of *samavāya* an independent category in the system of Nyāya Vaiśeṣika school of Indian philosophy is also seen by the same functional relation - opine some. Similarly *adhikaraṇa* being the very

nature of bhūtala, can be seen by the same functional relation

Śrīmad-Vallabhācārya accepts 'substratum' and 'super stratum' (ādhāra- and ādheya) forming separate categories²⁵ and in that case the contact of eye with the object namely the ādhāra or ādheya would be possible through the self linking functional relation called svarūpa as accepted by the Vallabha school of Vedānta Goswāmī Purusottama Carana appears to be suggesting the same in his Prasthāna Ratnākara

Sententio Perceptual Cognition *

Sabda is a distinct pramāṇa and any cognitive episode caused by śabda certainly is not an instance of perceptual cognitive event, for that is caused by a different cognitive means²⁶ However, Advaitins cite an interesting situation claiming a cognitive episode caused by śabda to be perceptual According to the Advaitins, the Upanisadic mahāvākya namely 'Tat tvam asi' [Thou art that] is a samānādhikarana type statement that establishes complete identity between the "individual self" with the "Supreme Self" However, the point to underline is that this statement establishes the identity in a perceptible manner, as is the case in pratyabhijñā pratyakṣa, perceptual recognition of "so'yaṁ devadattah" i.e., "this is the same Devadatta as that" The sentence is used in the context of recognizing a person called Devadatta, when seen by two other persons, say A and B, who had seen him earlier at a different time and at a different place Suppose A had forgotten Devadatta, and on seeing him, B recognizes

him and reminds A, "this is the same Devadatta as that"
Essentially this is an identity statement like

"that Devadatta = this Devadatta"

According to Advaitins, the identity is possible only if the 'this-ness' and 'that-ness' referring to spatiotemporal context is left out and only the cognitive referent Devadatta is retained. The recognition perception (*pratyabhijñā pratyaksa*) is a fit case, according to Nyāya, of partly remembrance and partly perception (*samskārendriyobhaya janyam jñānam pratyabhijñā*)²⁷ However, the Advaitins believe in admitting immediate knowledge even from verbal testimony in this context. Dharmarājādvairīndra in his *Vedāntaparibhāṣā* goes on elaborating this point and rejects the contentions of the Naiyāyikas. He cites another example of "daśamas tvam asi" (Thou art the tenth one)²⁸ According to Dharmarājādvairīndra, due to immediacy of an object, perception arises even from 'words'.²⁹ 'Tat tvam asi' (thou art that), the so called mahāvākya also causes perceptual / immediate (*a-paroksa*) cognitive episode. This creates a peculiar situation for those who take up the epistemological issues seriously, for the verbal testimony causing the perceptual cognition goes beyond the convincing acceptability as far as the convention of *pramāna-śāstra* is concerned. The recognition perception (*pratyabhijñā pratyaksa*) is a fit case of perceptual reconstruction where the cognitive apparatus (*sāmagrī*) for sentential cognition cause the perceptual cognition.

Goswami Purusottama argues in this context that that could either be an instance of sentential cognition or an instance perceptual cognition, but no *sententio* perception as such is possible, for *sabda* can never be regarded as a cause for perceptual cognition. He says In explaining the sentence "dasamas tvam asi", how can one get the cognitive episode of 'self' / 'I' (*aham*) from the word 'yusmat' (you)? Presentation of word meaning through their signification function (*vr̥tti* / *sakti*) of 'words' in the context of *sābdabodha* is the essential causal factor, and *sabda* can not present 'some / any meaning' that is not cognized from the word beforehand. The "invert secondary function" (*viparita laksanā*) (even in some cases accepted) can not be accepted in this case, because it will lead to non perceptual cognitive instance and that in turn will further lead to abandonment of ones' own position of establishing immediate knowledge³⁰. According to Goswami Purusottamacara[a one has to accept in present case that though the eye etc play as auxiliary factors that however do not cause a perceptual cognitive instance and thus no *śabda* can be accepted as causing perceptual cognition³¹.

The story of "daśamas tvam asi" in fact can be explained by the 'mind brain gap' theory of modern science. According to this theory when we see, due to mind brain gap we see only partially because we are preoccupied with many things conditioned by society or burdened with belief, tradition and with past experience. The brain and the sense organs somehow put together a lot of information and the perception depends

upon all aspects of this information. If we examine closely the present situation of "daśamas tvam asi" we may find the following psychological factors. It is possible that while crossing the stream, the current was very strong and everyone of the group of ten struggled to cross it. The fear that persisted in everyone's mind if someone is drowned. And that trauma is the cause of mind-brain gap which played its role in mis assessing the situation and when someone started to count the heads to confirm the number, he ended with nine only, forgetting to count to himself. One can overcome such traumatic situation only by consoling words of a trustworthy person and when such a person arrives and says the sentence "daśamas tvam asi" that causes a cognitive state that is as dependable as perception, which destroys the veil of ignorance completely about the 10th one. Similarly one gets the ātma sāksātkāra, perceptual cognition of 'self' through the Vedic statements like "tat tvam asi". Thus, the Advaitins consider the cognitive episode arising from words to be perceptual. The explanation of the Advaitins in this case is certainly convincing and its nature of perceptibility is also appreciable. However, the question is can we count for the 'mind brain gap' theory, which is more psychological, in the sāstras? Is there any reference to that in the śāstras also? If not, what harm will be there if it is incorporated into the śāstras?

Auditory Perception:

The followers of Nyāya Vaiśeṣika schools of Indian

philosophy almost authoritatively say— sound (śabda) is perceived by the 'ear' through the cognitive functional relation 'inherence' (samavāya), for śabda being a quality of space (ākāśa) and the space being delimited by the ear canal is called the sense organ 'ear'³² Physiologically speaking it appears to be little convincing. The question arises that how the sound is heard quickly and clearly in the direction of air and not so quickly or clearly from the opposite direction. If sound is an incorporeal quality (amūrta guṇa) of the all pervading ether (ākāśa), how can it be carried away by air? Moreover the other question is how the contact of mind (being atomic) with an all pervading entity (ākāśa), though being limited by ear canal, takes place? Is it partially or wholly? If partially then one has to accept parts of an all-pervading entity. Will it be acceptable? If wholly then ākāśa being all pervading, a sound produced in anywhere in the space would be audible. To solve these problems there were two theories proposed in śāstras (a) the wave theory of the sound (b) the reaching out theory of auditory sense organ to the place of sound. The first theory is proposed and accepted in Nyāya Vaiśeṣika school and the second in the Sāṃkhya-Vedānta schools. The Nyāya-Vaiśeṣika scholars think ear the auditory sense organ is passive (like the other sense organs of touch, smell and taste). The wave theory proposes that the initial sound produces another similar sound to it, which in turn produces a similar sound, the third one and the fourth one and so on and so forth in the manner of wave giving rise to another wave, till the last

one is produced in the ear canal. It is the last sound in the series that is apprehended by the auditory organ. This is fine. However, there many questions remain unanswered that why is the supposed series of sounds not produced in all directions and heard by everyone in the world? Why is the sound not able to cross the obstacles such as wall etc? The Samkhya and the Advaitins on the contrary accept the reaching out theory. According to this theory, the ear is an active sense organ and they propose a typical *vr̥tti* of the auditory sense like that of the visual sense organ eye, which goes out to its object. In this case also the same objection stands as why the *vr̥tti* of the auditory organ being non corporeal (*amūrta*) cannot cross the material obstacles like wall as such?

The Mīmāṃsakas especially Kumāṇila, however, contended that when a person speaks the air inside his body struck by his effort moves out of his mouth and this air is helped by conjunction and disjunction of his palate, tongue and throat etc. The extent the air goes is determined by its initial velocity, which depends on the intensity of the speaker's effort. When this air reaches the ear canal it imparts a certain potency to the auditory organ, which produces certain modification (*samskāra*) in the latter. Different modifications are caused by different sounds and they are the cause of difference in sound perception. Sound is not heard everywhere because of obstacles such as wall etc. because those obstruct the passage of the air. When loud sounds are heard, some

pressure is experienced upon the ear. This is caused by the air current striking the ear with a great force. The initial velocity of the sound gradually decreases and hence the intensity of sound differs at different points of its passage till it disappears completely. That is why the sound is not heard everywhere. Thus the sequence, loudness, lowness etc. of the sound can fully be explained.

The theory that PR presents goes close to this theory. They also think that the air is the carrier of the sound and thus they consider 'contact' (as against 'mherence') is the functional relation between the sound and the auditory organ. According to them when the sound reaches the ear by the air, the eardrum being struck by the air enables to hear the sound through that contact. One does not experience the contact of the air because of the intensity of the apparatus of sound operation. However, if someone speaks close to the ear canal there is possibility of experiencing the contact of the mouth air of the speaker as well. One listens the absence of sound through the ear itself but in that case, the functional relation will be "qualifier ness that is connected with sense organ". Alternatively, the Goswāmī Puruṣṭamācarana suggest that the very nature of the sound itself may be regarded as the functional relation for sound perception that is carried by the air³³

MM Ramavatar Sharma, a traditional scholar, who is the founder of a neo school of philosophy namely

Paramārtha darśanam also accepts the modern scientific theory that the sound is caused by air and it can not be the quality of the ether as proposed in the Nyāya Vaiśeṣika school³⁴

In modern science, B V A Rao, a professor in IIT, Madras, in his paper 'A New Theory in Auditory Perception'³⁵ reports a hypothesis similar to that as has been proposed by Sāmkhya Advaita school of Indian philosophy, which has been put forward as recently as November 1983, in a prestigious journal (Hugo Zuccarelli, The New Scientist, 10th Nov 1983, pp 438 440) It claims that the ear is an active organ, which transmits sounds and not just passive receiver According to this theory, each ear in an individual produces a medium frequency sound wave (of about 1kHz) This is transmitted by the ear which itself acts like an antenna to propagate this energy These sound waves and the incoming sound waves from external sources generate an interference pattern, which reaches the ears This interference pattern, which depends on the direction of the incoming sound is analyzed by the cochlea in a way analogous to an optical hologram to locate the sound sources The analysis, which is a pattern in the hair cell in the organ of Corti recreating the interference pattern outside the ear, is recognized by the brain and so we are able to distinguish sounds of different tonal quality and also locate their sources We do not hear the sound that is outside, but its recreated pattern inside As is now known, each point in a hologram represents the amplitude and phase information of the original object in all its three

dimensional detail. The hypothesis of Zuccarelli is that the acoustic perception is achieved in a similar manner. Concluding the discussion Prof. Rao remarks, and I quote

“It is an outstanding example of the potentiality of the views of ancient seers who have experienced the physical and physiological world in an objective and transcendental manner through intuitive insight. It is high time that scientists look into these aspects in an objective and sustained manner based on the insight contained in sastras”³⁶

In the conclusion, we only can re-ascertain this statement, for Goswami Purusottamacarana sets an example in this direction by looking at things differently as is evident in his *Prasthāna Ratnākara*. The sastrakaras had always an open mind to new ideas and it is for us to see everything in proper perspective.

Notes and References:

- 1 *Sāmānya laksanā pratyāsatti, jñānalaksanā pratyāsatti, yoga ja pratyāsatti*
- 2 Eric A Lord, 1986, ‘Sensory Perception Mechanisms’, *SENSE PERCEPTION IN SCIENCE AND ?* (STRA, Ed by T M Srinivasam and B G Shreealakshmi, Pub. Sri Sharada Trust, Sringeri)
- 3 Cf. ‘*viśadam pratyaksam*’ *Prameyakamalāmṛtānda*, Nirmaya sagar Press, 1941, p. 216
- 4 ‘*avyavadhānena pramāṇāntara nirapeksatayā pratibhāsanam*

vastuno'nubhavo varśadyam vijñānasya' ibid p 219

5 'na so'stu pratyayo loka yaś śabdānugamād rte / anubiddham
iva jñānam sarvam śabdena bhāsate //' Vākya-Padīyam
by Bhartrhari

6 Cf 'na śabda pramānakatayā śābdam, api tu śabde jātam
śābdam, śabdaś cāsyā visayatvena janako'rīha-tādātmyāt'
Nyāyavārtika-Tātparya-Tikā on NSBh Vā 114, ND p
109-110

7 We need not discuss the identity theory here because it
is beyond the scope of this paper

8 'Pratyaksam kalpanāpodham abhīrāntam' Nyāya Bindu 14

9 H S Subrahmanyam, 1986, 'Physiology and Psychology of
Perception', SENSE PERCEPTION IN SCIENCE AND
ŚĀSTRA, Ed By T M Srinivasam and B G Shreelakshmi,
Pub Sri Sharada Trust, Sringeri p 70

10 In śāstras also we find references to the saying 'anyatramanā
abhūvam nāham kiñcid avedisam', which essentially talk
of the role of 'attention' in perception

11 J N Mohanty, 1992, Reason and Tradition in Indian
Thought (An Essay on the Nature of India Philosophical
Thinking) Clarendon Press, Oxford p 42

12 Prasthāna Ratnākara (PR), ed By Goswamī Shyām Manohar,
Kolhapur, VS 2056 p 53

13 J N Mohanty, 1992 op cit p 240

14 Cf 'ātmā manasā samyujyate, mana indriyena, indriyam
artheneti' NS B ND p 94

15 Cf Matilal, B K 1990, The Word and the World India's
Contribution to the Study of Language Oxford University

Press Oxford / New York, p 51 and see my paper
 Dash, A, 1999, Śābdabodha, Cognitive Priority and the
 Odd Stories on PrakāraṭaYCvāda & Samsargatāvāda, Journal
 of Indian Philosophy, Vol 27, No 4 Kluwer Academic
 Publishers, Dordrecht, The Netherlands, pp 17 41

- 16 This we call perceptual functional relation, because
 sannikarasa is a relation between the 'instrument' i.e.,
 I or the "means of perception" with the 'object' at the
 same time it is a 'function' as well, because without
 the "function" of the instrument no perceptual cognition
 can be generated. The term sannikarsa takes both these
 responsibilities and therefore, we call it a "perceptual
 functional relation"
- 17 cf 'vyapāravād asādhārana kāranam karanam', i.e., the
 extraordinary cause, engaged in operation, is the
 instrumental cause
- 18 cf 'dvividhah sambandhah samyogah samavāyāś ca'
 Tarka Bhasā by Kesava Miśra (TB) P 28
- 19 cf 'pratyaksa visese sannikarsa viseṣo hetur anugata eva
 samyogena dravya-grahah, samyukta-samavāyena rūpa ka
 rmanor grahanam, samyukta samaveta-samavayena rūpatva
 -deh, samavayena śabdasya, samaveta-samavayena śabdatva-
 -deh' TC Vol I pp 572 574 See also TS p 31, TB
 p 34-36, KM (kārikās 59-62), NS-V p 94 95
- 20 Cf 'indriya sambaddha-viśesanatayā samavāya-ghatābhāva-
 -der yoga sannikarsād eva graho na sannikarsamātrāt' TC
 Vol I pp 575 576
- 21 Matilal, B K translates the jñānalakṣaṇā pratyāsatti as

“presentation through revived memory’ See more on this issue in Matilal 1986, PERCEPTION (An Essay on Classical Indian Theories of Knowledge), Clarendon Press, OXFORD 286 291

- 22 See Bhattacharya, Gopika Mohan, 1977, Śabdabodha as a separate type of Pramāṇa, Journal of Indian Philosophy, Vol 5, Ed B K Matilal, D Reidel Publishing Company, Dordrecht Holland, pp 73 84 73-84, for the details on jñānalaksana sannikarsa
- 23 ‘api ca kriyāyāḥ kṛter vā samavāyitvam karitṛtvam, para samaveta kriyā phala śālitvam karana-vyūpāra visaya-
tvam vā karmmatvam, dhātvarthatvam anyad vā kriyāitvam
idam aham jñānīmīti vyavasāye na bhāṣate tad bodhakendri-
ya sannikarsābhāvāt kintu idam visayaka jñānatva viśistasya
jñānasya vaiśistiyam ātmani bhāṣate na ca svaprakāśe
vyavasāye tādrśam svasya vaiśistiyam bhasitum arhati,
purvvaṁ viśesanasya tasya jñānāt tasmāt idam aham jñānīmīti
na vyavasāyah kintu anuvyavasāyah’ TC Vol I , pp
795 796
- 24 Prof D Prahladachar, Hon Vice chancellor of Rastriya Sanskrit Vidyapeetham, Tirupati suggested me this view over a personal discussion on this issue
- 25 ‘ādhārādheya bhavaś ca meyāntaram’ Nyāya Lilavatī, (1st Part) ed with Śāmbhavī and Candrakāntī by Rajendra Prasad Sharma, Department of Philosophy, Rajasthan University, Jaipur, 1996 p 34
- 26 Goswami Purusottama presents the idea in a very interesting manner saying that “difference of pramāṇa is established

by difference of functional relations of cognitive means, and in that case difference of cognitive structure alone is not necessarily required' To quote him 'vrittivaijātyasya pramāṇa vaijātyopapāḍakatve phala vaijātyasya tad anyata tvāt' PR p 143

- 27 It may be noted here that *pratyabhijñā* is a verity of perception and the definition itself counts for 'memory input' in the case of perception recognition This no doubt is direct reference to the reconstruction theory of modern science *Pratyabhijñā* has been developed into a full-fledged school of Philosophy by Abhinavagupta The perceptual reconstruction due to 'memory input' into perception might be the very foundation of their thought More in depth study in the field is required in this direction

The above definition of *pratyabhijñā* is quoted by Prof Badarīnatha Shukla, (Hindi Comm) on *Tarkabhāṣā*, Motilāl Banarāṣidass, Delhi (Reprint 2000), p 23

- 28 The story is briefly and nicely narrated by Svami Madhavananda in his translation of *Vedānta Paribhāṣā* and I quote him in his languages 'Ten rustics swam across a stream, and one of them counted their number to see if all had crossed To their dismay, one was found missing Then everyone took his turn at counting, but the result was the same So they began to lament, when a kind passer-by inquired what it was all about On being told what has happened, he readily understood the situation, and asked one of them to count again When the man stopped at nine, the new-comer said to him 'You are

- the tenth man' This he repeated with the rest of them
Then they saw their mistake and went away happy"
- 29 'daśamas tvam asi ityādaṁ sannikṣta-viśaye śabdād apy
aparokṣa-jñānābhyupagamāt', also 'so "yam devadattah'
iti vākyajanya jñānasya pratyakṣatvam Evam "tat tvam
asi" ityādivākyajanya-jñānasyāpi" Vedānta Paribhāṣā, Tr
By Svami Madhavananda, Advaita Ashram, Calcutta, 1989,
p 19, p 33
- 30 "yat tu "daśamas tvam asi" iti vākyaād "daśamo'ham"
ity ākārakam pratyakṣam kecid angīcakruḥ Tad api na
śabde yusmat pada-prayogena tajjanye jñāne 'aham' ity
ākṛasya vaktum aśakyatvāt padajanyopasthiteḥ śābdabodhe
tantraivāt yusmat padena svārtha viruddha pratyakṣasya
upasthāpayitum aśakyatvāt anyathā atiprasaṅgāpatteḥ na
ca tatra vīparita laksanayaiva upasthūtiḥ iti yuktam Tathā
satī parokṣa jñānasyaiva apattyaḥ pratyajñāvādhāt" PR p 123
- 31 'śabde caksurādīśahakāritvasya parokṣavrttījanakatvasya ca
niścayena śabdāt pratyakṣasya sarvathā anupapannatvāt ca'
PR p 143
- 32 'karna śaskuly avacchinnaṁ nabhaḥ śrotram' However,
Raghunātha Śiromaṇi defines śrotram as
'karna-saskulya vīvarāvacchinna īśvara eva' Padārthatattvanī
rūpana, ed by Bīṣvambhara Paṇi et al Department of
Philosophy, Rajasthan University, Jaipur 1997 p 3
- 33 Cf 'śrotrena śabda grahane samyoga eva vyāpārah śabdo
hi vāyunā upanītaḥ śrotaparyantam yadā āyāti tadā
śrotāvachchinna tvacā vāhaka vāyusamyoge tam eva samyo
gam vyāpārayitvā śrotendriyena śabdo grhyate

śabda-grāhaka-sāmagrīprābalyena samyogāśrayasya vāyoh
 apratyaksatvāt na tasya samyogasya grahanam Samyogagra-
 -hakasāmagrīprābalye tu samyogasyāpi grahanam Yathā
 karnābhyarnam āgatasya vārtāśravane vaktrmukhavāyusa-
 myogasya Abhāve viśesanateva. Śābdagrahe
 samyukta-vāyūdha-śabda-svarūpam eva vā dvāram' PR
 p.138.

34. Cf 'punar anyadā devadattah paramārthajñam sukratum
 upāste. Prechati cañam - bhagavan ! śabdah kasya guṇah
 tau ha mantrayete. Vāyumandalād bhūmivestānād ūrdhvam
 candra-sūryādyah. vāyumandale punar meghāḥ samplavante
 Meghebhyo vaidyutah prakāśah pṛthivīm āgacchati Tad
 anantaram stanitam śrotravidāraṇam ākarnyate. Prakāśama-
 -tram tu sūryādisūpalabhyate na sambhavanṇi api tatratyah
 ko'pi śabdo'tra śrūyate. Tad etad gamayati vāyavīyāñm
 anūñm kampe śabdaśravanam. Tad abhāve śabdaśravanam
 Ākāśas tu prakāśa-dharmā Ittham mantrayamānau tau
 kañcid vaijñānikam upagamya tam eva viśayam prechatah
 Sa ca tau vartulam pātram darśayati. Tasmimś ca ghaṇṭikām
 vādayati Sarve tac chabdam ākarnayanti. Atha vaijñāniko
 vāyunisārana-yantrina pātram prāyo nirmārutam karoti
 Punar asau ghaṇṭikām vādayati. Na kaś cāc chabdam śmoti
 Parīkṣāvasāne śabdasya vāyusambandham sphutam pratyeti
 devadattah. saḥsaś ca sukratum vadati Prāmāṇikam
 kaṇabhakṣādīñm vacanam śābdagunam ākāśam itī".
 Paramārthadarśanam, Motilal Banarasidass Pub Delhi
 1994, p 7-8

35. See Sense Perception in Science and Śāstra, op cit pp 86-89.

+

चर्चा

डॉ अच्युतानन्द दास

के ई देवनाथन् In the case of “पर्वति वह्नि” there is a problem in Nyaya theory Because what is the Sambandha between Parvata and Vahni which is not included in six Sambandha Then you said that there is a ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति there after you said अधिकरणता is

डी प्रह्लादाचार : तेषाम् अभिप्राय एव वर्तते “पर्वति वह्नि” “पर्वतो वह्निमान्” इति प्रत्यक्षयो वैलक्षण्यम् अस्ति तत्र को विशेष ? कथं वैलक्षण्यम्, तत्र सामग्रा को विशेष, कुतो वा कार्यवैलक्षण्यं जातम् इति अन्यं प्रश्नं अपरस्तु तै उच्यते, अधिकरणता यदा प्रत्यक्षीक्रियते, अधिकरणताप्रत्यक्षन्तु ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्त्या भवति तत्र तावद् सन्निकर्षो ज्ञानलक्षणा स्वीक्रियते स तु सयोगविषये न पर्वत-वहन्यो य सयोग तद्विषये न अधिकरणताप्रत्यक्षं प्रति

बलिराम शुक्ल : अधिकरणताया ज्ञानं तस्मिन् प्रत्यक्षे कथं भवति इति तेषां प्रश्नः

के ई देवनाथन् : मया तथैव स्वीकृतम् “पर्वति वह्नि” इत्यस्मिन् ज्ञाने सम्बन्धः क इति प्रथमतः प्रश्नः कृतः “पर्वति वह्नि” “पर्वतो वह्निमान्” इत्यत्र सामग्रीवैलक्षण्यम् कथम् इति प्रश्नः सामग्रीवैलक्षण्यं तावत् सम्बन्धवैलक्षण्यम् सन्निकर्षवैलक्ष-

पथम् इति वक्तव्यम् इति प्रथमतः प्रश्नः कृतः तदनन्तरं
तत्र एवम् उक्तम् अस्ति, तत्र तावद् एकत्र आधेयतासम्बन्धो
भवति इत्यादिकन्तु लिखितम् अस्ति तत्र कः क्लेशः भवताम्
इति तु मया स्पष्टं न ज्ञायते उभयमपि प्रत्यक्षं भवति
एकत्र पर्वतः विशेषणं भवति, अपरत्र वह्निः विशेषणं भवति
इदञ्च विशिष्ट-वैशिष्ट्यज्ञानम् अत्रतु अधिकरणतायाः प्रवेशः
किमर्थम् आनीतः इति न ज्ञायते आधेयतायाः प्रवेशस्तु
अस्ति

अच्युतानन्ददासः : “पर्वते वह्निः” इत्यस्य प्रत्यक्षं भवति तत्र
पर्वत-अधिकरणता-वह्निः इति त्रयं पदार्थाः सन्ति एक-
सम्बन्ध-पदार्थो अन्ये

के ई देवानाथन् : नहि पर्वतः, आधेयता वह्निः च

डी प्रह्लादाचारः : तेषां आशयः एव वक्तुं शक्यते “पर्वतो वह्निमान्”
इति एकं प्रत्यक्षम् “पर्वते वह्निः” इत्यपि प्रत्यक्षम् अस्ति
अनयो प्रत्यक्षयोः एतौ उक्तरीत्या वैलक्षण्यन्तु इदं भवति
एकं प्रत्यक्षं पर्वतविशेष्यकं वह्निप्रकारकम् अन्यच्च प्रत्यक्षं
वह्निविशेष्यक-पर्वतप्रकारकम् एवञ्च प्रकार-विशेष्यभागे
किञ्चिद् वैलक्षण्यम् अस्ति तावदेव वैलक्षण्यम् परन्तु

के ई देवानाथन् : ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्तिविषये भवद्भिः उक्तं “स्मृतिः भवति”
इति ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्तिः स्मृतिरेव भवति इति न निर्बन्धः

प्रद्योतकुमारः : प्रायशः तत् स्मृतिरेव

डी प्रह्लादाचारः : सन्तु अन्यो विषयः

के ई देवानाथन् : यत्रतु प्रथमतो विशेषणज्ञानं जातम्, इन्द्रियसन्निकर्षः च
वर्तते तत्रतु विशिष्टज्ञानं यद् भवति तत्तु विशेषणज्ञानात्मकानुभवेन
ज्ञानलक्षणाख्येन प्रत्यासत्त्यैव भवति

विन्ध्येश्वरीप्रसादः : तर्हि “ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्” इति कथं सेत्स्यति ?
स्मृतिस्तु ज्ञानमेव तर्हि प्रमाणाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम् एतेन
भाव्यम् ।

बलिराम शुक्ल : तेषाम् अयम् आशयो : यद् ज्ञानाकरणकं तत्र
ज्ञानलक्षणायाः करणत्वम् अस्ति वा ?

प्रद्योतकुमार : तत्र व्यापारत्वम् अस्ति नतु करणत्वम्

के.ई.देवनाथन् : करणन्तु इन्द्रिय सन्निकर्षो ... परन्तु सन्निकर्षस्तु...

तत्र तु ज्ञानमेव सन्निकर्षो भवति पुन ...

प्रद्योतकुमार : If I understood him correctly he has a couple of things to say. One, where do we stand in our understanding of the scientific explanation and the Sāstrik explanation of the same phenomena? Note that in science we are discussing a deferent type of perception and in Śāstra deferent type of perception that is not the question. The same given perception is understood or explained differently by the scientists and by our Śāstrakāras. And there comes a problem. Suppose there are two different sorts of explanations then we have to consider what is the relationship between them. Is it that one enriches the other? One cancels the other? What can be incorporated? We are speaking of the development of our Sāstras. And one test of the validity of Śāstra is that it should be able to incorporate, without contradiction, whatever the new findings are there in the sciences. In this connection he has refer to some conferences where scientists and philosophers really conversed. Here, first point to remember is this that only such discussion will become fruitful if we are addressing to the similar problem or trying to explain the

similar phenomena. He has given certain examples that are very common phenomenon. How do we perceive a particular object? How do we perceive object? Here he has brought some new scientific theories and approaches. E.g. he has given Sabdāparokṣṭva theory on the one hand and the brain-mind gap theory on the other. Now, what happens, most of the things that are said by the scientists, we don't understand, and many things that we the philosopher say, they don't understand. Since I have been involved in so many such discussions, I have realized that we are not trained scientists and they, the scientists, are not trained philosophers. They go on speaking in their own way and we on our own. Since they are not trained philosophers, they are not being able to speak in language which we do understand. E.g. they use such expressions as Mind-Brain dichotomy. This is neither science nor philosophy. No scientist admits mind and brain separately. Mind in a European tradition invariably means the self. Only one reference to mind as a sense organ was there and their comment was: Mind as a sense organ is a misnomer. That is a scientific present theory. This is one point. What are you to do? My suggestion is this: There are lots of scientific accounts of standard phenomena available. We should try to understand them and reinterpret them in our own Śāstric

language But the things that are being said now
 a days is not the same thing E g there is a standard
 physics of sound, there is a standard physics of
 light We should go by that and note some computer
 scientist and neurologist saying that The neurologists
 are not attending to the problem that we are attending
 here E g we are attending to this problem,
 Śabdāparokṣatva vāda Meaning there by, we go
 by two types of experiences One which is indirect,
 generated by the Śabda and one which is direct
 which is called perceptual Now we are concern
 with the problem whether there is any such instance
 where we have reasons to believe that we have
 perceptual cognition Though language plays the
 fundamental role These type of question is not
 a scientific questions at all Scientific question is
 a different kind of question Namely how the sound
 is transmitted? And in respect of which he has
 brought a very beautiful theory which is to be
 pondered very carefully So far we are thinking
 about sense organ as a receptors only but what
 he is suggesting with reference to some scientists
 that Indriyas are both receptor and transmitter at
 the same time Now to say that is to understand
 that our understanding of the auditory sense organ
 is much grosser then that of scientists If there
 is a theory that it is both the transmitter and
 a receptor then they must be having a deeper

and complex theory of the structure and function of what we call sense organ. Similarly on many occasions we have a complete different theory of several Indriya. Now for the scientists the Indriyas are most and the nerve cells. But we the Naiyayikas know very well that these are only इन्द्रियस्थानं नतु इन्द्रियम् इन्द्रियन्तु अतीन्द्रियम्, अप्रत्यक्षम्. So unless we correlate these things it is not possible.

I would like to give one other suggestion to Achyutanand. While discussing all these things one thing you are not bringing in. Two different models of Viśiṣṭa Jñāna. Earlier also we have referred only to Viśiṣṭa Jñāna. But there are various levels of Viśiṣṭa Jñāna. 1. Vaisiṣṭyavagāhī Jñāna. 2. Viśiṣṭa vaisiṣṭyavagāhī Jñāna and so on. This is one thing. And another, two models, how we can have cognition of different things at the same time. One is you know 'Khale kapota nyayah' and the other is "विशेष्ये विशेषणं तत्रापि च विशेषणान्तरम्". So, if you have introduced these I think you can make some

अम्बिकादत्त शर्मा : While quoting Hugo Zuccarelli's view you have written that we do not hear the sound that is outside but its reacted pattern inside. If it is so then what will be the explanation of Sabdavedhī bhāṇa. If it is so then Sabdavedhī bhāṇa will be targeted towards one's head.

अच्युतानन्द दास : The importance of my point that I didn't

discuss here was if we rethink on the Advaita Vedānta pattern, अन्तःकरणावच्छिन्न-वृत्तिचेतन्यम् एवं विषयचेतन्यम् इति अनयो एकीकरणम् इति ते वदन्ति They become one as they say Perhaps modern scientific experiment goes to all most in a deferent way to the same thing i.e the sound directly produced there That is what we do not hear We don't hear the sound which is being produced say one kilohertz or something Something in an identical situation it recreates And because of that only Sabda can capture the Sabda if I say very

गो. श्या. म. : That is why I again and again say Bhavati and Anu bhavati Just as Vadati and Anu vadati So, yad bahir bhavati tad antar anubhavati Its a recreation but in a cognitive manner Our mind recreates what is being happening outside as an external object

प्रद्योतकुमार : The perception is always a reconstructed element

अच्युतानन्ददास : Yes That was my main point

प्रद्योतकुमार : In perception what you all the time speak of was perception We do not draw distinction between sensation and perception But and every perception incorporates a reconstructional element

अच्युतानन्ददास : That was the basic question from the beginning to the end and it was the reconstruction theory

वशिष्ठनारायण झा : In addition to the suggestions made by

Prof Mukhopadhyay I have some further suggestions to be made Now, when I say "this is a book" I have seen and I have said so Vāgavyavhāra is preceded by perception We should not come from Vāk to perception analysis We should see that how the perception has been verbalized in language All problems arise because of this We are searching Adhikaranatā, where is Adhikaranatā? Had I not seen Adhikaranatā I would not have made this as Adhikarana So I had seen Adhikaranatā there and therefore I had made this as Adhikarana Now I have seen Adhikaranatā Now what that Adhikaranatā consists of? I do not know For that more and more information are necessary I have seen this a book But this book is blue I have not said that the book is blue So there are many information which consist of But once I have said "this is a book" I have identified there is bookness here But what that bookness consists of requires list of information And therefore if I say "this is a water", scientist will say "this is H₂O" Science is giving many more information, no doubt, they are to be incorporated in the structure That is perfectly all right And the next thing to be done there whether You see the systemes are not so loose When you say "ज्ञानाकरणक ज्ञान प्रत्यक्षम्" each element has been defined What is Jñāna? This Jñāna is not the reconstruction that

you think of is in the mind of Naiyāyika. So what we are doing is, we are taking a concept outside and trying to read that concept in the language that our Śāstra uses. It should be avoided. My only request is that whether you have to find fault that where there is a discrepancy within the system given the definition of a particular concept. So given the concept if there is a discrepancy that has to be pointed out. That can be improved upon. There is always chance. There the science will come to help us making more and more information to make more and more

+

postscript

A Response to the Debate on “Infrequently Asked Questions on Perception ..” Achyutananda Dash

In the very beginning, it will be worthwhile to summarize the points raised in the discussion by the scholars on my paper. They are as follows

1) First of all the question was raised on the nature of relation between the mountain (parvata) and fire (vahnī) in case of the perceptual cognitive instance of (A) Parvato vahnīman vs (B) Parvate vahnih

2) The next question comes on the mode of representation

of the same relation to the mind or in the cognitive structure of the perceptual cognition. The mode of presentation, I mean here is the sannikarsa or what I call 'functional relation' in my paper. It may be noted here that the objective relation is samyoga in case of (A) and it is adheyatā or adhikaranatā in case of (B).

3) There was no problem in perceiving the objective relation namely 'samyoga' (contact) as discussed in the paper, through the functional relation (sannikarsa) viz. inherence in what is connected (samyukta samavaya). And therefore, no question was raised on the mode of presentation of the functional relation in case of (A).

4) However the problem rose on the mode of representation of ādheyata or adhikaranata in the case of (B). There is no clear cut explanation of this type situation in the tradition. No I do not want to say that the tradition had not thought over this type of cognitive situation, on the contrary it has every scope of solving every problem in its framework. It is left for us how to tackle it. My suggestion for the present problem was to take resort to jñanalaksana pratyāsatti. And this was alarming to some of the participating scholars, possibly simply because this case was not directly taken up as a perceptual cognitive instance in the tradition. Though it appeared that Prof. Prahladachar and Prof. Bahram Shukla wanted to give an explanation to the situation. But, they are overpowered by the others and finally the issue was diverted to other direction.

5) In this context the 'mind brain gap theory' of the modern

science came up for discussion, and finally Prof Pradyota Kumar Mukhopadhyaya remarks and I quote "The perception is always a reconstructed element" to which I agreed. Here, I would like to draw the attention of the scholars again to the reconstruction theory of the modern scientists as remarked by H S Subrahmanyam

"We often begin with simple perception and then work backwards to reconstruct the full perception out of its elements. When we look we are not looking with our eyes, we are looking with our mind (past experience). Perception is not passive. It is an active construction. It is multidisciplinary - physical, physiological, psychological and metaphysical."

H S Subrahmanyam very clearly states that we start with 'simple perception' and then go further to reconstructing 'full perception' through the mind (past experience)

6) Couple of other issues were also raised during the discussion and they are (i) the śabdaparokṣa theory and (ii) the validity of the definition of pratyakṣa i.e. "jñānākaranakam jñānam" as given by Gaṅgeśa in his magnum opus Tattvavintanī.

All these issues, if collectively taken for reassessment, then there can be seen an *ekasūtratā* at a point where the primacy of perception is challenged and possibly Indian tradition as a whole do not agree with. The Vaiyakarana and the Vāllabhas as has been pointed out in my paper do not accept the primacy of perception, whereas the others including the

nāstikas (Buddhists, Jains and Cārvākas) accept its primacy. Intellectually speaking it hardly matters, which cognitive instance is primary one and which is the secondary one. However, as far as the epistemology is concerned - (i) the elements of a cognitive instance (samagri), (ii) the objective relations between the elements, (iii) the causal factors i.e. the kāranas, (iv) the mode of representation or the functional relations (sannikarsa), and finally (v) the cognitive structure are the factors of perception, which cannot be ignored. Moreover, the issue throughout the tradition we find being hotly debated that which perception is the 'real perception'? In other words, technically speaking, whether (i) the non linguistic and non conceptual perception i.e. nirvikalpaka pratyakṣa is the 'real perception' or (ii) the linguistic, conceptual and thus judgmental perception i.e. savikalpaka pratyakṣa is the 'real perception' or (iii) both are true and there is a hierarchy in between them? These are the three broad spectrums of the theory of perception in Indian tradition and to my mind the modern theory of perception can be accommodated in these three as well. Almost all the schools of Indian epistemology play their game in this triangular field with the help of the above five factors for establishing the distinct identity of their respective schools from the others.

However, for the sake of re-treatment of the traditional viewpoints, we need to look into them afresh from a different dimension. The traditional controversy is centered on the primacy / dependency / hierarchy of nirvikalpaka pratyakṣa vs savikalpaka pratyakṣa. I do understand the significance of

the traditional approach for the assessment of the perceptual cognitive instance, but for the sake of its reassessment what I feel is, we need to start with 'simple perception' to 'complex perception'. When I say 'simple perception', I mean a simple perceptual cognitive instance arising out of minimum factors based on sense object contact (SOC) - *indriya artha sannikarsa*. The scientists of course say that one has to start with 'simple perception' to reconstruct the 'full perception' and possibly they also mean to start with the minimum factors of SOC and then to go on to accommodate as many factors as required with a multidisciplinary approach - physical, physiological, psychological and metaphysical so on and so forth as the situation may demand and that will end in a 'complex perceptual cognitive event' which is called a 'reconstructed element'.

In the tradition, whenever we look into the six perceptual functional relations (*sadvidha sannikarsa*)² we can say that these are the six instances of simple perceptions, since there is one to one SOC that give rise to 'a single object perceptual cognitive event' For instance

- (i) When we have the perception of a substantial element like 'a jar' through our 'eyes', the perceptual instrument, with the help of the perceptual functional relation called *samyoga* (contact), it is an instance of 'simple perceptual event' where the factors involved are (a) 'eye', the only instrument, (b) 'jar', the only object and (c) *samyoga* (contact), the only perceptual functional relation (*sannikarsa*)
- (ii) In the similar manner when we have the perception of

the colour etc of a 'blue jar', the factors involved are (a) the 'eye' i.e. the instrument, (b) the colour etc ('blue' in present case) i.e. the object and (c) samyukta samavāya (inherence in what is connected) i.e. the only functional relation and that gives rise to the 'simple perception of the color, blue in present case, that resides in a substantial element like the jar etc Through this functional relation we can perceive the elements like guna, jāti and kṛiyā or karma famous categories in the Nyaya Vaiśeṣika system It may further be noted here that though the sannikarsa (the functional relation) is a complex one, still technically speaking the perceptual event is a simple one

(iii) In the same manner we can see the generic property of a particular color like 'blue ness' in the 'blue color' through the functional relation called 'samyukta-samaveta samavāya' (inherence which is inherent in what is connected)

(iv) The śabda is perceived through the functional relation called 'samavāya' (inherence)

(v) The śabdatva jāti is perceived through the functional relation namely samaveta samavāya (inherence in what is inherent) in Nyāya-Vaiśeṣika system

(vi) The absence (abhāva) of a jar etc is perceived through the functional relation called viśesanatā or samyukta viśeanatā (cognitive qualifier ness in what is connected)

These six cases of perceptual cognitive instances, in my view, are the instances of 'simple perception', because each of these not only requires minimum factors of the cognitive events but also it follows straight SOC mechanism without

inviting other inputs like physiological, psychological and metaphysical etc required for 'full perception' In other words, the single object perception as narrated above yields a 'simple perceptual event' whereas multiplicity of factors those include the five factors stated above and the others namely the psychological, social, sociological, cultural, metaphysical and some time transcendental factors as per the demand of the situation together give rise to a 'complex perception'. It may be noted here that loka vyavahāra is the empirical result of perception and the so called 'simple perception' is hardly useful for loka vyavahāra When I took up the instances of (A) Parvato vahnīmān vs (B) Parvate vahnih for examining the perceptual cognitive mechanism and cognitive structures, the question came up for defining the mode of representation of the perceptual functional relation (sannikarsa) for grasping / seeing ādheyatā or adhikaranatā In fact what was in my mind was to address the 'complex perceptual instances', which I did not spell out openly The tradition is almost mum on this issue Multiple examples can be cited on the complex perceptual events and the questions will be only on the mode of representation of the cognitive functional relations, nothing else What I mean is it not necessarily on grasping the entities concerned for perception, because, the tradition is very clear on that aspect The problem arises not only on the mode of the representation of the 'cognitive functional relations' but also making the 'entities' and the 'relations' associated into a single integrated whole The satisfactory way out will be available if and only if we take the modern

scientific theory of 'reconstruction' into account. Now the problem in the traditions will be - can we count for the justifiability of such perceptual events being well within in the framework of the tradition? To me, the reply is 'Yes', only if we take / understand / interpret the tradition in a broad prospective. I, therefore, had suggested to count for 'jñānalaksanā-pratyasatti' as the perceptual functional relation for seeing 'ādheyatā / adhikaranatā' for the 'complex perceptual situation' like (B). Well it is left for scholars to accept it or not, or try to suggest other mode of representation. Well someone may suggest a seventh sannikarsa if he or she accepts 'ādheyatā' or 'adhikaranatā' as an independent padārtha over and above the famous seven padārthas accepted in Nyāya Vaiśeṣika system. The question will remain on 'how to integrate' the entities and the relations in a sequence to make an 'integrated whole' of the perceptual cognitive instance? And here I feel we need to go for the 'reconstruction theory'.

Now let us think on the 'reconstruction theory' of perception and its justifiability in the traditional framework. Reconstruction of perception would mean 'SOC + recollection of past experience'. Recollection of past experience certainly means input from mental repository, which is linguistic as well as conceptual and judgmental. If this is accepted then the reconstruction theory of perception is nothing but another name for 'savikalpaka pratyakṣa', that is acceptable to most of the traditional schools of Indian epistemology. The main problem in Indian tradition is what to be counted for the

'real perception'? Whether it is the nirvikalpaka pratyaksa or the savikalpaka-pratyaksa. We have already pointed out that there will be only three possibilities and whole the tradition is entangled with the problems rising within those only. To my mind, it all started probably with the Nyāya sūtra of Gotama when he defines pratyaksa as "indriyārtha sannikarso-tpannam jñānam avyapadeśyam avybhicāri vyavasāyātmakam pratyaksam" (NS 1 1 4). Though there are a lot of controversies found in interpreting this sūtra, scholars are of the opinion that this sūtra defines both, nirvikalpaka as well as savikalpaka perception. The sūtra ending in avyapadeśyam defines the nirvikalpaka whereas along with the rest of the words in the sūtra defines the savikalpaka. If the sūtra is taken to be framed only with the terms as indriyārtha sannikarsotpannam jñānam avyapadeśyam, it would mean 'the cognitive instance which is non-linguistic and which is caused by SOC is called perception, and it will be 'real perception' or 'pure perception'. The 'reality' or 'purity' of perception was more emphasized in the Buddhist tradition taking only SOC into account.³ For instance Dinnāga defines pratyaksa in terms of "sva samviti nirvikalpaka pratyaksam suddha vastujam"⁴. Even in Mīmāṃsā tradition, the purity of perception is emphasized. Kumārila Bhatta says

"astu hy ālocanājñānam prathamam nirvikalpakaṃ /
Bālamūkādi vijñāna sadṛśam suddha vastujam //" (Kā 1 12)

It may be noted here that Kumārila and Dinnāga are using the same term 'suddha vastujam' for defining pratyaksam

(perceptual cognition), and does it not say in volume on the perceptual cognitive instance and its mechanism? What is 'suddha vastujam'? Many in the tradition define the perception in the same tone. Without going into multiplying the citations, it will be just enough to say that the 'purity' (suddhata) of perception was emphasized on account of its 'true nature' i.e. SOC, that would distinguish it from other cognitive instances like inference, or analogous, or verbal testimony etc. So far so good, however, the question arises that does it make any sense apart from upholding a technical point? Is it not the case that a cognitive instance has its culmination in loka vyavahāra and thereby its validity is established? Well, without going into the validity aspect at this stage let us concentrate only on the 'purity' (suddhatā) of perception. It seems that throughout the tradition starting from Sutrakāra Gotama to the trend of Navya-Nyāya almost everyone is struggling to uphold its so called 'purity' and distinct identity. If we take the purity of perception is established only on SOC (indriyārthasannikarsotpannam jñānam) then essentially it will be an instance of 'indeterminate perceptual cognition' (nirvikalpakam jñānam) and it will be non conceptual and non linguistic. As and when the object of the indeterminate perceptual cognitive instance (i.e. the nirvikalpakam jñānam) is added with 'a name' and its 'generic property' then only it becomes the determinate perceptual cognitive instance (i.e. the savikalpakam jñānam), which becomes vyavahārāṅga. Up to this point everyone seems to be agreeing within the tradition. However, the Buddhists, who accept the indeterminate

perceptual cognition (i.e. the nirvikalpakam pratyaksa) alone as the 'real perception', emphatically say that 'the name' (nāma) and 'the generic property' (jāti) etc do not come under the purview of SOC alone, and the cognitive mechanism is extended beyond that. To them whatsoever falls beyond the purview of SOC, that is called kalpanā, essentially referring to the mental input, that cannot be 'pure perception' since it is not 'śuddha vastujam'. The Buddhists therefore, define the 'śuddha vastu' (pure entity) in terms of 'svalaksana' and they are indeed exclusive purist as far as the perception is concerned. The Naiyāyikas, on the other hand, accept jāti / sāmānya (the generic property) as part and parcel of the vyakti (individual entity). However, for them, jāti or sāmānya (the generic property) is a separate category of entity (padārtha) and it either can be perceived through the samyukta samavāya (inherence in what is connected) sannikarsa or it can be seen by sāmānya laksanā pratyāsatti⁵ i.e. the cognition of general pattern acting as the cognitive functional relation. Then the question comes now how an entity / element / individual (vyakti), for instance ghata vyakti (a jar) is seen? To decide the perceptual procedure we need to know 'what is a jar'? (A) Is it just a shape ākṛti (made up of some matter, say earth, gold, silver, so on and so forth)? (B) Is it a shape along with its generic property 'jar ness' (ghatatva)? (C) Does it come along with the relation (sambandha) as well? In Nyāya system there is no uniformity in defining 'a jar'. Some think it is only (a) the 'shape', the individual, some think it is (b) the individual along with

its generic property (ghatatva viśiṣṭa ghatah), some even go to the extent of associating (c) the 'relation' along with the individual as well as its generic property. Depending upon the nature of the entity the perception would generally differ. However, if someone thinks of examining the Nyāya Vaiśeṣika texts to find out what is the 'object' of nirvikalpaka pratyakṣa, one would expect that he / she will find only '(a)' as an instance of it, but when '(b)' & '(c)' are also found as the 'objects' of nirvikalpaka pratyakṣa, then certainly one will feel surprised. The question will haunt him / her that what is the difference between the nirvikalpaka and savikalpaka perception? The only difference, it seems in the tradition, between nirvikalpaka and savikalpaka lies on the integrity (sambaddhata) or disintegrity (visakalatā) of the entities namely vyakti, jati and sambandha through their appropriate relations⁶. We will come to this point latter on. But one should ponder on why this has happened in the system? It is clear that this has been started during the period of Navya Nyāya. Our reverent teacher Pt. T. S. Shrinivas Shastri gal says that this has been started during the time of Saśadhara⁷, the real father of Navya Nyaya. The issue and the logic behind all that in the tradition is very vast and everything cannot be accommodated here. However, it can be said here that, even if all that is taken for granted, it will certainly be a wonderful instance of inclusivism and even though we tolerate it the question will be what will happen to the purity (suddhata) of perception? If someone argues that since a dravya (an entity) for instance ghatah (a jar) in the case

of perceptual cognitive instance, means the integrated whole of 'ghatatva-samavāya ghata' and all these together is a single entity (vastu), and therefore, the 'purity' is maintained as far as the śuddha vastujatvam of SOC is concerned. In that case the problem will be what is the cognitive functional relation (sannikarsa) to the integrated whole of 'ghatatva samavāya ghata'? Is it a single one or multiple one? Can it be samyoga alone or samyukta samavāya alone or samyukta viśesanatā alone? Else can we think of still having yet another complex functional relation taking all these three together? Or is there a different way out? OK, now for the sake of clarity, let us examine whether 'ghatatva' the jāti and samavāya, the sabandha can be incorporated into nirvikalpaka pratyaksa or not. What is a jāti or sāmānya. The Nyāyakosah gives a simple definition of sāmānya as anugato dharmah i.e. the property, which is found in continuity in a series of entities. How to understand anugatatva 'being in continuous'? It is good that the Naryāyikas leave nothing undefined. Here, Gaṅgeśa, the founding father of Navya Nyāya, himself comes in our help, who defines anugatatva as "pūrva vyakti vṛttive sati etad vyakti vṛttivam anugatatvam iti tatra pūrvānubhūta vyakter viśsesanatvena tatra jñānasya anugatatva pratyakṣe kāranatvāt". It simply means that the continuity in knowledge comes in a sequential form first to second, only if the first forms the part of past experience. Now the question is how sāmānya (ghatatva in present case) in that sense will become an object of 'instant perception', I mean nirvikarlapa pratyaksa? Because, jāti which is a 'property

in continuity' comes along with the past experience and that cannot be counted for 'instant perception' which is non-relational and non conceptual. In similar manner, if we closely examine the sambandha for clear understanding, I doubt if that can be considered to be part of 'instant perception', for sambandha (relation) itself is a relative term and no one can conceive a 'relation' without imagining the correspondent 'relatives' (sambandhins)⁹. In that sense, it means without relating to the 'relatives' no relation can be conceived. And thus, how the 'relation' can appear in the nirvikalpaka-pratyaksa? Therefore, it is simply inconceivable to include the sāmānya and samavāya in the frame of 'instant perception' i.e. the nirvikalpaka pratyaksa. Moreover, the greater problem will be of classification of Nyāya-Vaiśeṣika categories. The question will be why to count sāmānya (jāti) and samavāya are separate / independent categories altogether, since they are incorporated into a single entity and are also seen by a single perceptual functional relation? Is it not a very serious challenge for the Nyāya Vaiśeṣika system? It seems to me that they have taken this serious risk just for the sake of the justifiability of savikalpaka pratyaksa, which in turn is caused by nirvikalpaka pratyaksa¹⁰, and that is vyavahārāṅga as well. It must at this stage be born in mind that we have been taking about the nirvikalpaka pratyaksa, the indeterminate perception so far, which is neither valid nor invalid¹¹, and which in our terminology is an instance of 'simple perception'.

The savikalpaka pratyaksa, i.e. the determinate perceptual cognitive instance, therefore, is taken to be valid on account

of its application in practical life. It no doubt is in a complex form. The complexity is caused not only by the integration of the disassociated entities like *vyakti jāti sambandha* seen in *nirvikalpaka pratyakṣa*, but also it gets a name and other mental inputs if the situation demands so. The *savikalpaka pratyakṣa* in other words is an 'integrated whole', it is thus called 'conceptual', 'linguistic' and 'judgmental'. This in our opinion is a 'complex form of perceptual cognitive event' or simply speaking 'complex perception'. The 'complex perception' is known in the tradition as '*viśistajñānam*' (qualified cognitive instance).

The *viśistajñānam* i.e. the qualified cognition arises variously and the tradition discusses them elaborately, which we need not go into the details here. The only point that may be underlined here is that it requires the minimum occurrence of the 'qualifier', the 'qualificand' and the 'relation' in between them. The instances may be taken as stated above in '(A)' and / or '(B)'. We have already discussed in detail on how the perception of (B) *Parvate vahnih* is caused in the main paper, and I need not go elaborate it again here. Without going into more complexities involved in this case, let us think that there are only three 'entities' (a) *parvata*, (b) *vahni* and (x) *adhikaranatā*, where (a) and (b) are qualifier and qualificands respectively, the (x) is a relation. The question is whether we see all these simultaneously or sequentially, in an order? The Nyāya system would prefer the sequential order¹² and the knowledge of qualifier always form the part of 'past experience', or mental input (*smṛti*) by the time

one gains the knowledge of 'complex perception' Then it (the complex perception or the savikalpaka-pratyakṣa) obviously becomes a pratyabhijñā type perceptual cognitive instance, because pratyabhijñā is partly 'direct' and partly 'remembrance'¹³ The pratyabhijñā is a fit case of 'reconstruction theory' of perception. The Naiyāyikas cannot accept perceptual cognition to be 'pratyabhijñā' only at least not by the same name, because that will disturb the whole theoretical and conceptual framework of Nyāya-Vaiśeṣika system. Gaṅgeśa seems to be struggling to settle the problem of pratyabhijñā and somehow incorporating the 'mental input' (smṛti) into the system. At the same time the problem for Gaṅgeśa was to authenticate and re-establish "jñānākaranakam jñānam pratyaksam" as the most suitable definition of perception that he had proposed in his TC¹⁴. At this stage again without going into the details given in the Tattva-Cintāmaṇi of Gaṅgeśa, it will be convenient for me and acceptable to all the shastric scholars to refer to my reverent teacher Prof. Ramanuja Tatacharya, who is one of the tallest Naiyāyikas of our time, to see how he has summarized the issues under the sub title - 'Pratyabhijñā vimarsah' of his work - Pratyakṣa Tattvacintāmaṇi Vimarsah. Introducing the nature of pratyabhijñā, and citing the famous instance of 'surabhi candanam' he says that Gaṅgeśa accepts pratyabhijñā as an instance of qualified perception¹⁵. Prof. Tatacharya, thereafter, cites the views of Vacaspati Miśra and Udayanacharya in support of this view¹⁶. Then Prof. Tatacharya says and I quote "ityam eva smṛti jñānalaksanapratyasattitvena manikṛtā

vyavahriyate' - the smṛti comes into the picture of a 'complex perception' through jñānalaksana-pratyāsatti and he authenticates it to be the final opinion of Gaṅgeśa. Though I did not see this text at the time of writing my mam paper for the seminar, this is what was my contention of introducing jñānalaksana-pratyāsatti and I hope this should convince the scholars

Now the problem comes on justifying the definition of perception i.e. "jñānākaranakam jñānam" that is so dear to Gaṅgeśa. For that also Prof. Tatacharya has given a very logical and convincing interpretation, which indeed was intended by Gaṅgeśa himself. Let us look into that. After emphatically establishing the fact that pratyabhijñā was nothing but an instance of qualified perception¹⁷, he says that the definition should be interpreted as 'jñāna akarana-kam jñānam pratyasam' but not 'jñāna akūranakam jñānam pratyasam'. As far as the smṛti is concerned, it is no doubt is a kāraṇa (causal factor), but it cannot be the kāraṇa (most effective means), because, smṛti cannot have any vyāpara, immediately after which the perceptual cognitive instance would come into being¹⁸. Moreover, if the smṛti is taken to be kāraṇa then, it being referring to the 'past experience' the pratyabhijñā or the 'complex perception' in that matter would be an instance of parokṣa (other than perception) but not pratyakṣa. Therefore, citing the views of Udayana, to which Gangesa fully agrees¹⁹, Prof. Tatacharya says that it is the indriya²⁰, which is the kāraṇa but not the smṛti (memory input) and thus there will be no problem of justifying the definition 'jñāna akarana

kam jñānam pratvaṣam' This clearly means that smṛti is one of the kāraṇa sāmagrī s (causal factors) of 'complex perceptual event' and a close examination of the whole situation would lead us to conclude that it is nothing but a 'reconstruction'. Without the memory input neither the pratyabhijñā nor the complex perceptual cognitive event would arise. As and when the 'memory input' and the 'direct perception' are assembled together, the perceptual cognitive event arises, which is applicable in practical life. The justification of the said definition is just technical one and that does not reject the 'reconstruction theory of perception'. The 'mind brain gap theory' of the modern scientist can be reinterpreted as mind brain incorporation theory as such, and if it is considered in this situation there will be no problem in the shastric tradition at all. The modern science has developed many sophisticated instruments that no doubt help us in understanding the natural phenomena more clearly and distinctly. Taking help from the modern scientific developments, it will be desirable for us to reinvestigate the shastric stands on different theoretical aspects in one hand and to reinterpret the śāstras to see and judge the strength and power of the logic of the ancient Indian intellectuals on the other hand. That will make us feel proud of them and to my mind we will not feel ashamed at any stage if we take the whole of Indian intellectualism as the outcome of a healthy living tradition, that is not meant for making different and independent schools like water tight compartments. Moreover I feel, if one closely looks the theoretical developments those overlaps the whole

tradition breaking the barriers of the so called schools, one will be happy to note that the findings of the ancient Indian intellectuals are very close if not exactly the same to the findings of the modern science. So why not open the doors of our mind?

The discussion on my paper has taken up another issue on śabdāparokṣa vāda. To my mind this is also a serious matter of debate in the śāstras and I wish to write a separate paper on this issue alone. This issue to my mind has the potentiality to change the line of thinking on the whole of Indian epistemology, especially on the causality and the cognitive structure.

Notes and References¹

¹ H S Subrahmanyam, 1986, "Physiology and Psychology of Perception", SENSE PERCEPTION IN SCIENCE AND ŚĀSTRA, Ed By T M Srinivasan and B G Shreealakshmi, Pub Sri Sharada Trust, Sringeri p 70

² cf "samyogena dravya grahaḥ, samyukta samavāyena rūpa ka rmanor grahanam, samyuktasamavetasamavāyena rūpatvādeḥ, samavāyena śabdasya, samavetasamavāyena śabdabhāvasya, indriyasambaddhaviśeṣanatayā samavāya ghattābhāvāder yogyā sannikarsād eva graho na sannikarsamātrai" TC Vol I P 572 576

³ Cf Vasubandhu's definition "tato' rihāt jataṃ vijñānam pratya kṣam" (Pramāṇasammuccaya 15) Dinnaga also defines

pratyaksa in terms of "pratyaksam kalpanāpodham nāmajātya-
dy asamyutam" (PS 3) Dharmakīrti also speaks in the same
tone 'kalpanāpodham abhrāntam pratyaksam" (Nyāya-Bindu
1 4)

⁴Pramanasammuccaya 3

⁵"sāmānya laksanam ity atra laksana-śabdasya viśayo 'rtha tena
sāmānyaviśayakam jñānam pratyāsattir ity arthao labhyate"
NSM on Kā 64, p 277)

⁶Prof Ramanuja Tatacharya concluding the discussion on
nirvikalpaka vāda says "atredam tattvam viśesana-jñānatvena
sidhyad api nirvikalpakam na viśesanabhūta ghatatvādi mātram
api tu viśesyam ghatādikam (viśesanam ghatatvādikam)
samavaya rupam sambandham ca viśayīkaroti tathā ca
nirvikalpake ghatah ghatatvam samavāyaś ceti tritayam viśayah
tatsv api indriya sannikarsasya sadbhāvena ghatatvamātram
viśaya ity atra niyāmakabhāvāt param tu tritayam api
viśakalitayatā bhāṣate atas tatra prakāra viśesya bhāvo nāsti
ata eva prakāratā śūnyatvam viśesyatā śūnyatvam samsargatā śū-
nyatvam ca brūvate navīnatamā nanyāyika"
Pratyaksa Tattvacintamani Vimarśah, by Ramanuja Tatacharya,
Rastriya Sanskrit Vidyapeetha, Tirupati, 1992, p 330

⁷See his paper on "Savikaipaka Nirvikalpaka-vicārah", Pub In
Unmīlan, (Vo 14 pt 1) ed By Yashdev Shalya and Mukund
Lath, Darshan Pratisthan, Jaipur, Jan 2000 p 64

⁸TC Vol I P 569

⁹Cf (a) sambandhubhinnatve satī sambandhyāśritah, (b) svabhi-
nna sambandhyāśritah, svabhinna pratiyogika padārthah, (c)
sambandhatvam ca yatkuñcit padārthānuyogikatva viśesah

Nyāyakosa, p 920

¹⁰ Cf "kiñca nirvikalpakābhāve savikalpakam jñānam eva node tum arhati" ibid p 60

¹¹ Cf "nirvikalpakam na pramānam nāpy apramānam "

¹² Because, the mind in Nyāya system has been taken to be 'atomic' in size It can be connected to one indriya at a time One should see the discussion the details in 'Mano'nutvavādah' in TC

¹³ "Indriyasahakṛta samskārajanya-jñānatvam pratyabhijñā" cf Nyāyakosa, p 543

¹⁴ "jñānākaranakam jñānam itī tu vāyam" TC Vol I p 552

¹⁵ Cf "tathā ca tattā'mśe alaukika idamtā'mśe laukikam ca ekam viśiṣṭa pratyakṣam pratyabhijñā itī manikārā nirūpayanti" Pratyakṣa Tattvacintāmaṇi Vimarśah, (PTV) by Ramanuja Tatacharya, Rastriya Sanskrit Vidyapeetha, Tirupati, 1992, p 341

¹⁶ "Tātparyatīkāyām Parisuddhau ca pratyabhijñā pratyakṣam ity eva nirūpitam" ibid p 341

¹⁷ "sarvathā manikārāh pratyabhijñāyāh pratyakṣatvam eva āti sthante" ibid p 343

¹⁸ Cf "yad vyāpārad anantaram phalotpattis tat karanam" "vyāpāravād asādhāranam kāranam kāranam"

¹⁹ "āyam ca viśayo yathā manau vartate tatha tātparyatīkāpariśu ddhāvapi vartate" PTV p 344

cf "viśiṣṭa pratyakṣe ca viśeṣana jñānam na karanam vyāpāra bhāvāt viśiṣṭa vaiśiṣṭya pratyakṣe ca viśeṣanajñānam hetur na tu viśeṣana viśeṣana dhīr api, viśeṣana dhī dvārā karanam

mānābhāvāt pratyabhijñāyām tu tattā smṛtikāranam na(?) tu
 samskāradvārā anubhavaḥ kāranam, tasyāḥ samskārajanyatve
 smṛtivāpatteḥ smṛtve lāghavena samskāra-janyatvasya tantra
 tvāt taddhetutvenaiṣa tatsiddheś ca" TC Vol I p 552 - 555

²⁰ Here Prof. Tatacharya cites a statement from Nyāya-Kusuma
 ṅjālī of Udayana "kāraṇ'ntara nirapeksena samskāradhika-sa-
 nnikarsavatā indriyena janitatvāt" Ibid p 344



प्रत्यक्षप्रमाणविषये विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तः

प्रस्थानरत्नाकरसरणिः च

डॉ. के. ई. देवनाथन्

विशिष्टाद्वैतिन प्रत्यक्षमनुमानमागम इति प्रमाणत्रयं स्वीकुर्वन्ति. तत्र प्रत्यक्षं प्रमाणं किरूपम्? तस्य कार्यभूता प्रत्यक्षप्रमा किरूपा? इत्यादिकं सामान्यतो निरूप्य प्रस्थानरत्नाकरस्य विशिष्टाद्वैतिनां च सादृश्यं वैसादृश्यं च यथामति निरूपयितुं प्रयते.

प्रत्यक्षलक्षणम् :

ज्ञातकारणजज्ञानस्मृतित्वरहिता मति ।

अपरोक्षेति निष्कर्षे नाव्याप्त्यादिप्रसज्जनम् ॥

(न्यायपरिशुद्धौ का. ६९) इति.

वेदान्तदेशिका प्रत्यक्षप्रमां लक्षयामासुः. तेषाम् अयम् आशयः : साक्षा-
त्कारित्वं जाति. तद् यदि उपाधिरूप स्वीक्रियते तदा “ज्ञायमानत्वावच्छिन्नकर-
णतानिरूपकत्वशून्यत्वे सति स्मृतित्वशून्यत्वे सति ज्ञानत्वं” प्रत्यक्षप्रमायाः
लक्षणम्. स्मृतेः वारणाय “स्मृतित्वशून्यत्वे सति” इति. अनुमितिशाब्दबोधयो
वारणाय “ज्ञायमानत्वावच्छिन्न...” इत्यादि दलम्. इन्द्रियस्यापि ज्ञायमानत्वं
कदाचित् सम्भवतीति प्रत्यक्षे अव्याप्ति स्यात्. अतो ‘ज्ञायमानत्वावच्छिन्न’
करणतायां विशेषणम्.

“इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यज्ञानत्वं” लक्षणम् इति उक्तौ ईश्वरप्रत्यक्षे
अव्याप्ति, “वैशद्यापरपर्याय-लौकिक-विषयता-निरूपक-ज्ञानत्वस्य” लक्ष-
णत्वे च “वृक्षे-वृक्षे च पश्यामि” इत्याद्युक्तस्मृतिविशेषे अतिव्याप्ति.
एवञ्च उपर्युक्तं लक्षणं निर्दुष्टमेव.

प्रत्यक्षप्रभेदाः :

इदं प्रत्यक्षं नित्यम् अनित्यं च इति द्विविधम्. परमेश्वर-नित्यसूरि-प्रत्यक्षं नित्यम्. अस्मदादीनां प्रत्यक्षम् अनित्यम्. तच्च द्विविधं : योगिप्रत्यक्षम् अयोगिप्रत्यक्षं च. योगिप्रत्यक्षं प्रकृष्टादृष्टविशेषजन्यम्. सञ्जयार्जुनप्रभृतीनां मुक्तानां च प्रत्यक्षं योगिप्रत्यक्षमेव.

विषयेन्द्रियसम्बन्धो - द्रव्येषु संयोग इन्द्रियाणां सम्बन्धः. द्रव्याश्रितरूपा-
दिषु संयुक्ताश्रयणं सम्बन्धः. आश्रयणं च अपृथक्स्थितिरेव. नतु समवायः,
तस्य अङ्गीकारात्. उक्तं च तत्त्वरत्नाकरे

अत्र वृद्धा विदामासु संयोगं सन्निकर्षणम्।
संयुक्ताश्रयणं चेति यथासम्भवम् ऊह्यताम्॥ इति.

सिद्धान्ते मानसप्रत्यक्षं न स्वीक्रियते. आत्मनः तद्धर्माणां ज्ञानसुखादीनां
ग्रहणार्थं हि नैयायिकादिभिः तत्स्वीकारः. आत्मनः स्वप्रकाशत्वात्, ज्ञानस्य
तद्धर्मस्यापि स्वप्रकाशत्वात् सुखादीनां च अवस्थाविशेषविशिष्टज्ञानात्मक-
त्वाच्च. एवञ्च प्राथमिकं प्रत्यक्षं “अहं घटं जानामि” इत्याकारकमेव
भवति इति सम्प्रदायः.

प्रत्यक्षं निर्विकल्पकं, सविकल्पकं चेति द्विविधम्. सस्कारसहकृतेन्द्रियजन्यं
ज्ञानं सविकल्पकम्. यथा गोत्वादौ अनुवृत्तत्वावगाहि “अयमपि गौः”
इत्यादिज्ञानम्. संस्कारनिरपेक्षेन्द्रियजन्यज्ञानं निर्विकल्पकम्. “अयं गौः” इति
ज्ञानं निर्विकल्पकमेव. नहि सर्वथा निष्प्रकारकं ज्ञानं सिद्धान्ते स्वीक्रियते.
निर्विकल्पकं नाम केनचित् धर्मविशेषेण वियुक्तस्य ग्रहणम् इति भाष्यम्.
अल्पधने पुरुषे धनशून्यत्वपर-‘दरिद्र’शब्दप्रयोगाद् अनुवृत्तत्वानवगाहिनि प्रत्यक्षे
निर्विकल्पकव्यवहारः.

ज्ञानस्वप्रकाशत्ववादे “इमां गां जानामि” इति निर्विकल्पकाभिलापः.

“इमामपि गां जानामि” इति सविकल्पकाभिलापः इति मन्तव्यम्.

सर्वं ज्ञानं विशिष्टविषयकमेव इति सिद्धान्तः :

ननु “घटोऽस्ति” इति ज्ञाने सद्रूपं घटादिरूपभेदं च प्रतीयते. कथं घटादेः भेदरूपत्वम्? इति न शङ्क्यं, व्यतिरेकित्वात् सर्वेषां व्यतिरेकिधर्माणां स्वभाववद्भेदरूपत्वस्य सर्वसम्प्रतिपन्नत्वात्. सद्रूप-भेदयोः न ऐक्यं सम्भवति, प्रतियोगिनिरपेक्षत्वं-तत्सापेक्षत्वरूपविरुद्धधर्माध्यासेन भेदावश्यंभावात्. एवञ्च इदं प्रत्यक्षज्ञानम् उभयग्राहि वा अन्यतग्राहि वा? उभयग्राहित्वपक्षे किं क्रमेण उभयग्राहि वा उत युगपत् तथा इति विकल्पः? क्रमेण उभयग्राहित्वं प्रत्यक्षज्ञानस्य न भवति, तथात्वे क्षणिकस्य प्रत्यक्षस्य विराम्यव्यापारस्वीकारप्रसंगः. भेदस्य सतश्च युगपदग्राह्यता न सम्भवति. भेदग्रहणात् पूर्वं प्रतियोग्याश्रयज्ञानयोः अपेक्षितत्वात्, सद्ग्रहणस्य च तदनपेक्षत्वात्. प्रत्यक्षम् अन्यतग्राहि इति पक्षेऽपि निराश्रयभेदग्रहणासम्भवात् सन्मात्रविषयकत्वमेव तस्य परिशेषसिद्धम् इति प्रत्यक्षं निर्विशेषविषयकमेव इति चेत्, न, एतादृशविकल्पस्य भ्रान्तिरूपे भेदविकल्पेऽपि समत्वात्. नच भ्रान्तेः उभयग्राहित्वाभावेऽपि क्षतिविरहः, प्रत्यक्षेणैव स्वरूपस्य ग्रहणात् भ्रान्तेः भेदमात्रग्रहणेऽपि उपपत्तेः इति वाच्यम्. भ्रान्तिविकल्पस्य भेदमात्रविषयकत्वे प्रत्यक्षस्य स्वरूपमात्रविषयकतया स्वरूपभेदयोः वैशिष्ट्यग्रहणाभावेन उक्तविशिष्टव्यवहारानुपपत्तेः युगपद्विशिष्टग्रहणमेव स्वीकर्तव्यम्. एवञ्च धर्मवद् योग्यत्वात् जात्यादिरूपभेदोऽपि प्रत्यक्षे युगपद् गृह्यतएव अभेदो यथा स्वरूपतो ग्रहणे प्रतियोगिसाक्षांशो न भवति, तथा भेदोऽपि स्वग्रहणे प्रतियोगिनिरपेक्षएव. भेदव्यवहारस्तु प्रतियोगिज्ञानसापेक्षः इति स्थितिः.

भेदप्रत्यक्षे अन्योन्याश्रयशंकापरिहारी :

ननु जात्यादिरेव भेदः इति पक्षे तद्ग्रहणे अन्योन्याश्रयदोषः प्रसजति. तथाहि —

१. धर्मधर्मिणोः अभेदग्रहदशायां धर्मधर्मिभावग्रहासम्भवात् धर्मधर्मिभावग्रहं प्रति भेदज्ञानम् अपेक्षितम्. नहि भेदरूपस्य धर्मस्य घटरूपस्य च

धर्मिण अभेदग्रहे तयोः धर्मधर्मभावो गृह्येत. धर्मधर्मिणोः भेदग्रहश्च धर्मधर्मिभावग्रहाधीनः इति अन्योन्याश्रयः.

२. एवं धर्मिप्रतियोगिनोः अभेदग्रहदशायां एकस्य भेदधर्मितया अपरस्य तत्प्रतियोगितया ज्ञानासम्भवात् तादृशज्ञाने भेदज्ञानम् अपेक्षितम्. भेदज्ञाने च धर्मिप्रतियोगिनो धर्मित्वेन प्रतियोगित्वेन च ज्ञानम् अपेक्षितम् इति अन्योन्याश्रयः.

३. एवं घटादे पटाद्यविलक्षणत्वज्ञाने सति घटादौ पटादिभेदधीः न जायतइति भेदज्ञानं प्रति वैलक्षण्यज्ञानम् अपेक्षितम्, तद्वैलक्षण्यं च तदवृत्तिधर्मवत्वम्, एतादृशवैलक्षण्यज्ञानार्थं भेदज्ञानम् अपेक्षितम् इति अन्योन्याश्रयइति भेदस्य जात्यादिरूपत्वं, प्रत्यक्षस्य तद्विषयकत्वं च न युक्तम् इति चेत्, न, प्रथममेव भेदविशिष्टवस्तुनो ग्रहणाद् एतादृशहेतुहेतुमद्भावस्य अस्वीकारात्. तथाहि — धर्मधर्मिणोः अभेदग्रहदशाया यद्यपि धर्मधर्मिभावेन प्रतीतिः न भवति, तथापि तत्पूर्वं न तयोः भेदज्ञानम् अपेक्षितम् किन्तु अभेदाग्रहएव. धर्मधर्मिभावेन प्रतीतिरेव हि भेदग्रहरूपेति तयो कार्यकारणभावएव नास्ति. अतो न प्राथमिको अन्योन्याश्रयः. एवं धर्मिप्रतियोगिनोरपि तथात्वेन ज्ञानं प्रति न भेदज्ञानम् अपेक्षितम्, तथात्वेन ज्ञानस्यैव भेदधीत्वात्. तस्याच पूर्वोक्तरीत्या अभेदाग्रहमात्रसापेक्षत्वात्. तथाच न द्वितीयो अन्योन्याश्रयोऽपि स्वरूपतो घटत्वादिरूपभेदग्रहणे पटादिविलक्षणत्वज्ञानापेक्षणात् पटाद्यविलक्षणत्वज्ञानाभावे सति स्वसामग्रीवशेन पटत्वादिरूपस्य पटादिभेदस्य ज्ञानसम्भवात् एवञ्च प्रत्यक्षं सर्वमपि भेदविषयकम् इति स्वीकारे न कापि अनुपपत्तिः इति.

शाब्दापरोक्षास्वीकारः :

शब्दजन्यप्रत्यक्ष “तत्त्वमस्या”दिवाक्यस्थले अद्वैतिभि स्वीक्रियते. विशिष्टाद्वैतिनां सिद्धान्ते परोक्षज्ञानजननस्वभावतया सिद्धाया शब्दघटितसामग्र्या वाक्यार्थविषयकप्रत्यक्षहेतुत्वं नास्ति. “दशमः त्वम् असि” इति दृष्टान्ते त्वमर्थमात्रं प्रत्यक्षम् “दशमो अहम्” इति ज्ञानं न केवलेन्द्रियेण जायते

किन्तु पुरुषवचनानुसंधेन. अस्मिन् विषये विशेषरूपेण विचारः शतदूषण्यादो
आचार्ये कृतोऽस्ति. अत्र नातीव आवश्यकः स विचारः इति न लिख्यते.

प्रस्थानरत्नाकरपक्षो विमर्शः च :

प्रस्थानरत्नाकरे “‘काम संकल्प’ इति श्रुत्या सुखादयः करणसमवेता
घ्राणादीन्द्रियाग्राह्यगुणत्वात् स्पर्शशून्येन्द्रियग्राह्यगुणत्वाद् वा शब्दवद्” इति
अनुमानेन च कार्यरूपस्य ज्ञानस्य अन्तःकरणधर्मत्वमेव स्वीकृतम्

विशिष्टाद्वैतिनस्तु “जानात्वेव अयं पुरुषः” “नहि विज्ञातुं विज्ञाते
विपरिलोपो विद्यते” इत्यादिश्रुत्या ज्ञानादीनां आत्मधर्मत्वमेव समाश्रयन्ति.
अनुमानञ्च उक्तम् अप्रयोजकं, श्रोत्रस्य आहंकारिकस्य आकाशरूपत्वस्य
अवैदिकत्वात्. दृष्टान्तोऽपि न युक्तः. ज्ञानस्य आत्मनिष्ठत्वाभावे
चेतनत्वव्यवहारोऽपि ततो न घटेत्.

मनसः इन्द्रियत्वम् अनिन्द्रियत्वं च इति उभयं यमे देवत्व-पितृत्वयोरिव
संगतम् इत्यपि चिन्तनीयम्. देवत्वपितृत्वयोः स्वरूपतो लक्षणतश्च
भावाभावयोरिव वितोषाभावात्

घ्राणरसनश्रवणादीनां द्रव्याग्राहकत्वं यत् निषिद्धं तदपि चिन्तनीयमेव,
व्याप्तिज्ञानविधुराणामपि तमसि दुग्धादेरपि रसनया ग्रहणं तस्या द्रव्यग्राहकत्वम्
अन्तरा न सम्भवति इति कथनं न सम्भवति, तथात्वे पूर्वाननुभूतदुग्धानामपि
रसनया दुग्धरसास्वादे तमसि दुग्धानुभवापत्तेः. अतः तेषां दुग्धज्ञानम् अनुमतिरेव.

अभावस्य अनुपलब्धिवेद्यत्वाभावसाधनन्तु विशिष्टाद्वैतिनामपि अभिमत-
मेव. “चक्षुषा अवागतः” इतिवत् “अनुपलब्ध्या अवगतः” इति प्रत्ययाभावात्
इत्यादिप्रस्थानरत्नाकरग्रन्थो बहुयुक्तिगर्भितः विशिष्टाद्वैतिनाम् उपादेयः एव.

विशिष्टाद्वैतिनो ज्ञानस्य द्रव्यस्य नेत्रादिद्वारा निर्गतस्य घटादिविषयसम्ब-

न्यात् संयोगात्मकात् तदाकारकतासम्पत्तिः इति आहुः. प्रस्थानरत्नाकरेण
बुद्धितत्त्वस्य अवस्थाविशेषो वृत्तिः, तस्या बहिर्निर्गमाभावेऽपि मायागुणस्य
रजस चञ्चलत्वेन विक्षेपकत्वेन च, दर्पणे मुखस्येव, नेत्रगोलकेऽपि
बाह्यविषयाकारसमर्पणे तदाकारत्वं सुघटम् इति उक्तम्. तत्तत्सिद्धान्ताभिमतप्र-
क्रियाभेदेन उभयमपि युज्यतएव इति प्रतीमः.

बुद्धेः अवस्थाविशेषएव वृत्तिः इतिपक्षे श्रीपुरुषोत्तमचरणैः शुक्त्यादौ
तद्विरुद्धस्य रजताकारस्य अभावेन बुद्धौ मायया रजताकारस्य समर्पणासम्भवेन
अन्यथाख्यातिपक्षस्य अनङ्गीकारात् च कथं भ्रमस्य उपपत्तिः इति पूर्वपक्षं
विधाय सम्यक् स्वपक्षं समर्थितः. तथाहि : रजताद्याकारसंस्कारः पूर्वम्
उत्पन्नः स्वराजसा बहिर्क्षिप्यते. इन्द्रियसन्निकृष्टः शुक्त्याकारः तमसा आवृतो
भवति चेद्, भ्रमस्य उपपत्तिः इति.

सर्वज्ञानम् अन्तःकरणधर्म इति प्रस्थानरत्नाकरपक्षः. तर्हि कथं तस्य
आत्मधर्मत्वप्रवादः इति पूर्वपक्षं कृत्वा एवं निरूपितं : जीवात्मनि
अन्तःकरणाध्यासात् आत्मधर्मत्वप्रवादः इति एतादृशविषयेषु न अतीव
विवादो युज्यते, तत्तत्सिद्धान्तानुसारिप्रक्रियाभेदस्य अदृष्यत्वाद् इति शम्.

.....+

चर्चा

प्रत्यक्षप्रमाणविषये विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तः
प्रस्थानरत्नाकरसरणि च

डॉ. के. ई. देवनाथन्

यज्ञेश्वर शास्त्री : भवद्भिः लिखितं "संस्कारसहकृतेन्द्रियजन्यं ज्ञानं

सविकल्पकम्” इति सस्कारान्तु सकलमपि सविकल्पक
प्रत्यक्ष स्मृति-सस्कारसहित

के ई देवनाथन् : प्रत्यभिज्ञाया सस्कारमात्रजन्य
यज्ञेश्वर शास्त्री : सकलमपि सविकल्पक प्रत्यक्ष सस्कारसहकृतमेव

के ई देवनाथन् : स्मृति तावत् सा सस्कारमात्रजन्या धी
यज्ञेश्वर शास्त्री : प्रथमवार प्रत्यक्ष कृत तद् सस्कारसहकृतम् इति कथ
वक्तु शक्यते ?

के ई देवनाथन् : तर्हि सविकल्पकमेव नास्ति कित तदु निर्विकल्पकमिति
वदाम
यज्ञेश्वर शास्त्री : प्रत्यक्षम् अनधिगतम् अबाधितमपि भवेत्
के ई देवनाथन् . भवता प्रश्नो अवगत परन्तु निर्विकल्पक यद् भवति,
केनापि न उल्लिख्यते अतएव ‘निर्विकल्पकम्’ इति नाम
“मम निर्विकल्पक ज्ञान जातम्” इति केनापि न उच्यते

यज्ञेश्वर शास्त्री . मम अय प्रश्न सकलमपि प्रत्यक्ष सस्कारसहकृतमेव
भवति

के ई देवनाथन् . एवम् अस्माभि न उच्यते प्राथमिक यद् ज्ञान तद्
घटत्वविशिष्ट घटविषयक भवति तस्य ‘निर्विकल्पकम्’ इति
नाम तस्मिन् घटत्वे अनुवृत्तत्वाशो न अवगतइति कृत्वा
द्वितीयज्ञानस्य ‘सविकल्पकम्’ इति नाम तावदेव
मया उक्तम् सर्व ज्ञान सस्कारसहकृतेन्द्रियप्रभवम् इति

यज्ञेश्वर शास्त्री तत्र ‘सस्कारसहकृत’ इति भवद्भि न उक्तम्
प्रथमम् निर्विकल्पक भवति अनन्तर तद् सस्कारसहकृत चेत्
तत्र

के ई देवनाथन् आचार्या ! पश्यन्तु सस्कारनिरपेक्षेन्द्रियजन्यज्ञान निर्विक-
ल्पकम् “अय गौ” इति ज्ञान निर्विकल्पकम् इति उत्तरत्र

मथा लिखितमेव वर्तते

सिद्धेश्वर भट्ट : प्रथम पिण्डके ज्ञानमे सस्कार नहीं होगा द्वितीय पिण्डके ग्रहणमे सस्कारका समावेश होता है

के ई देवनाथन् : सस्कारका कारणत्व है सस्कारका समावेश विषयरूपेण नहीं है, कारणत्व है

सिद्धेश्वर भट्ट : प्रथम पिण्डके ग्रहणमे कारक तत्त्व क्या है और द्वितीय पिण्डके ग्रहणमे कारक तत्त्व क्या है? क्या भेद है?

के ई देवनाथन् : प्रथम इन्द्रिय सन्निकर्षसे ज्ञान उत्पन्न होता है वह तो “अय गौ ” इत्याकारक है ८

सिद्धेश्वर भट्ट : “अय गौ ” इसमे सस्कार तो आ गया

के ई देवनाथन् : सस्कार नहीं आता है अय पुरोवर्तिपदार्थमे गोत्वका ग्रहण इसका विवरण करता हू आप ऐसा मान सकते है कि The first indeterminate knowledge emerges there individual along with the quality is comprised So there the Samskara has no role to play There was no Samskara at all One more thing also Bhasyakara has said “एकजातीयपिण्डेषु प्रथमपिण्डग्रहण निर्विकल्पकम्” But afterwards Vedanta desika adds that it is Upalaksha Because, person who does not carry the Samsakara even after perceiving cow At the first instance he has seen one cow If Samskara is not there or active then the second perception of the same object or the Sajatiya object is also considered as Nirvikalpaka

यज्ञेश्वर शास्त्री . आपने प्रत्यक्षका जो लक्षण दिया वह केवल निर्विकल्पकको ही एलिकेवल होता है? क्योंकि उसमे स्मृति

के ई देवनाथन् : उसमें स्मृतित्व नहीं है हम ऐसा कहते है कि

“सस्कारनिरपेक्षेन्द्रियजन्य ज्ञान निर्विकल्पकम्” ओर “सस्कारसा-
पेक्षेन्द्रियजन्य ज्ञान ”

डी प्रह्लादाचार्य : देवनाथाचार्य ! स्मरणस्य लक्षण किम् ? प्रत्यक्षस्य
लक्षण किम् ?

के ई देवनाथन् : “सस्कारमात्रजन्य ज्ञान स्मरणम्” जहा इन्द्रियोका भी
काम है उसको स्मरण कैसे कहेंगे ?

अच्युतानन्द दास : अत्र पृच्छामि यथा भवद्भि उच्यते तत्र निर्विकल्पक
ज्ञान नैकविध भवितुम् अर्हति चिन्त्यताम् तत्र “अय गौ ”
इति एक ज्ञान वर्तते निर्विकल्पकम् “अय वशिष्ठस्य गौ ”
इति अन्यदपि निर्विकल्पक ज्ञान भवितुम् अर्हति “अय
वशिष्ठस्य कामप्रसु गौ ” इत्यपि निर्विकल्पक ज्ञान भवितुम्
अर्हति वा “अय वशिष्ठस्य कामप्रसु सुरभि गौ ” इत्यपि
निर्विकल्पक ज्ञान भवितुम् अर्हति वा ? तर्हि सविकल्पक
कुत्र स्थास्यति ?

के ई देवनाथन् : समीचीनम् “अयमपि गौ ” अत्र ‘अपि’ शब्द

अच्युतानन्द दास : ‘अपि’ नास्ति अन्यस्य अन्यस्य

के ई देवनाथन् : भवता प्रश्नस्तु युक्त समाधान वच्मि प्रश्न स्पष्टयामि
मम पत्रे लिखितम् अस्ति “अयमपि गौ ” इति तु सविकल्पकम्
इति परन्तु एव प्रश्नो भवति “अय वशिष्ठस्य गौ ” तत्र
किं भवति, वशिष्ठस्य गौ इति प्रथमतः अय प्रश्न क्रियते
प्रत्यक्ष वा शाब्दबोधो वा ? “अय वशिष्ठस्य गौ ” इति
वशिष्ठस्य पार्श्वे वर्तमानाया गवि यदि “अय वशिष्ठस्य गौ ”
इति प्रतीति भवति सा प्रतीति सविकल्पकम् कथम् ?
इति चेत्, प्रथमतो गाम् अदृष्टवत् पुरुषस्य “इय वशिष्ठस्य
गौ ” इति प्रतीति न भवति तत्र ‘अपि’ शब्दोल्लेखस्तु
उपलक्षणार्थं गो ग्रहणानन्तरं द्वितीयवारं तृतीयवारं
सस्कारसापेक्षत्वं यदि भवति तदानीं सविकल्पकमेव
अच्युतानन्द दास . अहं किं पृच्छामि, पञ्चजना इति चिन्त्यताम् एक

सामान्यबालो वर्तते स “अयं गो” इति जानाति तस्य
 प्रत्यक्ष निर्विकल्पकप्रत्यक्ष जातम् अपरं करचनं बालं ततोऽपि
 ज्येष्ठो वर्तते स आश्रमम प्रति आगच्छति, तत्र गा पश्यति
 “अयं वशिष्ठस्य गो” इति ज्ञानम्

के ई देवनाथन् : तस्य तु सविकल्पकम्

अच्युतानन्द दास : सो वशिष्ठस्य आश्रममात्रं जानाति विशिष्टस्य गा
 पश्यति चेत्

के ई देवनाथन् : तत्र तु महान् क्लेशो कोऽपि नास्ति यं पूर्वं गा
 जानाति, पूर्वं वशिष्ठाश्रमे दृष्टवान्, इदानीं गोमात्रम् अत्र
 तिष्ठति तदानीम् “इयं वशिष्ठस्य गो” इति वदति चेत्
 तस्य तु सविकल्पकमेव, सस्कारसाहित्यात् यो गामेव न जानाति,
 वशिष्ठस्य आश्रममेव न गतवान्, वशिष्ठ जानाति सो वदति
 “वशिष्ठस्य गो” इति वदति चेत् स प्रष्टव्य “अयं
 वशिष्ठस्य गो इति भवता कथं ज्ञातम्?” केनचिद् उक्तं
 चेत् शाब्दबोधः अन्यथा तु

बी के दलाई ममतु एव भाति, भारतीयदर्शने निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्य भिन्नानि
 लक्षणानि सन्ति “अयं गो” इति ज्ञानं प्रायशः सविकल्पकम्
 इति मन्यते जैनदर्शने, इन्द्रियार्थसन्निकर्षो भवति तदा “इदं
 किञ्चित्” इति ज्ञानं भवति इदं पुस्तकं वा गौं वा इत्यादिरूपं
 ज्ञानं न भवति तस्मिन् काले तस्य ज्ञानस्य नाम तै
 ‘निर्विकल्पकम्’ तै न उच्यते परन्तु ‘अवग्रह’ इति उच्यते
 अवग्रहस्य भागद्वयं १ व्यञ्जनावग्रहः २ अर्थावग्रहः इति
 ‘व्यञ्जनावग्रहो’ नाम इदं किञ्चित् इति ज्ञानम् वस्तु किमपि
 भवतु, पुस्तकं भवतु, गृहं भवतु वा अन्तर्गतत्वात् तस्य
 जिज्ञासा भवति “किम् इदम्?” तदा तस्य ज्ञानं भवति
 “इदं पुस्तकम्” “इयं गो” तदा तस्य नाम ‘अर्थावग्रहः’
 भवति अर्थावग्रहः सविकल्पकम् उच्यते अनन्तरकाले जैनन्याये
 प्रत्यक्षे अर्थावग्रहस्यैव भानम् प्रत्यक्षे निर्विकल्पकस्य अन्तर्भावः

कदापि न भवति अनन्तरम् सिद्धसेनदिवाकर, अकलकप्रभृति
जेननैयायिकै व्यञ्जनावग्रहो विस्मृत तेषां कृते आद्यप्रत्यक्ष
सर्विकल्पक, निर्विकल्पक प्रत्यक्ष नास्ति तत्तु अर्थावग्रहएव
भवति

के ई देवनाथन् : समीचीनम् जैनन्याये प्रक्रियाभेदेन जैनप्रक्रियातु
समीचीना स्यात्, तद्रीत्या दृश्यमाने तत्र अस्माक प्रक्रिया
एव उपाता वर्तते

बी के दलाई : ममापिप्राय एवम् अस्ति यदा “इय गौ” अथवा
“अय बात्” इति ज्ञान भवति तस्य निर्विकल्पक प्रत्यक्ष
न वक्तुं शक्यते

के ई देवनाथन् : मया मध्यएव उक्तम् “अय गौ” इति ज्ञान निर्विकल्पकम्
इति कथने कश्चित् क्लेशो भवत्येव परन्तु यथा वैयाकरणै
निर्विकल्पकमेव न स्वीकृत “न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके”
तद्वत् निर्विकल्पकमेव न स्वीक्रियता किमर्थं निर्विकल्पक
स्वीकृत्य एतादृश परिष्कार क्रियते इति समीचीनमेव परन्तु
निर्विकल्पकम् इति व्यवहारो अस्ति चेद् भाष्यकार एव
निरूपण कृतम् अस्ति सिद्धिकारैरपि व्यवहारकाले निर्विकल्पक
न स्वीकृतम् इति तु मया कस्मिंश्चित् पत्रे पठितम् अतो
निर्विकल्पकास्वीकारस्तु भवत्येव वेदान्तिनाम् परन्तु

कृष्णमूर्तिशास्त्री : न भवतु अखण्डाकार ज्ञान निर्विकल्पकमेव अन्ते

के ई देवनाथन् : शास्त्रियादा ! ‘व्यवहारे’ मया उक्तम् इति योजन कृतम्
अस्ति निर्विकल्पकसमाधि न स्वीक्रियते चेत् अद्वैतमेव नास्ति
डी प्रह्लादाचार्य : तत्र व्यावहारिको दृष्टान्तो दीयते “मोऽय देवदत्त”
इत्यादिवाक्यजन्य ज्ञानम्

के ई देवनाथन् : आचार्या ! सिद्धिग्रन्थे सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्तिनिराकरणप्र-
करणे व्यवहारकाले निर्विकल्पका न स्वीक्रियते

कृष्णमूर्तिशास्त्री : “निर्विकल्पकस्य व्यवहारानर्हत्वाद्” इति

के ई देवनाथन् : एवम् रामापयामि एते पृष्ट, “अथ गौ” इति कथ
निर्विकल्पकम् इति वक्तुं शक्यते ? तत्र भाष्यकारे निर्विकल्पकम्
इति व्यवहार समर्थित

विन्ध्येश्वरी प्रसाद : भवन्तो न स्वीकुर्वते मानसप्रत्यक्षम् तर्हि सुख-दुःखादीना
साक्षात्कारो विपर्यित्वेन विपर्यित्वेन वा यदि विपर्यित्वेन
भवति तर्हि “सुखम् अहम्” “दुःखम् अहम्” इति अनुभूति
जायेत, न जायते “सुखी अहम्” दुःखी अहम्” इत्यनुभूति
जायते तर्हि कथम् उपपद्यते ?

के ई देवनाथन् : अस्माक सिद्धान्ते ज्ञान द्रव्यम् ज्ञान नाम बुद्धितत्त्वम्
इति साहचर्ये स्वीक्रियते तत्स्थानीयम् एकम् द्रव्यम् तदेव
अस्माभि ज्ञानम् इति स्वीक्रियते यदा बुद्धितत्त्वस्य परिणाम
स्वीक्रियते तद्वत् अस्माक सिद्धान्ते सकोचविकासो स्वीक्रियेते

विन्ध्येश्वरी प्रसाद : श्रूयताम् आत्मन स्वप्रकाशत्वात् तद्धर्माणां
सुख-दुःखादीनामपि स्वप्रकाशकत्वात्, कथं सगच्छते ?

के ई देवनाथन् : ज्ञानस्य प्रसरविशेषो वर्तते तत्रैव प्रसरविशेष कदाचित्
‘सुखम्’ इति उच्यते कदाचित् ‘दुःखम्’ इति उच्यते अत्र
ज्ञानस्यैव अवस्थाविशेष ‘सुखा’दिशब्दभागा, नाम, ज्ञानमेव
अवस्थाविशेषापन्नं मृदएव घटावस्थाविशेषापन्ना ‘घट’शब्दव्यव-
हारा यथा भवति तद्वत् ज्ञानमेव अवस्थाविशेषापन्नं
सुखम्-दुःखम् इति भण्यते सिद्धान्ते इदानीं भवद्भि पृच्छ्यते
“अहं सुखम्” “अहं सुखम्” इति न भवति ‘अहम्’
इति अन्यद् ज्ञानम् ज्ञानस्वरूप आत्मा तस्मिन् आत्मनि
इदं द्रव्यस्वरूपम् इति मया उक्तम् किल ज्ञानम्, सुखत्वावस्थापन्नं
ज्ञानम् तत्र अवतिष्ठते अतः “सुखी अहम्” इत्येव प्रतीति
भवति ‘अहं’ नाम स्वप्रकाश आत्मस्वरूप, तस्मिन्
सुखावस्थापन्नं ज्ञानं वर्तते इति कृत्वा “अहं सुखी” इति
उच्यते

विन्ध्येश्वरी प्रसाद : यदि आत्मनो भिन्नं सुख-दुःखादिकं ...

प्रद्योतकुमार :

के.ई.देवनाथन् : अधिष्ठानं भवति यद् आत्मस्वरूपं तस्य अवस्थादिकं नास्ति. तत् निर्विकारं चेतनस्वरूपम्. तस्य अवस्थादिकं नास्ति. तत्र वर्तमानस्य ज्ञानस्य ... सांख्यमतसम्मतं बुद्धितत्वं स्वीक्रियतां. तदेव समीचीनं उदाहरणम् अस्य सिद्धान्तस्य भवति. परन्तु अयं भेदः, सांख्यमतसिद्धं बुद्धितत्वं बहिः प्रसृत्य घटाद्याकारेण परिणमते. अयञ्च परिणामो ज्ञानम् इति उच्यते तन्मते. अत्र सिद्धान्ते तावत् परिणामो न स्वीक्रियते. इन्द्रियज्ञानस्य आत्मनो धर्मस्य इन्द्रियद्वारा निर्गमनं भवति. निर्गत्य घटादिना वस्तुनः संयोगसम्बन्धो भवति ज्ञानस्य विषयस्य च विषय-विषयीभावो नाम संयोगो अस्माकं सिद्धान्ते.

डी.प्रह्लादाचार्य : ज्ञानं द्रव्यञ्च

एस्.बी.बोक्लि : I would like to draw attention deep analysis of perception as presented in Indian philosophy and western philosophy And this is of great importance All most all Indian systems accept Manas as Indriya in addition to five sense-organs Naturally one would like to ask question where is the need for accepting Manas as Indriya? In western tradition you will find that they have accepted five sense organs But they have not felt the need of Manas to bring about what you call Indriya sannikarsa They have accepted Mind You can not reject mind Because after all perception needs observer and its subject . and they use the expression mind in that sense And if you see new scientific research, there is no

physiological basis for accepting mind as additional Indriya unless you identify it with brain we perceive external world Now we want to explain this Western philosophers have taken the view that we should not multiply many metaphysical entities We should manage with few entities So if we can explain perception by not accepting

I don't say that you don't accept mind

के ई देवनाथन् . भवता प्रश्न एवम् अस्ति, किमर्थं मन अगीक्रियते
 “एकादश मन च अत्र” इति मनस श्रुतिसिद्धत्वम् अस्ति
 तत्र “पञ्चवृत्ति मनो व्यपदिश्यते” इति सूत्रभाष्ये एवम्
 उक्तम् अस्ति सुख-काम-सकल्प इत्यादय ये ज्ञानस्य विकारा
 भवन्ति ते मनोवृत्तय इति स्वीक्रियन्ते अत्र ‘मनोवृत्तय’
 नाम मनस परिणाम इति न अर्थ मनसहकृतेन ज्ञानेन
 एते विकारा प्रा इति अर्थ ज्ञानस्य सुखाद्यात्मना कामाद्यात्मना
 यो विकार तस्मिन् विकारे जननीये मनस सहकारित्व स्वीक्रियते
 तदर्थमेव इन्द्रियत्व तस्य स्वीक्रियते न केवल तत्र चक्षुषि
 अय प्रश्न कर्तुं शक्यते यदि बुद्धितत्त्वमेव बहि निर्गत्य
 घटेन सयुनक्ति तर्हि चक्षुष किं कार्यम्? इति चेत्, ज्ञानस्य
 निर्गमने तेन साकम् चक्षुरेन्द्रियस्य मिश्रण भवति तदानीमेव
 चाक्षुषप्रत्यक्षम् इति उच्यते तद्वत् धर्मभूतज्ञानस्य य परिणाम
 भवति अवस्थाविशेष सुखदुखाद्यात्मना परिणाम भवति तत्र
 तावत् मनस सम्बन्धो यदि भवति तदानीमेव तस्य ग्रहण
 भवति इति अर्थ तदभिप्रायेण मनस इन्द्रियत्व स्वीक्रियते
 परन्तु ‘मानसप्रत्यक्षम्’ इति शब्द तावत् वृद्धै प्राचीनविशिष्टाद्वै-
 तिभि न स्वीक्रियते तावदेव मनसास्तु कार्यमेव नास्ति इति
 नास्ति

कृष्णमूर्तिशास्त्री : मनका स्वीकार इसलिये है क्योंकि जो धर्मभूत

ज्ञान द्रव्यरूप है, उसका सुख-दुःखादिरूपेण अवस्थाविशेष उत्पन्न होती है उसमें मन सहायक बनता है. इसलिये मनकी आवश्यकता है. मनका अलग विषय नहीं है, आत्मप्रत्यक्ष है.

डी.प्रह्लादाचार्य : मयातु इदं सूचनीयं भवति, यथा शास्त्रिचरणैः उक्तं, भेदो यदा प्रत्यक्षीक्रियते तदानीम् अन्योन्याध्यादिदोषाः भवन्ति इति. तन्तु घटादिपदार्थानां प्रत्यक्षकाले अनुपपत्तिं प्रदर्शयितुं न उक्तम् इति अहं चिन्तयामि. किन्तु अद्वैतसिद्धान्ते भेदः खण्ड्यते भेदो यदि कश्चन पदार्थः स्वीक्रियते तस्य ज्ञानं कथं भवति इति वक्तुमेव न शक्यते. श्रीहरेण ...

कृष्णमूर्तिशास्त्री : “भिन्ने अभिन्ने भेदः किं भिन्ने उत अभिन्ने”

डी.प्रह्लादाचार्य : एवम्. तत्र भेदः सप्रतियोगिकः इत्येवं रीत्या ... एवञ्च भेदखण्डनम् अन्यत्. भेदाः न परमार्थभूताः इति अत्र ‘भेदाः’ न पदार्थाः इति किन्तु वस्तूनां ये भेदाः भवन्ति, द्वैतिभिः विशिष्टद्वैतिभिः अन्यैश्च द्वैतिभिः आंगीक्रियन्ते ते भेदाः वस्तुतो न सन्ति इति साधनार्थम् अयं प्रयत्नो नतु पदार्थानां ग्रहणे काचन अनुपपत्तिः अस्ति वक्तुम् अयं प्रयत्नः.

के.ई.देयनाथन् : वदामि. विवरणादेव अस्माकं भाष्यकारैः सर्वम् अनुसृतं. भाष्ये “‘घटो अस्ति’ इत्यत्र अस्तित्वं तदभेदं च व्यवहियते” इत्यस्य सर्वस्यापि भाष्यस्य मूलं विवरणे दृश्यम्. ‘महापूर्वपक्षः’ इति ग्रन्थे वर्तमानाः सर्वेऽपि अंशाः विवरणानुसारेणैव अस्माभिः लिख्यन्ते. यतो अहन्तु विवरणम् अस्मिन् विषये न दृष्टवान् परन्तु अत्रतु निश्चितप्रकारेण वस्तुं शक्नोमि, अयं ग्रन्थो विवरणादेव उपात्तः.

डी.प्रह्लादाचार्य : परन्तु ‘भेद’शब्दः विशेषपर्यायोऽपि बहुधा प्रयुज्यते.

यज्ञेश्वर शास्त्री : प्रत्यक्षसामान्यलक्षणम् उच्यताम् अनन्तरं सविकल्पक-निर्विकल्पकभेदः.

के ई देवनाथन् . 'साक्षात्कारित्व' प्रत्यक्षसामान्यलक्षणम् साक्षात्कारित्वञ्च जाति यदि जाति न भवति तर्हि "ज्ञायमानकारणकत्वाभावे सति स्मृतिभिन्नत्वे सति ज्ञानत्वम्" इति प्रत्यक्ष

डी प्रह्लादाचार्य : विशिष्टाद्वैतसिद्धान्ते वहवो अपूर्वा विषया प्रतिपादिता यद्यपि निर्विकल्पक-सविकल्पकभेदेन प्रत्यक्ष ते द्विविधम् अगीक्रियते अथापि अन्यदर्शनीत्या तन्निर्विकल्पकस्यापि सविकल्पकत्वमेव निर्विकल्पकत्व हि पारिभाषिक ते अगीकृत वर्तते यद्यपि सविकल्पक प्रत्यक्ष सस्कारजन्य भवति, सस्कारमात्रजन्यन्तु न भवति अय विशेष सस्कारजन्यस्यापि सविकल्पकप्रत्यक्षस्य स्मरणवत् सस्कारमात्रजन्यत्व नास्ति इति हेतो स्मृतिभिन्नत्व वक्तु शक्यते इति तेषा सिद्धान्त तेषा मतेषु सुख-दुःखादीनामपि ज्ञानस्वरूपत्वम् अगीक्रियते यथा आत्मगुणा सुख-दुःखादय स्वीक्रियन्ते न्यायसिद्धान्ते तथा नास्ति किन्तु सुखमपि ज्ञान, दुःखमपि ज्ञानम् मनसश्चापि इन्द्रियत्वम् अगीकृत्य यथा इतरेषा चक्षुरादीनाम् इन्द्रियाणा ज्ञानजनने तेषा किमपि सामर्थ्यं भवति तादृश सामर्थ्यन्तु न अगीक्रियते परन्तु सुखात्मकस्य दुःखात्मकस्य वा ज्ञानस्य जनने मनस सहकारो वर्तते अतएव मनस इन्द्रियत्व स्वीक्रियते यद्यपि मनस इतरेषाम् इन्द्रियाणा यथा ज्ञानजनकत्व तथा नास्ति अथापि इन्द्रियत्व श्रुतिबलात् प्रमाणबलात् स्वीक्रियते तथापि सर्वथा ज्ञानजनकत्व नास्ति इति न ज्ञानजनने सहकारप्रदत्वेन तस्य कथञ्चित् इन्द्रियत्वम् चक्षुरादीनामपि तथैव तत्र वैलक्षण्य नास्ति तन्मते ज्ञानम् अन्तःकरणवत् यथा साक्ष्यानाम् अद्वैतिना च अन्तःकरण भवति, अन्तःकरण बहिर्निर्गत्य विषय सस्पृश्य विषयाकार लभते तथा एतन्मते अन्तःकरणस्य विषयेन सह संयोगो भवति देहान्तर्गत ज्ञान द्रव्य ज्ञानस्य च राकोच विकास च भवति तन्मतरीत्या ज्ञानस्य यदा विकासो भवति तदानीं

के.ई.देवनाथन् : यदि इन्द्रियसंस्पृष्टं ... ज्ञानं बहिः गच्छति तेन इन्द्रियेण चाक्षुषं ज्ञानं जातम् इति व्यवहारः. एवमेव मनसोऽपि तथैव. ज्ञानस्य प्रसरकाले यदि मनसः सम्बन्धो भवति तदानीं सुख-दुःखादिकम् उच्यते.

सिद्धेश्वरभट्ट : मनः इन्द्रियद्वारेण गच्छति ?

डी.प्रह्लादाचार्य : ज्ञानमेव गच्छति. मनो बहिर न गच्छति. तज्ज्ञाने मनः संयुक्तं भवति. धर्मिभूतं ज्ञानं धर्मभूतं ज्ञानम् इति ज्ञानद्वयं स्वीकृतम् अस्ति. धर्मिभूतं ज्ञानं हि चैतन्यात्मकं भवति. अनया रीत्या बहवो अपूर्वाः विषयाः विशिष्टाद्वैतमतरीत्या विवृताः वर्तन्ते. मन्ये एतस्याः गोष्ठ्याः आयोजनस्य प्रधानत उद्देश्य अयमेव यद् विभिन्नेषु दर्शनेषु यथा प्रत्यक्षस्य स्वरूपं प्रतिपादितं वर्तते तत्र के विशेषांशाः वर्तन्ते तेषाम् अवगमो यथा निर्दुष्ट्या रीत्या अस्माकं समेषां स्यात् तथैव प्रतिपादनं कर्तव्यं श्रोतव्यं च. ततश्च इदम् अधिवेशनं सफलम् इति मन्ये.

.....+

संगोष्ठ्युत्तरलेखनम्

गोस्वामी श्याम मनोहर

सुहृत्तमै विद्वद्भ्यै तत्र भवद्भि श्रीदेवनाथन् महोदयै विशिष्टाद्वैतवादसरण्या प्रत्यक्षप्रमाणस्वरूपं सक्षिप्तमपि अतीव सुसुक्ष्मया उपपादितम्. एतेन प्रत्यक्षविचारगोष्ठ्यां सर्वे सहभागिनो नूनं विदितवेदितव्या सम्पादिता तस्माद् यद् तावत् सत्राध्यक्षमहाभागी स्पृहणीयवैदुष्यै श्रीप्रह्लादाचारिभि उक्त "मन्ये एतस्याः गोष्ठ्याः आयोजनस्य प्रधानत. उद्देश्यो अयमेव यद् विभिन्नेषु दर्शनेषु यथा प्रत्यक्षस्य स्वरूपं प्रतिपादितं वर्तते तत्र के विशेषांशाः वर्तन्ते तेषाम् अवगमो यथा निर्दुष्ट्या रीत्या अस्माकं

समेयां स्यात् तथैव प्रतिपादनं कर्तव्यं श्रोतव्यं च. ततश्च इदम् अधिवेशनं सफलम् इति मन्ये” इति तत् सर्वथा अवितथमेव. तथापि विशिष्टाद्वैतमतमतश्रवणेन सञ्जातकुतुहलानां तत्र उपस्थितानां विदुषां बहुविधाया जिज्ञासाया समाधानएव विचारसत्रोपसहारो जात अहमपि तत्तत्प्रश्नोत्तरयो श्रवणाय समुत्सुकएव नाशकं किमपि प्रष्टुं, विशेषतो यत् श्रीदेवनाथन् महोदयै वाल्लभमतविषये विधानं कृतं तद्विषयम् अधिकृत्य. इदानीं लब्धावसरो अहम् इह यत् मनसि किमपि तदानीं प्रतुष्टुषित मुखतो प्राद्रवत् तत् मल्लेखिन्या बध्नामि :

तथाहि श्रीदेवनाथन् महोदयै “श्रोत्रस्य आहकारिकस्य आकाशरूपत्वस्य अवैदिकत्वाद् दृष्टान्तोऽपि न युक्त” इति यद् उक्तं तत्र “दिश श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्” इति श्रुते दिक्श्रोत्रयोः ऐक्यम् इति अर्थ” (श्रीरामानुजीया बृहदारण्यप्रकाशिका : ४।१।५) इति श्रीरामानुजै आहकारिकस्यैव श्रोत्रस्य दिग्भि ऐक्यन्तु अङ्गीकृतमेव. तस्मात् समानन्यायेन आकाशरूपत्वेऽपि न हानि काचित् कल्पनीया. किञ्च दिश स्वरूपं किम्? इति जिज्ञासायां श्रुतिरेव किल आह “श्रोत्रमेव आयतनम् आकाश. प्रतिष्ठा अनन्त.... का अनन्तता? दिशएव... यां कां च दिशं गच्छति नैव अस्य अनन्तं गच्छति. अनन्ता दिशो, दिशो वै श्रोत्रम्” (बृह उप.४।१।५) इति आकाशस्य आनन्त्यमेव दिश चेद्, दिक्प्रवेशो खलु आकाशप्रवेशएव. तस्माद् “दिशो वै श्रोत्रम्” इति उक्त्या “आकाशो वै श्रोत्रम्” इत्यपि अर्थलभमेव आयाति. ततः श्रोत्रस्य आकाशरूपताया न बहुविवाद प्रवर्तनीय. किञ्च अधोनिर्दिष्टश्रुतिभागवतवचनैरपि श्रोत्रस्य आकाशरूपत्वे न काचित् महती हानि लक्ष्यते :

१. “आकाशेन आहवयति आकाशेन शृणोति” (छान्दो.उप.७-१२।१)

२. “कर्णौ निरभिष्टेतां कर्णान्म्या श्रोत्रं श्रोत्राद् दिश” (ऐत.उप.१।४)

३. “श्रोत्रमेव अस्या. एकम् अङ्गम् अदृष्टं तस्य शब्द परस्ताद् विहिता भूतमात्रा” (कौषी.उप.३।५).

४ “प्राणस्य हि क्रियाशक्ति बुद्धे विज्ञानशक्तिता. तामसात्
च विकुर्वाणाद् भगवद्दीर्घचोदितात् शब्दमात्रम् अभूत्, तस्माद्
नभ, श्रोत्रन्तु शब्दगम्, अर्थाश्रयत्व शब्दस्य, द्रष्टु लिंगत्वमेव
च तन्मात्रत्व नभसो लक्षण कवयो विदुः” (भाग पुरा ३।२६।३१-
३३)

एतेन शब्दानाम् आयतन श्रोत्रमेव चेत् तदा किम् अन्तर्गुना आकाशस्य
प्रतिष्ठात्वप्रतिपादनेन ? ततश्च सिद्धं श्रोत्रस्य आयतनत्व नाम शब्दोपलब्धिस्थानत्व,
तथैव आकाशस्य प्रतिष्ठात्व नाम ग्राह्यग्राहकभावापन्ने शब्दश्रोत्रे यत्र प्रतिष्ठत
इति एव हि उभयोरपि आकाशएव प्रतिष्ठितत्वेन यत् श्रोत्रेण शृणोति तद्
आकाशेनैव शृणोति इति अभेदनिरूपणमपि सगतं भवेत् तस्मात् आहकारिकस्यैव
श्रोत्रस्य आकाशरूपत्वमपि वैदिकमेवेति श्रीपुरोत्तमप्रदत्तो दृष्टान्तोऽपि न अवुक्त

यत् पुन “ज्ञानस्य आत्मनिष्ठत्वाभावे चेतनत्वव्यवहारोऽपि ततो न घटेत्”
इति उक्तं तत्रापि एव प्रतिभाति यत् “श्रोत्रं शृण्वत् सर्वे प्राणा अनुशृण्वन्ति”
(कौपी उप ३।२) इति श्रुतौ प्रकरणानुरोधेन प्रज्ञाप्राणयो अन्योन्याश्रिततया
अभेदविवक्षया प्रज्ञायाएव अनुश्रोतृत्व, तेन श्रोतृत्वन्तु श्रोत्रस्यापि सिध्यत्येव
न जातु कर्तुं करणपेक्षाया कर्तृतापलापो आपादयितु उचितं तस्माद् विज्ञातु
विज्ञान बाह्याभ्यन्तरे विज्ञानकरणौ सम्पद्यमानं न विज्ञातु विज्ञानविपरिलोपाय
मन्तव्यं किमुत तद्वाच्यैव सिद्धं तेन विज्ञातु आत्मविज्ञानस्यैव न कदाचिदपि
विपरिलोपो न च एतावता रूपस्सगन्धस्पर्शशब्द-तदाश्रयरूपभौतिकवस्तु-विज्ञानानामपि
अविपरिलोपो मन्तुं युक्तो निद्रापस्मारादिभिर्दैहिकहेतुभिः, शिरसि दण्डाघातारूपै
च बाह्यहेतुभिरपि रूपादिविज्ञानविलोपाना दृष्टवरत्वादेव प्राणानां हि क्रियाकरणरूपाणां
क्रियाशक्तिमत्त्वे विज्ञानकरणरूपाया बुद्धेरपि वा विज्ञानशक्तिमत्त्वे विज्ञानमूलस्य
जीवात्मनो विज्ञातृत्वहाने शका अयुक्तैव, भगवत्तत्त्वमूलकत्वादेव यदपि मनस
इन्द्रियत्वानिन्द्रियत्वरूपोभयविधत्वे हि भावाभावरूपतया न देवत्वपितृत्वतुल्ये इति
उक्तं तत्रापि “अन्वयमना अभूव न नादशं नाश्रीपम्” (गृह उप, १।५।३)
इति श्रुत्या मनस बाह्यसर्वेन्द्रियनियामकत्वेन अनिन्द्रियत्व अन्तःकरणरूपतया

च इन्द्रियत्वमपि इति हेतुकम्. एव हि “इन्द्रियाणां मनः च अस्मि”, “इन्द्रियेभ्यः परं मनः” (भग.गीता.३।४२, १०।२२) इत्याद्युभयविधनिरूपणानुरोधेव तथास्वीकरणम् इति प्रतिभाति

यत् पुन प्राणरसनश्रवणादीनां द्रव्याग्राहकत्वोपपत्तितया पूर्वानुभूतदुग्धानामपि रसनया दुग्धरसास्वादे तमसि दुग्धानुभूत्यापादनं तत् जायमानं सर्वं प्रथमं ज्ञानं निर्विकल्पकम् अथ द्वितीयादि तु सविकल्पकमेव इति वदतां वादिनां कृते सर्वस्यापि सविकल्पकप्रत्यक्षस्य अनुमित्यन्तर्भावाय किं न प्रभवेत्? सर्वा हि धर्मप्रतीतयो धर्मिप्रतीतिहेतुका इति अदण्डवारितया व्याप्तिनिश्चयसंस्कारसहितया घटत्वप्रतीत्या स्फीतालोकेऽपि घटप्रत्यक्षस्य घटानुमितित्वप्रसक्तिः.

सर्वथा हि तत्र सौजन्य-सारल्य-सौहृद-वैदुष्याद्यनेकगुणोपेतै श्रीदेवनाथन् महोदयै प्रत्यक्षप्रमाणविचारगोष्ठ्यां वाल्लभवेदान्ताभिमतप्रत्यक्षप्रक्रियालोचनं यत् समुपस्थापितं तदर्थं ते भूयोभूयो धन्यवादार्हा न तत्र शकालेशोऽपि इति विरमति अयं सगोष्ठ्युत्तरलेखनस्य कर्ता.



द्वैतदर्शने प्रत्यक्षस्वरूपम्

प्रो डी प्रह्लादाचार

द्वैतदर्शनरीत्या प्रत्यक्षप्रमाणविषये वक्तुम् अहम् आदिष्टो अस्मि
इतरदर्शनिषु समाना ये अशा तान् अशान् विहाय द्वैतदर्शने ये विशेषाशा
भवन्ति तानेव प्रस्तोतुम् इच्छामि

द्वैतदर्शने प्रमाणसामान्यलक्षणम् उच्यते “यथार्थं प्रमाणम्” इति
एतस्मिन् मते प्रमाणं द्विविधं १ केवलप्रमाणम् २ अनुप्रमाणं च इति

‘केवलप्रमाण’ नाम यथार्थं ज्ञानम् ज्ञानं भवति केवलप्रमाणम् यदि
ज्ञानं यथार्थं स्यात् तथाच इन्द्रियजन्यं ज्ञानं वा भवतु, शब्दजन्यं ज्ञानं
वा भवतु, अनुमानजन्यं वा ज्ञानं भवतु तत् सर्वं केवलप्रमाणं भवति
अपिच इन्द्रियम् अथवा अनुमानं, शब्द एतान्यपि प्रमाणत्वेन अमीक्रियन्ते
तथाच केवलप्रमाणम् अनुप्रमाणं च इति प्रमाणं द्विविधम् यथार्थज्ञानं
केवलप्रमाणं, यथार्थज्ञानसाधनम् अनुप्रमाणम् यथार्थज्ञानसाधनञ्च त्रिविधं
भवति १ प्रत्यक्षम् २ अनुमानं ३ शब्दं च इति

केवलप्रमाणस्य अनुप्रमाणस्य च अनुगतं लक्षणं भवति प्रमाणत्वम्
उभयमपि प्रमाणत्वेन स्वीक्रियते अतएव “यथार्थं प्रमाणम्” इति
प्रमाणसामान्यलक्षणम् उच्यते यथार्थत्वं प्रमाणसामान्यलक्षणम् ‘यथार्थत्वं’
नाम यथावस्थित-ज्ञेयविषयीकारित्वम् वस्तु

वी एन् झा

डी प्रह्लादाचार : अनुप्रमाणेष्वपि

वी एन् झा - ज्ञानमेव ?

डी प्रह्लादाचार : नहि ज्ञान वा भवतु इन्द्रियादिक ज्ञानसाधन वा भवतु तद् उभयमपि यथार्थ, यथावस्थितज्ञेयविषयीकारि इति अर्थो यथा अवतिष्ठते तथा विषयीकरोति चेत् यथावस्थितार्थविषयीकारित्वम् आयाति इदञ्च ज्ञानस्यापि भवति, इन्द्रियादीनामपि ज्ञानसाधनानां भवति परन्तु अत्र इदं वैलक्षण्यम् अस्ति, ज्ञान साक्षाद्वस्तुविषयीकारि, ज्ञानसाधनानितु ज्ञानद्वारा वस्तुविषयीकारीणि भवन्ति परन्तु, यथावस्थित-ज्ञेयविषयीकारित्व, यथावस्थितार्थविषयीकारित्वम् उभयसाधारणं भवति, केवलप्रमाणस्य अनुप्रमाणस्य च साधारणं भवति इति अंगीक्रियते तत्र अनुप्रमाणं त्रिविधम् इति उक्तम् १ प्रत्यक्षम्, २ अनुमान, ३ शब्द च इति

प्रत्यक्षस्य लक्षणम् उक्तं “निर्दोषार्थेन्द्रिय-सन्निकर्षं प्रत्यक्षम्” इति ‘प्रत्यक्ष’शब्दः कदाचिद् ज्ञाने प्रयुज्यते, ज्ञानसाधनेऽपि कदाचित् प्रयुज्यते यदा ज्ञानं प्रत्यक्षम् इति उच्यते तर्हि निर्दोषार्थेन्द्रिय-सन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम् इति भवति यदाच ज्ञानसाधनं प्रत्यक्षम् इति उच्यते तदा निर्दोषार्थेन्द्रिय-सन्निकर्षं प्रत्यक्षम् इति उच्यते

‘निर्दोषत्वम्’ उभयो विशेषणम्, इन्द्रियस्य अर्थस्य च निर्दोषेन्द्रियस्य निर्दोषेण अर्थेन सह यः सन्निकर्षः स प्रत्यक्षम् काचकामलादयः दोषा इन्द्रियदोषा भवन्ति अतिदूरस्थत्वम् अतिसामीप्यं, सौक्ष्म्यं, व्यवधानम् इत्यादयः अर्थदोषा भवन्ति एवञ्च दोषरहितेन्द्रियेण दोषरहितस्य अर्थस्य यः सन्निकर्षः भवति स प्रत्यक्षम् इति अंगीक्रियते

मनसः इन्द्रियत्वम् :

तत्र कैश्चित् पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि स्वीकृतानि बाह्येन्द्रियाणि पञ्च अन्तरिन्द्रियम् एकं मनः इति षडिन्द्रियाणि इति केपाञ्चित् मते भवति

अद्वैतसिद्धान्ते तु मनसः इन्द्रियत्वं न स्वीकृतम् पञ्चैव ज्ञानेन्द्रियाणि

स्वीकृतानि वर्तन्ते किन्तु द्वैतदर्शने न पञ्चेव इन्द्रियाणि नापि पडेव किन्तु सप्त इन्द्रियाणि भवन्ति इति उच्यते अयम् अत्र विशेषः

तत्र इन्द्रियं द्विविधं भवति १. प्रमातृस्वरूप २ प्राकृतञ्च इति प्रमाता भवति चेतनं तत्स्वरूपम् इन्द्रियम् तदात्मकम् इन्द्रियं 'साक्षी' इति उच्यते इतराणि षडिन्द्रियाणि सर्वाण्यपि प्राकृतानि भवन्ति पञ्च बाह्येन्द्रियाणि, अन्तःकरणम् एकम् एव षडपि इन्द्रियाणि प्रकृतिपरिणामभूतानि भवन्ति प्रकृते परिणामो महत्-तत्त्व, महतो अहकार, अहकारस्य परिणामभूतानि एतानि इन्द्रियाणि भवन्ति इति उच्यते

अत्र मनस इन्द्रियत्वं ये न अङ्गीकुर्वन्ति तत्र विरोधः क्रियते प्रस्थानरत्नाकरेऽपि अयम् अत्र चर्चितो वर्तते मनसस्तु "बाह्येन्द्रियाधिष्ठानेन सर्वबाह्येन्द्रियविषयविषयकेन्द्रियत्वम्" बाह्येन्द्रियाणां ये विषया भवन्ति ते सर्वेऽपि मनसोऽपि विषया परन्तु न साक्षात्, बाह्येन्द्रियाधिष्ठानेन — बाह्येन्द्रियद्वारा एवञ्च बाह्येन्द्रियाधिष्ठानेन सर्वबाह्येन्द्रिय-विषय-विषयकेन्द्रियत्वं मनसः लक्षणम् अङ्गीक्रियते तत्र "सर्वबाह्येन्द्रिय-विषय-विषयकत्वम्" इत्येव यदि लक्षणम् उच्यते तर्हि मनसः साक्षाद् बाह्या पदार्था विषया न भवन्ति अतः सर्वबाह्येन्द्रिय-विषय-विषयकत्वं मनसो नास्ति इति असम्भवशक्ता स्यात् तत्परिहाराय इदम् उच्यते "बाह्येन्द्रियाधिष्ठानेन" इति बाह्येन्द्रियद्वारा, बाह्येन्द्रियाणि अधिष्ठाय मनो बाह्यानापि अर्थान् विषयीकरोति

तत्र आक्षेपः प्रधानतया क्रियते मनस इन्द्रियत्वे तस्य असाधारणं फलं किमपि स्यात् असाधारणं फलं मनोजन्यं किमपि नास्ति विषयभेदोऽपि नास्ति यतोहि मनस इतरेषाम् इन्द्रियाणां ये विषया तेषां मनसः विषया इतरे इन्द्रिये यत् फलम् उत्पद्यते तदेव फलं भवति मनसः फलम् एवञ्च असाधारणो विषयोऽपि नास्ति, असाधारणं फलमपि नास्ति तस्मात् मनस इन्द्रियत्वं कथम्? इति प्रश्नः सम्भवति

तत्र उच्यते, असाधारणविषयो नास्ति इति भवतु नाम असाधारणन्तु फलम् अंगीक्रियते मनस स्वातन्त्र्येण स्मरणसाधनत्वम् अंगीक्रियते बाह्येन्द्रियम् अद्वारीकृत्वापि मन साक्षात् स्मरणस्य साधन भवति एवञ्च अस्मिन् दर्शने स्मरण मानसप्रत्यक्षमेव इन्द्रियजन्यज्ञानत्व हि प्रत्यक्षस्य लक्षणम् मनोजन्य ज्ञान भवति स्मरणम् तस्मात् कारणात् स्मरणरूप यत् फल वर्तते तत् न कस्यापि इतरस्य इन्द्रियस्य मनसएव तत् फल भवति एकम् असाधारण फल किमपि वर्तते तस्मात् मन पृथगिन्द्रियम्

प्रद्योतकुमार : तस्य प्रत्यक्षत्व कथम् ?

डी प्रह्लादाचार : इन्द्रियजन्य ज्ञान प्रत्यक्षम्

प्रद्योतकुमार : इन्द्रियत्व मनस इदानीमपि न उपपादितम् । यदि तस्य फलभेदो अस्ति तदैव तस्य इन्द्रियत्वम् इन्द्रियत्वम् अद्यापि उपपादितम् अन्योन्याश्रयो भवति

डी प्रह्लादाचार : तत्रापि विचार करोमि

मन प्रमाणमेव न भवति इति एक मतम् प्रमाण कुतो न भवति ? इति चेत्, प्रमाया अनाश्रयत्वात् पूर्वपक्षम् अनुवदन् अस्मि मनोवृत्तयो या उत्पद्यन्ते तासामपि ज्ञानत्व स्वीकृतम् वेदान्तिना मते वृत्तय चैतन्यरूप च इति ज्ञान द्विविध भवति वृत्त्यात्मकमपि ज्ञानम् अंगीक्रियते ताश्च वृत्तयो मनसो विकारभूता, परिणामभूता तस्मात् तासा वृत्तीनाम् आश्रयो मनो अंगीक्रियते मनो यदा प्रमाया आश्रयो भवति, प्रमाश्रयत्वात् मन प्रमाण न भवति अयम् एक पूर्वपक्ष मन प्रमाणमेव नास्ति यथा प्रमाता नहि प्रमाण भवति नैयायिकानामपि मते ईश्वर प्रमाणम् अंगीक्रियते परन्तु अय जीवो य प्रमाता, प्रमाया आश्रय, स प्रमाण न अंगीक्रियते तद्वदेव मनसोऽपि वृत्तिरूपप्रमाश्रयत्वात् प्रमाणत्वमेव नास्ति इति अयम् एक पूर्वपक्ष

अपिच चक्षुरादीना प्रमाणाना विषये मनस सहकारित्वम् अस्ति

प्रमाणसहकारित्वात् च तस्य प्रमाणत्व नास्ति यथा आलोकस्य चक्षुषा यदा ज्ञान जायते तदानीम् आलोक सहकारिकारण भवति तथा मनोऽपि सर्वेन्द्रियाणाम् यदि सहकारिकारणस्य प्रमाणत्व स्वीक्रियते तर्हि आलोकोऽपि प्रमाणान्तर स्यात् तस्माद् यथा आलोकस्य प्रमाणत्व नास्ति तथैव मनसोऽपि प्रमाणत्व नास्ति तथाच प्रमाणसहकारित्वात्, प्रमाया आश्रयत्वात्, अपिच पृथग् विषयस्यापि अभावतो मनस इन्द्रियत्व कुत ? इत्येवम् आक्षेपा भवन्ति

अद्वैतमतेन मनस इन्द्रियत्व यद् निराकुर्वाणेन इदमपि चिन्त्यते यत् गीतावाक्ये “इन्द्रियेभ्य परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च पर मन” इत्यत्र इन्द्रियेभ्य प्रत्येकश परो मन सकीर्त्यते यदि मनोऽपि इन्द्रिय स्यात् तर्हि “इन्द्रियेभ्य परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च पर मन” इति कुत ? एव मनस इन्द्रियत्व नास्ति इति अत्र इदमपि एक प्रमाणम् उच्यते

तत्र सर्वत्रापि इद समाधानम् उच्यते मनस फल स्मरण वर्तते स्मरणस्य मनोजन्यत्वम् अङ्गीक्रियते मन करणम् यथा चाक्षुषप्रत्यक्ष प्रति चक्षु करण भवति, सयोग-सन्निकर्षो वा अन्यसन्निकर्षो वा तत्र व्यापारो भवति, फलञ्च चाक्षुषप्रत्यक्ष भवति तद्वदेव मनो अत्र करण, सस्कार सन्निकर्ष, स्मरणञ्च मनोजन्य ज्ञान फलम्

मनस इन्द्रियत्वे किं प्रमाणम् इति प्रच्छयते अन्यथा अन्योन्याश्रय स्याद् इति अत्र उच्यते मनस इन्द्रियत्वे श्रुतय स्मृतय च प्रमाण भवन्ति गीतायामेव “मन पद्मानि इन्द्रियाणि” इति वाक्यम् अस्ति तद्वदेव “इन्द्रियाणा मनश्च अस्मि” इति विभूतियोगे मनस इन्द्रियाणा मध्ये अन्तर्भाव श्रूयते यद्यपि “इन्द्रियेभ्य परा ह्यर्था” इत्यत्र मनस पृथक् कीर्तन वर्तते परन्तु, तेन मनस इन्द्रियेभ्य पृथक्त्व वर्तते, इन्द्रियत्व न अस्ति इति न वक्तुं शक्यम् तत्र कुरु-पाण्डवव्यायेन तस्य कीर्तनम् पाण्डवानामपि कौरवत्वम् अस्त्येव अत्रापि “सन्तानबीज कुरु-पाण्डवानाम्”

इत्यादौ बहुत्र कुरुष्य पृथक् पाण्डवाना सकीर्तनं श्रूयते तथैव इन्द्रियस्य मनस इन्द्रियेभ्य पृथक् प्रस्तावो न अमुक्त

मनस इन्द्रियेभ्य पार्थक्यं वदताम् अयम् अभिप्राय “वेदान् अध्यापयामास महाभारतपञ्चमान्” इति श्रूयते तत्र सजातीयगत-सख्या-पूरकत्व सजातीयस्य इति नास्ति वेदो अपौरुषेयो, महाभारतञ्च पौरुषेयं भवति एवञ्च अनयो वैजात्यम् अस्ति अथापि “महाभारतपञ्चमा वेदा” इति उच्यन्ते वेदविजातीयस्यापि महाभारतस्य पञ्चत्वसख्यापूरकत्व यथा आगीक्रियते तथा “मनः पञ्चानि इन्द्रियाणि” इति अत्र इन्द्रियविजातीयस्यापि मनस इन्द्रियगत-पदत्व-सख्यापूरकत्वम् आगीकर्तुं शक्यते इति अत्र इदं वक्तव्यं यत् सजातीयस्य सजातीयगत-सख्यापूरकत्वमिव, विजातीयस्य विजातीयगत-सख्यापूरकत्वमपि दृश्यते इति उभयं सत्यमेव परन्तु मनस इन्द्रियत्वे अनेकानि प्रमाणानि वर्तन्ते यथा “इन्द्रियाणां मनश्चास्मि” इति गीतावाक्यम् अत्र मनस इन्द्रियत्व स्पष्टं प्रतिपादितम् अस्ति अपिच भागवते “इन्द्रियाणि दशैकञ्च पञ्च चेन्द्रियगोचरा” अस्मिन् वाक्ये “इन्द्रियाणि दशैकञ्च” इति मन इन्द्रियान्तर्गतम् अस्ति अत्र उपचारो नास्ति अन्यत्र भागवते नवमस्कन्धे “यति ययाति सयाति आयति वियति कृति, षडिमे नहुषस्य आसन् इन्द्रियाणीव देहिनः” (भाग पुरा १।१८।१) इति नहुषस्य षट्पुत्रा आसन् यथा तथा षडिन्द्रियाणि देहिनो वर्तन्ते इति वर्ण्यते षडिन्द्रियाणि इति तत्र मनस इन्द्रियेषु अन्तर्भावः स्वीकृत्य कथितं वर्तते एव भागवते तत्र-तत्र गीतायां च मनस इन्द्रियत्वप्रतिपादनं स्पष्टं वर्तते इति हेतोः

विन्ध्येश्वरीप्रसाद :

डी प्रह्लादाचार : तत्रतु समाधानम् उक्तम् मनस किञ्चिद् वैशिष्ट्यं वर्तते अतः मनस पृथक् सकीर्तनम् इति मनसो वैशिष्ट्यं किम्? इति चेत्, इन्द्रियसहकारित्वम् सर्वेन्द्रियसहकारित्वं हि मनसो असाधारणो धर्मः एव मनस इन्द्रियत्वे सिद्धे मनोजन्य स्मरणात्मकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्

इति स्वीकार्यम्

अनेन नेयायिके — ज्ञान द्विविध १ स्मृति २ अनुभव च इति अनुभवश्च चतुर्विध १ प्रत्यक्षम् २ अनुमिति ३ उपमिति ४ शाब्द च इति यो विभाग क्रियते सो अपाक्रियते स्मृतेरपि अनुभवएव अन्तर्भावो, मानसप्रत्यक्षम् इय भवति इति हेतो तत्रच सस्कारस्य सन्निकर्षत्व स्वीक्रियते

अत्रापि कश्चन प्रश्नो भवति सस्कारस्य अय स्वभावो यत् पूर्वानुभूत विषयम् उपस्थापयतीति अननुभूतस्य विषयस्य उपस्थापक सस्कार कदापि न भवति किन्तु, स्मरणे अनुभूताएव विषया विषयीक्रियन्ते उत अननुभूता अपि ? इति

स्मरण तावत् “सो देवदत्त तत्र आसीत्” ‘स’ इत्यनेन अतीत-देशकालसम्बन्ध तस्मिन् पुरुषे इदानी विषयीक्रियते ‘अतीतत्व’ नाम ध्वसप्रतियोगित्वम् पूर्वन्तु अतीतत्व न अनुभूतम् यदा देवदत्तविषयको अनुभव पूर्व जात तस्मिन् काले अतीतत्वस्य अनुभवो नास्ति इदानी स्मरणेतु अतीतत्वस्य विषयीकरण वर्तते अतीतत्व सस्कारेण कथम् उपस्थापयितुं शक्यते ? अतीतत्व तावत् अननुभूत कथं वा स्मरणेन विषयीकर्तुं शक्यते ? सस्कारस्य तत्र कथं सामर्थ्यम् ? इति कश्चित् प्रश्नो भवति परन्तु मन करण, सस्कारो व्यापार इति यदा उच्यते तदानीं नास्ति दोष सस्कारस्य अननुभूत-विषयोपस्थापकत्वं तावत् प्रत्यभिज्ञाया दृश्यते सस्कार-सन्निकर्षाभ्यां जायमान ज्ञान ‘प्रत्यक्षम्’ उच्यते तत्र सस्कारोऽपि कारणम् तत्र अतीतत्वाशो य प्रत्यभिज्ञाया विषयीक्रियते सच अतीतत्वाश सस्कारबलात् उपस्थाप्यते ततश्च सस्कारस्य अननुभूत-विषयोपस्थापकत्वं सर्वेणापि प्रत्यभिज्ञाविषये अङ्गीकृतं वर्तते एव स्मरणस्थलेऽपि अननुभूतस्यापि अतीतत्वस्य विषयीकरण सस्कारवशाद् भवति सस्कारस्य तादृश सामर्थ्य सर्वेरेपि अङ्गीकर्तव्यं भवति इति हेतो तत्र मन करण सस्कार व्यापार, स्मृतिश्च फलम् एव स्मरणम् असाधारण फलं भवति मनसा तस्मात्,

मनस इन्द्रियत्व वर्तते इति हेतो स्मरण मानसप्रत्यक्षम् तस्य प्रत्यक्षभिन्नत्व कथमपि वक्तु न शक्यते इति द्वैतदर्शने प्रतिपाद्यते

एतस्मिन् दर्शने साक्षिरूपम् इन्द्रिय स्वीकृत वर्तते आत्मस्वरूपम् इन्द्रिय 'साक्षी' इति उच्यते अत्र तु अयं विशेष 'साक्षी' इति शब्द इन्द्रियेऽपि प्रयुज्यते, फलेऽपि प्रयुज्यते अत्र आत्मा तावत् फलरूपोऽपि साक्षिज्ञानस्वरूपम् अस्ति तथा इन्द्रियस्वरूपमपि, उभयमपि आत्मस्वरूपमेव साक्षिरूपस्य ज्ञानस्य आत्मस्वरूप विषय, आत्मधर्मा सुख-दुःखादय ये भवन्ति तेऽपि विषया, एव आकाश, काल, मन, मनोवृत्तय, एते सर्वेऽपि साक्षिविषया एतस्मिन् दर्शने स्वीक्रियन्ते

गोस्वामिचरणै यदा विषयनिरूपणं कृतं तत्र मया श्रुतं यत् सुषुप्तिकाले चित्तं जाग्रतं भवति अन्तःकरणस्य प्रभेदेषु अन्यतमम् भवति चित्तम् चित्तस्य जाग्रत्त्वं स्वीक्रियते चित्तेन तावद् आत्मनो अनुभवो वर्तते इति किन्तु द्वैतदर्शने, अद्वैतदर्शने, विशिष्टाद्वैतदर्शने अपि मनः सर्वथा सुषुप्तौ उपरतं भवति मनसो जाग्रत्त्वं सुषुप्तिकाले कथमपि नास्ति

नैयायिका वदन्ति, सुषुप्तिकाले ज्ञानमेव नास्ति इति तत्र दुःखाभावो वर्तते दुःखाभावस्य अनुभवोऽपि नास्ति कुतः ? किमपि कारणं तत्र नास्ति करणानि भवन्ति षट्, बाह्येन्द्रियाणि अन्तरिन्द्रियं च सर्वाण्यपि करणानि सुषुप्तिकाले उपरतानि सन्ति एवञ्च ज्ञानसाधनं किमपि नास्ति तस्मात् सुषुप्तिकाले ज्ञानमेव नास्ति इति

अद्वैतवेदान्तिनस्तु स्वापकाले आनन्दस्य अनुभवो वर्तते अयञ्च आनन्द आत्मस्वरूपभूत इति स्वीकुर्वन्ति यतोहि "एतावन्तं कालं सुखम् अहम् अस्वाप्सम्" इत्येवम् औत्तरकालीनं परामर्शो भवति तस्मात् कारणात् सुखस्य अनुभवो अवश्यं स्वीकर्तव्यं सुषुप्तिकाले सुखस्य अनुभवः केन वा कारणेन भवति ? मनः तथा सर्वविधं कारणं तदानीम् उपरतं वर्तते

तदानीम् आत्मा वर्तते. आत्माच स्वप्रकाशः, आत्मस्वरूपं, साक्षिरूपं ज्ञानं आत्मस्वरूपभूतं सुखं विषयीकरोति. सुखानुभवः चैतन्यात्मकः वर्तते इति वेदान्तिनां मतम्.

प्रद्योतकुमार : सुषुप्तिकाले यत् सुखं प्रकाशितं भवति तत्सुखं ...

डी.प्रह्लादाचार : न वैषयिकं सुखम्.

प्रद्योतकुमार : न. आनन्दस्वरूपं नतु वृत्तिरूपम् ?

डी.प्रह्लादाचार : नैव. सुखं द्विविधम्. १. मनःपरिणामभूतं सुखम् एकम्. एतदेव वृत्तिरूपं सुखम् उच्यते. २. आत्मस्वरूपभूतम् अपरम्. चैतन्यस्वरूपभूतं सुखन्तु सुषुप्तिकाले अनुभूयते. साक्षिरूपस्य ज्ञानस्य अथवा साक्षिरूपस्य इन्द्रियस्य अनेके विषयाः भवन्ति. कालः विषयः. "इदानीम् इदम् अस्ति, इदं नास्ति" इति वयं वदामः. 'इदानीम्' इति कालानुभवो वर्तते. अयञ्च कालानुभवो न अनुमानजन्यः. लिंगपरामर्शः इदानीं नास्ति, शब्दः च नास्ति, उपमानस्य कालविषये प्रसक्तिरेव नास्ति. तथाच प्रत्यक्षानुभवः कालस्य विषये वक्तव्यः. बाह्यचानाम् इन्द्रियाणां अन्तःकरणस्य च तत्र प्रवेशो नास्ति. किन्तु साक्षिणः.

एवम् आकाशोऽपि साक्षिविषयः. अन्धकारे अस्माभिः हस्तप्रसारणं क्रियते. तदानीम् अस्माकम् अयं विश्वासः "अस्ति अत्र आकाशः" इति. आकाशो वर्तत इति सिद्धवत्कृत्य हस्तप्रसारणं कुर्मः. नहि अस्माभिः आकाशो अत्र वर्तते इति केनापि अनुमानेन ज्ञात्वा तदनन्तरं हस्तप्रसारः क्रियते. स्वयं हस्तप्रसारः क्रियते खलु. तस्मात् आकाशोऽपि साक्षिविषयः इति सर्वैः अंगीकर्तव्यं भवति.

मनोरूपम् इन्द्रियं साक्षिविषयः. इतरेषाम् इन्द्रियाणां साक्षिविषयत्वं न उच्यते. बाह्येन्द्रियाणां साक्षिविषयत्वं नास्ति. "मम मनः एवं वदति" इति वदामः. तत्र मदीयं मनः मया अनुभूयते, सुख-दुःखादिमनोवृत्तयः याः भवन्ति तासाम् अनुभवो मम भवत्येव. एवम् एतत् सर्वमपि साक्षिणा

गृह्यते साक्षिरूपम् इन्द्रिय, साक्षिरूप ज्ञान च यदि न स्वीक्रियेते तर्हि आकाशस्य ज्ञान न स्यात् अन्तःकरणस्य मनस आकाशविषये सामर्थ्याभावात् आकाशो बाह्य पदार्थ, मनस्तु अन्तरिन्द्रियम् अन्तःकरणस्य बाह्यार्थे साक्षात् सम्बन्ध केनापि न अङ्गीकृत तथाच कालाकाशादीनाम् अनुभव कथं भवति इति वक्तुं न शक्यते एव सुषुप्तिकाले मुखस्य अनुभव कथं भवति इति वक्तुं न शक्यते इति हेतोः साक्षिरूपम् इन्द्रियम् अवश्यम् अङ्गीकार्यम् अतः इन्द्रिय सप्तविधम् इति एतन्मते स्वीक्रियते

प्रत्यक्ष तावत् निर्विकल्पक सविकल्पकम् इति द्विविधं नास्ति सर्वं ज्ञान सविकल्पकमेव शिशो यज् ज्ञानं भवति तदपि ज्ञानं सविकल्पकमेव भवन्तं सर्वे वदन्ति कथम् इदमिति शिशो यज् ज्ञानं भवति तत् निर्विकल्पकमेव स्यात् इति परन्तु किमपि प्रमाणं तत्र वक्तव्यम् शिशो अनुभवो न मम अनुभवो भवति भवद्भिः पृच्छ्येत शिशो सविकल्पकं ज्ञानम् अस्ति इत्यत्रापि किं प्रमाणम्? इति परन्तु अस्माकम् अनुभव परिशील्यता नाम, अनन्तर शिशो अनुभव परिशीलयितुं शक्येत

विन्ध्येश्वरीप्रसाद : किञ्चिद् इति ज्ञानं जायते

डी प्रह्लादाचारः तर्हि किञ्चित्वप्रकारकं ज्ञानं भवति

विन्ध्येश्वरीप्रसाद : विकल्प

डी प्रह्लादाचारः . 'विकल्पो' नाम प्रकार "इदं किञ्चिद्" इत्यत्र किञ्चित्वेन रूपेण ज्ञातं वर्तते सर्वथा निष्प्रकारकं वस्तुमात्रग्राहकम् ज्ञानं असम्भावितं भवति अपिच इन्द्रियस्य वस्तुना यदा सन्निकर्षं भवति तदा नैके पदार्था भासन्ते इति अवश्यम् अभ्युपगन्तव्यम् घटो अस्ति, घटे रूपं वर्तते, रूपघटयो य समवायः, समवायस्य ऐन्द्रियकत्वं ये अभ्युपगच्छन्ति तन्मते, एते त्रयोऽपि इन्द्रिययोग्याः सन्ति, इन्द्रियेण तेषां सन्निकर्षो भवति सतिच एव वस्तुत्रयविषयकं निर्विकल्पकं ज्ञानं जातम् इति वक्तव्यम् वस्तुत्रयं कुत? घटत्वं घटः, रूपत्वं रूपम्, समवायत्वं समवायः एव न्यूनातिन्यूनतया पदपदार्थविषयकं प्रत्यक्षं जायते इति अवश्यं

स्वीकर्तव्य भवति

नैयायिका. वदेयु तेषा मध्ये परस्पर सम्बन्धस्तु न अस्माभि
अवगत, पृथक्तया सर्वेऽपि पदार्था गृहीता तेषा परस्परसम्बन्धस्तु न
गृहीत इति तत्र किं कारणम्? इति वक्तव्यम् नैयायिकै विशिष्टज्ञान
प्रति विशेषणज्ञान कारणम् इति कार्यकारणभाव सिद्धवत्कृत्य “रूपी घट”
“अय घट.” इत्यादिज्ञान विशिष्टज्ञान भवति विशिष्टज्ञानस्य च
विशेषणज्ञानजन्यत्वनियमात्, विशेषणज्ञान पूर्वम् अगीकर्तव्यम् विशेषणज्ञान-
स्यापि सविकल्पकत्वे तस्यापि विशेषणज्ञानजन्यत्वम् इति अनवस्था स्यात्
अनवस्थापरिहारार्थं निर्विकल्पकज्ञानम् अगीकरणीय भवति विशेषणज्ञान च
निर्विकल्पकम् इति उच्यते परन्तु अस्मिन् नियमे किं प्रमाणम्? इति
पृच्छ्यते विशिष्टज्ञान प्रति विशेषणज्ञान कारण कुत? सर्वं ज्ञान
विशेषणज्ञानजन्यम् इति नैयायिकेनापि वक्तु न शक्यते स्मरणात्मक ज्ञान
निर्विकल्पकज्ञान किमपि जायते, तदनन्तर सविकल्पकज्ञान स्मरणात्मक
उत्पद्यते इति केनापि वक्तु शक्यते किम्? स्मरणविषये नास्ति

प्रद्योतकुमार : निर्विकल्पकस्मरणमपि सम्प्रदायविशेषे अगीकृतम् अस्ति

डॉ प्रह्लादाचार : एवम् गदाधरभट्टाचार्येणापि तत्र स्मरणस्य तावत्
सविकल्पकत्वमेव अगीकृतम् एवञ्च यत् ज्ञान विशिष्ट ज्ञान
तत् सर्वं विशेषणज्ञानजन्यम् इति नियम त्यक्त

प्रद्योतकुमार : अभावप्रत्यक्षे निर्विकल्पकजन्यत्व नास्ति

डॉ प्रह्लादाचार : अभावज्ञान प्रति प्रतियोगिज्ञान कारण भवति तत्र
प्रतियोगि विशेषणम् अस्ति एवञ्च अभावज्ञान विशिष्टज्ञान सत्
विशेषणज्ञानजन्यम् अभावप्रत्यक्षविषये विशिष्टज्ञानस्य विशेषणज्ञानजन्यत्व
सिद्धम् अस्ति यद् विशेष्यो कार्यकारणभाव तत्सामान्ययो कार्यकारणभाव
इति न्यायानुसारेण सर्वस्यापि ज्ञानस्य विशेषणज्ञानजन्यत्वम् स्वीकरणीयम्
इति नैयायिका वदन्ति परन्तु यदि यद्विशेष्यो कार्यकारणभाव तत्सामान्ययो

कार्यकारणभाव इति नियम स्वीक्रियते तर्हि सर्वस्यापि ज्ञानस्य विशेष्यज्ञानजन्यत्वमपि स्वीकर्तव्यं भवति यतोहि अनुमितिस्थले “पर्वतो वह्निमान्” इति अनुमिति विशिष्टज्ञानम् अस्ति इदञ्च विशिष्टज्ञानम् अनुमित्यात्मकं कदा भवति? पर्वतस्य विशेष्यस्य ज्ञान पूर्वं वर्तते चेत् पर्वतस्य ज्ञान, विशेष्यस्य पक्षस्य ज्ञान नास्ति चेत् अनुमिति न उत्पद्यते एवञ्च अनुमितिस्थले विशिष्टज्ञान विशेष्यज्ञानजन्यं वर्तते यदि विशेष्यो कार्यकारणभाव इति न्याय सर्वत्र अनुम्रियते चेत् तर्हि सर्वं ज्ञान विशेष्यज्ञानजन्यमपि स्वीकरणीयं भवति एवञ्च अनुमितिस्थले विशिष्टज्ञानस्य विशेष्यज्ञानजन्यत्वदृष्टेऽपि सर्वस्यापि ज्ञानस्य विशेष्यज्ञानजन्यत्वं यथा न स्वीक्रियते तथा अभावज्ञानस्थले अभावज्ञानं प्रति विशेषणज्ञानस्य कारणत्वेन अङ्गीकृतत्वेऽपि सर्वत्र विशेषणज्ञानस्य कारणत्वं न स्वीकर्तव्यम् अपिच अस्ति तादृशं विशिष्टं ज्ञानं यद् विशेषणज्ञानजन्यं न भवति, यथा स्मरणात्मकम्, एवञ्च अनेकशो व्यभिचारः दृश्यते इति हेतोः अयं नियम एव अप्रामाणिकः यः नियमम् आधारीकृत्य अनेकैः दार्शनिकैः, विशेषतो बौद्धैः, नैयायिकैः च निर्विकल्पकं ज्ञानं किमपि समर्थयितुं प्रयत्नं क्रियते



चर्चा

द्वैतदर्शने प्रत्यक्षस्वरूपम्

प्रो. डी. प्रह्लादाचार

वी. एन्. झा : प्रमातृस्वरूपम् इन्द्रियत्वेन स्वीकृतम्. तर्हि कर्तृकरणयोः ऐक्यम्...
डी. प्रह्लादाचार : तत्तु सत्यम्. अत्र अयं प्रश्नः. प्रमाता चेतनः साक्षिरूपी
इन्द्रियात्मकः इति उच्यते. तत्र भवद्भिः अयं प्रश्नः करणीयः.
कर्तृ-करण-फलानां ... कर्तृकरणयोः अभेदः स्वीक्रियते इति.
परन्तु अत्र अयं विशेषः. चेतनस्य, साक्षिणः इन्द्रियत्वं यदा
उच्यते तदा सः स्वभिन्नं ज्ञानम् उत्पादयति इति न अर्थः.
यथा चक्षुः स्वभिन्नं ज्ञानम् उत्पादयति तथा अत्र साक्षिरूपः
चेतनः स्वभिन्नं ज्ञानम् न उत्पादयति किन्तु स्वात्मानमेव
विषयसम्बद्धतया अभिव्यनयति इति हेतोः इन्द्रियत्वेन व्यवहारः
क्रियते.

गो. श्या. म. : “उद्धरेद् आत्मना आत्मानम्” आत्मना आत्मानम् उद्धरेत्.
कर्तृ-करणयोः ऐक्यम्.

प्रद्योतकुमार : अद्वैतवेदान्ते साक्षिज्ञानं स्वीकृतम्. The reason why
they admit Sākṣi Pratyakṣa is this that they admit
perception of pleasure etc But at the same time
they find Manas is not an Indriya And therefore,
to account for it they have to admit a separate
type of Pratyakṣa That is there position The idea
is this that here ‘Pratyakṣa’ is used in the same
sense Vṛtījñāna In the Vṛtījñāna what happens
is this that Viśayākar Vṛtī is necessary for any

pratyaksa may be possible whether सुखविषयक
 घटविषयक, विषयाकारवृत्ति is necessary But since
 in the case of Sukha Duhkha etc such Antahkarana
 Vrtti is not possible, they admit Avidyā Vrtti
 अविद्यावृत्तिसहायेन यस्य विषयस्य प्रत्यक्ष तत् साक्षिप्रत्यक्षम्
 तत्र साक्षिस्वरूप नतु इन्द्रिय, तत्तु चैतन्यमेव। किञ्चिदुपाधि-
 विशिष्टतया तस्य साक्षित्वेन व्यवहार परन्तु अत्र सुखदुःखादीना
 यज् ज्ञान तत् प्रमातृरूपसाक्षिरूपेन्द्रियेण जन्यते तस्य किं
 स्वरूपम्? वृत्तिरूप ज्ञान तत्?

डी प्रह्लादाचार : अद्वैतसिद्धान्ते साक्षिरूप ज्ञानम् अगीक्रियते भवद्भि
 उक्तरीत्या अविद्यावृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्य साक्षि इति अगीक्रियते
 सुख-दुःखादिक न बाह्यम् अन्तरा भवति मन परिणामभूता
 एव तस्मिन्नपि मते परन्तु तत्र शुद्धस्य चेतनस्य विषयग्राहकत्व
 न अगीक्रियते शुद्ध चेतन स्वप्रकाशो अगीक्रियते स्वप्रकाश
 इत्यस्यापि प्रमाणान्तरेण अवेद्य इति, अद्वैतदर्शने इदं विवरण
 दीयते परन्तु शुद्धस्य चेतनस्य सुखादिग्राहकत्व नास्ति यदा
 वृत्तिसम्बन्ध प्राप्नोति तदानीमेव स चेतन विषय ग्राहीतु
 प्रभवति अतएव अविद्यावृत्ति-प्रतिबिम्बित चैतन्य साक्षिरूप
 स्वीकृत्य एतस्य साक्षिणो विषया भवन्ति सुख-दुःखादय
 इति ते निरूपयन्ति

प्रद्योतकुमार : तत्र साक्षिग्राहक

डी प्रह्लादाचार : साक्षि तावत् चेतनस्वरूप ज्ञानम्

प्रद्योतकुमार : विषयि, नतु इन्द्रिय

डी प्रह्लादाचार : इन्द्रियत्व तै न उक्तम्

प्रद्योत कुमार : अनयो मध्ये श्रेयस्कर पक्ष क ?

डी प्रह्लादाचार : द्वैतमतेतु साक्षिरूप ज्ञान स्वीकृतम् यथा अद्वैतमते
 साक्षिरूप ज्ञान चेतनस्वरूप ज्ञानम् अस्ति तद्वदेव साक्षिरूप
 चेतनात्मक ज्ञान स्वीकृतम् अस्ति एतस्मिन् अशे अनयो

साम्यं भवति अन्येषु बहुषु विषयेषु वेलक्षण्यम् भवति
 अद्वैतसिद्धान्ते साक्षिरूपं ज्ञानम् अयथार्थमपि भवितुम् अर्हति
 यतोहि शुक्तिरजतज्ञानं यदा भवति

प्रद्योतकुमारः : श्रुतयोऽपि न प्रमा ।

डी प्रह्लादाचारः : शुक्तिरजतज्ञानं यदा जायते तच्च ज्ञानं साक्षिरूपं ज्ञानमेव
 तत्र अविद्यापरिणामो वर्तते शुक्तिरजतम् अविद्यापरिणामं
 तद्विषयीकारित्वं स्वीक्रियते एवञ्च शुक्तिरजतज्ञानं यद् भ्रान्तिरूपं
 ज्ञानं तत् साक्षिरूपं भवति

द्वैतदर्शने साक्षिरूपं ज्ञानं नियमेन यथार्थम् इदं ज्ञानम्
 अयथार्थं कदापि न अनुभूयते अस्माकम् “अहम् अस्मि
 न वा ?” इति सशयो वा “अहं न अस्मि” इति विपरीतनिश्चयो
 वा नास्ति यदा “मयि सुखं दुःखं वा नास्ति तदानीम्
 अहं सुखी अहं दुःखी” इति अनुभवो नास्ति यदा सुखम्
 अस्ति तदानीमेव “अहं सुखी” इति ज्ञानम् यदा दुःखम्
 अस्ति तदानीमेव “अहं दुःखी” इति ज्ञानम् एव साक्षिणा
 यद्यद् गृह्यते तत् सर्वदा सत्यमेव भवति

गो श्यामः : Synthetic a priori

डी प्रह्लादाचारः : साक्षिरूपं ज्ञानं कदापि अयथार्थं न भवति इदं किञ्चिद्
 वेलक्षण्यम् भवता प्रश्नस्तु भवति, साक्षिण इन्द्रियत्वं कुत ?
 साक्षिरूपं ज्ञानं स्वीक्रियतां, यथा अद्वैतदर्शने, अत्र साक्षिण
 इन्द्रियत्वं कुत ? इति यद्यपि साक्षी एका एव इन्द्रियभिन्ना
 साक्षिरूपं ज्ञानम् अत्र नास्ति साक्षिचेतनस्तु वर्तते इदानीमपि
 सच्चैतनो विषयान् अभिव्यनक्ति चैतनरूपं ज्ञानं नैव जायते
 तच्च ज्ञानं नित्यं परन्तु विषयाभिव्यञ्जकत्वं तावत् विशेषतो
 भवति पूर्वं विषयाभिव्यञ्जकत्वं यन् न आसीत् तद् इदानीं
 जातम् तत्र किं कारणम् ? स्वयमेव

प्रद्योतकुमार : आवरणभंगम्.

डी.प्रह्लादाचार : किमपि उच्यताम्. परन्तु विषयाभिव्यञ्जकत्व यत् पूर्वं न आसीत् चेतनरूपस्य ज्ञानस्य ... ज्ञानन्तु आसीत्. परन्तु तत्र विषयाभिव्यञ्जकत्वम् इति कश्चन विशेषः कोऽपि जातः.

प्रद्योतकुमार : विषय... आवरणत्वं नास्ति.

डी.प्रह्लादाचार : तत्र किमपि अन्यत् करणं नास्ति, स्वयमेव विषयाभिव्यञ्जकमपि भवति इति हेतोः तस्यैव इन्द्रियत्वेनापि व्यवहारः क्रियते.

विन्ध्येश्वरीप्रसाद : “इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते” इति दृष्ट्या इन्द्रियं नैव इन्द्रएव.

डी.प्रह्लादाचार : तद् अस्तु. तत्तु अन्यथा रीत्यापि वक्तुं शक्यते. तत्र इन्द्रत्वं नाम महासामर्थ्यशालित्व यत्किमपि तद् भवतु नाम. अत्र तावत् साक्षिरूपं यज् ज्ञानं वर्तते ... ‘ज्ञानं’ नाम विषयाभिव्यक्तिः ...

प्रद्योतकुमार : सुषुप्तिकाले यत् सुखं प्रकाशितं भवति तच्च चैतन्यस्वरूपमेव इति चेत् तस्य स्वप्रकाशत्वम्. तत्प्रकाशार्थं कथम् इन्द्रियं स्वीकार्यम्?

डी.प्रह्लादाचार : जाग्रत्कालेऽपि सएव चेतनो अस्ति. स्वापकाले यत् सुखम् अनुभूयते तत् सुखं जाग्रत्काले न अनुभूयते. जाग्रत्काले अनुभूयमानं सुखं हि दुःखमिश्रितं भवति. तत्तु जडभूतं सुखम्. अन्तःकरणपरिणामभूतं वृत्तिरूपं सुखं तत्. चैतन्यात्मकं यत् सुखं ... दुःखमिश्रितं सुखं वर्तते ...

वी. एन्. झा : ... ज्ञानजन्यम्...

डी.प्रह्लादाचार : तद् अभिव्यक्तिमात्रम्. सर्वत्रापि अभिव्यक्तिरेव तत्र.

प्रद्योतकुमार : तत्तु स्वप्रकारम्?

डी.प्रह्लादाचार : स्वप्रकारां नाम ... अभिव्यक्तिस्तु जाता. पूर्वम् अभिव्यक्तिः न आसीत्, इदानीम् अभिव्यक्तिः अभूत्.

प्रद्योतकुमार : सुषुप्तिरेव तत्र सहकारिणी ?

डी.प्रह्लादाचार : सुषुप्ति नाम अवस्थाविशेष तस्याम् अवस्थायाम् अभिव्यक्ति जाता तादृशाभिव्यक्ते स्वयमेव तत्र का

प्रद्योतकुमार : तदवस्थाविशेषे यत् सुखस्य प्रकाशो अस्ति तत्र इन्द्रियस्य किं कार्यम् ?

डी प्रह्लादाचार : इन्द्रिय किमपि अन्यत् नास्ति

अच्युतानन्द दास : तत्र एका शका यदि साक्षिरूपस्य चैतन्यस्य इन्द्रियत्वं स्वीकुर्वन्ति तर्हि सामान्यतः “इन्द्रियम् अतीन्द्रियम्” इति उच्यते आत्मनस्तु साक्षात्कारो भवत्येव तथा सति पुन इन्द्रियस्य लक्षणं किञ्चित् अन्यथा रीत्या वक्तव्यं भविष्यति किल ? साक्षिरूपं यद् आत्मचैतन्यं वर्तते साक्षिण इन्द्रियत्वे स्वीकृते सति इन्द्रियम् अतीन्द्रियम् इति कथा कदाचित् अपास्ता भविष्यति यतः साक्षिण

डी प्रह्लादाचार : इन्द्रियम् अतीन्द्रिय नाम बाह्येन्द्रियाणां वा मनसो वा अविषय इति अर्थः मनस्तु इन्द्रियम् एतस्मिन् अर्थे अतीन्द्रियम् किन्तु मनः साक्षिविषयम् इति मया प्राग् नैयायिकमते भवतु नाम तत्र नैयायिकान् प्रति ऐन्द्रियकत्वं मनसः साध एतस्मिन् दर्शने

बलिराम शुक्ल : तेषाम् आशय इदं भवति, तत्र इन्द्रियत्व नाम किम् ?

डी प्रह्लादाचार : इन्द्रियत्व प्रत्यक्षात्मकज्ञानकरणत्वम्

बलिराम शुक्ल : तद् यत्र कुत्रापि वर्तते तत्र सर्वत्रापि इन्द्रियत्वम्

डी प्रह्लादाचार : एवम्

बलिराम शुक्ल : तर्हि विषयस्यापि इन्द्रियत्वापत्तिः भविष्यति

डी प्रह्लादाचार : तत्तु वर्तते तथापि सर्वेष्वपि मतेषु योऽपि अयं विषयः चर्चितः तत्र सन्निकर्षः तावत् प्रत्यक्षम् इति उच्यते प्रत्यक्षम् अक्षस्य यथा अर्थसन्निकर्षो भवति, अर्थस्यापि अक्षसन्निकर्षो वर्तते एवञ्चेत् ‘प्रत्यक्ष’ ज्ञानम् इति कुत ? ‘प्रत्यक्ष’ ज्ञानम्

इति व्यवहार स्यात् इति ते शास्त्रिभि उक्तम् तत्र
अक्षस्य करणत्वात् करणस्य प्राधान्य स्वीकृत्य खलु व्यपदेश
स्वीक्रियते

प्रद्योतकुमार : भवतो अभिप्राय एवम् आसीत् यद् विशिष्टज्ञान
विशेषणज्ञानपूर्वकम् इति नियमे का युक्ति ? नास्ति युक्ति
तत्र कथम् ? यदा विशेषणज्ञानपूर्वक विशिष्टज्ञानम्, अनुमिति
शब्दोऽपि that rule will be applied But in that
case you have not done distinction between
if I say in case of Anumiti, Sabda all these cognitions
are necessarily, नियमतो विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही नतु
विशिष्टज्ञानम्

डी प्रह्लादाचार : विशिष्टवैशिष्ट्यज्ञान विशिष्टज्ञानमपि भवति विशिष्टवैशि-
ष्ट्यज्ञान विशेषणतावच्छेदक-प्रकारकज्ञानजन्य विशिष्टज्ञान
विशेषणज्ञानजन्यम् इति एवम् उच्यते शाब्दरूप ज्ञानम्
अनुमित्यात्मक ज्ञान विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिज्ञान भवति
प्रत्यक्षमपि तथैव यथा “घटो रूपी” इति प्रत्यक्ष जायते
तदानीं रूपत्वविशिष्ट-रूपवैशिष्ट्यावगाही इद ज्ञान भवति अयं
घट इति ज्ञानन्तु घटत्वविशिष्टज्ञान यदि घटत्वस्य स्वरूपतो
भानम् अंगीक्रियते “दण्डी पुरुष” इत्यादौ तावत्
विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही ज्ञान

(अत्र सहसा विद्युत्प्रवाहोपरोधाद् ध्वनिमुद्रणभग)

Perception Sāṅkhya and Śuddhādvaitic Views

Dr. Sunanda Y. Shastri

In the field of epistemology, perception as means of valid knowledge has been unanimously accepted by the systems of thought as an important one. Sāṅkhya system has accepted three means of valid knowledge i.e. perception, inference and testimony.

दृष्टम् अनुमानम् आप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् ।
त्रिविधं प्रमाणम् इष्टं प्रमेयसिद्धिं प्रमाणाद् हि ॥
(सांख्यकारिका ४)

Sāṅkhyas do not accept the other means of valid knowledge like comparison (उपमान), assumption (अर्थापत्ति), non apprehension (अनुपलब्धि), (ऐतिह्य) tradition, intuition (प्रतिभा) etc. All these other valid means of knowledge can be reduced to either perception, inference or testimony. Anything that can be known must be demonstrably established in relation with one of these means of valid knowledge.

Sāṅkhya Sūtra 'तत्सिद्धौ सर्वसिद्धे नाधिक्यसिद्धिः' (I 88) emphasises that there should be only three Pramāṇas. While commenting on this Sūtra Vijnānabhikṣu (सांख्यप्रवचनभाष्य १।८८) explains that

for the accomplishment of all purposes perception, inference and testimony alone are enough. Accepting additional Pramāṇas is unnecessary. त्रिविधप्रमाणसिद्धौ च सर्वस्य अर्थस्य सिद्धे न प्रमाणाधिक्यं सिध्यति, गौखाद् इति अर्थः In this regard Vijnanabhikṣu quotes Manu

प्रत्यक्षम् अनुमानं च शास्त्रं च विविधागमम् ।

त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिम् अभीप्सता ॥

(XII 105)

“One who desires purity in the path of righteousness should resort to these three means of valid knowledge viz perception, inference and scriptures”

Sāṅkhyakārikā places perception in the first place in Kārikā 4 and on it Māthārācārya says “यथा श्रोत्रादीनां शब्दादयः पञ्चेन्द्रियार्थाः पञ्चानां दृष्टं प्रमाणम् प्रथमम् इदं मुख्यं सफलप्रमाणानाम्” Perception is caused by sense capacities. Perception is the principle instrument of knowledge and is hence stated first. Vācaspati states three reasons why perception has to be considered first of all the means of valid knowledge viz. 1 Perception occurs in time before the other means of valid knowledge such as inference etc. 2 the other means of valid knowledge dependent on perception and 3 every system of philosophy accords first place to perception. Sāṅkhyakārikā has given word ‘दृष्टम्’ for perception and Māthārācārya has explained what ‘दृष्टम्’ means in the Kārikā. It says ‘दृष्टम्’ is synonym of ‘प्रत्यक्षम्’=perception. “दृष्टम् इति प्रत्यक्षपर्यायः. अक्षम्

इन्द्रिय प्रतीत्य यद् उत्पद्यते ज्ञान तत् प्रत्यक्ष दृष्टम् उच्यते” The knowledge which arises through sense object contact is called perception

Definition of perception put forth by Sāṅkhyakārikā is “प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्” Perception is The reflective discerning (अध्यवसाय) that rises through sense contact with the particular object of sensing (सा का ४) अध्यवसाय Could be understood as belief or discrimination Mātharācārya explains the ‘अध्यवसाय’ as, the knowledge obtained through eye etc, five sense organs-object contact i.e “विषय विषय प्रति यो अध्यवसायो नेत्राणाम् इन्द्रियाणां पञ्चानां रूपादिषु पञ्चसु तत् प्रत्यक्ष प्रतिपत्तिरूप दृष्टाख्यम्” Vācaspati defines perception as “reflective discerning” as belief (निश्चय) as opposed to doubt or vacillation (संशय) Vijñānabhikṣu’s definition is not far from the above definition Commenting on Sāṅkhyasūtra, “यत्सम्बद्धं सत् तदाकारोलेखि विज्ञानं तद् प्रत्यक्षम्” (सांख्यप्रवचनसूत्र 189) Vijñānabhikṣu says, when connected with the object, the (बुद्धिवृत्ति) modifications of mind take the form of that object, that is perception “सम्बद्धं भवत् सम्बद्धवस्त्वाकारधारी भवति यद् विज्ञानं बुद्धिवृत्ति तत् प्रत्यक्षं प्रमाणम् इति अर्थः” (सांख्यप्रवचनसूत्रभाष्य 189) This clearly signifies that for the accomplishment of perception unhindered sense object contact is necessary

Process of perception according Sāṅkhyas is more or less understood from their definition of perception Sāṅkhyakārikā does not clarify the process of perception It simply says ‘दृष्टम्’ and defines, “प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्” from which one understands only that five sense organs perceive sense objects

Vacaspatimishra has elaborately described the process of perception, that is, "Perception is the reflective discerning (अध्यवसाय) that arises through the direct contact (सन्निकर्ष) between a sense capacity (इन्द्रिय) and a real object to be known (प्रमेय) such as earth, pleasure etc" Such reflective discerning, which is an operation of intellect, is one important kind of awareness, and this kind of awareness arises when the intellect is in its Sattva modality has been subverted. When there is such contact between a sense capacity and an object with the resulting awareness taking place in intellect, the condition is also known as an operation (वृत्ति). Awareness, operation and intellect, it should be noted are manifestations of materiality, and thus are devoid of consciousness. Nevertheless, the intellect casts a kind of shadow of perhaps better, becomes a reflection (प्रतिबिम्ब) in the pure medium of consciousness so that it appears as if it were consciousness. By the same token the images that manifest themselves in consciousness appear to characterize the nature of consciousness. Finally, it should be noted that the description of perception as direct contact with specific object excludes doubt, misconception, inference and memory (Encyclopaedia of Indian Philosophies, vol IV Sankhya, p 303). Sāṅkhyapravāṇabhāṣya's definition leads us to understand the process more clearly, i.e. modification of mind/intellect takes form of outer object.

The process by which a means of valid knowledge works in this—first intellect assumes the form is reflected as an

image in consciousness Since consciousness can not be modified, his reflection can only be an image “इन्द्रियप्रणालिकया अर्थसन्निकर्षेण लिङ्गज्ञानादिना आदौ बुद्धे अर्थाकारा वृत्ति जायते” (सांख्य प्र भाष्य 1 87)

The Yoga school calls the process of awareness as ‘चित्तवृत्ति’ instead of ‘बुद्धिवृत्ति’ or ‘अन्तःकरणवृत्ति’ Vyāsabhāṣya on Pātañjala Sūtra defines the process of perception as the modification of the mind being connected with an outside object through the channel of sense organs and making that object its own. Mainly comprehends the special nature of the object which has general and special characteristics is the source of correct knowledge called ‘perception’ The result of perception is the knowledge of modification of the mind as belonging to the Purusa (self) which is identical with the modifications of mind Purusa is conscious by reflection

“इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात् तद्विषय सामान्यविशेषात्मनो अर्थविरोधावधारणप्रधाना वृत्ति प्रत्यक्ष प्रमाणम् फलम् अविशिष्ट पौरुषेय चित्तवृत्तिबोधो बुद्धे प्रतिसवेदी पुरुष इति”
(पात सू समा पा ७ व्यासभा)

Vijñānabhikṣu explains Vyāsabhāṣya even more perfectly. He says “The senses are themselves the channels i.e. the path through which the mind travels, combining with them and through their parts, the mind affected by the outside objects, becomes one with the objects, only with the help of the senses. The mind alone does not become one with

the object, just as, when the conch is seen yellow, it is the presence or absence of bile in the eyes, which is its cause. Therefore, in seeing colour and so on, the eyes etc also is mentioned as 'cause' in the Śāstras and not the mind alone

“इन्द्रियाण्येव नाडी-चित्तसञ्चरणमार्गं, तै समुज्य तद्गोलकद्वारा
वाह्यवस्तुषु उपरक्तस्य चित्तसेन्द्रियसाहित्येनैव अर्थाकार परिणामो
भवति न केवलस्य चित्तस्य, शखपैत्याद्याकारताया नयनादिगत-
पित्ताद्यन्वय-व्यतिरेकाभ्याम् अतो रूपादिवृत्तिषु चक्षुतदीनामपि कारणत्व
शास्त्रेषु उच्यते”

(Vijnānabhikṣu's Vārtika on Vyāsaśāstra, Samādhīpāda-7)

This indicates only the outside object's knowledge or perception. It does not include perception of Ātman or Īśvara, since it combining with the senses does not give rise to it. In the perception of Ātman or Īśvara, there are no senses involved.

We gain perceptual knowledge through five sense organs of sound, touch, colour, taste and smell. Sometimes knowledge of perception is obstructed due to many reasons. Sāṅkhyakārikā enumerates eight such reasons viz.

- 1 being very far,
- 2 being very close,
- 3 disability of sense organs,
- 4 mind being inattentive,
- 5 object being too subtle,

- 6 object being hidden,
- 7 being overpowered by some other object and
- 8 being mixed with similar things

— sense object contact does not take place and prevent ordinary perception

अतिदूरात् सामीप्याद् इन्द्रियघातात् मनोऽनवस्थानात् ।

सौक्ष्म्याद् व्यवधानाद् अभिभवाद् समानाभिप्रायात् च ॥

(साह्यकारिका ७)

Thus non apprehension of existents is of eight kinds, whereas, non existence (अभाव) is of four kinds viz 1 prior non existence (प्रागभाव) 2 posterior non existence (प्रत्यक्षभाव) 3 absolute non existence (अत्यन्ताभाव) and 4 mutual non existence (अन्योन्याभाव) This makes non apprehension as of twelve kinds Matharjācārya says “एवम् इयं द्वादशधा अनुपलब्धिः सताम् अप्येषा हि असता चतुर्धा” For ordinary persons, perceptions are limited to specific awareness related to the gross aspects of experience, by Yogis and other higher beings are also able to perceive ‘non specific’ (अविशेष) matters, such as the subtle elements

It is necessary to note that Vacaspathiśāstra for the first time made clear distinction between indeterminate (निर्विकल्प) and determinate (सर्विकल्प) perception in Sāṅkhya epistemology. The sense organs can only sense (आलोचनमात्र) the object without any mental ordering and verbal characterization i.e. mind is not involved in this stage nor can it be described

by speech This is indeterminate (निर्विकल्प) perception Then mind performs the task of ordering and verbalizing the impression of the senses i.e. mind is involved in this stage and makes perceptual knowledge determinate (साध्यकौमुदी)

Regarding the theory of perception, Viṣṇūabhikṣu's special contribution is two fold (साध्यप्रवचनभाष्य - II 32) 1 Viṣṇūabhikṣu disagrees with Vācaspati and states that sense organs are capable of both indeterminate (निर्विकल्प) and determinate (सविकल्प) perception Mind only plays a role of focusing attention (सकल्प) and initiating mental constructions (विकल्प) Here, Viṣṇūabhikṣu relates the role and function of sense capacities in perception and 2 Sāṅkhyakārikā and Pātañjala Sāṅkhya refer respectively to 'बुद्धिवृत्ति' and 'चित्तवृत्ति' but do not explain their functions in the cognitive process Vācaspati carried the discussion further by attributing mere awareness with mental elaborations (निर्विकल्प) to the sense capacities and mental elaboration (सविकल्प) to mind According to Viṣṇūabhikṣu, perception is primarily a result of interaction of will and sense capacities Mind as the result plays a very minor role

“कश्चित्तु निर्विकल्पक ज्ञानमेव आलोचनम् इन्द्रियजन्यं च भवति, सविकल्पकस्तु मनोमात्रजन्यम् इति श्लोकार्थम् आह, तत् न योगभाष्ये व्यासदेवे विशिष्टज्ञानस्यापि ऐन्द्रियकस्य व्यवस्थापितत्वात्, इन्द्रियै विशिष्टज्ञाने बाधकाभावात् च स एव सूर्यार्थमपि एव व्याचष्टे बाह्येन्द्रियम् आरभ्य बुद्धिपर्यन्तस्य वृत्ति उत्सर्गत क्रमेण भवति कदाचित्तु व्याघ्रादिदर्शनकाले भयविशेषाद् विद्युल्लतेव सर्वकरणेषु एकदैव वृत्ति

भवति इति अर्थ इति तदप्यसत्, सूत्रे इन्द्रियवृत्तिनामेव
क्रमिकाक्रमिकत्ववचनात् न बुद्धचहकारवृत्यो प्रसंगोपि अस्ति”
(सांख्यप्रवचनभाष्य २।३२)

In Prasthānaratnākara, Purusottamacarana has clearly accepted four means of valid knowledge viz testimony/autho-
rity, perception (Pratyaksam), tradition (Aitihiya) and inference
(Anumāna) “श्रुति प्रत्यक्षम् ऐतिह्यम् अनुमान चतुष्टयम्” (प्रस्थानरत्नाकर
२।२।९) First place is given to Sabapramāna or testimony,
since all other means of valid knowledge are dependent on
Śruti (प्रस्थानरत्नाकर - II II 12) “सर्वाण्येव प्रमाणानि सत्त्वमेव कथञ्चन,
उपजीवन्ति तद् हेतौ कथित पूर्वम् आगम”), whereas, Sāṅkhyas consider
only three Pramānas (प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द) and they place
Perception first

Purusottamaji defines perception as ‘इन्द्रियात्मक प्रमाण प्रत्यक्षम्’
(प्रस्थानरत्नाकर - p 127) perception is identified with sense
organs, that means sense organs are the instruments of direct
perception This knowledge of perception is gained through
six instruments viz five sense organs and the mind “प्रत्यक्षे
चक्षुरादिभेदेन षट् करणानि” (प्रस्थानरत्नाकर p 127)

Sāṅkhyas do not consider Perception as ‘इन्द्रियात्मक’, but
according to them, Perception is reflective discerning
(अध्यवसाय)

Perceptual knowledge is of six kinds viz
1 visual (चाक्षुषप्रत्यक्ष)

- 2 Tactual (त्वाचप्रत्यक्ष)
- 3 Gustatory (रासनप्रत्यक्ष)
- 4 Auditory (श्रावणप्रत्यक्ष)
- 5 Olfactory (घ्राणप्रत्यक्ष) and
- 6 mental (मानसप्रत्यक्ष)

Manas is regarded as internal organ (अन्तःकरण) “तानि चक्षु-त्वक्-घ्राण-रसन-श्रवण-मनो-भेदेन पद” (ग्रस्थानरत्नाकर p 127) These six faculties are considered atomic in size They can not be perceived by sense organs, they are non eternal yet long lasting and subject to transformation “एतेषा इन्द्रियाणा स्वरूपन्तु अणुतमम् अतीन्द्रियम्, अनित्यम्, चिरस्थायी विकारी च” (प्र र p 128) Eyes can perceive form, colour and size when it is manifested Similarly, sense qualities of touch, smell, taste and sound should be manifested for the sake of perception (प्र र p 128 129) Desires, affection, passions etc are perceived by the mind “मनसस्तु कामादयो वृत्तयएव मनोग्राह्या” (प्र र p 130)

Perception of the self (Ātma) in its pure form can not be perceived by ordinary perception “आत्मातु केवल शास्त्रीयसाधनम् अन्तरेण न प्रत्यक्ष तथा तद्धर्मा च” (प्र र p 120)

Only through proper means prescribed by the scriptures, the perception of the self (Ātma) is possible The self can be experienced through the notion ‘I’ by an individual, due to the identification of self with ego “अहबुद्धिस्तु पटावृतघटबुद्धिर्वा अहकारसर्गाद्वारिका व्यवहारोपयोगित्वात् प्रमाभासरूपैव, अहन्तातादात्म्यभावेन भ्रमरूपत्वात्” (प्र र p 130) Perception of the God is possible

only through the grace of God This kind of perception is the seed of devotion Bhakti (प्र p 160 161)

Tamas (darkness) is considered as separate category which can be perceived It is not mere negation of light Tamas is considered as production of Māyā Human beings can not see through darkness, but animals like cat and owl can see in the darkness, because darkness of Māyā can not cover their eyes

“अन्धकारस्थघटादिषु नृचक्षु प्रति मायया तमोजननात् तदेव विपयीक्रियते, नतु विषय तदावृत्तत्वात् एवञ्च विषयालोकसयोगस्य सहकारितापि न कल्पनीया, अभास्वर-द्रव्य-चाक्षुषत्वावच्छिन्न प्रति दूत्व-व्यवधानाभावादि-विशिष्टस्य विषयतयैव निर्वाहात्, “यथाहि भानो उदयो नृचक्षुषा तमो निहन्त्यात् नतु तद् विधत्ते” (भाग पुरा १०।२८।३४) इति वाक्ये भगवता सूर्योदयस्य नृचक्षु-सम्बन्धि-तमोनिवारकत्वेनैव कथनेन आलोकसयोगस्य विषयादिसंस्काराया विरद्धत्वात् एवञ्च उलूकबिडालादीनाम् आलोकसयोगाभावे वस्तुचाक्षु-पमपि अनुकूलीभवति तमस्तु पदार्थान्तरमेव न तेजोभावो “अन्धकारोऽस्त्रिया ध्वान्तम्” (अमरकोश १।८।३) इत्यादिनामपाठात् “ध्वान्ते गाढे अन्धतमसम्” (तत्रैव १।८।३) इत्यादिभेदपाठात्, “हृतरूपन्तु तमसा वायौ ज्योति प्रलीयते, स्वतेजसा अपिबत् तीव्रम् आत्मप्रस्वापन तम” (भाग पुरा १०।३।१४) इति तथ्य-मातृकविरोधवचनात् च”

(प्र १३०-३१)

Similarly reflection (प्रतिबिम्ब) also is accepted as separate category and product of Māyā “तथा प्रतिबिम्बस्यापि पदार्थान्तरत्वम्” (प्र - १३१)

Abhava (non existence) is locus of negated object. Negation is itself regarded as the positive existence of the locus in which the negation appears with specific reference to the appearance or disappearance of the negated object. Non existence is connected with material cause. When, material cause is seen, appearance and disappearance of the product of that cause is subject of perception (प्र र p 131 36)

According to Sankhyas, the object beyond sense perception (अतीन्द्रिय) are subject of inference and authority "अतीन्द्रियाणां प्रतीति अनुमानात्" (सांख्यकारिका-६) which is different than Vallabha's view, which accepts perception of self through scriptures and not through inference. In the earlier, Sāṅkhya school, perception of God is not accepted because existence of God can not be proved "ईश्वरसिद्धे" (सांख्यसूत्र १।१२)

Four kinds of Abhava (non existence) is accepted by Vallabhas as well as Sāṅkhyas. Neither Vallabhas, nor Sankhyas accept non apprehension (अनुपलब्धि) as an independent means of valid knowledge. After evaluating views of other schools of thought, in this regard, Puruṣottamacārana has stated that it is not necessary to accept non apprehension as an independent means of valid knowledge to perceive. Because, just as after perceiving particular object through the eyes, its knowledge is manifested. Similarly, we do not get knowledge of any object through non apprehension "अनुपलब्धे न अभावग्रहणं प्रति करणत्वं, चक्षुषा अवगतं, इतिवद् "अनुपलब्ध्या अवगतं" इति प्रत्ययाभावात्" (प्र र १४१)

Process of direct perception according to Purusottamacarana as follows—

“तत्र अयं क्रम - “दैवानुकूल्येन अन्तर्यामिणा मन तत्तत्कार्यार्थं प्रेर्यते, तत् च इन्द्रियप्रेरणाय तत्तदिन्द्रियेण ससृज्यते तत्र तत्तदिन्द्रियदेवतानुकूल्ये विषयसंसृष्टे इन्द्रिये स्वावच्छिन्ने मनसि पूर्वं निर्विकल्पक उत्पाद्यते तदा इन्द्रियदेशे बुद्धे वृत्ति ततो बुद्ध्यापि वृत्तिद्वारा तदनुग्रहे सविकल्पक भवति”

(प्र र p 147-148)

- 1 Mind becomes ready for particular action, inspired by inner controller (अन्तर्यामी),
- 2 then mind inspires concerned sense organs,
- 3 when sense organs are in agreement with their presiding deities, then only sense organs come in contact with objects,
- 4 then indeterminate knowledge is generated after objects are reflected in the sense organs,
- 5 then along with the mixing and friction of the three Gunas in intellect, intellect may grace the sense organs, partially or totally,
- 6 then mental states accordingly, manifest and different kinds of determinate knowledge arise,
- 7 emotions like attachment, aversion or neutrality etc become strong according to the different kinds of determinate knowledge,
- 8 from these emotions, inner and external activities, like will

efforts etc emerge,

9 then the activity of accepting or rejecting or neutral attitude takes place and

10 in the end, gain and loss which is cause of happiness and sorrow or indifference manifest

The division of indeterminate (निर्विकल्पक) and determinate (सविकल्पक) knowledge is explained by Purusottamacarana in the above process itself Indeterminate knowledge created by the sense object contact achieves its visual etc determinate state through mental states (वृत्ति)

Here, Purusottamacarana presents the Sāṅkhyas as prior view and refutes it According to Sāṅkhyas, the form of the objects seen outside, can be felt within after closing eyes This form can not be of the outer object, because abandoning outer substratum, entering of that form within seems impossible Therefore, that form has to be accepted as the form of some inner object within Sāṅkhya school calls it 'Vṛtti' (mental state) as different egoistic principle

"तत्र नेत्रे निमीलने कृते बहिर्दृष्टपदार्थस्यैव कश्चिदाकारो नेत्रान्तरभासते स आकारो न बाह्यवस्तुन, आश्रयम् अतिहाय तत्र तस्य असात्म्यवचनत्वात् अतः स आन्तरस्यैव कस्यचन भवितुम् अर्हतीति तदाश्रयत्वेन साङ्ख्यै आहङ्कारिक तत्त्वान्तर वृत्ति नामक कल्प्यते"

(प्र.१ प 144)

Sāṅkhyas believe that the perceived object takes form

of internal state, but treat it as different principle or different property of Ātman. Purusottamacarana disagrees with this stand and says that it is necessary to note that the form of the perceived object in the eyes is the matter of experience (अनुभवगोचर), therefore, it is proper to accept internal state. But should not be deemed as different principle or different inherent property of Ātman. Because, this is some particular state of intellect take form of outer object, answer to such a doubt is, when sense organs combined with the mind come in contact with outer objects, then form of the object is reflected in sense organs, jst as one's face is reflected in the mirror. Continuous mixing and friction of the Sattva, Rajas and Tamas cause disturbance and non-disturbance in the intellect, therefore, due to this disturbance mental state, sometimes is transformed, partially or totally taking the shape of reflections in the sense organs of outer objects and sometimes it may not take any shape also. It happens so because intellect helps cognitive organs and organs of actions, therefore, when intellect on position of helping the organs, determinate knowledge of error arises. Thus all the mental states are particular state of intellect only. After intellect is shaped in the form of object supplied by sense object contact, then only direct perception takes place, otherwise, if intellect shaped in the form of different than the object, then it is believed to be an error. Similarly, due to the various kinds of mental states, all other subdivisions of knowledge should be understood as an outcome of different mental states. As per the statement of Bhāgavata, "mental states, viz , awakening, dreaming and

deep sleep emerge from Gunas and individual soul is definitely different from them as a spectator" proves that all kinds of knowledge is mental state only. When the enjoyment giving Karmas arise, that is waking state, when those Karmas become dormant, then it is dream or state of deep sleep. Instead of accepting such kind of theory, it is proper to accept that, the mixing and friction among three Gunas, which are manifested for the sport of God, goes on according to will of God.

Thus, it is better to accept that, Gunas are the nearest cause of different states of intellect. That is why, in the eighteenth chapter of Bhagvadgita, it is said, that, "body as substratum, Jiva as agent, instruments such as sight etc., external sense organs, four kinds of internal instruments, action of Prāna etc. vital airs called Cestā, time and God's will called destiny, or the inner controller (Antaryāmi) of all living beings" described in the sixty first verse, in the same chapter, become instrumental in all our activities (Prasthānaratnākara, Introduction, p 65-66).

In the light of the above discussion, few similarities and dissimilarities emerge between these two schools of thought. Sāṅkhyas accept three means of valid knowledge, whereas Vāllabha accept four. Both of them accept 'बुद्धिवृत्ति' i.e. mental states but process of analysis of perception differs from each other. Sāṅkhyas deem that the perceived object take the form of internal state, which is different egoistic principle.

Vallabhas do not consider it as separate principle Sāṅkhyas do not accept the presiding deities of sense organs, whereas Vallabhas believe that the operation of sense organs is not possible without their grace. Sense organs are not involved in the perception of self. According to Sāṅkhyas and perception of God is not possible because existence of God can not be proved by any means of valid knowledge. According to Vallabhas, perception of self is possible through means described by the scriptures and it can be experienced through the notion 'I', due to the identification of self with ego. Perception of the God also is possible through the Grace of God.

Bibliography

- 1 Prasthānaratnākara Gosvāmi Purusottama Granthmala series, 3rd ed. Goswami Shyam Manohar, Shri Vallabha Vidyapeeth - Shri Vitthalesh Prabhucharana Trust, Kolhapur, V S 2056
- 2 Sāṅkhyasūtra with Viśāṇabhikṣu's commentary, (Hindi) Dr Ramshanker Bhattacharya, Bharatiya Vidya Prakashan, Varanasi, V S 2022
- 3 साङ्ख्ययत्कारिका - ईश्वरकृष्ण with माठरवृत्ति, Chowkhamba Sanskrit series office, Benares, 1922
- 4 साङ्ख्यतत्त्वमनोरमा - डॉ. दीनानाथ पाण्डेय, मनोरमा प्रकाशन, वाराणसी, 1991
- 5 Yogavārttika of Viśāṇabhikṣu Vol I Samadhipāda, Tr. T S Rukmani, Munshiram Manoharlal Publishers Pvt Ltd, New Delhi, 1981
- 6 Encyclopedia of Indian philosophies Vol IV Sāṅkhya, Larson and Bhattacharya, Motilal Banarasi Dass, Delhi, 1987

..... +.....

चर्चा

Perception :

Sāṅkhya and Śuddhādvaitic Views

डॉ. सुनन्दा शास्त्री

सिद्धेश्वरभट्ट : I have two queries Why is it that the word 'Drsta' is used by the Sāṅkhya thinkers instead of 'Pratyaksa'? Is it just stylistic or there is some philosophical significance? Other query is both Sāṅkhya and Vāllabh thinkers follow the Vṛtti model and not the Sannikars model of Nyāya In Sannikarsa model there is sense-object contact Whereas in Vṛtti model the Antahkaran goes out, meets the object i.e. attends the object The initiative is from the Antahkarana Why is it that we resort to the language of Sannikarsvāda even while describing the Sāṅkhya or the Vallabha view of Praktyaksa? Because in Vedāntasār they use the word 'Tadākaritā' they don't use the word 'Sannikarsa' So they use different language

I think, here also, that sort of clarity should be observed

सुनन्दाशास्त्री : "Drstam in pratyaksa paryāyah" So 'Drsta' is what is seen And what is sensed by the Indriya that is sent by the sense organ that is Pratyakṣam So 'Drstam' is used because it is directly pursued by the sense organ

सिद्धेश्वरभट्ट : My hunch is that in Sāṅkhya you have a gestalt view of the object Whereas in Nyaya Vaiśeṣika systems we have an associationistic view And perhaps that might be responsible for the choice of a particular word to express perceptual cognition

कृष्णमूर्तिशास्त्री : प्रत्यक्षज्ञान पाचो इन्द्रियोसे या मनके साथ छह इन्द्रियोसे होता है लेकिन जो ज्ञान आखोसे होता है उसे मुख्यतया हम प्रत्यक्ष कहते हैं चक्षुषा दृष्ट तत्रैव अस्माकं प्रामुख्यम् आस्ति कुत ? 'दृश' धातुका अर्थ चक्षुर्जन्यज्ञान ऐसा एक मत है लेकिन दूसरा मत ऐसा भी है कि सर्वेन्द्रियजन्य ज्ञान 'दृश'का अर्थ हो सकता है लेकिन चक्षुर्जन्यज्ञानके अर्थमें 'दृश' धातुका प्रयोग बहुत होता है वेदमें आत है कि एक आदमी कहता है कि "देवदत्त यहा आया है आपने सुना या देखा ?" मेने केवल सुना है तो वह असत्य हो सकता है देखा है तो सत्य है चक्षुसे जो ज्ञात होता है उस ज्ञानमें दाढ़्य बहुत होता है इसीको लक्ष्यमें रख कर 'दृश'का प्रयोग है अन्य पाच इन्द्रियोसे जो ज्ञान होता है वह गौण प्रत्यक्ष है मुख्य प्रत्यक्ष तो चक्षुर्जन्य ही है ऐसा मैं मानता हूँ

एस्. बोक्लि : You say 'Sāṅkhya do not accept the other means of knowledge like Upamāna, Arthāpatti, Anupalbdhi, Atiṅhya, Pratibhā etc All these other valid means of knowledge can be reduced to either perception, inference or testimony" And according to them these are the only three Pramānas accepted My comments are on your sayings "Anything that can be known must be demonstrably established in relation with one of these means of valid knowledge" Now consider perception I really do not know what it is to demonstrate something that I know through perception If I know through perception, there is no question of demonstration at all All that I can say is that I shall verify But verification doesn't amount demonstration Then consider inference With respect to inference, yes I can think of demonstration of a certain proposition I construct the truth and prove it, I demonstrate it But in that process of demonstration, remember, I have depended on some other propositions which operate as premises Now the question of the demonstration of that premises will arise So that will cause certainly infinite regress And therefore, inference can not be accepted as valid knowledge Because that will involve further questions Again, testimony, it is accepted on just Sraddha, belief There is no question of demonstrating the testimony Now, Sankhya might have taken that position But

thing, we should really find out the reasons what is there rationality behind these assertions that something which I know by perception can be demonstrated, something which I know through inference can be demonstrated and something which I know through the testimony can be demonstrated



Thomistic Philosophy of Perception:

Some Reflections

George Karuvell, SJ

Since there is no specifically Christian philosophy of perception, and I am supposed to speak in terms of Christianity, what I shall do is to provide a brief sketch of the Thomistic philosophy of perception. After that I shall point out a few possible comparisons that struck me as I was reading through the material on Vallabha school's theory of perception. Finally in the third part of the paper I shall draw your attention towards some contemporary developments in the Western philosophy of perception.

1 A brief sketch of the Thomistic philosophy of perception.

Thomistic philosophy, like other pre modern Western philosophies, is metaphysical in its approach. Although scepticism was not unknown to the ancient Greeks, the great metaphysicians of the time do not take scepticism as the starting point of their epistemology. Rather, they assume the possibility of knowledge, which Plato defined as "true belief with an account"¹. Although this sounds deceptively similar to the contemporary definition of knowledge as Justified True Belief, to give an account in the metaphysical scheme is rather different from providing justification. An account involves a description of the elements that go into the making of

knowledge and an explanation in terms of the described elements² Since the possibility of knowledge is taken for granted, the question they raise is What must the world and we be like if we are to know something?³ Their descriptions are meant to respond to this question

As far as the Thomistic description of the world goes, he took it as a matter of common sense that we live in a readymade world a world of apples and oranges, barking dogs and striped zebras, of fat men and little children In giving a description of this world of multiplicity, he is heavily indebted to Aristotle All these multiple entities are made up of matter and form Form makes a thing to be what it is by 'informing' matter, which by itself has no form whatever The Thomistic account of the human knower is the faculty psychology that is largely a legacy of Plato and Aristotle Accordingly, human beings have three faculties senses, intellect or understanding and the will Of these the last is not a knowing power,⁴ its job is to strive to attain what is known As far as the senses are concerned, there are five external senses and four internal ones The internal senses and their operations are as follows

- 1 Central or general sense synthesises the input from different external senses
- 2 Imagination retains the impression made on the external senses, after their objects have disappeared
- 3 Memory associates objects with the past

4 Cogitative sense called estimative sense' in non humans, it collates all the sense impressions and arrives at a judgment

Given this understanding of the knower and the world, knowledge is a matter of getting hold of the form of entities by means of the knowing faculties (senses and intellect). In other words, while all things are made up of matter and form, knowing beings differ from others in this that the latter "possess their own form only, while the knower is adapted from its origin to possess also the form of another thing"⁵ Since matter is a limiting principle, the more immaterial a being, the more capable it is of knowing. Thus, humans can know more than animals, angels more than humans, and God, of course, is all knowing. Thus, each type of knower comes to possess knowledge according to the mode proper to its nature.

Human perception arises from being stimulated by sensible objects and the operation of the internal senses upon the input from the external senses. Thus, for example, in perceiving a barking dog the sensible qualities such as the size and shape of the animal and the sound it produces are received by the external senses. The central or the general sense synthesizes these inputs from the different external senses (eyes, ears, nose etc) as coming from one entity. After imagination and memory have played their role, the cogitative or estimative sense finally arrives at a concrete judgement "This barking dog is dangerous".

Thus far the perceiving process is not very different from that of other higher animals, they too have to sense their environments and adjust to it. What is special to the human knower is the ability to grasp the universal characteristics (rationes) of things. This ability is called intellect. There are three acts of the intellect. A Intelligibility or understanding (intellectus) is the simple apprehension of some meaning that involves no judgement, B Judgement is that which could be true or false, and C Discursive reasoning or ratiocination moving from one or more known judgments to a new one, as in syllogisms. One implication of this theory of perception is that humans cannot perceive anything that is immaterial, such as souls, angels or God (all of which he believed exists). These are known through reasoning from effects to cause if it can be shown that certain of our experiences cannot be explained with reference to bodily causes, we can argue to the existence of non bodily causes. For example, he argues that our intellectual and volitional activities cannot be caused by bodily causes and therefore we must have souls.

2. Some Possible Comparisons With The Vallabha School

Comparison is a risky business, especially when it involves comparing two vastly different philosophical systems whose developments are completely independent of one another, as in the case the Tomistic and Vallabha schools. For the same reason, I do not want to make any straightforward comparisons, I shall only point out what struck me as some areas of possible comparisons and leave to scholars to decide

whether they really are comparable

A first and obvious point of comparison is their overall concern. Both thinkers are great theologians and religious pursuit remains their primary purpose. But both see the need to engage the intellectual currents of their times. A second point of comparison seems to be their method. Both are metaphysical in their approach. As pointed out in the beginning, the metaphysical approach, unlike that of modern Western philosophy, begins with some descriptions of the world, the knower, and knowledge, then it strives to provide an account of these in a coherent manner. It is true that their descriptions are different: the Vallabha school is indebted to the descriptions provided by the Naiyayikas and the Samkhya school, whereas St. Thomas largely relies on the descriptions provided by Aristotle and to a lesser extent on some Arabian thinkers. But both rely on certain metaphysical descriptions to provide an account of their theories of perception.

A more substantive point of comparison concerns their approach to religious perception. Neither Sri Purushottam nor St. Thomas thinks it possible to have religious perception. Although the Vallabha school accepts yogic perception, it is clearly stated that perceiving God is possible only through Grace and not through the means of valid knowledge. Similarly for St. Thomas, any substantial knowledge of God is to be had from revelation and not through any ordinary or natural means. The main reason for this is the faculty psychology

he has adopted from Plato and Aristotle, together with the devaluation of the senses that characterise Plato. Since senses are what we share with other animals and senses can give us knowledge only of sensible things, it follows that we cannot perceive God who is immaterial. The only natural avenue to knowing God is through reason and that too would take us only to the doorsteps of religious knowledge by showing that God exists without telling us what God is. Having been brought to the doorsteps by means of reasoning, revelation takes over. Therefore, unlike contemporary authors like Wilham Alston who talks about 'perceiving God' or John Hick who talks of religious faith as an 'experiencing as' there is no philosophy of religious experience to be found in Thomas Aquinas. This situation began to change in Western epistemology only in the post Kantian period as a response to Kant's conclusion that we cannot have any knowledge of God because there is no possibility of any sensible intuition of God.

There is also some similarity and contrast regarding perception of the soul. In the Vallabha school there is the distinction between soul in its true form and the ego or *theI*. The former is not a matter of ordinary perception, whereas the latter is. Since such a distinction between soul and ego is not found in St Thomas, there is no question of perceiving the soul either. The existence of the soul needs to be inferred as already mentioned.

Another possible comparison is between the identity contact

of the Vallabha tradition and what is known as knowledge by connaturality in St Thomas. Although such knowledge is not strictly a matter of perception, it is not inference, either. Here is what he says on the matter:

Now rightness in judging can come about in two ways, through the perfect use of reason or through a certain natural kinship with the things one is judging about. Thus in matters of chastity, one who is versed in moral science will come to a right judgment through rational investigation, another who possesses the virtue of chastity still be right through a kind of instinctive affinity. So it is with divine things⁶

Although I have said this sounds similar to the *identity* contact in the Vallabha tradition, the difference between the two is also immediately clear. Identity contact is one of the five kinds of contact operative in ordinary perception. Perception of inner states like determination, doubt, pleasure etc., are said to result from identity contact. In St Thomas, however, connaturality is not an ordinary means of knowledge. It is worth noting that Robert K. C. Forman, in a recent book, has suggested a theory of 'knowledge by identity' to deal with mystical experiences. The basic point of the suggestion is that "I know it because I am it or live it"⁷. This seems

very similar to what Thomas says of knowledge by connaturality

3. Some Contemporary Developments:

If there is one thing that is common to the pre modern or metaphysical approach in Western philosophy and the contemporary naturalistic approach to human knowledge, it is their anti foundational convictions. The moderns thought that they could secure their philosophy on firm foundations by eschewing prior descriptions. This can be said of rationalists like Descartes as well as empiricists like Locke, with some variations. One of the contentions of naturalized epistemology is the impossibility doing epistemology without any prior descriptions. In other words, some prior description of the knower and the world cannot be avoided. In this respect, the procedure of Sri Purushottam and St Thomas are being vindicated by naturalized epistemology. This is something that Thomists could be happy about because one of the things that they boast of is Aquinas' empirical, or even naturalistic approach to human knowledge and yet being able to synthesise it with religious faith⁸. On the other hand, the sort of metaphysical descriptions adopted by St Thomas may seem problematic today. In its place we might need more non controversial phenomenological descriptions. Let me point out some of the descriptions of the Thomistic philosophy that could be problematic today.

Let us begin with the description of the human knower in terms of faculty psychology. Thomism, in its history, has

tended not merely to distinguish these different faculties, but also to separate them⁹ Taken in this manner, sensing is something that we humans share with animals and then the intellect, with its conceptualising and reasoning abilities, takes over This is clearly a false picture of the human knower, as it has been shown beyond doubt that there is a close and inseparable link between percepts and concepts such that conceptual richness leads to perceptual richness To put in terms of contemporary cognitive psychology, perception is complex process that involves both a 'concept driven' or 'top down' processing as well as a 'data driven' or 'bottom up' processing

Even more than the involvement of concepts in perception, there is the phenomenon of selective attention that must find a place in any description of the human knower Only a fraction of the myriad sights, sounds and smells with which we are constantly bombarded, gets entry into our consciousness¹⁰ Bernard Lonergan, a contemporary interpreter of Thomistic epistemology was fond of giving the example of the milkmaid who laughed at Thales for falling into the well, as he walked along with his eyes fixed on the stars The point is that "the causal sequence set off by the proximate stimulus determines what can be perceived in any given conditions, but not necessarily what will be perceived"¹¹ What will be perceived is also dependent on what we pay attention to What it indicates is that there is a close collaboration not only between the senses and the intellect, but also with

look through a telescope and you ask me, what do you see?" I may answer (1) A bright speck, (2) A star, (3) Sirius, (4) The image in the fourteenth mirror of the telescope. All the four are perfectly legitimate and correct answers. In Thomistic language, there is more than one intelligibility, which in turn, leads to four different judgments, all of which are equally valid. The point is that there is no one form of the object that is taken into the mind in the process of perceiving. Meaning or the intelligibility that accompanies perception is a much more complex affair than was assumed in the metaphysical approach that begins with the assumption of a ready made world of objects.

Let me conclude by outlining an alternative view of perception that I like to call a relational theory. Rather than begin with the assumption of a pre fabricated world as in the metaphysical approach we begin by standing back and asking like Heidegger, how do these multiple entities that we take so much for granted come to be or alternately, come to have any meaning for us? The briefest answer to this question is provided by Hilary Putnam when he says, 'Objects' do not exist independently of our conceptual schemes. We cut up the world into objects when we introduce one or another possible scheme of description. ¹² "I prefer to call it a relational theory of knowledge" since that is much less misleading than other terms like constructivism, cognitivism and the like. Human knowledge, upon this view, is like a family brought forth through a love relationship between two

persons Putnam's idea of a joint making conveys this notion of knowledge being produced by a mutual relationship. Obviously, we do not begin with the assumption of any pre existing fact world. And this starting point is very problematic for many. Besides the fact that it seems to go against our ingrained natural attitude, such a starting point invites the objection that if knowledge is the result of a relationship, the relata must first exist. So how can we not start with a fact world, a world of existing entities?

A proper understanding of this matter is very crucial if we are not to end up in the sort of contradictions Kant is said to make. On the one hand, there exists a mind independent thing in itself which is unknowable, on the other hand we know our experience to be caused by that thing in itself. In order to avoid such contradictions, we must recognize that just as there is no family prior to a certain relationship, there is no world (cosmos, ordered universe of meaningful entities) prior to the relationship between a knowing mind and its surroundings. Notice that there is no thing in itself here. That is a totally misleading expression because it makes us think of objects like oranges and apples, animals and persons (i.e., a pre fabricated world) as known to us to be existing, but none of these objects can be really known, all that can be known are their appearances. Such talk is obviously non sense. The relational theory says, rather, that anything that may be considered an object are those which we can call by names such as 'apple' and 'orange' and

it is the product of a relationship, such objects have no existence prior to that. All that can be said about the relation that exists prior to the relationship is a knowing mind and its surroundings (the environing world, as the phenomenologists would say). Nothing can be said of the shapes and contours of this environing world except that it is there and that we are constantly interacting with it, like explorers in an unknown land. It is in the course of the explorations that the environing world becomes a fact world. And only about a fact world can we say that it is made up of different objects arranged in a certain way, it is such a fact world that is meaningful to us and not an amorphous surrounding world.

Once it is recognized that we cut up the world into objects according to our conceptual schemes, the next question that naturally arises is this: where do these schemes come from? It is here that evolutionary epistemology comes into the picture and answers the question in terms of our phylogenetic experience or the explorations done by our evolutionary ancestors¹³. The relationship between action and knowledge is reversed in this scheme of things. R.W. Newell succinctly puts this view when he says,

We may see them [human persons] as agents acting in the world and guided by their beliefs, motives, desires and needs, and thus seen, explain epistemological ideas by focussing on human activities and practices¹⁴.

Human actions oriented to fulfilling our needs and desires come, then, at the very centre of our conceptual schemes and accordingly, of our knowledge. Not only does this sort of theory recognize the intimate relationship between the three faculties in the process of knowing, but also would make room for scientific and religious knowing, if it can be shown that they are oriented to fulfilling needs and desires are significantly different from what is involved in perceptual knowing. Such knowledge, especially religious knowledge, would be a matter of connaturality arising from one's practice of prayer and meditation. Thus, a relational theory can maintain both the naturalistic as well as the religious concerns of St Thomas.

1 Plato, *Theaetetus*, 201c

2 See, Stephen Everson, ed (1990) *Epistemology Companions to Ancient Thought* 1, Cambridge: Cambridge University Press, 1990, p 4

3 White, 'Plato' in Dancy & Sosa eds, *A Companion to Epistemology* Basil Blackwell, 1992, p 345

4 Vernon J Bourke, *The Pocket Aquinas: Selections from the Writings of St Thomas* New York: Washington Square Press, 1960 p 4

5 Thomas Aquinas, *Summa Theologiae*, 1, 14,1e Bourke, p 8

6 Thomas Aquinas, *Summa Theologiae* 2 2, q 45, a 2

7 Robert K C Forman, *Mysticism, Mind, Consciousness* Albany: State University of New York Press, 1999,

p 121

8 See, for example, Bourke, p 5

9 See, Joseph Flanagan, *Quest for Self Knowledge An Essay in Lonergan's Philosophy* Toronto University of Toronto Press, 1997, p 195 6

10 D H Dodd, R M White Jr, *Cognition Mental Structures and Processes* Boston Allyn and Bacon, Inc, 1980 p 23

11 David Kelly, *The Evidence of the Senses A Realist Theory of Perception* Baton Rouge and London Louisiana State University Press, 1986, p 148, emphasis added

12 Hilary Putnam, *Reason, Truth, and History* Cambridge Cambridge University Press, 1981, p 52

13 Franz Wuketits, ed *Concepts and Approaches in Evolutionary Epistemology Towards an Evolutionary Theory of Knowledge* Dordrecht D Reidel Publishing Company, 1984, p 81

14 R W Newell, *Objectivity, Empiricism, and Truth* Routledge and Kegan Paul, 1986 p 7

+

चर्चा

ज्योर्ज करुबेलिल् एस् जे

प्रद्योतकुमार : When you come to the modern period you notice that there is a tendency towards

naturalism So modern epistemology is basically naturalistic And this naturalistic epistemology you almost equate with non foundationistic epistemology In current epistemology we draw a distinction between the epistemological theories that are foundationalist and coherentist So as per your reading it must be that all modern naturalistic epistemology are coherentistic epistemologies

The other thing, when you speak of Quine, he is a naturalistic no doubt, but his naturalize philosophy is not necessarily naturalistic philosophy What he only mean to say is this that earlier conception of epistemology has got no basis what so ever And with that conception your JPT thesis is very closely related That JPT hypothesis, that conception of knowledge, which is also a modern conception of knowledge traced back to Plato by Gettier, he has revived in this time Now his point is little deferent So what Quine mean is this that it was in a modern period only that this conception of epistemology as primary philosophy arose And his objection to that, that there can not be any primary philosophy so there can not

be any search for certainty. All that he can search for is genetic explanation or causal explanation. And that he says to be naturalized epistemology. So your understanding of naturalized epistemology is not doing justice to Quine at all. That is not his conception.

Now about your remark that what Kant says is nonsense. I think it is not. It makes perfect sense if you place him in context. He is not uttering any contradiction when he says that there are things in themselves and we do not know them. For knowing, has a very definite sense in Kant. He says that we cannot grasp them through the theoretical exercise of reason. So his conception that comes very much from the Neo-platonic tradition, also that two distinct applications or use of 'reason' are there: theoretical and practical. So we can still know them, even God we can know, immortality you can know as presupposition. And that is a matter of practical reason.

One more thing I would say that, you have very well brought out the Thomistic conception of general sense organ. That is very useful in the sense that there was

ज्योर्ज कर्खेवेलिल् : Let me complete what I was saying first about the naturalized epistemology. There are lot of further developments after Quine is what I wanted to say. Among these developments, I just adopted one point, which I thought would fit in here with the continuity of metaphysical tradition. Continuity in the need for descriptions prior to proposing a theory. And describing certain things which are non controversial and proceeding further. And even in describing, metaphysical description can be problematic. But then there are certain common phenomena that can be described and then their explanation that give a best coherent account of these non controversial phenomena. It is this methodology that was adopted. This necessity for description is another way of saying what you said Quine to be saying that there can not be any first philosophy in the modern sense, a first philosophy without any prior assumptions (descriptions).

As for Kant again is a complex thinker. Each and every one of these thinkers is coherent sensible in their own systems. And that way I can not scold of Kant.

प्रद्योतकुमार : 'Then please don't use the word 'nonsense'.

ज्योर्ज कर्खेवेलिल् : That is why I qualified earlier 'He *seemingly* makes contradiction. I have used that word.

प्रद्योतकुमार : Then it can not be nonsense.

ज्योर्ज कर्वेलिल् : Afterwards I said "understood in this sense it is nonsense" I have no said Kant to be saying nonsense Not at all I have great admiration for Kant And I have profited a lot from him

Now while interacting about a relational theory other then the word there is nothing common between Russell and the theory I proposed

प्रद्योतकुमार : Another important question you raised was where from came this conceptual frame itself So this question is un permissible in their thinking

ज्योर्ज कर्वेलिल् : That's what I said, other then the word 'relation' there is nothing common to Russell Russell already takes a ready made world for granted That is being questioned here Here 'relation' is taken from human relations especially from the book of Vincent Brummens who talks about love as a mutual relationship between two persons So only that idea is being taken There is a surrounding world with which we are in constant interection, in Heideggerian terminology, we are thrown into a situation with which we are totally unfamiliar And in the process of meeting our practical needs we come to understand our surroundings in terms of something as something He gives the example of hammering So it is that sort of thing that I am referring to and not Russell

सिद्धेश्वरभट्ट : It seems that you are using this expression 'relational theory of meaning' in a very specific

sense. But otherwise there can also be another version of the relational theory of knowledge wherein it can be granted that there are objects located in an ordered way and we may apprehend the objects and their relations and reconstruct them. That means there can be order at the objective level, there can also be order at the inter-subjective level. And at that level we may view them in this particular sort of order or that particular sort of order. But there is no incompatibility between the original order and the constituted order. If there were no order there already, I think, any construction of an order would be just simply a superimposition, simply an imagination. And it would be groundless. So, why should we not grant that there is an order there. We apprehend the order but we reconstruct it.

ज्योर्ज करुवेलिल् : There is precisely the point of relational theory. If you begin with a fact world [and an objective order, then the problem would always be, "How can we be sure that we have captured that objective order?" On the other hand, if there is no objective order, our perception would be pure superimposition, a fiction. Relational theory seeks to avoid both these extremes. It does not deny that there is mind independent reality, but it denies that the categorical world (reality that can be described in categories) is mind independent.

The mind dependence of the categorical or factual world, however, is a conclusion and not the starting point of relational theory. Its starting point is that we use categories for describing reality. From this non controversial starting point it takes a step back and asks "How do we come to have these categories?" Relational theory is an answer to this question. It says that we humans are thrown into a situation (non categorical, formless surrounding reality) and in the process of our interacting and relating to that surrounding, reality gains its form for us and our categorical world comes to be. This is basically the view of Heidegger. The point is that the surrounding reality must have certain features that enable the categories to develop in the way they do.] A psychologist like J J Gibson etc. he would talk about the affordances of the things that are there. They have their affordances. So that it can not be an arbitrary construction. That's why though I used the word 'constructivism' earlier, I avoided that word precisely to do away with the impression that it is merely a human construction. The objects or the world or our surrounding has certain capabilities and not other capabilities. [The basic difference between this view and our traditional common sense view of a ready made fact world is that in the traditional view there is just one fixed set of objects and

categories whereas the relational theory says that the objects and categories would be different if our manner of relating to the surrounding would is different] Our surroundings could be approached in terms of Martin Buleer's I 'it' which is basically a practical relation It could also be approached in terms of I-thou, then the worlds become completely deferent And that's precisely why I want to avoid the notion of a ready made world

सिद्धेश्वरभट्ट : But this reconstruction may take place in deferent ways Eg it can be in such a way that my reconstruction and your reconstruction may tally Or it could also be possible that my construction and your construction may be radically deferent Eg a normal man also can reconstruct and abnormal schizophreic person also undertakes reconstruction And we do say that ours is something which is commonly acceptable but a reconstruction of a schizophreic's is not acceptable And therefore we give treatment to that person So, there can be diferent ways of reconstructing the relations among objects

डी. प्रह्लादाचार : As per St Thomas, who follows Aristotic and Plato, senses are of two kinds Five external senses and four internal ones The four internal ones are 1 Central or general sense 2 Imagination 3 Memory 4 Cogitative sense It seems that all kinds of cognitions can be produced by these five

plus these four only That means, according to St Thomas there is only one kind of cognition, namely perceptual cognition and there is nothing else, is it so?

ज्योर्ज करुविलेल् : This is an explanation of perception then as I said there is an intellect coming to the picture And there is inference then, of course there is revelation

डी. प्रह्लादाचार : The examples that you have given

सिद्धेश्वर भट्ट : I think they are comparable to the functioning of Ahankāra in terms of मन बुद्धि चित्त अहकार but not exactly the same Because in Mind there is Samśaya But there, there is no role of doubt But correspondence is there in the functioning of Antahkarana

गो. श्या. म. : “चक्षुषा आलोच्य वस्तूनि, विकल्प्य मनसा तथा, अहमत्यापि अहकाराद्, बुद्धयैव अध्यवसीयते” (द्रष्टव्य सगोष्ठ्युत्तर-लेखनीक१)

+

सगोष्ठ्युत्तरलेखन

गो श्या म

श्रीज्योर्ज करुविलेल् एस जे के सुवैदुष्यपूर्ण आलेखकी समालोचना या समर्थन के रूपमें नहीं, केवल इनके द्वारा छेड़े गये मुद्दोंको सुन कर जो विचार मेरे मस्तिष्कमें घुमड़ रहे हैं, उन्हें इस सगोष्ठ्युत्तरलेखनके रूपमें लेखबद्ध कर देना चाहता हूँ

प्रत्यक्षप्रमाणकी प्रक्रिया (The theory of perception) का अध्ययन अनेकधा सम्भव है : पदार्थमीमांसा (Metaphysics), प्रमाणमीमांसा (Epistemology) मनोमीमांसा (Psychology), प्रकाश-जैविकसंरचनाकी परस्पर प्रतिक्रियाका विज्ञान (Photodynamics), मस्तिष्कीयविद्युत्तरणोंके अध्ययनका विज्ञान (Electroencephalogramics), अथवा चक्षुर्विज्ञान (Ophthalmological science) यो ऐसे अनेक शास्त्रोपर आधारित प्रत्यक्षप्रमाणकी प्रक्रिया हमारे अध्ययनका विषय बन सकती है।

इन विविध शास्त्रोंकी अन्वेषणाकी रीति और उसपर अवलम्बित निष्कर्षोंमें आन्तरिक प्रभेद ही नहीं प्रत्युत परस्पर विरोधाभास भी प्रकट हो ही सकते हैं।

^१ दृश्य वस्तु - वर्ण आकृति परिमाण गति स्थैर्य गुणधर्म धर्मी द्रव्य सम्बन्ध आदि.

^२ दर्शनोपकरण : अकृत्रिम मानवीय नयन, मानवेतर प्राणिओके नयन अथवा दूर/सूक्ष्म व्यवहित/अव्यहित प्रकाशित/अप्रकाशित वस्तुओंके प्रदर्शक आधुनिक कृत्रिम उपकरण भी

^३ द्रष्टा : मानवीय नेत्रसंस्थानसे सम्पन्न स्वस्थमना या अस्वस्थमना व्यक्ति इसी तरह अनेकविध नेत्रसंस्थानोंसे सम्पन्न मानवेतर प्राणी भी

^४ दर्शनानुभूति : मानवीय मस्तिष्कमें घटित होती अथवा स्वतंत्रचालित राडर आदि वैज्ञानिक उपकरणोंमें दर्ज होती

इनका स्वरूप इस लघुतम सूचिके अवलोकनमात्रसे ही इतनी विविधता प्रकट करता है कि जिसकी कल्पना भी शक्य नहीं. इस सूचिके कहीं और भी कुछ यदि जोड़ा जाये तब तो कुछ भी गणनाहं ही नहीं रह जायेगा. किसी भी सूरतमें इन सभी शास्त्रोंका परस्पर सवाद और/अथवा विवाद बढ़ नहीं पड़ना चाहिये. और न किसी एक शास्त्रके आधारपर

दूसरे शास्त्रकी अध्ययनपद्धति या निष्कर्ष की अकारण ही अवहेलना की जानी चाहिये

अतएव इस विषयमें प्राचीन आर्य शास्त्रोंके निष्कर्ष भी वैचारिक दृष्टिसे ओझल नहीं होने देने चाहिये जैसाकि इन विचारगोष्ठिओंमें अनेक बार हम प्रतिश्रुत हुवे हैं। वात्सभ वेदान्त, अतएव, वेदादि शास्त्रोंकी व्याख्या होनेके रूपमें प्रवृत्त हुवा चिन्तन होनेपर भी इसी प्रयोजनवश ज्ञानकी जिस किसी विधाके साथ अपना सवाद विसवाद या विवाद जो भी हो उसे समझनेको ही ऐसी विचारगोष्ठीका आयोजन करता रहा है। अतएव सन्त थोमस अक्वीनाके प्रत्यक्षप्रमाण सम्बन्धी ईसाई चिन्तनके महत्त्वको, वैज्ञानिक अध्ययनोपात्त निष्कर्षोंकी तुलनामें, हम कभी भी अब अप्रस्तुत मानना नहीं चाहते अतएव श्रीज्योर्ज कर्विलेल्का इस विचारगोष्ठीमें सहभागी हो कर विद्वत्तापूर्ण आलेख प्रस्तुत करना हमारेलिये निश्चय ही हार्दिक सन्तोष एव उपलब्धि की बात है

अस्तु, प्रत्यक्षप्रमाणकी गोचर दृश्य वस्तुका वास्तविक स्वरूप प्रत्यक्षानुभूतिमें बिम्ब-प्रतिबिम्बन्यायेन दृष्टिका विषय बनता है वह प्रतीकालम्बन और तदनुकूल प्रतीकसरचनाके न्यायसे प्रतीकैकाध्यवसायिनी बुद्धिका विषय भी बन सकता है वह वस्तुतः तो दर्शनके सर्वथा अयोग्य वस्तुका परन्तु हमारे ज्ञानोपकरणकी सरचना या वासना के वश उभरते प्रत्ययोके माध्यमसे प्रकट होती थोथी कल्पनाका विषय भी बन सकता है अथवा सक्रियबुद्धि और निष्क्रियदृश्यवस्तु के इतरेतरेपरवर्त स्वरूपका भी प्रत्यक्षमें साक्षात्कार हो सकता है। इनमेंसे किसी भी प्रक्रियाको ऐकान्तिकताया ही शक्य अथवा ऐकान्तिकतया अशक्य ही मान लेना मुझे उपपत्त्यर्थ नहीं लगता क्योंकि प्रस्तुत चर्चकी उपसंहारमें मैंने हमारे यहाँ प्रमेयरत्नार्णव नामक ग्रन्थमें प्रस्तुत लक्ष्मीतन्त्रकी प्रत्यक्षप्रक्रियाका प्रतिपादन करनेवाली कारिका जो उद्धृत की, तदनुसार सर्वप्रथम चाक्षुष आलोचनकी प्रक्रिया ही इतनी जटिल लगती है कि उसी स्तरपर चक्षु और तद्गोचर पदार्थ प्रकाश-जैविकसरचनाकी परस्पर प्रतिक्रियाका विज्ञान (Photodynamics),

मस्तिष्कीयविद्युत्तरंगोंके अध्ययनका विज्ञान (Electroencephalogramics),
अथवा चक्षुर्विज्ञान (Ophthalmological science) की अध्येतव्य सामग्रीके
रूपमें इतरेतरोपरकृत होते माने जा सकते हैं

द्वितीय मानसविकल्पना, तृतीय अहकारानुगति, चतुर्थ बुद्धिकी विविध
अज्ञान सशय भ्रान्ति निश्चय वृत्तिओमेंसे किसी भी एकतम वृत्ति, यो इतने
स्तरोंपर घटित होती प्रक्रियाओंको मनोमीमासा एव प्रमाणमीमासा (Psychology
& Epistemology), का अध्येतव्य विषय बनाया ही जा सकता है

अन्तमें इन सभी ज्ञान-विज्ञानकी विधाओंका साकल्येन निरूपण करना
चाहती पदार्थमीमासा (Metaphysics), भी इनके निष्कर्षोंसे ऊपर उठ
कर प्रत्यक्षानुभूतिके घटक पदार्थोंका प्रतिपादन करनेवाला पदार्थमीमाकीय स्वरूप
भी विचारार्थ प्रसक्त हो सकता है

प्रत्यक्षानुभूति न तो एकाकी आत्मचेतनामें और न केवल पाचभौतिक
देह या बाह्यस्थान्तर इन्द्रियों के सघातमें घटित होती कोई एकरसात्मक
घटना है वह तो इन सभीके सघातमें ही केवल नहीं प्रत्युत बहुविध
बाह्यविषय और सजीव व्यक्ति की परस्पर क्रिया-प्रतिक्रियामें सम्पन्न होती
घटना है वह, अतएव, कदापि ऋजु-आकारमें परिभाषित हो ही नहीं
पायेगी यह बात इस तथ्यके अवधानसे और अधिक सम्पुष्ट होती है
कि बाह्य किसी वस्तुका जब चक्षु आलोचन कर पाती है, तब उस
आलोचनकी प्रक्रियाको स्थगित या निरस्त करके मन स्मर्यमाण विकल्पोंका
अवगाहन नहीं करता चाक्षुषालोचनके, प्रत्युत, सातत्यमें ही उस आलोचनको
यथासम्भव विकल्पोंसे संयोजित करता जाता है इसी तरह अहकार भी
उस सविकल्प चाक्षुषालोचनको “अह पश्यामि” के पहलुसे जो मण्डित
करता है तो वह भी सविकल्प चाक्षुषालोचनको स्थगित या निरस्त करके
नहीं उसके सातत्यमें ही उसे अहकारानुस्यूत बनाता है बादमें बुद्धिकी
विविध वृत्ति—अज्ञान सशय भ्रम प्रत्यभिज्ञा निश्चय आदि—से “इम

न ज्ञातुं शक्नोमि” “किम् इदं घटं वा अन्यत् किमपि।” “नायं घटः”
 “घटोऽयं पूर्वमपि दृष्टएव” अथवा “अयं घटमेव” आकाशवाली प्रत्यक्षानुभूति
 होती है तो वह भी “मच्चक्षुगोचरम् इदम्” के सातत्यमे ही उसे इन
 विविध वृत्तियोंमे से किसी एकतमसे बुद्धि संयोजित करती हुयी पायी जाती
 है अतः स्वरूपदृष्ट्या और कारणकलापदृष्ट्या भी कोई भी प्रत्यक्षानुभूतिकी
 घटना निराश ऋजुता लिये हुवे नहीं होती वह तो शतपत्रवेधवत् दुर्लक्ष्य
 साश जटिलता लिये हुवे ही होती है

अतः अनुव्यवसायके स्तरपर अनुभूत होती निरप्ययव एकताके बारेमे
 वाल्लभ मतकी अवधारणाओके अनुसार इस घटनाको सघातवश उत्पन्न नूतन
 आरम्भ अथवा सघातघटक अनेकत्वमे एकत्वकी भ्रान्ति माननेके बजाय सघातघटक
 अनेकत्वमे निहित शक्य या सम्भाव्य एकत्वका पारतत्त्विक एकत्वेन प्रादुर्भाव
 मानना उचित लगता है

क्योंकि लौकिक दृश्यवस्तुओके ब्राह्मिक पहलुओका ज्ञान जैसे हमे
 ब्रह्मशास्त्रोद्वारा ही मिल सकता है, वैसे ही ब्रह्मके दृश्यवस्तुतया प्रकट
 होनेके कारण दृश्यवस्तुओसे घीरे जैविक अधिष्ठानमे घटित होती जैविकी
 प्रतिक्रिया या मानसिक प्रतिक्रिया या बौद्धिक प्रतिक्रिया अथवा दृश्येतर
 अन्य भौतिक पदार्थोंके साथ घटित होती भौतिकी प्रतिक्रिया की गवेषणामे
 रत विभिन्न ज्ञानप्रणालियोंद्वारा भी उन्हे जाना ही जा सकता है उदाहरणतया
 दृश्यवस्तुके वर्ण आकृति तुलनात्मकपरिमाण गति स्थिति तादात्म्य या संयोग
 आदि अनेक पहलुओकी सगणकमे सख्याकीय एककोमे न केवल व्याख्या
 प्रतिकृति या प्रतिरूप प्रत्युत प्रदर्शनीय प्रतिभास भी अब शक्य बन गया
 है एतावता वास्तविक बाह्य जागतिक वस्तुओको सगणकीय एककोका
 केवल सघात नहीं माना जा सकता यह तो वैसी कथा हो जायेगी
 कि अजैविक जयपुर-फुट पहन कर कोई चल या नाच पाता हो एतावता
 जैविक चरणोंको जैविक न मानना

आज तो दृश्य प्रकाशतरंगकी तरह मानवचक्षुसे अगोचर एक्सरे इन्फ्रारेड

अल्पावायोलेद ही नहीं प्रत्युत श्रव्य और अतिश्रव्य तस्मोद्वारा भी किसी वर्ण/आकृति/परिमाण/गति/स्थितिशील वस्तुओका साक्षात्कार शक्य बन गया है

हम मनुष्योने अकारण ही यूनानी दर्शनके पिता सुक्यतकी सी भोली श्रद्धाके वश अपने-आपको तार्किक पशुके रूपमें बिरदा कर अज्ञान सशय भ्रम इच्छारूप सकल्प या स्मर्यमाण चिकल्पो की हमारी शक्तिओको हीनदृष्टिसे देखनेकी मनोवृत्ति घड ली है अन्यथा ओषधिहेतुक पीडाका अज्ञान, निद्राकालीन बाह्यविषयोका अज्ञान, क्रियासमाधि या असम्प्रज्ञात ध्यानसमाधि की दशामे चित्तकी एकाग्रता के कारण होता अनपेक्षित वस्तुओका अज्ञान तो अति श्लाघ्य ही होता है। इस दृष्टिसे निहारनेपर अज्ञान आदि भी हमारी चेतनामे प्रकटे अति श्रेष्ठ वरदान ही है। जीवनमे यदि हमारी बुद्धि यदि सशयकी सामर्थ्यसे सर्वथा वंचित बनायी जा सकती हो तो दार्शनिक या वैज्ञानिक विकासकी सारी सम्भावनाये ही निशेष हो जायेगी प्राकृतिक आपदाकी पूर्वसूचना देते दृश्य-श्रव्य आदि चिह्नोमे, भूकम्प या युद्धकी पूर्वसूचना देनेवाले सायन् अथवा सिंह व्याघ्र आदिकी कूर ध्वनिओमे, भीतिजननार्थ शब्दोम की जाती घोषणाओमे वे जिन पदार्थो या घटनाओ के सूचक द्योतक या वाचक हो उनके साथ तादात्म्याध्यास प्रकट न हो पाता हो तो सजीव प्राणीका भूलपर जीवित ही रह पाना असम्भव हो जायेगा। अतएव इन अज्ञान सशय भ्रम स्मृति आदि, दर्शन आदि शास्त्रोमे निन्दित, बुद्धिवृत्तिया बुद्धिरहित मानवेतर प्राणिओकी ही नहीं प्रत्युत मानवरूप प्राणीकी भी जीवनरक्षामे बहोत श्लाघ्य उपयोगी और अनिवार्य होती है

अतएव देवीयूक्तमे भगवती देवीका “या देवी सर्वभूतेषु चेतनारूपेण निद्रारूपेण बुद्धिरूपेण (तथा) भ्रान्तिरूपेण सन्धिता” (देवीसूक्ते ७,८,२६) ऐसा उल्लेख मिलता है अत इन्हीं बुद्धिवृत्तिओको भावान्की शक्ति या लीला की दृष्टिसे निहारनेपर ये वन्दनीय भी लगती है, केवल निन्दनीय ही नहीं महाप्रभु श्रीवत्सभाचार्यका इस विषयमे नितान्त अनुसन्धेय एक

वचन यो हे “सर्वरूपसमर्थत्वम् अतो ब्रह्मणि गीयते अन्यथा प्रतिभान
यद् उच्चनीचादिभेदत तद् भान तस्य कर्ता च हरिरेव तथाविध यत्
किञ्चिद् दूषणन्तु अत्र दूष्य चापि हरि स्यम् विरुद्धपक्षा सर्वेऽपि
सर्वम् अत्रैव शोभते।” (सुबो २।१।३२)

अर्थात् ब्रह्म यदि एकमेव अद्वितीय पदार्थ हो तो ओ सर्वरूपोंको
प्रकट या धारण करनेमें समर्थ मानना ही पड़ेगा उस ब्रह्मकी अवधारणासे
विपरीत जो भी कुछ पुण्य-पाप सुन्दर-असुन्दर शुभ-अशुभ सत्य-असत्य
ऊँच-अनूँच ऊँचा या नीचा भान होता हो उसे ऐसे भानको और भानको
प्रकट करनेवालेको भी ब्रह्म ही मानना चाहिये यदि ऐसी अवधारणामें
दूषण अथवा दूष्य स्फुरित होते हों तो उन्हें भी भगवान्‌के लिये विविध
रूप मान लेने चाहिये परस्पर विरोधाभासी सारे पक्ष इस पञ्चदश परमात्मा
भगवान्‌के स्वरूपमें शोभास्पद अलंकाररूप ही होते हैं।



PERCEPTION: A Philosophical Impasse

Dr. S. V. Bokil

The problem of Perception is about our knowledge of the external world whose reality would not be slighted by us in any way. One cannot seriously maintain that there exists an external world of physical objects, living beings and human persons and also maintain at the same time a view that their knowledge however has no genesis in perception. One would not know what it is to have knowledge of external world except through recourse to perception. A strong robust common sense would certainly support such a contention. And we know a few philosophers who would also defend Perception or Pratyaksa as a valid source of knowledge. We say that they advocate a thesis of realism. They would then claim either that we directly know through perception (or sense-experience) the existence of physical objects and the sorts of properties which those objects have or that such knowledge is had by us only indirectly, contents of our sense experience being ideas, or impressions, or sense data or sensibilia, or representations. Thus we have either Direct Realism or Indirect Realism. What is common to both is that perception plays crucial role in acquiring true justified beliefs about the external world. Our beliefs concerning external world are not only caused by perception but they also stand justified before the tribunal of experience. Philosophers whether

in the East or in the West have some times even claimed the superiority of perception over other sources of knowledge such as Anumāna and/or Śruti. But there are also philosophers who have often said that our knowledge is not only somehow limited but also impossible because seeing, hearing and other forms of sensory perception are systematically defective or at least by nature incapable of disclosing to us anything with the characteristics we ordinarily suppose physical objects to have. Most of our philosophical anxieties are thus centered around perception and howsoever strongly we feel like defending robust common sense and intuitionistic certainties of a few philosophers regarding perception, there are seemingly plausible philosophical arguments which make us skeptical about the claims made in behalf of perception. Consider e.g. Zeno's paradoxes, which were designed to discredit the evidence of senses in our belief of the reality of motion and plurality of being. They were brought in support of the Parmenidean thesis that 'being alone is, non being is not'. These arguments of Zeno kept philosophical and mathematical brains till recently busy with the problematic of perception. Perception tells us that motion of things in the world is real, i.e. the change is real and the plurality is also real. But the paradoxical conclusions of Zeno's arguments discredit the evidence of perception which amounts to discrediting of perception itself. Consider further Plato's criticism of Perception in his *Thaetetus*. In defense of perception, while Protagoras was content in claiming that man is the measure of all things, Plato by continuing the logic of Protagoras' thesis reduces it to the

absurdity of contending that pig be the measure of all things. If perception and knowledge are identified, then any irrational brute that is capable of perception is equally the measure of all things. Further if perception is identified with knowledge as is contended by Protagoras, my own perception at any moment becomes infallible and then there is no possibility of any instruction, any scientific discussion nor any debate or refutation. Identity of perception and knowledge leads to contradiction a very subtle charge made by Plato against Protagoras. Further¹ Plato claims that to identify perception with knowledge is to annihilate knowledge of future. Plato further blames Protagoras for his ignorance of an a priori element in knowledge. The most important point which Plato makes is that we see with the eyes and hear with the ears, but to conjoin these perceptions thus acquired by different sense organs and to embrace them in the unity of self consciousness neither of these is an affair of the senses. We cannot have visual sensation by ear nor auditory sensations through eyes but nevertheless if we compare them, and distinguish them, that function cannot be performed by senses themselves.

Zeno and Plato were rationalists and for them reason in man was dependable organ of knowledge that referred infallibly to trans empirical reality. In denouncing perception, they had a philosophical axe to grind. But Now consider the indictment of perception and indeed of all knowledge as such through ten skeptical tropes i.e. points or arguments

given by Sextus Empiricus a Greek physician who lived probably in the first half of the third century after Christ (Refer to his Pyrrhonic Hypotheses in three books The skeptical reservation of opinion or suspension of belief was based on

- 1 Varieties of sensations and feelings which living beings in general have
- 2 The bodily and mental diversities of men, by reason of which things appear different to different persons,
- 3 to the varying accounts of the senses themselves in regard to things, and to the uncertainty as to whether the organs of sense are competent or not,
- 4 to the dependence of our perceptions of things on our different bodily and mental states, as well as
- 5 on the various positions of things to us and to each other (distance, etc),
- 6 to the fact that we know nothing directly, but all only through some extraneous medium (air, etc),
- 7 to the varying impressions of the same thing by varying quantity, temperature, colour, motion, etc ,
- 8 to the dependence of our impressions on custom, the new and strange affecting us differently from the common,
- 9 to the relativity of all notions, predicates in general expressing only relations of thing to each other or to our perceptions of them,
- 10 to the diversity of the customs, manners, laws, religious conceptions, and dogmatical opinions of men

These ten tropes summarise succinctly ancient skeptic's

philosophical perspective. It is clear that ancient skeptics disavow belief. Naturally their scope is less radical. They do not doubt the reality of external world nor do they doubt that other persons have the sorts of feelings or perceptions as they have. The modest scope of ancient skepticism both of reason and perception is, it is claimed, due to its practical concern. Skepticism in ancient times was considered to be a way of life. It was believed that "He who has adopted the skeptical mood of thought, lives ever in peace, without care and without desire in a pure apathy neither of good nor of evil"

I must now hasten to speak of the treatment of Perception in classical modern period which begins with Rene Descartes. I shall also later on briefly indicate 20th century perception of Perception especially after the major linguistic turn. I shall keep the notion of perception at the center and develop the remaining presentation.

1. Descartes was rationalist and also a realist. He argued knowledge must be true justified belief and that beliefs or ideas must be caused by external material objects that exist independent of me. Thus all knowledge is comprised of innate ideas and perception can never play any justificatory role in knowledge. Thus his skeptic (better known as Cartesian skeptic a man of straw), in executing his methodological affair, denounces perception as a valid source of knowledge. But Descartes also advocated Mind-body substantial dualism.

and thereby created host of problems in relating mind and body. It certainly seems that mind and body must be related in some way if you have to account for the knowledge of the external world. But if they are substances in their own right, no relation whether at physical level or at metaphysical level can be logically satisfactory. I shall not rehearse Descartes' proof which is lengthy one. I shall not draw your attention to the core point in Descartes argument viz, though God is final sanction for all our knowledge, God guarantees the external existence of only those characteristics of objects of which we have clear and distinct apprehension. Of these there is only one, that is that they have extension in width, breadth and depth (hence they have shape) and relatedly they have substance, location, motion, duration, and number. Knowledge of these is guaranteed by God through reason which is the essence of mind or soul. Ideas like colour, sound, taste, heat and the like are adventitious, hence variable and relative. Because they are confusedly apprehended as properties of objects and hence uncertified by God. These properties which we come to perceive through senses may or may not accurately represent external objects. What we can know and prove with the exactitude of a geometrical theorem is that material objects exist and have extension. This is what is known as Representative Realism and which states that there is a real object (substance) represented by ideas and indirectly know the objects they represent.

2. This theory is also held by John Locke father of

classical Empiricism. He does not however indict perception. On the contrary he advocates the thesis that there are no such things as innate ideas and that sense experience is only and sole source of all our ideas that go to make knowledge. However he expounds this thesis within the metaphysical framework of Descartes, thereby inviting a very perceptive comment that he is more a Cartesian than a Baconian. He subscribes to Descartes' distinction between Primary and Secondary qualities a distinction acknowledged by the then world of science and holds that the material substance which exists independent of mind is represented by ideas that we have through our senses of the properties which objects have. We do not really know or perceive substances but refer our ideas, which we do perceive, to them as their causes. A substance is merely a something, I know not what its unknown cause of my sensations or ideas of sensation. He attributes primary properties to material substance substance inheres these properties, they are shape, size, number, motion and rest. But there are qualities which we attribute to objects outside but which do not inhere in them they are secondary properties. Locke maintains that colours, odours, sounds, tactual feels and tastes of a thing exist as qualities only in the mind. They primarily depend upon sense organs and the mind, which is for Locke, a mere *tabula rasa* having nothing to contribute of its own *a priori*. Thus we infer what the substance is from its effects on us.

3 If we consider both these presentations of the

representative theory of knowledge, one giving no place to perception and the other solely resting on perception, one can see that both the presentations are unsatisfactory. Descartes partly but Locke fully appeal to principle of causality. Appeal to causation is of no avail, because how can we empirically verify a causal relationship between objects and ideas unless we know first that such a relationship holds, we cannot know that there are any such things as external objects? Representative realist needs to verify this relationship in order to infer the existence of an external world, but in order to verify this relation he must first know that there really is an external world. The consequence is that both Descartes and Locke founder upon a skepticism concerning external world of material objects. It is this skepticism that has led for the first time in modern philosophy to the rise of epistemic idealism which reduces the 'esse' of an object to 'percipi' (Brunet and Berkeley). Direct realism may not be a satisfactory philosophical account of our knowledge of external world but it at least sides with common sense. Representative realism intensifies philosophical anxieties that center round the relationship of mind and world. It presupposes metaphysical dualism of mind and body but it also introduces the myth of ideas in between mind and the external world. It's a known story how this myth exorcises the concept of matter in Berkeley's philosophy and through that halfway house lends to skepticism about the very very substantial notion of mind. It leads to full blooded sensationalism in Hume and Condillac a *reductio ad absurdum* of both reason and perception.

as organs of human knowledge. It's the phenomenalist reductionism which led to the rejection of metaphysics and to the introduction of mechanistic conception of man in La Mettrie. Descartes and his rationalistic supporters are non naturalists, so are Locke and Bishop Berkeley. Hume introduced naturalism for the first time in Modern philosophy and identifying 'perception' with 'impressions' boldly handed Humean sceptre in the hands of a skeptic.

4 Attempts were made to overcome the difficulties presented by the Representative theory of Perception by suggesting modifications here and there by developing theories like Neo realism (R. B. Perry) and Critical Realism, (George Santayana). I shall not deal with them. (Those interested may refer to Vol 51, no. 2, April 1967 issue of *Monist*, which is devoted entirely to studies of neo realism and critical realism.) Scholars are agreed on the general failure of these theories in handling squarely the issue of our knowledge of external world through Perception.

5 The 20th Century Phenomenalism or Sense data Theory has much in common with Berkeley's epistemological idealism, it's a linguistic refinement of Berkeley's position without the theological metaphysics which he introduces. Both Berkeley and Hume had proposed reduction of material objects we perceive to the sensible qualities. The modern phenomenalist agrees with Berkeley that sense contents do not exist unperceived. "To be is to be perceived" is correct with

respect to immediate data of perception. Surely material things are constituted by sense data. He however departs from Berkeley in asserting that material things do exist independently. In order to remove *prima facie* incompatibility in asserting these contentions, phenomenalist moves from material mode of speech to a formal mode of speech and says that there is an important sense in which objects may be said to be constituted out of sense-data, which objects may be said to be constituted out of sense data, which does not require saying that they are composed of them. If we properly understand the relationship between sense data and objects, then according to Ayer, objects can be regarded as logical constructions out of sense data. To say this is to say that the physical object statements are those that can be translated into sense data statements. Thus the phenomenalist shifts the whole problem of the external world to a linguistic level. Highly sophisticated and technically subtle accounts of the possibility of such translations were worked out by the defenders of such a theory but all of them failed for two important reasons

1. No reduction of any physical object statement can be satisfactorily effect without introducing in the reductive analysis some new physical object statements or reference to physical objects
2. As pointed by Waismann, the empirical concepts are open textured concepts in such a way that there is always an element of uncertainty about their application. In his

"The phenomenalist translation would be possible only if the terms of a material object statement were completely definable. For only then could we describe completely all the possible evidences which would make the statement true or false. As this condition is not fulfilled, the programme of phenomenism falls flat, and in consequence the attempts at analyzing chairs and tables into patterns of sense data which has become something of a national sport in England are doomed to fail"

'Verifiability' in Logic and Language,
(ed) A. N. Flew (1955, p. 121)

6 There are several new perspectives and new bearings in the philosophies of Ryle, Austin and Wittgenstein (Later) based on linguistic analysis and ordinary language use. But, more of that on some other occasion.

1 If everybody is right, then surely no one including Protegoras himself is right.

चर्चा

PERCEPTION A Philosophical Impasse

डा एस् वी वोकिल्

सिद्धेश्वरभट्ट : Why you have confined your analysis of the problems of perception to our knowledge of the external world Because even in the western tradition there has been analysis of sense impressions, simple ideas, mental world also also in judgement of perception, but why can we not take that from other non skeptical So, to begin with they have definite conception of knowledge as per your opening sentence If they have definite conception of knowledge then why we bring in sort of Platonic

एस् वोकिल् : You just tell me who was the philosopher in the west up to Descartes & Lock, who have believed in perception the philosophers who have believed in perception as a source of knowledge of external world They have all the time remained skeptical Perhaps you have Aristotle But in Aristotle what has happened? He certainly depends upon perception for our knowledge of the external world Because he is not Platonic

सिद्धेश्वरभट्ट • They have developed natural and social sciences and have drawn upon perception

एस्. वोकिल : But ultimately in Aristotle as well you will find that knowledge is ultimately my understanding of the form of the external objects Now how do I get that form? Surely not through perception So, Aristotle, though he criticised Plato, in the ultimate analysis he also becomes Platonic

सिद्धेश्वरभट्ट : No But he has e.g. developed inductive logic How can there be a development of the logic without relying upon observation or perception? The best sort of picture we should not overlook, my suggestion is this

एस्. वोकिल : His inductive logic is not merely a simple enumeration

सिद्धेश्वरभट्ट : But observation is there

एस्. वोकिल : Observation is there but what has happened to the problem of induction in the west, we still accept the opinion of Hume that inductive

सिद्धेश्वरभट्ट : But induction is there, that can't be denied Any way, this is one point

एस्. वोकिल : That is the philosophical impasse that induction is there but we can't justify Because philosopher's problem is

सिद्धेश्वरभट्ट : We do have limited justification, otherwise there would not have been light of scientific knowledge And all the scientific and technological inventions would not have taken place

एस्. वोकिल : I think philosophers will not say that scientific knowledge which we have reached is the ultimate

truth Every belief is revisible There are philosophers like Putnam, Quain e g

सिद्धेश्वरभट्ट : Any way, my point was only this much that there is available an analysis of inner world as well

एस्. वोकिल : This is a part of conception

सिद्धेश्वरभट्ट : And the second is even in a Greek thought we do have not only references to but say grounding in perceptual cognition so far as scientific knowledge is concerned I have one more point, you have approvingly mentioned Plato's indictment of perception saying that it could be perception of a pig

एस्. वोकिल : This is what Plato mentions

सिद्धेश्वरभट्ट : Yes, but you are approvingly mentioning Well my point is that by perception while we are analyzing it e g in our present context, we mean ratiocinated organized articulated sense experience That is what we call in our tradition 'Pratyaksa' Otherwise we are not concerned with the Pratyaksa of a crow or pig etc we don't refer to that So I think that

एस्. वोकिल : That is a *reductio ad absurdum* that Plato has My response to this would be that those who believe in perception should first consider if it is possible for us to have perception without language? How do we acquire language

सिद्धेश्वरभट्ट : This is debatable

एस् बोकिल : Why debatable? You show me a single perception, which you make and you do not put it in

सिद्धेश्वरभट्ट : Buddhist would say that every perception is nonverbal Even Naiyayika would say that Nirvakalpaka is nonverbal In our tradition we have that position

एस् बोकिल : On the other hand modern philosophers are inclined to believe that there is no such thing as pure sensation William James e.g. says that every perception is by some kind of hypothesis, which we have There is no such thing as pure sensation So there is no such thing like Nirvikalpak

प्रद्योतकुमार : Prof. Bokil was trying to say that how the theories of perception developed in the west from times of Plato and up to modern time is partly And in this regard, his presentation is perfectly all right excepting three or four minor omissions The first one is that speaking of sense data theory, how can you afford to omit mentioning Russell and Second thing, while you speak of phenomenalism, and you are trying to say why phenomenalist reduction is not possible, you have forgotten to mention John Stuart Mill, who says that perception of matter is the permanent possibilities of sensation But the important point is that when you that this conception has developed in the 20th century simultaneously with the

development of the modern science And you are very correctly asserting that there are two completely different types of skepticisms classical Greek skepticism and the modern skepticism Greek skepticism, which you have not emphasized, which I think you should have emphasized, that it was basically skepticism about the knowledge itself Modern skepticism is mainly three kinds 1 skepticism of the external world 2 skepticism of the other mind and 3 skepticism of the knowledge of past All of them But my perception is this that why was I have noted it first developed that Baker could not justify his belief in perception And there he says that he also introduced world But actually the thing is otherwise Because he introduced this version(?) that created this problem But the most basic point is this that when you speak of phenomenalist reduction, one aspect has been there that any phenomenalist reduction physical object statement is bound to invoke subjective conditions And that means any certain peace of knowledge would become only subjective conditional And that is wrong These are the few remarks

But the important point is this It is true the problem is about the external world and not of the knowledge about our own self Simple reason is this Though it is not denied that ideas are

always known, they are the immediate data for experience but it is not said that those ideas are object the object of the perception. Actually the object of perception is external world. And that perception itself consists of certain ideas and various. So that both of way it is suggested that they also have their of perception that is a different thing. I don't think about the of perception. But how this problem of perception was generated and into what it has made us to. But more or less basically this phenomenalist reduction is a thing of past. Now a days are. See, again of realism. There is physicality language is still found to be the better one because of its simplicity.

एस् बोक्लि : You have certainly made very important observation. My problem was this, after long experience I have decided that for seminars I should always write short papers so that we can get more time for discussion. If you refer to 20th century development, and if I take we have perception of our own feeling just see what Wittgenstein says. They aren't there he says. They don't have any ontological reality at all.

सिद्धेश्वर भट्ट : Private language

एस् बोक्लि : Yes private language argument is there. But I think to bring in private language argument to I should better use perception for the reasons for which we considered to be most important namely

perception of external world And I think problem
before the scientists is also exactly the same

सिद्धेश्वरभट्ट : These days scientists are very much busy
with the analysis of consciousness Tremendous
research is going on in the field of understanding
of consciousness



c

भाट्टमतरीत्या प्रत्यक्षविवरणम्

डॉ० कृष्णामूर्ति शास्त्री, चेन्नई

उपोद्धात .

चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च द्वाभ्या षञ्चभिरेव च ।

हूयते च पुनर् द्वाभ्या स नो विष्णु प्रसीदतु ॥

“मानाधीना मेयासिद्धि मानसिद्धिश्च लक्षणात्” इति सूक्ति प्रमाण विना प्रमेय खलु नैव स्थाप्येत सर्वप्रमाणज्येष्ठभूतम् इद सर्वसम्मत यत् प्रत्यक्ष नाम प्रमाणसङ्ख्याया तावत् विवदन्तो वादिन एवम्—

चार्वका तावद् एक द्वितयमपि पुनर् बौद्ध-वैशेषिकौ द्वौ भासर्वज्ञ च साङ्ख्य त्रितयम् उदयानाद्या चतुष्क वदन्ति । प्राहु प्राभाकरा षञ्चकम् अपिच वय तेऽपि वेदान्तविज्ञा पदक पौराणिकास्तु अष्टकम् अभिदधिरे सम्भवैतिह्ययोगात् ॥

(मानमेयोदयम्)

“व्यवहारे भट्टनय” इति आभाणकम् अनुसृत्य वयमपि षट्प्रमाणवादिन इदानीं प्रमाणज्येष्ठस्य प्रत्यक्षस्य विमर्शं यथामतिं कुर्म

प्रमाणम् :

“प्रमाकरण प्रमाणम्” इत्यत्र नास्त्येव विप्रतिपत्ति वादिनाम् प्रमाच एतन्मतरीत्या “अज्ञात-तत्त्वार्थ-ज्ञानत्वम्” इति मानमेयोदये स्पष्टम् उक्तम्

“प्रमाकरणमेव अत्र प्रमाणं तर्कपक्षवत्, प्रमाच अज्ञाततत्त्वार्थज्ञानमेव अत्र भिद्यते”.

‘अज्ञात’पदेन अत्र ज्ञातविषययोः स्मृत्यनुवादयोः निरासः. तत्र तार्किके अनुवादानाम् अप्रामाण्यं न अनुमतम्. वयन्तु ब्रूमो, अनुवादो हि अर्थपरिच्छेदे व्यवहारे वा पूर्वज्ञानात् कञ्चिदपि विशेषं न आधत्ते. अतः फलविशेषाभावात्, फलार्थं च प्रमाणानां स्वीकारात् स्मृतिवद् अनुवादो अयं प्रामाण्यं न अर्हतीति तद्वारणं ‘अज्ञात’पदेन आवश्यकम्.

शंका : एवं चेत् धारावाहिकेन “घटोऽयं घटोऽयं” इत्येवंरूपे द्वितीयादीनाम् अप्रमात्वं स्यात्?

समाधानं : “अयम् अयम्” इत्येवम् अत्र उत्तरोत्तरेषां कालांशानाम् अज्ञातानाम् अवगमात्, उत्तरे क्षणे घटादिसदभावस्य च पूर्वज्ञानेन अनधिगतत्वात् प्रमात्वमेव.

शंका : कालविशेषस्य औपाधिकत्वात् केन उपाधिना अवच्छिन्नानां कालांशानां भानम्?

समाधानं : पूर्वपूर्वज्ञानजनितानां प्राकट्यानाम् उत्तरोत्तरज्ञानपर्यन्तम् अवस्थानात्, प्राकट्यावच्छिन्नानां कालांशानां तत्र-तत्र अवगमः. प्राकट्यविशेषाणां सूक्ष्मत्वात् तदवच्छिन्नकालविशेषानामपि सूक्ष्मत्वात् पुनरपि दूरवगमत्वं स्याद् इति न शङ्कनीयम्. प्राकट्यानां कालविशेषाणाञ्च सूक्ष्मत्वम् अथवा दूरवगमत्वं नास्ति. अन्यथा “कमलदलशतं युगपद् भिन्नं सूच्या” इति वत् “सकृद् अवबुद्धो घटः” इति यौगपद्याभिमानप्रसंगात्. इह तु ‘अयम्’-‘अयम्’ इति पुन-पुन क्रमेणैव प्रतीते धारावाहिकस्वभावसिद्धत्वाद् यौगपद्याभिमानस्य विरोधः.

डी.प्रह्लादाचार : अयम् अशः कथं...

कृष्णमूर्तिशास्त्री : प्राकट्य प्रमाणस्य फलम्. फलं कालविशेषाः क्षणविशेषा च. तेऽपि सूक्ष्माः. प्राकट्यावच्छिन्नानां कालविशेषाणाम्

उत्तरोत्तरक्षणे नूतनतया भानम् इति यदि उच्यते तत् कथं
 स्याद् इतितु न शक्नीयम् तेऽपि यद्यपि सूक्ष्मा अथवा
 सूक्ष्मत्वमेव नास्ति इति उक्त्वा तेऽपि प्रत्यक्षविषयाएव भवन्ति
 अतएव 'अयम्'-'अयम्' इत्येव नूतनतया एकैक क्षण
 अस्मद्दृष्टिगोचरो भवति नीरूपस्यापि कालस्य प्रत्यक्षत्व वयम्
 अगीकुर्म तत्रच एका युक्ति उच्यते यदि कालादीनां
 दुरुचगमत्व प्राकट्यस्य च तदानीम् "अयं घटः सकृद् अवबुद्धः"
 इति अनुव्यवसायः स्यात् यथा "कमलदलशत युगपद् भिन्नः"
 सूच्या शतपत्रभेदन्यायेन युगपद् भिन्नम् इति भ्रमो भवति
 अत्रतु दुरुचगमत्व यदि स्यात् तथा अनुभवः स्यात् अनुभवेतु
 पुन-पुन क्रमेणैव प्रतीति जायते इति कृत्वा यौगपद्याभिमानस्य
 न विरोधः

प्रद्योतकुमारः : प्राकट्यस्य भेदो अगीक्रियते वा ?

कृष्णमूर्ति शास्त्री : प्राकट्यानां भेदस्तु अगीक्रियते, कालविशेषात्

के ई देवनाथन् : ज्ञानभेदः

कृष्णमूर्ति शास्त्री : प्राकट्येन अवच्छिन्नानां कालानां सूक्ष्माणामपि उपलब्धि
 भवितुम् अर्हति धारावाहिकस्थले द्वितीयादिप्रमाणानाम् एव
 प्रमात्व स्वीकार्यम् अनधिगतत्वञ्च अगीकृतम् एकैकस्य
 शास्त्रकारस्य स्वकीयप्रक्रियायाम् आग्रहस्तु वर्ततएव तदर्थं
 कापि कल्पना युक्तियुक्ताएव गृह्यते

प्रमाणलक्षणे 'तत्त्व'पदं भ्रमसंशयादीनाम् अयथार्थज्ञानानां निरासाय
 प्रयुक्तम् प्राभाकाराणां मते तु अयथार्थज्ञानस्यैव अभावात् 'तत्त्व'पदम् अनर्थकम्
 एवहि तेषां मतम् "इदं रजतम्" इत्यत्र 'इदम्' इति अगृहीतविशेषः शुक्तिशकल
 गृह्यते, 'रजतम्' इति च रजतमात्रं प्रमुष्टतत्ताक स्मर्यते तयोश्च भेदाग्रहात्
 "इदं रजतम्" इति व्यपदेशः पुरोवर्तिनि प्रवृत्ति च शुक्तिशकलस्य
 रजतत्त्वेन भानरूपो भ्रमस्तु नास्ति इति

इदन्तु एव निराकर्णीयं तत्तज्ज्ञानस्य स्वविषयएव प्रवृत्तिकारत्वनियमात्

रजतज्ञानस्यापि इदविषयत्वाभावे पुरोवर्तिनि इदमि प्रवृत्तिः न स्यात्. किञ्च चेतनस्य प्रवृत्तिः सर्वापि ज्ञानपूर्विकेवेति भेदाज्ञानात् प्रवृत्तिः अनुपपन्ना. अपिच “इदमेव रजतम्” इति सामानाधिकरण्यं तयोः अभेदप्रतीति विना न सिद्धयेत्. इति.

तस्मात् अन्यथाग्रहणरूप-प्रमादिज्ञान-सद्भावात् तन्निरासार्थं ‘तत्त्व’प-
दम् तद् एव अज्ञाततत्त्वावगमरूपाया प्रमाया करणत्वेन इन्द्रियसन्निकर्षादीनां
प्रमाणत्व सिद्धम्.

अत्रच ‘प्रमा’शब्देन लक्षणया तत्कार्यभूतस्य प्राक्दृश्यस्यापि प्रतिपादनात्
प्राक्दृश्यरूपप्रमाकरणत्वेन ज्ञानस्यापि प्रमाणत्व भाट्टाः आहुः. एतावताच
वयं फलप्रमाणवादिन इति गीयामहे.

प्रत्यक्षम् :

इन्द्रियार्थसन्निकर्षज प्रमाण प्रत्यक्षम् इन्द्रियाणिच चक्षु-रसन-घ्राण-
स्पर्शन-श्रोत्राणि मन च इति षट् पञ्चेन्द्रियाणि पञ्चभूतात्मकानि गीयन्ते
एवम्—

चक्षुर् नाम कनीनिकान्तर्गत तेजो अथ जिह्वाग्रगन्त,
तोयाशो रसन, क्षितेरिव मनो घ्राण च घोणोदरे।
सर्वांगप्रसृता च मारुतलवा त्वङ् नाम, कर्णोदर-
व्योमैव श्रवण, मनस्तु विभु तद्देहे च कार्यावहम्॥

रूपज्ञानस्य केनचित् कारणेन भवितव्य इति सामान्येन सिद्धौ
दीपादितेजसएव रूपज्ञानहेतुत्वदर्शनात् चक्षु तैजस कल्प्यते. तथा रसज्ञानस्यापि
करणकल्पनाया, शुष्कवस्तुषु रसव्यञ्जकत्वम् अपामेव दृष्टमिति रसनेन्द्रियम्
आप्य कल्प्यते एव चन्दनगत-पार्थिव-निम्बत्वगनुलेपनस्य गन्धाभिव्यञ्जकत्व-
दर्शनात् गन्धाभिव्यञ्जकत्वेन कल्प्यमान घ्राण पार्थिव भवति तथा व्यञ्जनपवनस्य

अंगसंगि-सलिलस्पर्शाभिव्यञ्जकत्वदर्शनात् स्पर्शोपलम्भकस्य त्वगेन्द्रियस्य वायवीयत्वं कल्प्यते. शब्दग्राहकतया कल्प्यस्य श्रोत्रस्य तु परिशोपाद् आकाशात्मकत्वम्. चक्षुरादीनां खलु अन्येन्द्रियारम्भकेण आरब्धत्वं न दृष्टमिति, तेजप्रभृतीनां अन्येन्द्रियारम्भकत्वात् तेषां श्रोत्रत्वं न सम्भवति. भूतात्मकत्वमेव च बहिरिन्द्रियाणां दृष्टमिति अवशिष्टस्य आकाशस्य भूतस्यैव श्रोत्रत्वम् इत्येवं परिशेषो भवति.

तार्किकास्तु “शब्दस्य आकाशागुणत्वात् तद्ग्राहकस्य श्रोत्रस्य आकाशत्वम्” इति साधयन्ति; तद् अस्माभि न अंगीक्रियते, शब्दस्य द्रव्यत्वाद्.

मनस्तु सुखाद्यपरोक्षज्ञानसाधनेन्द्रियत्वेन कल्प्यते. तस्यच विभुत्वं साधयिष्यते यद्यपि मनो विभुः तथापि तस्य शरीरावच्छिन्नस्यैव इन्द्रियत्वमिति तत्प्रदेशएव कार्याणि करोति. रूपादिज्ञानेष्वपि तत् चक्षुरादिपरतन्त्रं प्रवर्ततएव. अनुमानादिष्वपि तत् लिंगादिसहाय भवति इति स्थितिः.

चक्षुरादिषु इन्द्रियेषु नेत्रश्रोत्रयो प्राप्यकारित्वे विवादो अस्तीति बहिरिन्द्रियत्वेन हेतुना त्वगादिवत् तयोरपि प्राप्यकारित्वं साधनीयम्. ततश्च नेत्रस्य पृथुतरपृथिवीधरादिदर्शनात् पृथ्व्यग्रत्वमपि तेज स्वभावसिद्धम् आश्रयणीयम्. तथा उन्मीलनक्षणएव दूरतर-शनैश्चरादिदर्शनाद् व्याप्यावस्थितेन बाह्यतेजसा निर्गमनसमयएव एकीभावः कल्पनीयः. बाह्यतेजसः सकलव्यापित्वेन केरलेभ्योऽपि गंगादर्शनप्रसंगस्तु नापादनीयो, अदृष्टोपगृहीतेनैव आलोकभागेन एकीभावात्.

परन्तु तार्किका तदिदं दूरदर्शनं वेगातिशयात् साधयन्ति. अनन्तयोजनान्तरितेषु शनैश्चरादिषु इदमिति दर्शनं वेगमात्राद् असम्भाव्यमिति तद् उपेक्षितम् अस्माभि. एतानिच इन्द्रियाणि अनुदभूतरूपस्पर्शत्वात् प्रत्यक्षेण न गृह्यन्ते.

सन्निकर्षः :

इन्द्रियार्थयो सन्निकर्षो द्विविध 'सयोग' 'संयुक्ततादात्म्य' च इति.

१. तत्र पृथिव्यप्तेजसां चक्षुस्त्वगिन्द्रियाभ्यां संयोगाद् ग्रहण, वायोः त्वक्सयोगाद्, आत्मनः मन संयोगात्. विभुनोरपि आत्ममनसो अजन्यसयोगांगी-कारात् न विरोध.

२. यदातु चक्षुरादिसंयुक्तेषु पूर्वोक्तेषु पृथिव्यादिषु तदात्मभूतानां जातिगुणकर्मणां ग्रहणं तदा संयुक्ततादात्म्य सन्निकर्ष. तद् उक्त "रूपादीनान्तु संयुक्त-द्रव्यतादात्म्यमेव नः, प्रतीतिकारण तस्मात् न सम्बन्धान्तरसृहा" इति.

यदातु जाति-गुण-कर्मगताना सत्ता-रूपत्व-कर्मत्वादीना ग्रहणं तदा तेषामेव परम्परया तादात्म्यसम्भवात् संयुक्ततादात्म्यमेव सन्निकर्ष इति मन्यामहे. यद्वा यथा परे रूपत्वादिग्रहणाय समवेतसमवायम् आश्रयन्ते तथा अस्माकमपि संयुक्त-तादात्म्य-तादात्म्य नाम तृतीय सन्निकर्षो अस्तु, का हानि ! जाति-गुण-कर्मणाञ्च स्वाश्रयैः तादात्म्यमेव सम्बन्ध तस्मात् द्वेधा त्रेधा वा सन्निकर्ष.

तार्किकास्तु तादात्म्यस्थाने समवायम् अभिपिञ्चन्तो अन्यथा सन्निकर्षम् आहुः : सयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय, विशेषणविशेष्यभाव च इति षोढा सन्निकर्ष इति इदन्तु न उपपद्यते

तत्र आद्य त्रिविध तावत् नाममात्रेण भिद्यते ।
समवायादयस्तु अन्ये सन्निकर्षा निराश्रया ॥

प्रथमा त्रय अस्माकमपि नामान्तरेण सम्प्रता .

शब्दस्य हि श्रोत्रगुणत्वाभावात् समवाय-समवेत-समवायौ निरवकाशौ. अभावस्यच प्रत्यक्षत्वाभावात्, समवायस्य च शशरागायमाणत्वाद् विशेषण-विशेष्य-भावसन्निकर्षोऽपि हेय. किञ्च चक्षुसंयुक्तेन अर्थेन अभाव-समवाययो विशेषण-विशेष्यभाव. सन्निकर्षो न सम्भवति; “दण्डी पुरुष” इत्यादौ सम्बन्धान्तर्पूर्वकस्यैव विशेषण-विशेष्यभावस्य दर्शनाद् अभावसमवाययो च अर्थेन सम्बन्धान्तराभावाद इति.

प्राभाकरास्तु १. संयोग २. संयुक्तसमवाय ३. समवाय च इति त्रैधा सन्निकर्षम् आहु. तन्मते रूपत्वादीनाम् अभावात् संयुक्त-समवेत-समवायो न आश्रयणीय. शब्दत्वस्य अभावात् समवेत-समवायोऽपि न आश्रयते. अभावस्यैव अभावात्, समवायस्यच प्रत्यक्षत्वाभावात् विशेषण-विशेष्यभावोऽपि न आश्रयणीय इति. तदपि मतं, रूपत्वादीनां साधनात् तार्किकैरेव नियकृतम्. तस्माद् उक्तप्रकारेण सन्निकर्षः.

प्रत्यक्षं द्विविधं : १. निर्विकल्पकं २. सविकल्पकं च. तत्र इन्द्रियसन्निकर्षानन्तरमेव द्रव्यादिस्वरूपमात्रावगाहि शब्दानुगागम्यं यत् सम्मुग्धज्ञानं जायते, तत् विशिष्टकल्पनाभावात् निर्विकल्पकम् इति उच्यते.

यत्तु तदनन्तरं शब्दस्मरणसहकृतं जात्यादिविशिष्टवस्तुविषयं “रक्तः अयम्” “घटः अयम्” इत्यादिव्यक्तविज्ञानं तत् सविकल्पकम्.

शाब्दिकास्तु निर्विकल्पकं नास्ति इति आहु. उक्तहि “न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगाद् कृते” इति. तद् अयुक्तम्, पूर्वम् अर्थदर्शनाभावे शब्दस्मरणस्य हेत्वभावप्रसगात्

सोऽगतास्तु प्रत्यक्षं निर्विकल्पकमेव आश्रित्य सविकल्पकस्य प्रमाणत्वं प्रत्यक्षत्वं च न अस्ति इति आहु.

तदपि अयुक्तम्, सविकल्पकस्य प्रत्यक्षतया लोकसिद्धस्य निषेधे

लोकविरोधात्. तद् उक्तम् “‘चन्द्र’शब्दाभिधेयत्वं शशिनो यो निषेधति
सएव सविकल्पस्य प्रत्यक्षत्वं निवारयेद्” इति. अपिच सविकल्पकानन्तरमेव
अर्थक्रियादर्शनाद्, अर्थक्रियाकारित्वलक्षणं प्रमाणत्वं तस्य दुर्निवारम्.

शंका : सविकल्पकस्य ‘प्रत्यक्ष’शब्दवाच्यत्वं कथम्? तस्य
निर्विकल्पकेन व्यवधानेन, साक्षाद् अक्षजत्वाभावात्, परम्परया अक्षजत्वस्य
प्रत्यक्षलक्षणत्वे, अनुमानादीनामपि प्रत्यक्षत्वप्रसंगात्.

समाधानं : निर्विकल्पकवत् सविकल्पकमपि साक्षाद् अक्षजमेव; यथा
आहुः आचार्या

ताश्च इन्द्रियानुसारेण जायन्ते पञ्च कल्पनाः।
यदितु आलोच्य सम्मील्य नेत्रे कश्चिद् विकल्पयेत्॥
प्रत्यक्ष नैव मन्यन्ते तल्लोकिकपरीक्षकाः।
इति.

किञ्च परम्परया अक्षजत्वेऽपि न अनुमानादिषु प्रत्यक्षत्वप्रसंगः,
पंकजादिष्विव योगरूढिस्वीकारेण अनुमानादिषु ‘प्रत्यक्ष’शब्दस्य अप्रवृत्ते.

अत्र गुरु. आह : पंकजादिषु रूढि नास्ति, अवयवशक्त्यैव पद्मे
वृत्त्युपपत्ते. कुमुदादिषु अप्रवृत्तिस्तु तेषु अप्रयोगादेव भविष्यति इति.

तद् अयुक्तम्. ‘पंकज’शब्दस्य पद्मे वृत्तौ का सामग्री इति चिन्तायां
...णां कुमुदादिष्वपि सत्त्वेन व्यभिचाराद् रूढिरपि सामग्रीत्वेन कल्प्या.
योगश्च प्रतीतो न हातुं शक्त इति उभयसिद्धिः. तस्माद् योगरूढिशक्त्या
निर्विकल्पक-सविकल्पकयोरैव ‘प्रत्यक्ष’शब्दवाच्यत्वं न अक्षापेक्षाणामपि
अनुमानादीनाम् इति सिद्धम्.

सविकल्प पञ्चविधो : ^१द्रव्य-^२जाति-^३गुण-^४कर्म-^५नामभि.

यथा १. वेणुमान् अयम् २. गोपो अयम् ३. श्यामो अयम् ४. ...
अयम् ५. गोविन्दो अयम् इति.

प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षमपि षष्ठो विकल्प इति केचित्. तन्न, नामकल्पनायाम्
अन्तर्भावात्. नाम्ना हि पूर्वम् अनुभूतरूपे स्मारिते तद्रूपविशिष्टतया अर्थस्य
कल्पना नामकल्पना इति उच्यते. तेन “गोविन्दो अयम्” इत्यस्य अयम्
अर्थ — “यो असौ ‘गोविन्द’शब्दवाच्यतया पूर्वं गृहीत स एव अयम्”
इति. यदातु शब्दवाच्यत्वं अतन्त्रीकृत्य पूर्वापररूपयो ऐक्यावगम एव तात्पर्यं
तदा स एव अयम् इति प्रत्यभिज्ञा स्पष्टा भवति; साच प्रत्यभिज्ञा संस्कारसहितेन
इन्द्रियेण एकज्ञानत्वेन जायते. तथाच ‘सः’ इति ‘अयम्’ इति च
द्वे भाने जन्येते; तत्र ‘सः’ इति भानजननशक्तिः संस्कारकृता, ‘अयम्’
इति भानजननशक्तिः इन्द्रियकृता इति विभावनीयम्.

इहच प्रत्यक्षज्ञानेषु विवक्षाभेदेन १. इन्द्रियस्य २. तत्सन्निकर्षस्य
३. ज्ञानस्य वा करणत्वं भवति. अतः सिद्धम् इन्द्रियसन्निकर्षजं प्रमाणं
प्रत्यक्षम् इति.

गुरुस्तु आह : “साक्षात्प्रतीतिः प्रत्यक्षम्. तच्च मेय-मातृ-
प्रमास्वरूपम् इति त्रिपुटं भवति” इति. तद् आलोच्यते.

तत्र किम् इदं साक्षात्त्वं नाम? ननु साक्षाद्दीः स्वरूपधीः; अक्षाद्वि-
स्वेनेव रूपेण भानं; लिंगादिभ्यस्तु परसम्बन्धिरूपेणैव अन्यदीनां भानाद्
असाक्षात्त्वम्, इति चेत्, न, एवं चेत् नामादिपरसम्बन्धिरूपेण भानात्
सविकल्पकस्य असाक्षात्त्वं स्यात्. यदि तत्र परसम्बन्धिरूपभानेऽपि स्वरूपधीरपि
अस्ति इति उच्येत, तर्हि अनुमानादिष्वपि तथात्वात् साक्षात्त्वम् आपद्येत.
आत्मस्वात्मनोस्तु सर्वज्ञानेषु प्रत्यक्षत्वकथनं कर्मकर्तृभावादिविरोधात् निराकरि-
ष्याम.

बोद्धास्तु “कल्पनापोढम् अप्रान्तं प्रत्यक्षम्” इति आहुः.

‘कल्पनापोढ’पदेन सविकल्पाना निरासो ‘अभ्रान्त’पदेन निर्विकल्पकेऽपि भ्रमत्वेन अभिमताना केशोण्ड्रकादिज्ञानाना निरास तद् अयुक्त, सविकल्पकस्य प्रत्यक्षत्वसाधनेन तत्र लक्षणस्य अव्याप्तत्वात्

यत्पुन योगिज्ञानम् ईश्वरज्ञानं च भूतभविष्यदादिविषयम् इन्द्रियसन्निकर्षा-
जन्यम् अपरोक्षम् अस्ति इति तत्संग्रहणाय “अपरोक्षप्रमाव्याप्त प्रत्यक्षम्”
इति लक्षयितव्यम् इति तार्किकै उक्तम् तदपि अयुक्त, प्रत्यक्षस्य
विद्यमानोपलम्भनियमात्, भूतादीना प्रत्यक्षत्वस्य अनुपपत्ते तस्माद्
अस्मदुक्तमेव प्रत्यक्षलक्षणं रमणीयम् “इन्द्रियव्यतिरिक्तानि द्रव्याणि एषा
च जातय, प्रायश्च गुणकर्माणि प्रत्यक्षाणि इति वक्ष्यते”

जैमिनिसूत्र-तद्व्याख्यानसारेण प्रत्यक्षविषये शास्त्रदीपिकाया श्लोकवा-
तिके च महती चर्चा अतिविस्तृता कृता तस्य अयं संग्रह प्रदर्श्यते

जैमिनिना महर्षिणा इदं सूत्रं प्रणीतम्
कं सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्य इन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षम्,
खं अनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात् (१।१।४)

अत्र प्रथमभागे प्रत्यक्षस्य (लक्षणम्) स्वरूपम् उच्यते द्वितीयभागे
तस्य धर्मं प्रति अप्रवृत्तिं कथ्यते इति शाबरव्यतिरिक्तानां वृत्तिकारणानाम्
आशयः शाबरभाष्येतु इदं सम्पूर्णसूत्रं प्रत्यक्षस्य अनिमित्तत्वकथनपरत्वेनैव
व्याख्यातम्

प्रथमभागस्य लक्षणकथनपरत्वमपि निर्दुष्टमेव इति बोधनाय
शास्त्रदीपिकाया अतिव्याप्त्यादिदोषं परिह्रियते एवम् इन्द्रियसम्प्रयोगजन्यत्व-
भ्रमे अतिव्याप्तम् इतितु न वक्तव्यम्, अत्र ‘सत्’पदं तदपि सम्प्रयोगविशेषणत्वेन
उक्तत्वात्

वस्तुतस्तु मीमांसायां शब्दप्रमाणाधिकारे प्रत्यक्षलक्षणकथनं निष्प्रयोजनम्

‘लोकसिद्धप्रमाणव्यवहारिणो मीमांसकस्य लक्षणकरणं च अयुक्तमेव, अतः एतत्सूत्रं प्रत्यक्षस्य धर्मविषये अनिमित्तत्वकथनपरमेव. “प्रत्यक्षं, धर्मे अनिमित्तं, विद्यमानमात्रोपलम्भनत्वात्” इति अनुमाने विवक्षिते सति, हेत्वसिद्धिपरिहाराय, प्रत्यक्षं, विद्यमानमात्रग्राहकं, सत्सम्प्रयोगजत्वात्” इति कल्प्यते. अत्र सूत्रे ‘इन्द्रियाणाम्’ इति कथनम् उपलक्षणम् इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य, इन्द्रियगनसंयोगस्य, आत्मनसंयोगस्य च. आत्मा मनसा युज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियम् अर्थेन, तत् प्रत्यक्षम् इत्येवं संयोगत्रितयम् एकं प्रमाणम्. ‘बुद्धिजन्म’ इत्यनेन जायमाना बुद्धिः प्रमाणम् इति उक्तत्वात् न भूता नापि भाविनी. अतएव बुद्धेः कारकान्तराद् वैलक्षण्यं, कारकान्तरं हि जन्मव्यतिरिक्तव्यापारान्तरेण प्रधानक्रियां निष्पादयति, बुद्धिस्तु जन्मैव इति

इन्द्रियं किम्? उच्यते. यत् सम्प्रयुक्ते अर्थे विशदावभासं विज्ञानं जनयति तद् इन्द्रियम् तच्च द्विविधं बाह्यम् आभ्यन्तरं च इति. बाह्यं पञ्चविधं : घ्राण-रसन-चक्षुस्-त्वक्-श्रोत्रात्मकम्. आन्तरन्तु एकं मनः. तत्र आद्यानि चत्वारि पृथिव्यादिभूतचतुष्टयकार्याणि अक्षपाददर्शनवदेव अभ्युपगम्यन्ते. श्रोत्रन्तु आकाशात्मकं स्वीकृतम् वयन्तु “दिश श्रोत्रम्” इति श्रुते दिग्भागमेव कर्णशङ्कुल्यवच्छिन्नं श्रोत्रं गम्यहे मनस्तु पृथिव्यादीनाम् अन्यतमात्मकं वा तेभ्यो अन्यद् वा सर्वथा पृथग् अस्ति. तच्च मन आत्म-तद्गुणेष्वेव स्वतन्त्रं प्रवर्तते न बाह्येषु रूपादिष्विति ‘आन्तरम्’ इति उच्यते. रूपादिज्ञानेष्वपि तत् चक्षुरादिसहायं प्रवर्तते, अनुमानादिष्वपि लिगादिसहायं; अन्यमनस्कस्य सम्प्रयुक्तेष्वपि रूपादिषु ज्ञानानुत्पत्तेः. अत्र अनुमानस्य भूतभविष्यतोरपि प्रवृत्तेः, अनुमानस्य च मनोजन्यत्वेन, इन्द्रियजन्यत्वं विद्यमानोपलम्भनस्य व्याप्यं न भवेदिति शंका न युक्ता, इन्द्रियसम्प्रयोगजन्यत्वस्येव व्याप्यत्वेन उक्तत्वात्. नहि अतीताया भविष्यन्त्या वा वृष्टेः अनुमानेन अनुमीयमानाया मनसा संयोगो अस्ति.

इन्द्रियैः अर्थसन्निकर्षे सति प्रथमतः सम्मुधाकारं निर्विकल्पं प्रत्यक्षज्ञानं भवति, तदनन्तरमेव सविकल्पकं ज्ञानम् उत्पद्यते. निर्विकल्पकजन्यस्यापि

तस्य पारम्पर्येण इन्द्रियजन्यत्वम् अस्ति तद् उक्तं “तत पर पुन वस्तुधर्मं जात्यादिभि यया बुद्ध्या अवसीयते सा हि प्रत्यक्षत्वेन सम्मता”.

शका : इन्द्रियस्य निर्विकल्पकोत्पत्तावेव उपक्षीणव्यापारत्वात्, इन्द्रिय-सम्प्रयोगस्य च शब्दादिस्मरणेन व्यवहितत्वात् सविकल्पकस्य अप्रत्यक्षापत्तिरस्यात् ?

समाधान : इन्द्रियव्यापार सविकल्पकोत्पत्तिपर्यन्तम् अनुपगतो भवति, तेन जायमान ज्ञान (सविकल्पक) इन्द्रियैः व्यपदिश्यते.

सविकल्पकम् एकमेव प्रत्यक्ष भवति इति केषाञ्चिद् मत, तन् न उपपद्यते, लोके बाहुल्येन सविकल्पकएव ‘प्रत्यक्ष’शब्दप्रयोगेऽपि “कल्पनापोढम् अध्रान्त प्रत्यक्षम्” इत्यनेन निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्य लक्षितत्वात्, शिष्यादीना प्रथमत इन्द्रियसन्निकर्षे सति सम्मुग्धाकारनिर्विकल्पकस्यैव जायमानत्वात् च उक्तहि शास्त्रदीपिकाया “लोके प्रतीतो हि वयम् अक्षसन्निपातानन्तरम् अविविक्तसामान्यविशेषविभाग सम्मुग्धवस्तुमात्रगोचर आलोचनज्ञानं, तदभावेतु विकल्पएव न जायेत यतो विकल्पयता पुरुषेण पूर्वानुभूत जातिविशेष सञ्ज्ञाविशेष च अनुस्मृत्य, तेन पुरस्थित यस्तु विकल्पयितव्यम् सविकल्पक हि सकेतग्रहणकालभावि-शब्दादि-स्मरणपूर्वक, अकस्मादेव तत्स्मरण न आविरस्ति, निर्विकल्पकेन तत्सत्कारोद्बोधात् स्मरणोपपत्तिरिति

निर्विकल्पकस्य व्यवहारानगत्वात् तन् न प्रमाणम् इतितु न शक्य, तस्यापि व्यवहारोपयोगित्वदर्शनात् दृश्यतेहि वह्निना दह्यमानस्य सहस्रा अपस्मरण तद्विमर्शानपेक्षमेव झटिति जायमानम् उपलभ्यते तिरश्चा बालानां च निर्विकल्पकेनैव सर्वो व्यवहार, अगृहीतसम्बन्धानां तेषां शब्दसम्भिन्नार्थबोधस्य असम्भवात् उक्तहि “अस्तिहि आलोचन ज्ञान प्रथम निर्विकल्पक बालमूकादिविज्ञानसदृश शुद्धवस्तुजम्, न विशेषो न सामान्य तदानीम् अनुभूयते, तयो आधारभूतातु व्यक्तित्वेव अवगम्यते” इति

आलोचनं ज्ञानम् इत्यनेन बोधकत्वं प्रामाण्यहेतुत्वेन उक्तम्. 'प्रथमम्' इत्यनेन अस्तित्वं निर्विकल्पकत्वं च युक्त्या साधितम्. "न विशेषम्" इत्यनेन शुद्धवस्तुजत्वं विवृतम्.

बौद्धारतु स्वलक्षणमात्रगोचरं निर्विकल्पकम् इच्छन्ति; तदपि प्रतीतिविरुद्धम्. प्रतीयते हि सम्मुग्धाकारं वस्तु सहसैव यत् पश्चात् जातिद्रव्यगुणक्रियानामभि पञ्चधा सविकल्पकेन विकल्प्यते "गौः अयम्" "दण्डी अयम्" "शुक्लो अयम्" "गच्छति अयम्" "डित्थो अयम्" इति.

तत्र निर्विकल्पकम् अनेकाकारं सम्मुग्धं गृह्णाति, सविकल्पकन्तु एकैकाकारं जात्यादिकं विविच्य विषयीकरोति.

श्लोकवार्तिके इदं प्रत्यक्षसूत्रं बहुविवृतम्. तत्र केचन विषया अ(धि)क्रियन्ते. "प्रत्यक्षं यज् जने सिद्धं तस्य एवंधर्मकत्वतः (सत्सम्प्रयोगजत्वतः), विद्यमानोपलम्भत्वं तेन धर्मे अनिमित्तता प्रत्यक्षत्वम् अदो हेतु, शेषं हेतुप्रसिद्धये" इत्यस्यां कारिकायां व्याख्यावसरे पार्थसारथिमिश्रेः त्रयः प्रयोगा एवम् उक्ताः—

१. प्रत्यक्षम् अनिमित्तं, विद्यमानोपलम्भात्
२. प्रत्यक्षं विद्यमानोपलम्भं, सत्सम्प्रयोगजत्वात्
३. प्रत्यक्षं सत्सम्प्रयोगजं, प्रत्यक्षत्वात् इति.

अत्रच 'सत्'पदस्य वर्तमानार्थकत्वं विवक्ष्यते, तच्च 'सत्'पदं सम्प्रयोगसमानाधिकरणम्; अतो "वर्तमानात् सम्प्रयोगात् यद् ज्ञानं जायते तत् सत्सम्प्रयोगजम्" इति अर्थः. अतो अनुमाने न अतिव्याप्तिः. तत्र इन्द्रियसम्प्रयोगस्य लिंगज्ञानजननेन निवृत्तव्यापारत्वात्. अत्रच प्रयोगेषु योगिप्रत्यक्षं पक्षः, अस्मादादिप्रत्यक्षं दृष्टान्तः इति भाव्यम्.

सम्प्रयोगस्य द्विनिष्ठत्वेन, सूत्रे 'प्रत्यक्षम्' इति यो व्यपदेशः सो अनुपपन्नः, इन्द्रियार्थसम्बन्धनिमित्तत्वाद्, व्यपदेशस्य च उभयाश्रितत्वेन 'प्रत्यक्षम्' इति व्यपदेशोऽपि किं न स्यात् इति शक्याम् इदम् उक्तम् "योगस्य द्व्याश्रयत्वेऽपि भवति अन्यतराश्रयो व्यपदेशो अथवा अप्यक्ष तत्र असाधारण भवेत्" इति अत्र व्याख्याया पार्थसारथिमिश्रै उक्तम् "१ दित्यक्षपित्ययो माता 'दित्यमाता' इति उच्यते यथा अथवा २ अर्थसम्बन्ध प्रमाणान्तरसाधारण इति हेतो प्रत्यर्थम् इति न व्यपदेशः, प्रत्यक्षम् इत्येव व्यपदेशः

इन्द्रियाणां ग्राह्यग्राहकशक्तयः, ताभ्यः क्वचित् रूपादौ असकृत्, क्वचित् द्रव्यादौ सकृत् च व्यवस्थितो भवति इति उच्यते "तस्माज् ज्ञानानुसारेण व्यवस्थासकरो क्वचिद् ग्राह्यग्राहकशक्तिभ्यः कार्यद्वारेण कल्पितौ, तस्मात् पञ्चभिरपि अक्षैः बोधः सत्तागुणत्वयोः, द्रव्यमूर्तौ (परिमाणम्) पुनर्द्रव्या रूपादौ एकत्र स्थितिः"

तस्मात् मीमांसारीत्या प्रत्यक्ष इन्द्रियार्थसन्निकर्षजं ज्ञानम् इति वार्तिककारैः सुनिरूपितं मतान्तराणां खण्डनपूर्वकं सविस्तरम् यथावकाशं यथामतिं सगृहीतम् इति शम्

+

चर्चा

भाट्टगतरात्रा प्रत्यक्षविवरणम्

डा आर्. कृष्णमूर्ति शास्त्री

के ई देवनाथन् अनुवाद सर्वोऽपि इति नास्ति "ग्रामो ग्रामो रमणीय"

चर्चा

भाट्टमतरीत्या प्रत्यक्षविवरणम्

डॉ आर् कृष्णमूर्ति शास्त्री

के ई देवनाथन् : अनुवाद सर्वोऽपि इति नास्ति “ग्रामो :
रमणीय” “पच-पच” इति उक्तौ तत्र शैत्य ज्ञायते इति
भाष्यकारेण उक्तम्

कश्चित् : अनुवादस्य कथम् अप्रामाण्यम् इति प्रश्न खलु?

के ई देवनाथन् “इद रजतम्” इति अत्र सामानाधिकरण्यम् अभेदप्रतीति
साधयति तथा मया “चौर स्याणु” इतिवत् सामानाधिकरण्यम्
अस्ति चेद् अभेद इति न नियम अभेद प्रतीयते परन्तु
युक्तिसहकृतलाघव यत्र भवति तत्र अभेद त्यज्यते कुत
इति उक्तौ, यत्र नष्टपटे “स अय पट” इति अभेदप्रतीती
सत्यामपि सो अभेदो बाध्यते नैयायिकै तद्वत् अत्रापि
प्राभाकरमतेऽपि भवितुम् अर्हति

अनन्तर, सयुक्त-तादात्म्य-तादात्म्यम् इति उक्तम् शब्द
“सयुक्त-तादात्म-तादात्म्यम्” इति स्याद् वा? अनन्तर भवद्भि
उक्त यत् प्राभाकरमते रूपत्व न अंगीक्रियते लोकावेदाधिकरणे
भाट्टेऽपि गुणगता जाति न अंगीक्रियते इति भाट्टमतेऽपि
अस्ति इति स्मर्यते अनन्तर, विषदावभासत्वम् इत्यत्र
असाधारणाकारेण अवभासमानत्वम् इति व्याख्यान युक्तं वा
इति मम शका

“वालमूकादिविज्ञानसदृश शुद्धवस्तुजम्” तत्रतु शकाद्वयम्
अस्ति “न विशेषो न सामान्यं तदानीम् अनुभूयते, तयो

आधारभूतात् व्यक्तित्वेव अवगम्यते" इत्यत्र न्यायरत्नाकरकारे
निष्प्रकारक ज्ञानम् अत्र सम्मुधाकार विवक्षितम् इति उक्तम्
परन्तु अत्र वातिके "न विशेषो न मामान्यम्" इत्यनेन
व्यक्तिमात्रम् अवगम्यते इति भाति अत्र न्यायरत्नाकरकार
समर्थनीयो न वा? अनन्तर "बालमूकादिविज्ञानम्" अस्ति
किल बालमूकादीना तिरश्चामपि हेयोपादेयविभागो वर्तते
बालानां सर्वेषु हेयोपादेयविभागो यद्यपि नास्ति केचुचित्
विशेषस्य अस्माकमपि नास्ति बहुषु परन्तु बालकानामपि
कुत्रचिद् अस्त्येव अतः तत् कथं दृष्टान्तीकृतम् वार्तिककारैः ?
कृष्णमूर्तिशास्त्री : तत्र सामानाधिकरण्यं चतुर्धा भवितुम् अर्हति अभेदे
अध्यासे विशेषणविरोधभावे कार्यकारणभावे वा ("राहो
शिरः(१)"), "इदं रजतम्" इति भ्रमस्थले, "नीलम् उत्पलम्",
"मृदं घटः" इत्यनेन अभेदः

के ई देवनाथन् : मम शका तथा नास्ति युक्तिराहकृतं लाघवम् अस्ति
प्राभाकरमते लाघवम् बहु प्रदर्शितम् ते
कृष्णमूर्तिशास्त्री : प्राभाकरमते लाघवम् प्रदर्श्यते च अख्यातिमतखण्डने
बह्व्यो युक्तयः सन्ति अहम् इदानीम् एकं वदामि दृष्टं
पुरोवर्तिपदार्थं हस्तेन निर्दिश्य सत्यरजतार्थं पुरोवर्तिनि प्रवर्तते
यदि पुरोवर्तिपदार्थमेव रजतत्वेन न जानीयात् कथं तत्र प्रवर्तते ?
तस्य प्रवृत्तिः अन्यत्र स्यात् एवञ्च पुरोवर्तिपदार्थम् अगुल्या
निर्दिश्य "इदं रजतम्" इति वदति

के ई देवनाथन् : अससर्गाग्रहाद्
कृष्णमूर्तिशास्त्री : अससर्गाग्रहाद् इति उक्तो कुतो इष्टभेदस्य अससर्गादि
यदि प्रवर्तते, अनिष्टभेदग्रहात् कुतो न निवर्तते? एव सर्वम्
आलोच्यैव अभेदो यथावत् प्रतिपादितः युक्त्यन्तरम् अनालोच्य
तथैव अगीकर्तव्यः इति उत्सर्गः स्वीकृत्य ते वदन्ति इति तु
तत्र समाधानम्
'तदात्म्य' पदं वा 'तदात्म' पदं वा इत्यत्र तु पुस्तके

“सयुक्त-तादात्म्य-तादात्म्यम्” इत्येव उक्तम् अस्ति तदपेक्षया
 “सयुक्त-तदात्म-तादात्म्यम्” इति कथनं न इदं श्रुतिवाक्यम्
 मुद्रणत्रुटिरपि स्यात् यदि इदम् अनुपपन्नं परन्तु गत्यन्तरं
 मया चिन्त्यते

के ई देवनाथन् : श्रीमद्भिः समर्थयितुं शक्यते

कृष्णमूर्तिशास्त्री : पुस्तके तथा लिखितम् अस्ति तत्र मम अनुपपत्ति
 न स्फुरिता तस्मात् तस्य दोषस्य यदि निराकरणं .. तदपि
 कर्तुं शक्यते

डी प्रह्लादाचारः : सयुक्त-समवाय-समवायं that is not the relation
 कृष्णमूर्तिशास्त्री : अनन्तरं, रूपत्वजातिः अंगीक्रियते न अंगीक्रियते इति
 उक्तौ, सर्वेषां शास्त्रकाराणां पक्षद्वयम् यत्र यद् भवति तत्र
 तद् अंगीक्रियते तत्तु इदानीं विशेषतो न स्मर्यते तद् अधिकरणम्
 कुत्रचित् रूपं न अंगीक्रियते इति उक्तौ न अंगीक्रियते
 यथा वा गदाधरभट्टाचार्यं व्यधिकरधर्मावच्छिन्नाभावो दशपुटेषु
 खण्ड्यते विंशतिपुटेषु समर्थ्यते एव तत्र तेषां बुद्धिकौशलं
 भवति एव रूपत्वं पृथग् अंगीकार्यम् इति मया उच्यते
 तदा उच्यते तस्मिन् दिने मम एव रुचिः अन्यस्मिन् दिने
 तत् खण्ड्यते तत्तु बुद्धिकौशलम् भाट्टैरपि कदाचिद् एव
 स्वीक्रियते

के ई देवनाथन् : प्राभाकरे भाट्टैरपि लोकवेदाधिकरणं वाक्यम् अस्ति
 कृष्णमूर्तिशास्त्री : अतएव द्वेधा त्रेधा वा सन्निकर्षः इति किमर्थम् उक्तम् ?
 द्वेधैव तैः खलु स्थापनीयम् इदन्तु यथा अस्माकं विवादः
 इदानीं प्रचलति तथैव तदनन्तरं, निर्णीतत्वं नाम यदनन्तरं
 सशयो न उदेति इति मम भाति स्फुटं भाति अतएव
 प्रत्यक्षपरिकलितं चेत् नहि दृष्टे अनुपपन्नं नाम इदानीं दृष्टं
 चेत्, यद्यपि वेदान्तिभिः अस्माभिः अद्वैतिभिरपि प्रत्यक्षस्य
 दौर्बल्यमेव उच्यते अथापि “नहि आगमा सहस्रमपि घटं
 पटयितुम् ईशते” इति अंगीक्रियतएव प्रत्यक्षानुभवस्य इदमपि

वेलक्षण्यम् अगीकृत यत् न खलु इक्षुक्षीगुडरसा मधुरसभेदा
 अनुभूयमाना शक्या सस्वत्यापि आख्यातुम् प्रत्यक्षेण
 अनुभूयमानो विषयो अन्येन प्रमाणेन न उपपादयितुं शक्यते
 तादृशान्तु वर्तते वैशिष्ट्यचम् तद्रीत्या विशदत्व नाम

के ईं देवनाथन् : असाधारणधर्मवत्वम्

कृष्णमूर्तिशास्त्री : अतएव अपरोक्षसाक्षात्कारपर्यन्त सगुणेश्वरस्य वा
 निर्गुणब्रह्मणो वा ज्ञान फलीभूत स्वीक्रियते इदानीन्तु बहव
 सशया सन्ति “भिद्यते हृदयग्रन्थि छिद्यन्ते सर्वसशया”
 अपरोक्षसाक्षात्कारपर्यन्त गमनम् वस्तुतो अद्वितीय ब्रह्म एकमेव
 प्रत्यक्षप्रमा यत् साक्षात्परोक्षाद् ब्रह्म इति आरम्भे एव

के ईं देवनाथन् . भवद्भि कथञ्चिद् अत्र अद्वैतम् आनीयते
 कृष्णमूर्तिशास्त्री . बालमूकादिरूपम् इति उक्तौ, तत्र का अनुपपत्ति ?
 इदानी बालस्यापि हेयोपादान न निषिध्यते परन्तु प्रथमतो
 माम् अवेक्षयन् कश्चन शिशु किमपि पश्यति हसति परन्तु
 तत्र केवल सम्मुग्धाकारज्ञानेनैव हासो भवति हास आकस्मिकएव
 इति उच्यते मा दृष्ट्वा हसति त्वा दृष्ट्वा रोदति इत्यादिकन्तु
 तत्र नास्ति

विन्ध्येश्वरीप्रसाद . शास्त्रिवर्या ! निर्विकल्पकज्ञाने ज्ञातता भवति न वा ?

के ईं देवनाथन् न भवति

कृष्णमूर्तिशास्त्री : निर्विकल्पक ज्ञान क्षणमात्र तिष्ठति निर्विकल्पकस्य
 पुन अनुसन्धान चेद् ज्ञातता ज्ञातता नाम प्राकट्यविशेष
 इति तै अगीक्रियते तथा वेदान्तिभि अस्माभि न उच्यते
 अथापि

के ईं देवनाथन् : निर्विकल्पकस्य सप्रकारकत्वाभावात् सप्रकारकभूता
 ज्ञातता निर्विकल्पकेन जन्या न भवति

डी प्रह्लादाचार सविकल्पकज्ञानेन सप्रकार ज्ञातता जायताम्,
 निर्विकल्पकज्ञानेन निष्प्रकार ज्ञातता जायताम् ज्ञातता
 नास्ति इति कथम् उच्यते ? केवल प्रतिज्ञामात्रेण इद सर्वम्

उच्यते न कश्चिद् अनुभव तत्र
के ई देवनाथन् तथा नास्ति ज्ञाततामामान्य सप्रकारकमेव ज्ञातता तावद्
अनुभवेनव

विन्ध्येश्वरीप्रसाद : निर्विकल्पकज्ञाने फलमव नास्ति तर्हि कथं प्रत्यक्षत्वस्य
सिद्धि ?

कृष्णमूर्तिशास्त्री . निर्विकल्पक निर्विकल्पकेनेव समाप्यते इति तु उक्तम्
तदनन्तरक्षणएव सविकल्परु प्रायो जायते तत्र फल वर्तते
प्राक्दृश्य इति तु अत्र अङ्गीकृतम् निर्विकल्पकन्तु सविकल्पकस्य
स्वोपासरोह आरोहणपक्षितरेव वर्तते अतएव यावत्

बलिराम शुक्ल : प्राक्दृश्य कुत्र ? निर्विकल्पके अस्ति वा सविकल्पके ?

कृष्णमूर्तिशास्त्री : सविकल्पके एव

अम्बिकादत्त शर्मा : बौद्धपक्षको लेकर दो शकाए है एक शका
प्राप्यकारित्वको ले कर है और दूसरी प्रत्यक्षकी निर्विकल्पकताको
ले कर है श्रोत्र ओर चक्षुर्निद्रिय का जब प्रभाकर मतमें
प्राप्यकारित्व माना जाता है तब बौद्धपक्षसे शका होती
है "सान्तर्ग्रहण न स्यात् प्राप्तौ ज्ञानाधिकस्य च, बहि
नाक्षम् अधिष्ठानात् तच्चिकित्सादियोगत" ये चार युक्तिया
है प्राप्यकारित्वके विरोधमें

के ई देवनाथन् यदि पार्श्वे अस्ति तदानीं ज्ञानन्तु अधिक भवति

कृष्णमूर्तिशास्त्री : पार्श्वस्थितस्य दूरस्थितस्य च चक्षुषा ग्रहणम् अस्ति
न वा ?

के ई देवनाथन् : विशदावभास

कृष्णमूर्तिशास्त्री : तनु देशप्रयुक्तो भवितुम् अर्हति अनेन हेतुना न
गच्छति इति तु कथम् आगच्छति ? अतएव गच्छति इति
मया उच्यते कुत , यस्माद् अत्र गमनम् अत्र सन्निकृष्टत्वात्
विशदतर भासते, तत्र

के ई देवनाथन् : बहुभागसन्निकर्षाभावे अविशदग्रहणम्

कृष्णमूर्तिशास्त्री . विशदाविशदत्वन्तु दूरस्थत्व-समीपस्थत्व

डी प्रह्लादाचार : रश्मिद्वारा पलु सन्निकर्ष ?

कृष्णमूर्तिशास्त्री : चक्षुरिन्द्रिय गच्छति इति उक्ता तथा न तेजसत्वात्
तेषा व्यापकत्वम् अंगीक्रियते वहिः गच्छति

डी प्रह्लादाचार : रश्मय क्षीणा भवन्ति दूरस्थवस्तुविषये, समीपस्थविषयेतु
गाढा भवन्ति

कृष्णमूर्तिशास्त्री : अतएव दूरे शब्दो मया श्रुत इति अनुव्यवसाय
भाट्टानाम् अस्ति इतरेषाम् अस्ति न वा अनुव्यवसायविषयेतु
निर्णयएव न स्यात् ईश्वरस्य समीपे कर्पूरस्य

डी प्रह्लादाचार : अन्य प्रश्न

अम्बिकादत्तशर्मा : दूसरी शका प्रत्यक्षकी निर्विकल्पकताको ले कर
है ज्ञानमे शब्दानुविद्धता किन कारणासे आती है ? यदि
ज्ञानके कारणोमे ही कही शब्दानुविद्धताका स्रोत है तो
जिस क्षणमे ज्ञान उत्पन्न होता है उसी क्षणमे उसे शब्दानुविद्ध
हो जाना चाहिये

कृष्णमूर्ति शास्त्री : सर्वेषा कार्याणा क्रमिकत्वम् अवश्यम् अंगीकार्यम्
एकक्षणावच्छेदेन सर्वं भवितु न अर्हति सर्वस्यापि क्रमापेक्षातु
वर्तते क्षणविलम्बो वा आवश्यक प्रथमतएव शब्दानुविद्धतया
तादृशजात्यादिमत्त्वेन क्रियावत्त्वेन नैव भवति अतएव माघे
द्वितीये वा तृतीये वा श्लोके उक्त 'विभु विभक्तावयव
पुमानिति क्रमाद् अमु 'नारद' इति अवोधि स' इति
क्रमिकत्वाद् वाच्यं प्रवृत्ते वा सर्वस्या क्रियाया शब्दानुविद्धत्वं
कुत तस्मिन् क्षणे न भाति ? कुत अस्मिन् क्षणे भाति ?
के ई देवनाथन् : मम भाति यत् तेषा प्रश्न एवम् अस्ति प्रथमतो
निर्विकल्पक जायते अनन्तरन्तु सविकल्पक शब्दानुवेधविरहित
जायते

कृष्णमूर्ति शास्त्री : तत्र सामग्री का

के ई देवनाथन् : अधिका सामग्री ? निर्विकल्पकपटिता सामग्री
निर्विकल्पक वस्तुविषयकज्ञानम् वस्तुनि ज्ञाते तेन तावद्

शब्दसंस्कार उद्बुद्धो भवति तेन द्वितीय यज् ज्ञान भवति
शब्दानुविद्धविषयकम्

कृष्णमूर्ति शास्त्री : तदेव उक्तम्, सविकल्पकद्वारा उद्बोध

बलिराम शुक्ल : किं सविकल्पकज्ञानमात्र शब्दानुविद्ध भवति ?

के ई देवनाथन् : तथा नास्ति

कृष्णमूर्ति शास्त्री : सविकल्पकज्ञान शब्दानुविद्धमपि भवति

अम्बिकादत्त शर्मा : शाब्द नतु अर्थोत्पन्न जायते, शाब्द नतु इन्द्रियोत्पन्न

जायते तर्हि किं श्रोतेन ज्ञान शब्दानुविद्ध भवति ?

प्रद्योतकुमार : निर्विकल्पकजन्य तत्र सामग्री ज्ञानमेव

विन्ध्येश्वरी प्रसाद : सर्वोऽपि ज्ञान किं शब्दानुविद्ध नास्ति ?

कृष्णमूर्ति शास्त्री : इति नियमो नास्ति

सिद्धेश्वर भट्टट्ट : 'सन्निकर्ष' और 'सम्प्रयोग' के बीच क्या अन्तर है ?

के ई देवनाथन् : दोनों एकार्थक है प्राचीन न्यायभाष्यवार्तिकमे 'सम्प्रयोग'

शब्द है बादमे 'सन्निकर्ष' का प्रयोग किया गया है

प्रद्योतकुमार : मीमांसके रूपत्व न खण्डित, रूपत्वजातित्व खण्डितम्

ईश्वर सृष्टा भवति न वा ?

बलिराम शुक्ल : भाट्टमते ईश्वर स्वीकृतो वर्तते वा ?

कृष्णमूर्ति शास्त्री : स्वीकृत

बलिराम शुक्ल : कीदृश ? सृष्टिकर्तृत्वेन ?

कृष्णमूर्ति शास्त्री : यदि समीचीन सर्वोत्तम मीमांसक स शब्दस्वरूपएव

देवता ईश्वरो नास्ति इति वदति परन्तु खण्डदेवपर्यन्त ये

वर्तन्ते मम जिह्वापि भीति "वाणी दूष्यति" इत्यादिकन्तु

अगोक्तम् अस्ति परन्तु ममतु एव प्रतिभाति यत् तेषामपि

ईश्वरनिराकरणे न तात्पर्यम् ईश्वरो वर्तते इति कृत्वा कर्माणि

परित्यज्य तस्य SOMETHING दत्वा किमपि कुर्याद्

इति भीत्या तै ईश्वरनिराकरण कृतम् इति तेषा भाव

प्रद्योतकुमार : सर्वज्ञ प्रमालक्षण

के.ई.देवनाथन् : नेयायिकमतएव सर्वज्ञः ईश्वरः स्वीकृतः. तत्र “यथार्थानुभवो ...” इति. तत्र अनधिगतावाधितार्थगन्तृत्वम् इति ईश्वरस्वीकारपक्षे नास्ति. अतएव वार्तिककारे: “यथा व्योमशरीरोऽपि परमात्मा प्रदर्श्यते” ...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : ईश्वरस्य ज्ञानं सर्वं प्रत्यक्षरूपम्. मीमांसकानामपि प्रत्यक्षे अनधिगतत्वं न दोषाय. शब्दविषयएव अधिगतत्वं दोषः. इदानीम् अत्र Water Bottle दृष्ट्वा पुनरपि दृश्यते चेत् द्वितीयस्य ...

के.ई.देवनाथन् : धारावाहिकज्ञाने किमर्थम् ...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : अनधिगतांशो वर्तते. शब्दे तावत् तथा न भवति.

के.ई.देवनाथन् : ईश्वरो न स्वीक्रियते इति कथं ...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : मया किम् उच्यते, ईश्वरस्य ज्ञानं परोक्षं वा प्रत्यक्षं वा ?

के.ई.देवनाथन् : प्रत्यक्षमेव भवति.

...
डी. प्रह्लादाचार : तेषाम् अभिप्रायः एवं भाति. ईश्वरस्यापि अनधिगतार्थगन्तृत्वं नास्ति ...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : क्षणविशेषविशिष्टत्वेन भवितुम् अर्हति ?

डी. प्रह्लादाचार : अनधिगतार्थगन्तृत्वमेव वर्तते...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : एवम्. कुतः ?

डी. प्रह्लादाचार : तावता दोषो नास्ति. अनधिगतार्थगन्तृत्वं नाम ईश्वरस्य अज्ञानम् अस्ति वा इति प्रष्टव्यं भवति. परन्तु ईश्वरो यद् अस्ति तद् जानाति. यन् न अस्ति न तज् जानाति. यन् न अस्ति न तज् जानाति चेत् तस्य अज्ञानित्वं वा भ्रान्तित्वं न सम्भवति. अस्मिन् क्षणे... असतो ज्ञानं नास्ति तस्य. सतो ज्ञानं वर्तते. एवञ्च यस्मिन् क्षणे घटो अस्ति तत्क्षणसम्बद्धतया घटस्य ज्ञानं तावत् अनधिगतार्थम्...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : ... धारावाहिकस्थलान् भवितुम् अर्हति. ... जातित्वं

खण्डित रूपत्व न खण्डितम् इति तदुपरि त्रिपदतया मया
 ग्रन्था न स्मर्यते परन्तु तेषां रूपत्व नास्ति इति उक्तौ
 तद् अर्गाकायमेव गुरुमतएव ते उक्तम्
 के ईं देवनाथन् . कारणम् अस्ति सस्थानन्तु न भवति तदेव कारणम्
 आकृति जाति

प्रद्योतकुमार . धारावाहिकज्ञाने अन्यान्याश्रयदापो भवति
 डी प्रह्लादाचार . प्रश्न विवृणोमि ज्ञानभेदेन प्राकट्यभेद प्राकट्यभेदेन
 ज्ञानभेद एव रीत्या अन्यान्याश्रय तेषाम् अभिप्राय एव,
 उत्तरज्ञानेन पूर्वज्ञानजनित-प्राकट्यावच्छिन्नविषय स्वीक्रियते
 तस्माद् उत्तरज्ञानस्य अनधिगतार्थगन्तृत्वम् इति वदन्ति एवञ्च
 पूर्वज्ञानेन हि प्राकट्य विलक्षण तेन जायते इति हेतो उत्तरज्ञानात्
 पूर्वज्ञान भिद्यते तत्र ज्ञानानां भेद कुत

कृष्णभूतिंशास्त्री : ज्ञानानां भेदो न साधनीय , सिद्ध क्षणे-क्षणे वृत्तिभेद
 इति मत स्वीकृत्य इदं प्रवर्तते तत्र भेदस्य प्रमाणं न
 अपेक्षितम् वृत्ति वा भवतु अन्यो वा भवतु

के ईं देवनाथन् . तेषां प्रश्न एव स्यात्, ज्ञानस्य अनधिगतार्थगन्तृत्व
 तदा सिद्ध्यति यदि क्षणादि भिन्ना उत्तरत्र ज्ञाने विषयो
 भवति उत्तरत्र ज्ञाने क्षणादि भिन्न-भिन्न पदार्था यदि विषयो
 भवति तदानीमेव द्वितीयादिज्ञानानाम् अनधिगतार्थगन्तृत्व भवति
 अनधिगतार्थगन्तृत्वसिद्ध्यर्थ

कृष्णभूतिंशास्त्री : क्षणानां विलक्षणानां भिन्नत्वे प्रमाणं न अपेक्षितम्
 एकैक क्षण स्वतो भिन्नएव वर्तते खण्डकाला सर्वेऽपि
 भिन्नभिन्ना तत्तद्विशेषावच्छिन्ना स्वतो भिन्ना

प्रद्योतकुमार : सामग्रीतो भिन्ना

के ईं देवनाथन् : सामग्रीतो भिन्ना अनन्तर कालस्य तावद् वेदान्तिभि

भाट्टे च नीरूपस्यापि विषयत्व स्वीक्रियते

गो श्या म : प्रत्यक्षम धारावाहिकज्ञानम् उत्तरोत्तर अनधिगतका अधिगम
 होता रहता है इसी तरह शब्दम भी सम्भव है जैसे

उद्दिष्ट पदसे अधिगतका लक्षणसे ज्ञान होता है तब वह ज्ञान अनधिगतका ही होता है लक्षणघटकपदाधिगत अर्थका जब परीक्षास अधिगम होता है तब वह ज्ञान लक्षणानधिगत अर्थका परीक्षामे अधिगम होता है अतः शब्दमे भी यह सम्भव है ओर इसी तरह सूत्राधिगतार्थका भाष्यमे

कृष्णमूर्तिशास्त्री : हो सकता है आपके कहनेके बाद मुझको भी अनुमानमे भी हो सकता है उपनयवाक्ये निगमनवाक्ये

च

के ई देवनाथन् : तत्र मर्यादा वर्तते शब्दे तावत् कालो न बोध्यते शाब्दबोधे कालो न विषय प्रत्यक्षे तावत् अनुलिखितोऽपि कालो विषय

कृष्णमूर्तिशास्त्री : आचार्या शृण्वन्तु भवद्भिर् इदानीं प्रत्यक्षएव धारावाहिकम् इति न, शब्दादिष्वपि धारावाहिकम् अस्ति इति शब्देन प्रथमतः "सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म" इति स्वीक्रियताम्

डी प्रह्लादाचार्य : अनधिगतार्थगन्तुत्वम्

कृष्णमूर्तिशास्त्री : तदेव धारावाहनं यदा भवति तदानीमेव खलु अयं प्रश्न उत्तिष्ठति यदि एकं ज्ञानं तदानीम् अनधिगतार्थकत्वं तदेव अनुस्यूततया भासते यदा तदा धारावाहः शब्दः प्रयुज्यते एवञ्च यथा प्रत्यक्षे "अयं घटः अयं घटः अयं घटः" इति यदा भवति एवमेव शब्दजन्ये बोधविषयेऽपि एकं वाक्यं तत्र च बहूनि विशेषणानि एकं विशेष्यम् इति स्वीक्रियताम् प्रथमविशेषणविशिष्टतया ज्ञातम्, अनन्तरं द्वितीयविशेषणविशिष्टतया तदेव विशेष्यं ज्ञायते एवमेव खलु भवताम् आशयः ? तत्रापि अधिगतस्येव पुनः अधिगमः वर्तते

के ई देवनाथन् : नहि अनधिगतस्यापि अधिगमः वर्तते
कृष्णमूर्तिशास्त्री : अधिगतं विशेष्यं पुनरपि विशेषणान्तरविशिष्टत्वेन

अधिगम्यते एवञ्च धारावाहिकस्थले अनधिगतार्थनिर्वाहार्थं या
प्रक्रिया सा अत्र

डी प्रह्लादाचार : तथा प्रश्नो नास्ति उद्देश्यवाचकपदेन केवल
वस्तुस्वरूपबोधयते लक्षणवाचकपदगुच्छेन अन्ये विषया
प्रतिपाद्यन्ते परीक्षासम्बन्धिवाक्येन अपरे विषया प्रतिपाद्यन्ते
एव रीत्या अनधिगतार्थ

के इं देवनाथन् : तत्तु इष्टमेव

कृष्णमूर्तिशास्त्री : तत्रतु प्रश्नएव न उत्तिष्ठति कुत ? उद्देश्यमे तो
सामान्यरूपसे ज्ञात होता है लक्षणमे कुछ विपदाशोका
नूतन अशोका भान हाता है परीक्षामे उससे भी प्रकटतया

गो श्या म : तदा प्रत्यक्षएव अनधिगतार्थज्ञापकता

डी प्रह्लादाचार : नास्ति नास्ति

गो श्या म : तथा शब्दे नास्ति इति यद् उक्त तत्र मया प्रच्छयते

डी प्रह्लादाचार : प्रमाणसामान्यलक्षणम् इदम् अनधिगतार्थगन्तृप्रमाणम् इति
तु न केवल प्रत्यक्षप्रमाणस्य

अच्युतानन्ददास : यथा भवद्भि उक्त द्रव्य-जाति-गुण-क्रिया-नामभि
पञ्चधा विभक्त वर्तते सविकल्पकज्ञान तावता किं तत्र भाट्टमते
पदार्थानां पञ्चधा विभागो भवति इति कल्पयितुं शक्यते
वा ?

कृष्णमूर्तिशास्त्री : पदार्थानां सख्याविषये मया न उक्तम् सविकल्पक
जायते अनन्तर निर्विकल्पकम् सविकल्पकज्ञान पञ्चधा विभज्यते

अच्युतानन्ददास : वैयाकरणा यथा पदस्य पञ्चधा विभाग कुर्वन्ति
तथा अत्र सविकल्पकस्य पञ्चधा विभागो दृश्यते तत्र वैयाकरणा
द्रव्य-जाति-गुण-क्रिया-नाम इति पञ्चधा पदविभाग कुर्वन्ति
तथेव अत्र सविकल्पकस्य पञ्चधा विभागो दृश्यते यदि
निपुण परीक्षाम तर्हि किं भवति, यथा न्याय-वैशेषिकसम्प्रदाये
द्रव्य-गुण-क्रिया-सामान्य इति चत्वार पदार्थाः अत्र आगता.

सन्ति अत्र 'नाम'पदेन कदाचित् शब्दस्य द्रव्यत्व स्वीकृत्य
भाट्ट

डी प्रह्लादाचार : प्रत्यक्ष तावत् सविकल्पकम् एव पञ्चविध भवति
तावता पदार्थानां पाञ्चविध्यं नास्ति यतोहि प्रात्यक्षाग्राह्या
अभावादिपदार्था तन्मते वर्तन्ते अभावोऽपि पदार्थं भाट्टमते
स्वीकृत ?

कृष्णामूर्तिशास्त्री : न स्वीकृत

अच्युतानन्ददास : तत्र प्रश्नो वर्तते तर्हि सम्बन्धरूपपदार्थोऽपि वर्तते
वा ? तस्य ग्रहणं कथं भवति ? तत्र समवायपदार्थस्य

कृष्णामूर्तिशास्त्री : समवायो न अङ्गीक्रियते सयोगो अङ्गीक्रियते

डी प्रह्लादाचार : सम्बन्धस्तु गुणे अन्तर्भवति, गुणविकल्प
अच्युतानन्ददास : गुणे अन्तर्भवति वा सम्बन्ध ?

डी प्रह्लादाचार : एव सयोग

अच्युतानन्ददास . सयोगो वर्तते तादात्म्यं गुणे

डी प्रह्लादाचार : तादात्म्यन्तु वस्तुस्वरूपमेव द्रव्यं भवति

अच्युतानन्ददास . तादात्म्यस्य ज्ञानं कथं भवति ? प्रत्यक्षेण भवति वा
अन्यथा ?

कृष्णामूर्तिशास्त्री : प्रत्यक्षेणैव भवति यः पदार्थो दृश्यते तादात्म्यतया
तादात्म्यं

अच्युतानन्ददास : यदि प्रत्यक्षेण तादात्म्यस्य ज्ञानं भवति तर्हि तादात्म्येन
सह कः सन्निकर्षः केनच इन्द्रियेण भवति इति प्रश्नः

गो श्यामः : गुण-कर्म-सामान्यानां सर्वेषामपि धर्मो अन्तर्भावो भवितुम्
अर्हति

बलिरामशुक्लः किं नैयायिकानां मते समवायस्य ज्ञानं सर्वथा प्रत्यक्षं
भवति वा ?

अच्युतानन्ददासः नहि अनुभेयमपि भवति अत्रतु भाट्टमते किं भवति
इति जिज्ञासा वर्तते तादात्म्यस्य ज्ञानं कथं भवति ?

विन्ध्येश्वरीप्रसादः . वस्तुनो धर्मत्वेनैव भवति

कृष्णमूर्तिशाम्बी : तादात्म्य चक्षुषा गृह्यते कुतो ? घटरूपत्वात् तादात्म्य
द्रव्यरूप स्वीक्रियते

प्रद्योतकुमार : सन्निकर्षस्य सन्निकर्षम् अस्ति न वा ?

अच्युतानन्ददास . सएव प्रश्न

डी प्रह्लादाचार : घटस्य प्रत्यक्ष घटगतरूपस्य प्रत्यक्ष च घट-रूपयो
तादात्म्य यदि अङ्गीक्रियते समवायानङ्गीकृतृभि तस्य प्रत्यक्षम्
एवञ्च प्रत्यक्षत्रयम् अत्र वर्तते—घटप्रत्यक्ष, घटगतरूपप्रत्यक्ष,
घट-रूपयो तादात्म्यप्रत्यक्ष च इति तत्र तादात्म्यप्रत्यक्षे क
सन्निकर्ष इति तेषां प्रश्न अयन्तु प्रश्न समाधेय

कृष्णमूर्तिशाम्बी : मया तु एव चिन्त्यते, तादात्म्य घटरूपम् तदपि द्रव्ये
अन्तर्भूतमिव तस्माद् घटस्य प्रत्यक्षे य सन्निकर्ष सयोग
तेनैव घटतादात्म्यमपि गृह्यते

अच्युतानन्ददास . तर्हि स्वरूप तादात्म्ययो क भेद स्यात् इति प्रश्न

प्रद्योतकुमार : नास्ति भेद

अच्युतानन्ददास : स्वरूपसम्बन्ध भिन्न स्वीकुर्वन्ति नैयायिका , तादात्म्यमपि
भिन्न स्वीकुर्वन्ति

कोलाहलः

डी प्रह्लादाचार : भवता प्रश्नमेव विवृणोमि तादात्म्यस्य घटस्वरूपत्व
स्वीकृत्य घट तादात्म्यम् इति भिन्न नास्ति तस्मात् घटे
य सन्निकर्ष तादात्म्येऽपि सएव सन्निकर्ष इति तेषाम्
उत्तरम् परन्तु तदुपरि प्रश्नो भवति यदि तादात्म्य घट
च एकाएव तर्हि रूपे घटएव सम्बन्ध स्यात् तादात्म्यम्
इति कश्चन सम्बन्ध कुत उच्यते ? घटस्य रूपे तादात्म्य
सम्बन्ध तादात्म्यञ्च घटएव एवञ्च घटएव सम्बन्ध इति
आगतम् तर्हि तादात्म्यम् इति मध्ये कुत आनीयते ? रूपे
घटस्य सम्बन्ध घटएव इति उच्यताम्

कृष्णमूर्तिशाम्बी : अह प्रतिबन्धा उत्तरं ददामि स्वरूपसम्बन्ध स्वीक्रियते

डी प्रह्लादाचार : प्रतिबन्दी मास्तु भो

के ई देवनाथन् : प्रतिबन्धा न उच्यते तेन वाक्येन समाधानम् उच्यते
 कथम् इति चत्, स्वरूपसम्बन्धस्य लक्षण मणिकारेण उक्तम्
 अस्ति "सम्बन्धान्तर विना विशिष्टप्रत्ययनिगमकत्व स्वरूपसम्ब-
 न्धत्वम्" एवञ्च सम्बन्धान्तर नाम स्वव्यतिरिक्त सम्बन्ध
 विना इति अर्थं क्रियते एवञ्च विशिष्टबुद्धिनियामकत्वेन
 तादात्म्य स्वीक्रियते अतो हेतो तस्य भिन्नत्वन्तु न आवश्यकम्
 भिन्नत्वाभावेऽपि सम्बन्धस्य घटापेक्ष्यतादात्म्यस्य वा स्वरूपस्य
 वा स्वापेक्ष्यभिन्नाभावेऽपि विशिष्टप्रत्यययोग्यजननत्वम् अस्ति

डी प्रह्लादाचार : घटस्यव वर्तते ?

के ई देवनाथन् : घटस्यव वर्तते केनचिद् आकारेण तद्व्यक्तित्वेन आकारेण
 घटस्य घटत्वेन रूपेण तत्र आश्रयत्वम् अस्ति सम्बन्धत्व
 तद्व्यक्तित्वेन अस्ति, स्वरूपत्वेन अस्ति

डी प्रह्लादाचार : एवमेव वक्तव्य नतु तादात्म्यमिति सम्बन्ध इति
 वक्तव्यम् घटस्य रूपे तद्व्यक्तित्वेन सम्बन्धत्व घटत्वेन द्रव्यत्वम्

के ई देवनाथन् : तद्व्यक्तित्वमेव तादात्म्यम्
 अच्युतानन्द दास : यदि नीलो घट इति स्वीक्रियताम् नीलघटपदार्थमध्ये
 तादात्म्य वर्तते अभेदरूपम्

वलिराम शुक्ल : 'तादात्म्यम्' इत्यस्य क अर्थ ? स्ववृत्त्यसाधारणधर्म
 इति व्युत्पत्तिवादे प्रतिपादितम्

प्रद्योतकुमार : "शुक्ल घट" इत्यस्य को अर्थ ? घट-शुक्लत्वया
 सम्बन्ध तादात्म्यरूप

के ई देवनाथन् : सर्वेऽपि विषया शास्त्रदीपिकाया चर्चिता केवल
 भेदो न, केवल अभेदो न, भेदाभेद उभयोरपि तात्त्विकत्वम्
 इति मीमांसकसिद्धान्त

डी प्रह्लादाचार : एवञ्च तादात्म्य यदि भेदाभेद तर्हि तद्व्यक्तित्वम्
 इति न वाच्यम्

के ई देवनाथन् : तद्व्यक्तित्वरूपो अभेदन रूपेण अत्र ग्राह्यत्वम् उक्तम्
 भेदाशेन तावत् अग्राह्यत्वमपि भवति

डी प्रह्लादाचार : तद्व्यक्तित्व हि घटनिष्ठो असाधारणो धर्म सच
 रूपे घटस्य सम्बन्ध इति उच्यते चेद् घटे तद्व्यक्तित्वम्
 आयाति घटस्य यो असाधारणधर्म सो रूपनिष्ठ इति वक्तव्य
 भवति

के ई देवनाथन् . स्वीक्रियते परन्तु

डी प्रह्लादाचार : परन्तु रूपस्य तावद् गुणत्वम् नतु तद्व्यक्तित्वरूपत्वम्
 के ई देवनाथन् : भेदाभेदो अत्र विस्तरणीयो वर्तते भेदाभेदवादिभि
 अवच्छेदकभेद स्वीक्रियते एतै मीमांसकै केनचिद् अवच्छेदेन
 तद्व्यक्तित्व रूपे स्वीक्रियते केनचिद् अवच्छेदेन तदभावोऽपि
 स्वीक्रियते अन्यथा

डी प्रह्लादाचार . गोस्वामिचरणाना प्रश्नोपरि किमपि वक्तुम् इच्छति
 भवान् ?

कृष्णमूर्तिशास्त्री : शाब्दबोधेऽपि धारावाहिकस्थलवद् ज्ञातज्ञान वर्तते इति
 तत्रतु उद्देश्ये यो विषयो अवगत तस्य अनवगता अशा
 लक्षणे ज्ञायन्ते, तत्रापि अनवगता अशविशेषा परीक्षाया
 ज्ञायन्ते इति अनधिगतार्थत्व सुस्पष्ट वर्तते तत्र कालक्षणघटना
 न आवश्यकी यत्रतु अधिकविषयप्रवेशो नास्ति “घटोऽय
 घटोऽय घटोऽयम्” इत्येव धारावाहिकस्थल भवति तत्र
 कालविशेष सूक्ष्म प्रवेश्य तदद्वारा अनधिगतार्थकत्वकल्पन
 कर्तव्यम् इति श्रमो जायते तत्रतु भवनिर्दिष्टस्थले उद्देश्य-लक्षणे
 परीक्षा च इत्यादौ तु विशेषविशेषा उद्देश्यापेक्षया केचन
 विशेषा लक्षणे यथा वा तत्र उपनयवाक्यात् शाब्दबोधानन्तर
 पुन निगमनवाक्यात् प्रथमतः “पर्वतो वह्निमान्” इत्यनेन
 को विशेष ? तदपेक्षया विशेष अनुमानेऽपि एव वक्तु
 शक्यते इति मया तदर्थमेव उक्तम्

प्रद्योतकुमार : सर्वथा कथञ्चिद् वैलक्षण्य सम्भवति तदा अनुवाद-प्रमाण
 को

के ई देवनाथन् : शाब्दबोधे न भवति किल प्रत्यक्षे तावत् कालविशेष

गो. श्या. म. : शब्देन उद्दिष्टस्य लक्षणे अनुवादो भवति न वा ?

लक्षितस्य परीक्षायाम् अनुवादो भवति न वा ?

कृष्णमूर्तिशास्त्री : अनुवादो ज्ञातस्य अज्ञातविषयबोधनप्रयोजनकः. ज्ञातम् अनूद्य अज्ञातं बोध्यते.

गो. श्या. म. : अनूदितस्यापि पुनः धर्मान्तरेण बोधने प्रामाण्यं भवत्येव तत्र मम अभिप्रायः.

कृष्णमूर्तिशास्त्री : अनूदितस्यापि प्रामाण्यं स्वतो अनूदितत्वेन रूपेण न. अनूदितम् उद्दिश्य तदनन्तरं कश्चन विशेषो यदि विवक्ष्यते तदानीमेव प्रामाण्यम्.

गो. श्या. म. : तस्मादेव अनूदितानूदितयोः तादात्म्यम् अंगीकार्यम् नात्यन्तिको भेदः तत्र भवितुम् अर्हति.

कृष्णमूर्तिशास्त्री : अतएव स्मृतिसाधारणन्तु प्रमात्वं न अनधिगतार्थज्ञापक-त्वमेव तत्तु अबाधितार्थविषयकत्वमेव. इति पक्षान्तरमपि स्वीकृतम्. अनधिगतत्वे आप्रहो नास्ति. अधिगतोऽपि विषयः स्मृत्यादि प्रमारूपएव इति यदि स्वीक्रियते तदानीम् “अबाधितार्थमात्रविषयकत्वं प्रमात्वम्” इति लक्षणान्तरं स्वीकृतमेव.

बलिराम शुक्ल : प्रत्यभिज्ञाविषये तेषां मते का स्थितिः ?

कृष्णमूर्तिशास्त्री : तत्र नामविशेषविशिष्टतया ज्ञायते इति उक्तं खलु.

बलिराम शुक्ल : तत्र अनधिगतत्वन्तु नास्ति

कृष्णमूर्तिशास्त्री : अतएव अन्ते पक्षिरपि पठिता वर्तते “पूर्वं यो दृष्टो मया ‘गोविन्द’शब्दवाच्यः” इत्येवं रीत्या

बलिराम शुक्ल : तत्पदवाच्यत्वेन

.....+....

संगोष्ठ्युत्तरलेखनम्

गो. श्या. म.

समादरणीये श्रीकृष्णमूर्तिशास्त्रिमहाभागे भाट्टमीमांसाम् अधिकृत्य प्रस्तुतम्

आलक्षपत्रम् इदं मध्ये-मध्य प्राभाकारमीमांसामपि तुलनां विशदीकरोति अतएव
सत्तनां भाषया मीमांस्य सर्वस्यापि विषयस्य अवितावबोधपेन लेखनं
सर्वस्य विचारणोपसहभाषिणं शास्त्रिमहाभागानां भूशम् अधमर्णां सञ्जाता ।

मम तु सगोष्ठ्युत्तरलेखनम् इदं यत् किमपि वास्तवमतदृष्ट्या अस्मिन्
विषये विवक्षितं तदावेदकमेव

तत्र तावत् प्रस्थानभेदेन प्रमाणानां सामान्यस्वरूप-सख्या-प्रामाण्यस्वरूप-
स्वतन्त्रपक्षस्त्वविषयेषु बहवः प्रोक्ता उपलभ्यन्ते तत्र प्रथमे तावत् सामान्यस्वरूपविषय
प्रस्थानरत्नाकरकृद्भिः "तत्र 'प्रमाण'शब्दो भावव्युत्पन्नां रुढो वा अबाधितज्ञान
बाधयोग्यव्यतिरिक्ते च, कारणव्युत्पन्नस्तु तादृशज्ञानकरणे" (प्रस्था एता प्रमा परि उ-
पकूले) इति व्युत्पादितत्वेन प्रमारूपस्य ज्ञानस्य द्वैविध्यं गमयति तथाहि कीदृश
ज्ञानं बाधितं कीदृशं वा बाधयोग्यव्यतिरिक्तम् इति विचिकित्सायां न तावत्
सर्वमपि ज्ञानं बाधितं बाधयोग्यं वा इति अभ्युपान्तुं शक्यं, स्वतोव्याहते
नापि सर्वमपि ज्ञानम् अबाधितं बाधयोग्यव्यतिरिक्तं वा इत्यपि वक्तुं युक्तं,
मरुमरीचिका-रज्जुसर्प-स्वप्नादिज्ञानानां बाधस्य अनुभवसाक्षिकत्वात्, तन्मयायेन
इतरामपि बाधयोग्याव्यतिरेकस्य कल्पयितुं शक्यत्वात् च किञ्च बाधितं बाधयोग्यं
वा ज्ञानं प्रमारूपेण ज्ञानेनैव बाधार्हं चेत् तस्य बाधकज्ञानस्यापि अबाधितत्वं
बाधयोग्यव्यतिरिक्तत्वं वा कथं निर्धारणीयम् ? बाधार्हज्ञानस्य कारणसामग्री-स्वरूप-
सफलप्रवृत्तिजननसामर्थ्यादीनां विचारेण उत बाधकज्ञानस्य कारणसामग्री-स्वरूप-
सफलप्रवृत्तिजननसामर्थ्यादीनां विचारेण आहोस्वित् तदेकतएवेदितस्य विषयस्वरूपप्र-
कारस्य विचारेण ?

तदिह श्रीमदाचार्यचरणानां वचनानि प्रथमतो अवग्यावगाह्यानि —

प्रमाणसामान्यस्य कारणसामग्री-स्वरूप-सफलप्रवृत्तिजननसामर्थ्यानां विषये :

"यथा इन्द्रियग्रन्थ मनस तथा इन्द्रियानुग्राहक्यं बुद्धे
बुद्धयैव अनुगृह्यतामिन्द्रियाणि पश्यन्ति कुर्वन्ति च अतएव
बुद्धितारतम्येन इन्द्रियज्ञान-क्रिययो तातन्म्यम् एतत् कायानुसारित-

क्षणम् 'द्रव्यस्फुरणविज्ञान' स्वरूपलक्षणम् द्रव्यस्य घटादे स्फुरणे
 सति शब्देन सस्कारेण आलोकेन वा यद् विशिष्टज्ञानम्; यस्मात्
 केवल चक्षुषा ज्ञाने तस्मै न स्यात् द्रव्यस्फुरणतारतम्याद्
 बुद्धि नानाविधा सस्कारतेजसो तुल्यप्रकाशकत्वे विशेषास्फूर्ती
 सम सशयो अल्पविशेषस्फूर्ती उत्कटकोटिक. 'विपर्यास' =
 सस्कारप्रावल्यात् तेज तदनुगुणमेव धर्म (तत्र) प्रकाशयति
 विपर्यासो भिन्नार्थप्रतिपादकः, क्रियाज्ञानयो च भिन्नविषयत्वम्—
 तथाच इन्द्रियसम्प्रयोगजनकक्रियाविषयाद् भिनो यो अर्थ तदेकविषयकप्रतिरूपो
 यो वृत्तिविशेष स विपर्यास — निश्चयो यथार्थानुभवो, अर्थो हि
 ज्ञानस्य अर्थम् अगम् अतएव स्मृति न निश्चयात्मिका अर्थाभावात्
 अनुमतिरपि सम्बन्धिव्यवधानेन अर्थजनितैव शब्दोऽपि निश्चयएव,
 (भूतदिक्रय) धर्म- (स्वभावः) सादृश्यातिरिक्त-सस्कारजनकत्वात् शब्देन
 (पोक्षतया) द्रव्यस्फुरणात् चक्षुषो अपेक्षाभावात् प्रमाणान्तरम्
 ब्रूय्येव प्रमाणानि तत् सिद्धार्थवाक्येयु प्रत्यक्षसहकारित्वाप्रत्यक्ष-
 हेतुत्वमेव साध्यार्थे तु लौकिके वाक्यार्थे बुद्धिकल्पिते प्रमाणाभावेन
 अप्रमाण्येऽपि प्रमेयबलात् प्रमाणमेव — लौकिके 'घटम् आनय' वाक्याय
 प्रयोजकवृत्तयनादिक्रियारूप प्रयोजकबुद्धिकल्पितइति वाक्यश्रवणसमये तस्य
 अथस्य अभावात् प्रमाणरूपज्ञानमुदय किन्तु ज्ञानमात्रस्य उदयइति प्रमाणाभावेन
 ज्ञानजनकवाक्यस्य अप्रमाण्येऽपि प्रमेयबलात् प्रयोज्यकर्तृकानयनक्रियादिरूपप्रमेयस्य
 बलात् प्रमाणमेव वाक्याद् जात शब्द समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात् प्रमाणरूपमेव
 इति अथ एतेन एतादृशस्थले परतःप्रमाण्य स्पृष्टीकृत ज्ञेयम् ननु लोकेऽपि
 ससगतस्य वाक्यार्थस्य अपूर्वत्वात् प्रमाणबलादेव प्रमाण्य कुतो न स्वीक्रियते?
 इति आकाशायाम् आहुः—लोके वाक्यार्थो न अपूर्व वक्तृज्ञानविषयविष-
 यित्वात् तद्व्योधनसमर्थपदसमूहस्यैव प्रयोगात्—तथाच उक्तविषय
 वाक्यस्य सम्भावितविषयकत्वात् तज्ज्ञस्य ज्ञान सम्भावनारूपमिति तस्य सशये
 निवेश 'अप्रमाण'पदनु 'प्रमाण'शब्दस्य नामार्थत्वाभिप्रायेण उक्तम् 'प्रमाण'शब्दो
 अवधितज्ञाने वर्तते वाक्ययोग्यव्यतिरिक्ते वा"

(सुबो प्रका ३।२६।२९-३०)

धर्मब्रह्मणो ज्ञापक श्रुत्यादिप्रमाणस्वरूपम्

‘अस्मिन् शास्त्र परिभाषाम् उक्त्वा प्रमाणम् आह ‘वेदा’
इति शब्देन प्रमाणं तत्रापि अलौकिकज्ञापकमेव तत्
स्वतः सिद्धप्रमाणभावः— तथाच प्रत्यक्षादिषु भ्रान्तत्वस्यापि दर्शनात्
तपु नैकान्तिक प्रमाणम् अतः तानि विहाय आप्तवाक्यत्वाद्
वेदादय एव आद्रियन्ते इति अर्थः ननु वेदादानां चेत् शब्दत्वेन
प्रामाण्यं तर्हि लौकिकेऽपि तुल्य प्रत्यक्षोपजीवकत्वात् प्रमाणान्तरता-
त्वात् च इत्यत आहुः तत्रापि’, नहि अस्माभिः शब्दत्वेन वेदानां
प्रामाण्यम् उच्यते आप्तु अलौकिकज्ञापकशब्दत्वेन, आत्यक्तिकसूत्रानु-
रोधत्वात् तथा सति यथा धर्मो सम्परिकरो चादेव मानम् एवम्
अत्र वेदादिदेव मानम् इत्यतो न तौल्यं नवा प्रत्यक्षोपजीवकत्वम्
नहि वेदादिदेव धर्मो वा ब्रह्म वा अन्येन प्रमातुं शक्यते तयो
तदेकवेद्यत्वस्यैव तन्मात्रासिद्धत्वात् परतः प्रामाण्यवादे प्रवृत्तिसाम-
र्थ्यादेव ज्ञानप्रामाण्यग्रहः तस्यापि सामर्थ्यज्ञानस्य च अन्यत् एव
सातः अनवस्थानिवृत्त्यै क्वचिद् विश्रामे वाच्ये अन्ततो गत्वा
योगशुद्धान्तःकरणस्य प्रमाणत्वं शुद्धस्य सत्त्वस्यैव वा प्रमाणानुग्राहकत्वं
स्वाकृत्य तन्जन्यज्ञानस्य स्वतः प्रामाण्यं साधनीयम्”

(त दी नि.प्र. आ. १।७)

एतेन वास्तवभूते यथार्थानुभव प्रमा (Theory of correspondance)
अनधिगतावाधितार्थगमक ज्ञान प्रमा (Theory of coherence)
फलाविसर्वादिप्रवृत्तिजनक ज्ञान प्रमा (Theory of utility) इति पौर्वात्यं पारवात्ये
दामानिकैः पृथक् पृथक्तया ये प्रामाण्यनिकषा अमीकृता ते त्रयोऽपि निकषा
वास्तवभूते सकलीकृत्य अभ्युदयता इति प्रतिभाति

तत्र सामान्यतः लौकिकप्रमाणानां यथार्थानुभवत्वेन प्रामाण्ये अमीकृतेऽपि
लौकिकप्रमाणानधिगताय रूपयो धर्मब्रह्मणो वेदादिशास्त्राणां प्रामाण्यकत्वरूप
प्रामाण्यन्तु अनधिगतावाधितार्थज्ञापकत्व (Theory of coherence) रूपमेव एतेन

बाधयोग्यव्यतिरिक्तता द्योतिता यथाच आहु भगवत्पादा श्रीशंकराचार्यादपि
 “नच प्रमाणं प्रमाणान्तरं विरुध्यते, प्रमाणान्तराविपर्ययेव हि प्रमाणान्तरं
 ज्ञापयति”, “अपिच क्वचिद् गौणं शब्दो दृष्टव्य इति न एतावता शब्दप्रमाणके
 अर्थे गौणी कल्पना न्याय्या सर्वत्र अनाश्रयाप्रसगात्” (बृह उप भा २।१।२०, ब्र -
 सू भा १।१।७) इति तस्मात् प्रत्यक्षादिप्रमाणैः श्रुत्यभिहितार्थबाधकल्पनान्यन्तु
 श्रुतिवचनेषु गौणार्थकल्पनाप्रसक्तिरिति दुर्वैव सा तु न सम्भवति लौकिकरूपाद्यभावाद्धि
 ब्रह्म न प्रत्यक्षगोचरं, प्रत्यक्षगोचरहेतुसाध्यो कयोश्चिद् व्याप्तिग्रहणाभावात्
 लिङ्गाभावात् च नानुमानादीनाम्, आगममात्रसमधिगम्यत्वस्य अभ्युपेतत्वात् च
 न श्रुत्यादिवचनव्यतिरेकेण धर्मब्रह्मणो याथार्थ्यविगतिसम्भवनमपि तस्माद् धर्मब्रह्मणो
 श्रुत्यादिशास्त्रवचनानां हि इतःप्रमाणानधिगताबाधितार्थज्ञापकत्वेन स्वतएव प्रामाण्यम्
 अवसीयते

सति चैव प्रमाणसामान्यानां प्रामाण्यन्तु यद् याथार्थ्यरूपं तच्च
 अर्थानतिलघित्वरूपम् इति अङ्गीकृतम् तदेतद् अर्थानतिलघित्वन्तु प्रत्यक्षादिप्रमाणानां
 न प्रमोत्पत्तिसाधारणकारणसामग्रीजन्यं स्यत्प्रामाण्यरूपं किमुत परतएव ग्राह्यम्
 तद् उक्तं सुबोधिनीप्रकाशकारे “जन्यज्ञानस्य अर्थसापेक्षत्वाद् अर्थो ज्ञानस्य
 अद्वयम् अगम्” (सुबो प्रका ३।२।३०) इति एतेन अतिदूरादिग्राह्यार्थदोषाणां
 इन्द्रियघातात्मनो नवस्थानादिसाक्षादर्थग्राहकदोषाणां अज्ञानसंशयघ्नान्तिजनकबुद्धिगतताम-
 सराजसावस्थादोषाणां च सम्भवे ग्राह्यार्थोल्लिखिता जन्यानां ज्ञानानां न अस्वाभाविकी
 तस्मात् तत्र याथार्थ्यमेव प्रामाण्याधायकम् श्रुत्यादिवचनतो ज्ञायमानं जगतो
 ब्रह्मोपादानकत्वादिकन्तु सर्वभवनसमर्थस्य ब्रह्मणो अप्रतिपक्षकत्वेन प्रादुर्भूतानां
 नाम-रूप-कर्मणा “सत्त्वेव इदम् अग्रे आसीद् एकमेव अद्वितीयं तद् ऐक्यं
 बहु स्या प्रजायेय” (छान्दो उप ६।२।१) इति वचनात् सदात्मकत्वरूपं, तेन
 तेषां ब्रह्मात्मकत्वमपि ब्रह्मणो हि अद्वितीयैकत्वबोधनात् तद् ब्रह्मातिरिक्तस्य
 अर्थस्य अभावादेव श्रुत्यादिवचनैः प्रतिपाद्यमानं सर्वस्य जडजीवात्मकस्य जगतो
 ब्रह्मात्मकत्वविधेयाशे लौकिकप्रमाणैः पूर्वानवगतमपि तद् उद्देश्ययारो तु तत् पूर्वमपि
 अधिगतमेवेति एतादृजज्ञानं न अर्थजन्यं, यस्माद् अर्थजन्यत्वे श्रुत्यादिवचनप्रवृत्ते
 प्रागपि जगतो ब्रह्मात्मकत्वं समवबुध्येत, अतो श्रुत्यादिशब्दजन्यमेव श्रुत्यादिवचनैस्तु

५ जडजीवात्मकस्य प्रपञ्चस्य पूर्वसिद्धस्यैव “एतदात्म्यम् इदं सर्वं स आत्मा तत् त्वम् असि” (छान्दो उप ६।७।७) इति वचने इदमा निर्दिष्टस्य जडजगतो ब्रह्मोपादानकत्वेन ब्रह्मात्मकता ‘त्व’पदोपलक्षिताना निखिलाना जीवात्मना च ब्रह्माशत्वेन ब्रह्मात्मकता उपदिष्टा तस्माद् ब्रह्मात्मकत्वबोधनेन ब्रह्माज्ञानरूपावरणनिवारणमात्राशेष प्रमाकरणाना चारितार्थ्य केवलाद्वैतवादवद् वाल्लभमतेऽपि सुप्रतिपाद्यम् तस्मादेव नाम-रूप-कर्मणा द्वैतावबोधकानि “त्रय वा इदं नाम रूप कर्म ब्रह्म एतद्धि नामानि रूपाणि कर्माणि विभर्ति तदेतत् त्रय सद् एकम् आत्मा आत्मा उ एक सन् एतत्त्रयम्” (बृह उप १।६।३) इति श्रुत्यादिवचनानि न ज्ञातज्ञापकत्वेन स्वार्थे अप्रमाणरूपाणि नापि पूर्वासिद्धज्ञानजनकान्येव वा, निखिलस्य ब्रह्मात्मकस्य जडजीवप्रपञ्चस्य ब्रह्मत्वेन अनयबुद्धस्य ब्रह्मात्मकत्वबोधनपरत्वात्

तस्माद् यत्र किञ्चित् प्रमेय केनचिद् एकैव प्रमाणेन बोध्यं न तदतिरिक्तप्रमाणगोचरं तत्र प्रमाणस्य अनधिगतार्थज्ञापकत्वमेव आस्थेयम्

यत्र पुन कश्चन पदार्थ नैकप्रमाणै अवगम्यते तत्र प्रथमप्रवृत्तस्य प्रमाणस्य प्रामाण्ये याथाार्थ्यमेव निकष वेदितव्यं, यथाहि लौकिकेन्द्रियगोचरा बहव पदार्था तथाहि गन्ध-रस-रूपादीना तन्मात्रारूपधर्माणा प्राणरसनाचक्षुःश्रोत्रादीन्द्रियमात्रग्राह्यत्वेऽपि तद्धर्मरूपाणा पृथिव्यपतेजआदीना हि अनेकेन्द्रियग्राह्यत्वम् उपलभ्यतएव तत्र एकेन केनचिद् इन्द्रियेण अपरेन्द्रियविसर्वाद्विज्ञानजनने न अनधिगतार्थज्ञापकत्वशपथेन तादृगनुभूतो प्रामाण्यपरिग्रह शक्यो, यथा मरुमारिनिकाया जलरूपदर्शनस्य जलपान-जलावगाहन-रूपफलजननासामर्थ्येन तद्विसर्वादितया प्रामाण्यबोध यतोहि यद्देशकालावच्छेदेन प्रथमप्रवृत्तस्य जलरूपविषयकस्य ज्ञानस्य तद्देशकालावच्छेदेनैव जलपान-जलावगाहनाशक्यत्वेन विसर्वादितया प्रामाण्यबाधावगमात् तथाच एतादृशे विषये यस्य कस्यापि ज्ञानस्य बलवत्प्रमाणाविसर्वादितयैव प्रामाण्येन भवितव्यं नतु मिथो विसर्वादितया इति

तत्र अन्येन प्रमाणेन विसर्वादिव स्वतो विसर्वादोऽपि प्रामाण्यनिरासक इति

एतेनैव हेतुना ब्रह्मणि सर्वेषां श्रुतिवचनानां समप्रामाण्यत्वेन तेषां मिथो विरोधपरिहारयैव महर्षे वादारायणस्य ब्रह्मसूत्रेषु समन्वयाविरोधोपपादने भरः तथाच प्रथमप्रमाणवगतस्यापि द्वितीयादिज्ञाने सन्देहास्पदतायां भ्रमास्पदतायां शक्यत्वेन बहुतत्प्रमाणसंवादाद् बलवत्तत्प्रमाणाद् वा संवादितयैव प्रामाण्यम् अगीकार्यम् तस्मादेव प्रत्यक्षानुमित्यो धर्मब्रह्माभावसाधकत्वसम्भवेऽपि आगममात्रसमधिगम्ययो तयो धर्मब्रह्मणो आगममात्रसमधिगम्ये स्वरूपे न प्रत्यक्षानुमित्यादिप्रेयुक्तबाधयोग्यतासम्भावनापि, आगमेतत्प्रमाणागम्यत्वादेव न तस्माद् विसंवादितापि तस्मादेव अबाधितत्वरूपप्रामाण्यवद् बाधकज्ञानत्वेन सम्भावितानां प्रमाणानां कारणसामग्री-स्वरूप-सफलप्रवृत्तिजननसामर्थ्योपरोधविचारेण बाधयोग्यव्यतिरिक्तत्वरूप प्रामाण्यमपि अगीकार्यमेव

इदञ्च यथा धर्मब्रह्मणो तथैव मधुगुहयोऽपि प्रत्यक्षमात्रैकगम्ये माधुर्यभेदेऽपि अगीकर्तव्यमेव तथैव अनुमित्येकगम्ये सूर्यादिग्रहपिण्डानां परिमाणेऽपि बोद्धव्यम् नहि शतशोऽपि जनानां प्रत्यक्षगृहीतात्परिमाणज्ञानेन विसंवादितया शपथेन अनुमानैकगम्यस्य सूर्यादिग्रहपिण्डानां बृहत्परिमाणस्य बाध सम्भवति

यथाच प्रमाणानाम् इदम् याथार्थ्यपरिपर्यायम् अर्थानतिलपित्व, अनधिगताबाधितार्थापरिपर्यायं च मिथो असंवादित्वं तथैव सफलप्रवृत्तिजननसामर्थ्यरूप प्रामाण्यमपि अकामेन अगीकार्यमेव तत्र हेतु उपस्थितयो आचार्यवचनयो अधोरेखाकनेन सूचितत्वात्

अथ इदानीं प्रमाणसामान्यसंख्याविषये यथा प्रत्यक्षानुमितिशाब्दभेदैः “त्रीण्येव प्रमाणानि” इति उपलभ्यते तथा धर्मब्रह्मसम्बन्धिसकलमीमांस्यविषये “प्रमाणम् आह ‘वेदाः’ इति शब्दएव प्रमाणं, तत्रापि अलौकिकज्ञापकमेव तत् स्वतः सिद्धप्रमाणभावम्” इत्यपि आचार्यवचनं विराजतएव एवहि वचनद्वयी वरीवर्त्यते तत्र प्रत्यक्षस्यापि लोके प्रामाण्यं बुद्धौ सत्त्वगुणोदयएव अभ्युपगतमिति सत्त्वसंहिता बुद्धिः प्रमाणम् इत्यपि निश्चप्रचम् तदेतद् व्यावहारिकमपि सत् न अपारमार्थिकम् इति बाल्लभवेदान्तरहस्यमपि न जातु विस्मरणीयम्

एतनैव प्रामाण्यस्वरूपं तेषाञ्च स्वतस्त्वपरतस्त्वे च अर्धजस्तीयन्यायो अभ्युपेयते
 ति प्रधानरत्नाकरे “साध्याथलाकिकवाक्यप्रयागकाले भाविन्या क्रियाया असत्त्वेन
 जायमानस्य ज्ञानस्य क्रियाकर्मादिससर्गाग्रहएव जननात् तस्य ज्ञानस्य
 प्रमाणलक्षणानाक्रान्तत्वेन नादृशस्थले ज्ञानग्राहकसामर्थ्या य प्रामाण्यग्रह सो
 अथार्थ अत ईदृशस्थले परतो अन्यत्र स्वत इत अर्धजस्तीमेव युक्ताम्
 उत्पश्याम” (प्र १ प्रमा कर तर ६) इति प्रतिपादितम् अत्र अनुसन्धेयम् इति
 अलम् अतिपल्लवितेन

पुनश्च सुगृहीतनामधेयै श्रीकृष्णमूर्तिशास्त्रिमहाभागे भाट्टमतरीत्या यत्
 प्रत्यक्षविवरण कृत तेन तेभ्यो भृश स्वकार्तृयज्ञापनपुरस्सर प्रस्तुत मदीय समोद्धुत्तलेखन
 समापयामि



Dr P K Mukhopadhyay, Kolkata

How then Pratyaksa may Pramāna ? For, when I say that "I perceive a jar" is it that jar I perceive ? For, perception is possible only through the contact of the sense organ with the object. But my senses are in the contact with the front portion of the jar, front portion of the tree. But there is other part of the tree with which my sense organ is not there in contact. For, there is Vyavadhāna. So therefore, my senses are never in contact with the object at all. My senses are in contact with the part of the object. So if I say, 'I perceive the branch' that might have make sense but not if I say 'I perceive the tree'. But the same problem can be raised with reference to branch also. For that also is the problem. So this problem is not that I am conducting it. This problem is there very much and this we ignore.

This problem was raised by Gauttama in his Nyāyasūtra as a Pūrva pakṣa. He says "pratyaksānumānam, asamagra grahanāt". We can not perceive, we can not take the whole of it. But the answer he provided is beautiful. His first answer is "pratyaksena yāvat tāvad upalabhyate". You are saying that you perceive the part of it, so perception is Pramāna.

If you can not perceive the whole, at least part you say you are perceiving So perception is Pramāṇa How can you say that it is not Pramana and it is Anumana? This is the first question And that is the route of the distinction between what you call phenomenism and realism In the west theory of perception And our Indian parallel is what we call Punjavada v/s Avayavivada

In the Punjavada theory, we can never know the object as a whole but only the sensible qualities like Rupa, Rasa, Nīla Pita etc You can never know the physical object But then there are two possibilities One, since, you perceive only the sensible qualities, you say that only sensible qualities are real and nothing else is there This is call reductionism They say that dravyasya antarbhavh mdriya gunāḍau Sensible qualities are the things and nothing more is there In the similar way, in the west also, scientists have divided into two groups They says, science basically is an empirical theory of the observable universe Now, since, its an empirical theory, it is based only on the evidence of perception And just now we have seen that the perception is the evidence for the sensible qualities only And they say that there is nothing over and above the sensible qualities These are the phenomenists And now there is a great problem with the

scientists whether they go with phenomenalism or with realism

One very familiar story that much of science I know I can tell you also That Einstein was at one time of his life very much under the influence of Ernst Mach And he was a Humian who was a Phenomenalist Later on he was objecting to some form of Machianism, he was reminded that how you say, you yourself were a positivist few year back And his reply was very beautiful He says, even a good joke should not be repeated too many times So he was a realist And the problem is this that can we have any evidence for admitting over and above the sensible qualities of the physical object And this bring me back to the second part of Gauttama's answer In the first part he says, after all as the knower of as a means of knowledge of the sensible qualities there is Pratyaksa So you can not simply say that there is no Pratyaksa, only Anumāna is there But the second part is this, even if you say that knowledge of physical object then also he says that knowledge of physical object is also a perception How that is possible? He says, when you think that we only perceive the front part of it and not the second part of it, you are taking that the thing is composed of certain parts only But we are Avayavavādins Avayavi is something distinct entity Its a unity, its a distinct

entity and it is in every part of it So therefore, unless we accept Avayava, we can not this issue that Pratyaks is not a Pramāṇa- Pratyaksm anumānameva A Pratyaksa or we can say that a perception of a tree or a jar, they will become inference, we can not answer this charge unless we admit Avayava in addition to the Punjas So therefore, it becomes very necessary from the Nyāya point of view You have very good answer to the question why there should be a perception and perception is as much a direct form of knowledge and not just interpretation And how is it that with the help of the sense organs we can know not only the sensible qualities but also the physical objects as such So therefore this particular approach is totally absent in the western tradition So all that they could do by way of refuting phenomenalism and establishing realism is as Prof Bokl was expounding the other time that we can not reduce a physical object statement in to the sense data statement But that in addition to this we can have a real argument by admitting Avayavi that is simply unknown to them Here we can enter into discussion in the theory of perception with our western counterpart and particularly the scientists who depend on this perceptual knowledge of that

Now I will try to touch upon most of the division

we find in Prasthānaratnākara is, so to say each other. So it creates lot of trouble. But if you accept only one principle of division and you go by that but there are too many principles are given and too many different ways of defining it and that creates problem sometimes I give one example. It is said that one time of knowledge not Jnana as such, perhaps Anitya Jnana. That division is like this Samśya, Niscaya, Viparyaya, Smṛti, Swapna like that. But the problem is this that how a cognition be other than both Niscaya and Samśya? For first if we say that Niscaya Aniscaya bhedena dvaitasrayameva Niscayaniscaya virodhe hi na prakaranta sthūti. So if something is not Niscaya then it must be Aniscaya. Then either he say Viparyaya is Aniscaya or say it is Niscaya. But none he said in this scheme. In this scheme it is neither Aniscaya nor Samśya it is a third category. So his fivefold division we can not reduce immediately into the twofold divisions. So division or classification by logical division, with which we are rather familiar of. E.g. first we distinguish Jnana into Smṛti and Anubhava. Then Anubhava into Saksat and Paroksa. And then each time we have Dvaitasraya. That is possible but here that is not possible. And therefore this for two or distinction of Prama Aprama also. But that I will discuss currently.

How do you define Pramā and that is a very difficult problem also I have some questions which I will raise and then discuss something One is this, the principle of distinction is this that Sātvika-jñāna is Prama and Niścaya is also Pramā But when Niścaya is said to be Pramā, it is said to be Sātvika rājasa So both the things have been said That creates problem of classification.

My other question is this, suppose we say Sātvika-rājasa jñāna is Pramā This Pramā is defined only in the context of Anitya Jñāna and once in the context of Nityajñāna. So should I understand the position of Śuddhādvaita in this sense that Nityajñāna is necessarily Pramā and that is only Sātvika Whereas, Pramā Anityajñāna is Sātvik rājas So that can make somehow a rational division But then again the point is this is it possible for any jñāna to be Sātvika only? If we believe that 'jñāna' to mean Vṛtti, whether a Buddha or not Svarūpabhūta jñāna The reason is this, Satva Rajas-Tamas these three they may be there present in different proportion but it is not possible that there is no Rajas, no Tamas and only Satva and so on This is normally not possible Abhibhava is possible So if it is understood that Satva is Pradhāna that is understandable but only Sātvikajñāna is it possible? This is not intelligible to me This is one problem

Then, normally substance of Dravya is perceived only by two sense organs. Cakṣu and Tvag Indriya. But in this tradition it is believed that Dravya can be understood by all the sense organs. But that is not the great problem for me. The deeper problem is this how Ghrāṇendriya can perceive Dravya. Some examples have been given. Such as even in the darkness I can say 'I am smelling a rose' that is possible. But problem is this that has been said that Gandhavattvena gandhasya ghrāṇendriyena grahanam, Sparsvatvena dravyasya grahanam sparśendriyena etc. But come to this question of Gandhavattvena gandhasya ghrāṇendriyena grahanam. In our example we can well understand it that how do we perceive the colour present in a Dravya. We say Saṁhyukta Samavāyena dravyavataḥ rūpam grahyate. Ko atra āśayah Indriya-saṁyogah dravye asti. Tad dravye rūpam samavetam. Atra tu dravyena saha na saksāt saṁyogah. Tat to gandhena saha Gandhadvārena dravyena saha yah sambandhah tasya kim svarūpam? Tādātmayā na sambhavati. To my mind first my sense organ is to be in relation to the Gandha. And since that Gandha is there in the Dravya then we can have that relationship. So it should be what relation? It can not be saṁyoga tādātmīya or Saṁhyukta tādātmīya. But what it is this question is to be discussed here.

Some of the question I am raising I have my own

answer to give to them But basically I am raising some questions

1 Whether Pratyaksa can be regarded as an additional Pramāna or not ?

2 Whether we have any answer to the question that Pratyaks is Anumāna if we do not accept Avayavivāda? If we accept Avayavivāda how it can be answered I have given But every system does not accept Avayavivāda

3 Whether we can have any Jñāna which is only Sātvika, there is no mixture of Rajas or Tamas at all "

4 How or what exact Sannikarsa when we perceive Gandhavattvena dravyam through ghr̥ṇendriyena? Is it Tādātmya tādātmyaor whatever it is

+

चर्चा

प्रो. प्रद्योतकुमार मुखोपाध्याय

के.इं.देवनाथन् : You said that Naiyāyika accepts Avayava-avayavivāda and if it is not accepted then the Prāmānya of Pratyaksa can not be established

प्रद्योतकुमार : How can it be established ' What other way is there "

के.ई.देवनाथन् : What I understand by that Bhāṣya, this problem comes if Avayava-avayavivāda is accepted Question there is like Pratyaksam apramānam, ekadesopalabdheh That is the question. Because you Nayāyika accept Avayava avayavivāda Therefore, if one part is perceived you think that other part is not perceived Then Pratyaksa becomes Apramāna That is the question The answer is that apart from the perceived part the Avayavi also is there In that case if a part is perceived, the whole is perceived This kind of problem does not emerges in those systems who don't accept Avayava avayavivāda

वी.एन्.झा : When you say "I see the tree" actually you are seeing only the part of a tree But your claim is "I see the tree" Do you say that "I see a part of the tree"? No Then how do you explain the perception ?

के.ई.देवनाथन् : The Bhāṭṭa Mīmāṃsākas accepts Bhedābheda So, if a part is perceived then whole also is perceived

वी.एन्.झा : So the problem is unless we accept Avayavi how to explain the perception of whole ?

के.ई.देवनाथन् : My understanding is that this problem may occur more in Nyāya system Because, they have accepted Bheda between Avayava and avayavi

वी.एन्.डा : It can occur with anybody Because, anybody can ask

के.ई.देवनाथन् : It can but Naiyāyikas have to answer this question forcefully One more thing You asked that Niścaya, Saṁśya etc are the kinds of

प्रद्योतकुमार : There are five kinds They can not be reduced to dichotomy

के.ई.देवनाथन् : According to Naiyāyika it doesn't necessarily mean Niścaya as Saṁśyabhinnah Because Niścaya may consist of both Saṁśya in one part and

बलिरामशुक्ल : No No One single knowledge is Saṁśya or Niścaya? There may be partly doubt But it is not accepted as a single knowledge

के.ई.देवनाथन् : It is accepted General belief of Naiyāyika is Saṁśya is Saṁśya and Niścaya is Niścaya But in Pramāṇyavāda Bhaṭṭācārya accepts Both can be
“Saṁśayatva niścayatve avyāpyavrtti-jātivitśeṣau”
“संशयत्व-निश्चयत्वे अव्याप्यवृत्तिजातिविशेषौ”.

प्रद्योतकुमार : He is saying that actually Naiyāyika can not claim the credit of offering the solution Actually they are the cause of the problem But why don't

you notice that it is you If the Purvapaks was that "Vrksabuhiddhi anumiti, avayava grahanat" then your question would have been all right But where it is not said 'Avayava grahanat, ekades grahanat' Why they used "ekades grahanat" ? And ekades grahana will be equally applicable in the case of *Punya vāda* also So form the whole *Punya* of which only *ekadesa* you are taking So, the same question will in the *Punya vada* also

के ई देवनाथन् : No In *Punjavada* it is not the problem Because if ten *Paramanu* are perceived then the perception will be like I have perceived this much Therefore, no *Avayavi*

प्रद्योतकुमार : Then you can not say that *Ghatam pasyami*

कृष्णभूतिशास्त्री : ज्ञान सत्त्वगुणजन्य कथं राजसम् इति प्रश्ने जा ज्ञान भगवद्विषयक होता है वह सात्त्विक कहलाता है जो विषयविषयक होता है वह तामसिक है विषय और भगवान् को मिलाकर हम जो ज्ञान पा रहे हैं वह राजसिक है इस तरहका लक्षण तो हो सकता है अनन्तरम् एक प्रश्न अन्ते कृत किम् एक ज्ञान तादृशम् अस्ति यत्र सत्त्व-रजसो अशोऽपि नास्ति, शुद्धसात्त्विकम् अस्ति वा ? इति तत् न अस्ति इति उत्तर गीताया दत्तम् "न तदस्ति पृथिव्या वा दिवि देवेषु वा पुन, सत्त्व प्रकृतिर्जेयुक्तं य एभि स्यात् विभिर् गुणे" 'सत्त्व' नाम न द्रव्यम् य

कोऽपि पदार्थ अशत रजस्तमोगुणसस्पर्श विना एकएव
 वर्तते शुद्ध इतरत्र तावत् कश्चन ससर्ग द्वयो भवेदेव
 जिन्ध्येश्वरी प्रसाद : श्रीभट्टभाष्ये “वदन्ति तत् तत्त्वविद तत्त्व यज्
 ज्ञानम् अव्ययम्” अत्र ‘ज्ञानम्’ इति पदेन तत्र भगवानेव
 गृहीत

कृष्णमूर्तिशास्त्री : भागवतएव न “सत्य ज्ञानम् अनन्त ब्रह्म” इत्यत्रापि
 भगवानेव गृहीत

प्रद्योतकुमार : अतो ‘ज्ञान’शब्दस्य मया ‘ज्ञान’शब्देन वृत्ति उच्यते
 तद् वृत्ति केवल सात्त्विकरूप सम्भवति न वा ? तत्र रजस्तमस
 स्पर्शसम्भव

कृष्णमूर्तिशास्त्री : मुख्य ज्ञान चैतन्यरूपम् चैतन्याभिव्यञ्जकवृत्तौ ज्ञानत्वम्
 उपचयते अयन्तु सर्वेरपि अंगीकार्यमेव

डी प्रह्लादाचार : भैयायिके न अंगीक्रियते

गो श्या म : डाइकोटोमीके प्रिन्सिपल् के अनुसार किसी भी टर्म
 को जब नेगेटिव् बनाया जाता है तो वह इन्फाइनাইट्
 टर्म बन जाती है इस स्थितिमे जब सशय और असशय
 कहेंगे तो उसमे सब ज्ञान आ जायेगे निश्चय - अनिश्चय,
 विपर्यास - अविपर्यास और इसी तरह स्मृति - अस्मृति कहनेसे
 सारे ज्ञान आ जायेगे तो आपकी जो समस्या है कि
 डाइकोटोमी प्रिन्सिपल् के अनुसार किसी भी टर्म को जब
 नेगेटिव् किया जाता है तब वह इन्फाइनাইट् टर्म बन
 जाती है यह इस प्रसंगमे ध्यानमे रखना चाहिये यहां
 डाइकोटोमी नहीं की गई है उसका एक कारण यह
 है कि जितने भी वृत्त्यात्मक ज्ञान ह वे, मने पेपरमे

इसीलिये यह बात स्पष्ट कही है, वे शुद्ध चतन्यरूप
 नहीं ह भागवतमें कहा गया है “आसीज् ज्ञानम् अथो
 हि अर्थ एकमेव अविकल्पितम्” ज्ञान स्वयं ज्ञान ओर
 ज्ञेय के रूपमें विभक्त हुआ है बादमें महत्तत्त्व उत्पन्न
 हुआ, तदनन्तर अहकार उत्पन्न हुआ इस तरह सारी साध्यकी
 प्रक्रियाओं ब्राह्मिकी प्रक्रियाके समन्वित किया गया है
 अतः प्रकृति गुणत्रयकी साम्यावस्था होती है आर विकृति
 गुणत्रयकी विपमावस्था विपमावस्थाका मतलब ही यह है
 कि कोई एक चीज प्रबल है तो दो चीज निर्वल है
 और उसीके अनुपातसे सारा विकास हुआ है लिहाजा
 ज्ञानोत्पत्ति जहां भी लौकिक प्रक्रियानुपेक्षी है वहां बुद्धिवृत्त्यात्मक
 ज्ञान माना गया है क्योंकि प्रकृतिसे चित पैदा हुआ
 है वह भी त्रिगुणवैषम्यरूप है ओर उस चितसे जो अहकार
 पैदा हुआ है वह भी त्रिगुणवैषम्यरूप है उससे जो मन
 पैदा हुआ है वह भी त्रिगुणवैषम्यरूप है उस अहकारसे
 जो बुद्धि पैदा हुयी है वह भी त्रिगुणवैषम्यरूप है अब
 जब सभी कुछ त्रिगुणवैषम्यरूप है तब बुद्धि समय-समयपर
 अपनी उन विपमावस्थाओंको प्रकट करती रहती है इसलिये
 सत्त्वमें रजस, सत्त्वमें तमस, सत्त्वमें सत्त्व हम ऐसा स्किमेटिक
 इन्ट्रिगिशन करते हैं उसके तहत बुद्धिकी वृत्तिसे होनेवाला
 जो ज्ञान सत्त्वरूप होता है वह एक जनरल बात है
 ओर उसकी सब्-वेरिटीज्के रूपमें सात्त्विक-सात्त्विक,
 सात्त्विक-राजस, सात्त्विक-तामस इत्यादि आते हैं इसलिये
 वहां यह मीमांसा की गयी है वस्तुतः यह बात

प्रस्थानरत्नाकरकारकी अपनी नहीं है। यह सारा प्रतिपादन महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यने किया है। उन्होंने तो केवल उसका संकलनमात्र किया है। महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यकी एक पॉलिसी है कि यह सारा जगत् जो प्रकृतिसे प्रादुर्भूत हुवा है यानि जो भी प्राकृत प्रोडक्ट है वह सारा सत्त्वआदिकी नवविध वेराईटीज् मे एक्स्प्लेईन् हुवा है। और महाप्रभु प्रायः पेडुलाम्कीतरह हर सगुणकी निर्गुण सिच्युएशन् दिखलाते रहते हैं। ज्ञानकी निर्गुण स्थिति और ज्ञानकी सगुण स्थिति। भावकी निर्गुण स्थिति भावकी सगुण स्थिति। कर्मकी सगुण स्थिति कर्मकी निर्गुण स्थिति। इस तरहकी उनकी मॉडस् ऑपरेन्डी है। इसके अनुसार उन्होंने कहा है कि “संशयो अथ विपर्यासो निश्चयः स्मृतिरेव च, स्वाप इति उच्यते बुद्धे लक्षणं वृत्तितः पृथक्” इन बुद्धिवृत्तियोंमे गुणवैषम्यकी कैसी वेराईटीज् और सब्-वेराईटीज् प्रकट हो रही हैं। यह मूल बात है।

प्रद्योतकुमार : That is not my problem All this is well understood and there is no problem at all For everything that comes from Prakṛti must be Trigunātmaka

वी. एन्. झा : शुद्धचेतन्यविषयक वृत्तिज्ञान सम्भव है ?

गो. श्या. म. : सम्भव है प्रकृतिमेसे सबसे पहला परिणाम महत्का हुवा है। महत् समष्टिभूत चित्त है ओर व्यष्टिभूत चित्त हम सबमें है। उस चित्तमें सुषुप्तिसाक्षिक, जिसे “गाढं मूढो अहम् आसम्, न किञ्चिद् अवेदिषम्” या “सुषुप्तम्

अहम् अस्वाप्स, न किञ्चिद् अवेदिपम्” ऐसे, केवलाद्वेती कहते हैं इसमें आत्मसाक्षात्कार चित्तम होता माना गया है वह सुषुप्तिसाक्षिक चेतन्यका अन्तःकरणजन्य ज्ञान चित्तम उत्पन्न होता है वह बुद्धिसे नहीं होता है क्योंकि उस समय बुद्धि निद्रावृत्ति अपनाये हुवे होती है अहंकार और मन भी सो जाते हैं केवल चित्त जाग्रत रहता है पर जब अहंकार और मन जाग्रत होते हैं और बुद्धि तामसी वृत्तिके साथ तब धीरे-धीरे स्वप्न आने लगते हैं और जब इन चारोंके अन्तर्गत बुद्धि निद्रावृत्तिका त्याग कर देती है तब हम पूर्णतया जग जाते हैं यह जाग्रत अवस्था है

वी एन् झा . अशी उसका विषय कैसे हो सकता है ? शुद्धचैतन्यवाला

गो ज्या म : शुद्ध चैतन्य एक तो पारमात्मिक अशी रूपमे है वह तो हमे अनुभूत होता नहीं है पर अशरूपसे जो हमारे अंदर मौजूद है वह भी शुद्धचैतन्य है, उस शुद्धचैतन्यको अर्थात् जीवात्मचैतन्यको चित्तद्वारा विषय बनाया जा सकता है “स्वमपीतो भवति” “स्व हि तदा अपीतो भवति”

एक बात मैं और कहना चाहूँगा कि आपने अवयवीका जो प्रश्न उठाया उसके बारेमें महाप्रभु श्रीबल्लभाचार्यका दृष्टिकोण पुन अर्धजरती है बहुत सारी बातोंमें हमारे यहाँ अर्धजरतीवाला दृष्टिकोण अपनाया गया है क्योंकि मूल तादात्म्यमें ही कुछ अर्धजरती है, भेदाभेदके बीचमें

तो जहा जहा भी हमारे सामने कोई अतिवादी बात आती है तो हम उसका समाधान अर्धजरतीसे करते है

अवयव-अवयवीकी बातके बारेमे महाप्रभुका एक वचन है “उपचिते अवयवै सहतो गुप्तो अवयवी प्रकटो भवति” देखो। अर्धजरती है अवयवविवाद और पुञ्जवाद मे यह सत्कार्य और सत्कारणवाद को छोड कर नहीं सघातवाद ओर द्रव्यवाद की अर्धजरती महाप्रभु कर रहे हे और इस न्यायसे यदि आप देखगे तो हमारे यहाके द्रव्यका भी विलक्षण स्वरूप है हम द्रव्यको ऐसे नही मानते हे कि द्रव्य शुद्ध अवयवी है और “उत्पन्न द्रव्य क्षणम् अगुणम् अक्रिय च तिष्ठति” और बादमे गुण उत्पन्न होता है उसके बारेमे भी हमारा यह दृष्टिकोण हे कि तन्मात्राये सहत होकर घनीभूत होकर द्रव्य बन जाती ह तो किसी तन्मात्राका आपने प्रत्यक्ष किया है वही तो घनीभूत हो कर द्रव्य हो रही है अर्थात् शब्दतन्मात्रा घनीभूत हो कर आकाश है रूपतन्मात्रा घनीभूत हो कर तेज तत्व है ओर गन्धतन्मात्रा घनीभूत हो कर पृथ्वितत्व है इस तरहसे घनीभावका भी हमारे यहा सिद्धान्त है जो कि सघातवादकी अर्धजरती है ओर फिर उस द्रव्यको हम बोद्धोंकी तरह शून्य नहीं मानते हम कहते ह कि वह वहा छिपा हुवा था सो वहा प्रकट हो गया “द्रव्य कर्म च काल च स्वभावो जीवएव च चासुदेवात् परो ऽदन् नच अन्तो अर्थो अस्ति तत्त्वतः” ता द्रव्यात्मक

वासुदेव वहां प्रकट हो जाता है. यह हमारी अर्धजरती है. इसपर ध्यान देना चाहिये. तन्मात्राओंवाले गुणधर्मोंके संघातसे गुप्त अवयवी प्रकट होता है. सद्वादको हम इस तरहसे बँलेसकरते हैं. इसपर ध्यान देगे तो "एकदेशदर्शनात् अप्रमाणं"की समस्याका हमारा समाधान जाना जा सकेगा. क्योंकि गुप्त अवयवी प्रकट होता है तो कुछ संहत अवयव ऐसे हैं कि जो अवयवीको प्रकट कर देते हैं. मोडर्न साइंसे विजुअल पर्सपेक्टिवके बारेमें इस बारेमें कई प्रयोग किये हैं. ओर उन्होंने हमारे ब्रेईन्की इसे इनेड केपेसिटि मानी है. ओर उसको वे लोग बहुत अच्छी तरहसे डेमोन्स्ट्रेटिव एक्सपेरिमेंट्समें सिद्ध करते हैं. कुछ समय पहले गांधीजीका एक स्केच् प्रसिद्ध हुवा था उसमें गांधीजीका बाल बिनाका कपाल ओर गोलकाचवाला चश्मा मात्र बनाया गया था पर वहा गांधीजी प्रकट हो जाते हैं साईंस कहता है कि सजेस्टिवनेस् का एक ऐसा फोईन्ड आता है कि जिसके सहारे माईन्ड गुप्त अवयवीकी प्रकट अनुभूति कर लेता है.

डी. प्रह्लादाचार : I think that whatever you have told so far it was about the origination of the Avayavi Whether the Avayavi is produced by the Avayavas i.e. Asat kārya-vāda or whether the Avayavi that is there in the Avayas they are revealed by the avayavas? In that connection whatever you have said in Śuddhādvaita vāda that Gupta avayavi is prakatīkṛtaḥ like that But the point that is Avayavi has all ready come in to existence and now while you are seeing the object only a part of it is perceived and the whole is not at all perceived

because the whole is not connected with the sense organ, only a part of it is being contacted by the sense organs. Even then we say that we have the perception of the whole. How can it be possible? This question, I think, whether the Avayavī is deferent from the Avayavas or whether it is identical with Avayavas can be explained. While Avayavī is considered as deferent from Avayavas but it is existing there with the relation of inherence. Then Avayavī is there in that part also? Whatever part is being seen in that part Avayavī is there. Therefore it is seen, directly eyes come into contact with the Avayavī. It is not the case that the Avayavī is not there. It is not possible to have contact with the sense organ. While you say that Avayavī and Avayavas are identical then the question doesn't arise. While Avayavas are come in to contact with the sense organ and Avayavī also come into contact with the sense organs. I think

प्र. श्या. म. : That's what I meant to say! Because of Tādātmya between Avayavas and Avayavī. And ultimately it is the way you look at it. Eg. when we are thinking that "tantvārabdhah patah" then Pata is Samaveta in Tantū. But suppose if we take Pata as a whole then all the Tantūs are Samaveta in Pata also. So, Samavetatā can be two way. That means Anyonya tādātmya. What you call Anyonya samavetatā, we mean Avayavī and Avaya

vas, Bheda-sahisnu-abheda So, Tantūs are also in Pata "Pate tantavah", After Pata is produced and somebody says that "I have removed one Tanatu from the Pata" then he is saying Pata as an Adhikarana and Tanu as Ādheya That sort of reversibility is there This is not the case if you are looking at it from the causal point of view This is the very case when you look it from the Avayava-Avayavī Bhāva Then Tantus, which are Avayavas, are in Avayavī which is Pata But let me clarify, if we accept Arambha vāda, then this will be the opposite case But in the case of Parināmvāda, all the parts are there in its whole

वलिसम शुक्ल : पात्राधारे घृत नतु पात्र घृताधारम्

गो. श्या. म. : That's what I said! And even Laukika pratyaksa also advocates this Laukika pratyaksa will say Branches are in the tree whereas it is only Naiyāyika who will say that no, branches are not in the tree, it is tree which is in the branches

डी. प्रह्लादाचार : When parināma Vāda is accepted then there is identity between Avayavī and Avayavas Therefore, there is no Ādhāra Ādheya Bhāva Ādhāra Ādheya -Bhāva is possible only when there is deference between two

गो. श्या. म. : Tadātmyasambandhātmako ādhāra-Ādheya Bha-
-va It is not Bedātmaka Ādhāra Ādheya Bhāva
Tādatmyasambandhātmaka ādhāra Ādheya Bhāva is
possible

के.ई.देवनाथन् : Tādātmy is accepted as Bhedābheda then
Ādhāra-Ādheya-Bhava is very possible If it is

Naiyayika's Tādātmya then it is not possible
प्रद्योतकुमार : एक प्रश्न अभी भी अवर्चित रहता है गन्धवत्त्वेन द्रव्यस्य
यदा ग्रहण भवति घ्राणेन्द्रियेन ..

गो. श्या. म. : मैंने वही कहा कि गन्धका घनीभाव ही द्रव्य है

बलिराम शुक्ल : गन्धतादात्म्य तै. स्वीक्रियते.

प्रद्योतकुमार : तादात्म्य-तादात्म्य सम्बन्ध होगा ?

बलिराम शुक्ल : स्वरूपवदेव. 'तादात्म्यम्' इति नाम तस्य.

गो. श्या. म. : मुखोपाध्यायजी ! एक बात सुनिये. जैसे खण्डनखण्डखाद्यमे
कहा है कि "एक ब्रह्मास्त्रम् आदाय नान्यं गणयतः क्वचिद्
आस्ते न धीरवीरस्य भग सगरकेतिपु" आप हमको कुछ
भी पूछेमे हम 'तादात्म्य' कह देंगे. "एक तादात्म्यम् आदाय
नान्य गणयतः क्वचित्"

एस्.वी.वोकिल् : Prof Mukhopadhyay's presentation has raised
few philosophical difficulties in my mind The first
one is that you started with the point that according
to Indian theory of knowledge Jñāna is something
which is undefined Now my difficulty is this, if
it is undefinable, can we decide with respect to
any Pramāṇa, whether it is Pramāṇa or not Unless
we have some definition of knowledge, some criterial
analysis of knowledge, we can not decide Pramāṇa
may be Pratyakṣa, Anumāna and so on Because
of we speak of Pramāṇa only with the conception
of the Pramā This is one. Then those who take
Pratyakṣa as very basic and Pramāṇa and you were
implied to say that Pratyakṣa is the most basic

then in that case how can we conceive it as Pramāṇa unless you have also the notion of what kind of knowledge it measures? That is one thing Secondly, assume for the moment that Pratyakṣa is considered to be a very important Pramāṇa, now in old days, probably I think people did not pay attention to the disciplines like Mathematics, science etc Now I have great difficulty in just finding out how Pratyakṣa can be said pramāṇa in respect of Mathematical Knowledge And even with respect to the knowledge that we acquire in the field of natural science Pratyakṣa is necessary there but can not be a sufficient condition of science Then I think you also took the view namely that your knowledge is something like Sātvika Now because we consider human nature to be as constituted of three Gunas Now can mathematical knowledge be considered as Sātvika? In the west there were philosophers who inclined to believe that God's knowledge is Mathematical And perhaps some of the Indian philosophers also could also accept taking in to account the nature of God, God can not contain any element of Rajas and Tamas It must be fully Sātvika In that case what would be the nature of divine knowledge? According to our conception, I mean the kind of Sātvika knowledge that we consider to be possible, it can be considered mathematical knowledge Because mathematical

knowledge is by universality, objectivity, necessity perhaps that which can not be falsified And last but not least that is even if Pratyaksa where to be take note of the language we sued to express Because even if knowledge is Pratyaksa it takes the form of proposition It does required language Now how do we equate this knowledge of language That means we have already acquired the knowledge and then we use Pratyaksa Or we must somehow see that as we were practicing Pratyaksa all the time language is somehow growing up along with the Pratyaksa

.....+... . .

सगोष्ठ्युत्तरलेखन

गो श्या म

श्रीमान् डा एस वी बोकिल द्वारा उठाये गये मुद्देपर या तो समयाभाववश चर्चा हो नहीं पायी अथवा तब हुयी होगी परन्तु बिजली और टेपरिकार्ड की कोई समस्याके कारण भलीभांति रिकॉर्ड हो नहीं पायी, क्या हुआ वह अब याद नहीं आता

श्रीप्रद्योतकुमार मुखोपाध्यायजी जैसे आधुनिक वैज्ञानिक दर्शन तथा भारतीय नैयायायिक दर्शन पर समान प्रभुत्व रखनेवाले वयोवृद्ध विद्वान्का इस प्रत्यक्षगोष्ठीमें समिलित होनेके आमन्त्रणको स्वीकारना तथा सहभागी होना वस्तुतः हमारे लिये अतीव आनन्द और अभिमान का विषय है प्रथम परिचयमें ही अतिथिभावके सौजन्यवश श्रीमुखोपाध्यायजीने मेरे समक्ष प्रश्न उपस्थापित किया

कि हमारी उनसे क्या अपेक्षा है—क्या उनसे प्रस्थानरत्नाकरके विधानोंके समर्थनकी हमें अपेक्षा है या जो भी उन्हें प्ररमे आलोच्य लगे उसकी आलोचना हम सुन पायेंगे मैंने तबभी उन्हें यही कहा कि जो कुछ उन्हें उचित लगे उसे विचारगोष्ठीमें वे विना किसी सकोचके कह यही हमें अधिक अच्छा लगेगा और हम वस्तुतः उनका आभार मानते हैं कि आतिथेयको प्रसन्न रखनेको निरर्थक प्ररके विधानोंके पक्ष लेनेका सकोच श्रीमुखोपाध्यायजीने बरता नहीं क्योंकि प्ररके विधानोंकी प्रशंसा ही सुननी होती तो हम भक्तजनाकी भजनगोष्ठी आयोजित करते नकि विद्वद्गोष्ठी।

द्रव्यप्रत्यक्षमें उसके अश्विनोपके प्रत्यक्षवशात् पूर्ण अशीके प्रत्यक्षका अनुव्यवसाय ज्ञानमीमांसाशास्त्रकी एक रुचिकर समस्या रही है न्यायशास्त्र पृथ्वी-जल-तेज आदि द्रव्योंके साथ हमारी इन्द्रियोके संयोग होनेके बाद उनमें समवेत गन्ध-रस-रूप आदि गुणोंका प्रत्यक्ष परम्परा सम्बन्धके द्वारा व्याख्यायित करना चाहता है “इन्द्रियतत्संयोगतदाश्रयसमवायानामेव परम्परासम्बन्धत्वात्” (तत्त्वचि प्रत्य ख सनि वा) इन्द्रियार्थसंयोग द्रव्यके अवयवविशेषके साथ घटित होनेपर भी, अवयवावयविभाव या अंशशिभाव इतरेतरसापेक्ष होनेके कारण ही, अवयवीके प्रत्यक्षका प्रमाण माना जाना चाहिये यह युक्ति तो उचित ही है इसका लाभ परन्तु केवल आरम्भवादी नैयायिक ही ले सकते हैं अन्य परिणामवादी नहीं यह धारणा गलेमें उतरती नहीं है क्योंकि आरम्भवादके अनुसार तो समवायी कारणरूप अवयव और बड़ा समवेत कार्यरूप अवयवी द्रव्य के बीच भेद ही माना गया है जबकि शुद्धद्वैतवादमें तो तादात्म्यवाद, भेदाभेदरूप नहीं परन्तु भेदाभेदातीत चतुर्थकोटिरूप उभयसहिष्णुवाद, प्राणोपम अवधारणा होनेके कारण न केवल अवयवावयवीके बीच प्रत्युत उपादान-उपादेय अवयव-अवयवी गुण-गुणी क्रिया-क्रियानानु, कुल मिला कर प्रत्येक धर्मधर्मिक उदाहरणमें तादात्म्य स्वीकारता होनेके कारण ऐसी शंका अनवसरपरहट लगती है आधुनिक मनोविज्ञानमें इस विषयमें रोचक प्रयोग यों वर्णित हुवा है कि एक रुपयेके गोल सिक्केको कनीनिकासे थोड़ा नीचे रख कर निहारनेपर वस्तुतः दृष्टिगोचर होती आकृति वर्तुल न

दीख कर लम्बगोल या मीनवस्ति (elliptic/vesicapiscis) आकारमें दिखलायी देने लगती है इसे केमेटाद्वारा चित्र खींच कर भी सिद्ध किया जा सकता है परन्तु बुद्धिमें उसका प्रत्यभिज्ञान पूर्ण वर्तुलके रूपमें ही होता है! इसे चाक्षुषप्रत्यक्षके साथ पूर्वदृष्ट वर्तुलताके निकल्पका अभ्रमात्मक मानस विकल्पसंयोजन मानना ही पड़ता है. और बुद्धिद्वारा इसका प्रत्यभिज्ञानात्मक चाक्षुष-अध्यवसाय भी होता ही है. अतः चाक्षुष बाह्यसंवेदन तथा बौद्ध वृत्त्यात्मक आन्तर अध्यवसाय के तारतम्यका यह प्रमाण बन जाता है. इसी तरह रेलकी दो पटरियां कुछ दूरीपर निर्भन्त जुड़ी हुयी दीखनेपर भी बुद्धिमें जुड़ी होनेकी भ्रमणा पैदा नहीं कर पाती. इसी तरह चक्षुर्गोचर होते द्रव्यके अवयव या अंश के दृष्टिगोचर होनेपर भी बुद्धिमें अवयवी द्रव्यके प्रत्यक्षका अध्यवसाय बुद्धिवृत्तिकी ही कसामात है इसे न स्वीकार कर नैयायिक संयुक्तसमवायरूप सनिकर्षकी नियामकता मानना चाहते हैं. परन्तु वह द्वितीय प्रत्यक्षमें बुद्धिवृत्तिद्वारा योजित न माननेपर भ्रान्तिकी कथा ही अनुपपन्न हो जायेगी. अतः अवयव और अवयवी के बीच आत्यन्तिक भेद स्वीकारनेवालोंको तो आगतिकतया बौद्धिक भ्रमणानेके रूपमें ही स्वीकारना पड़ेगा! अवयव-अवयवी या धर्म-धर्मी के बीच, किन्तु, तादात्म्यकी स्वीकृतिके वश, दृष्टिसे गोचर न होनेवाले भी पदार्थका बुद्धिसे गोचर होता वास्तविक आकार इस जटिल प्रक्रियाको भ्रान्ति मान लेनेके सकटसे तादात्म्यवादीको बचा लेता है.

इसके अलावा आरम्भवादी नैयायिकोंको अभिमत प्रत्यक्षप्रक्रियामें धर्मिभूत द्रव्यके प्राधान्य या प्राथम्य के वश गुणप्रत्यक्षकी कल्पना की गयी है “द्रव्यप्रत्यक्षम् इन्द्रियसंयोगजन्यं द्रव्यसम्बन्धेन प्रत्यक्षम् इन्द्रियसंयुक्तसमवायजन्यम्” (न्या.मु.५९) साथ ही साथ बाह्येन्द्रियजन्य सामान्य प्रत्यक्षको अकिञ्चित्कारणक या आत्मवृत्तिशब्दभिन्नविशेषगुणवत्तासे प्रयुक्त मान लिया गया होनेपर भी चाक्षुषप्रत्यक्षमें पुनः रूपको ही कारण माना गया है (दृष्ट. : न्या.मु.५६). फिरभी कारणप्रत्यक्ष संयुक्तसमवायरूप सम्बन्धवश द्रव्यप्रत्यक्षद्वारक माना गया है. जबकि होना चाहिये था कारणप्रत्यक्षद्वारक द्रव्यप्रत्यक्ष! अतः परिणामवादी शुद्धाद्वैतवादमें गुणधर्मके प्राधान्य या प्राथम्य के वश गुणी या धर्मी के

प्रत्यक्षगोचर होनेकी क्रजुप्रक्रिया स्वीकारी गयी है।

प्रत्यक्षबोधके जननकी प्रक्रियामे प्राप्यकारिता या अप्राप्यकारिता के प्ररनाभ उलझे गतभेदको थोड़े समयके लिये भुला कर द्रव्यप्रत्यक्षको गुणद्वारक न माननेपर जिस इन्द्रियसे जो गुण गृहीत होता है उस गुणसे रहित द्रव्यके भी उस इन्द्रियसे प्रत्यक्षकी आपत्ति होगी। अब यदि किसी विशेष गुणवाले द्रव्यके प्रत्यक्षावभासनमे उसके ग्राहकविशेष इन्द्रियसे ग्राह्य गुणके समवायी होनेके कार्यकारणभावकी क्लिष्टकल्पना “अन्ते विधवाविवाह चेद् आदावेव कुतो नहि” न्यायेन गुणधर्मप्रत्यक्षमूलक गुणी या धर्मी के प्रत्यक्षावभासनका प्रमाण होनी चाहिये थी वह न्यायमतमें मानी नहीं गयी है

इसके अलावा ईश्वरको घ्राणज रसन चाक्षुष स्पर्शन श्रोत्र प्रत्यक्ष होता है कि नहीं? यदि नहीं तो असर्वज्ञतापत्ति यदि होता है तो इन्द्रियवत्ताकी आपत्तिके वश अनित्यसंयोगजन्य अनित्यज्ञानापत्ति होगी अतः प्रस्तुत विभाग न्यायमतमे ईश्वरप्रत्यक्षकी समुचित व्याख्या कर नहीं पाता अतएव न्यायमुक्तावलीकार भी ईश्वरप्रत्यक्षको प्रस्तुत विभाजनमे अप्रसक्त मान कर जन्यप्रत्यक्षका ही विभाजन अपना कर्तव्य मान कर प्रवृत्त हुवे है

श्रीमुखोपाध्यायजीने एक और मुद्दा यह उठाया कि न्यायमतमे सुक्षित्युक्तातया ज्ञान दो तरहका होता है स्मृति और अनुभव, वह अनुभव पुन दो प्रकारका होता है यथार्थ और अयथार्थ, यथार्थ अनुभव भी पुन दो प्रकारका होता है निर्विकल्पक और सविकल्पक

मुझे, किन्तु, इस बारेमे ऐसा लगता है कि इस तरहके द्वैपर्यविभाजन डाइकोटोमी की प्रक्रियामे बुद्धिगम्यता तो अधिक होती है पर उससे अधिक कुछ भी नहीं क्योंकि तब तो द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष समवाय और अभाव” के रूपमे पदार्थका सप्तधा विभाजन नव्यन्यायमे भी दोषावह मानना पड़ेगा; और, सभीको तर्कामृतकार श्रीजगदीशकी तरह भावाभावात्मक

दो ही पदार्थ प्रतिपादित करनेको बाधित होना पड़ेगा।

रही बात बाह्य जगत्के वस्तुतः ऐसी दो राशियोंमें विभक्त होनेके तथ्यकी तो वर्णोंका भी श्वेत-अश्वेतकी दो राशियोंमें विभाजन करनेके बजाय शुक्ल नील पीत रक्त ह्रीत् कपिश कर्जु आदि अनेकधा प्रतिपादन ही नव्यन्यायमें मिलता है कारणविभाजनके अन्तर्गत भी समवायी असमवायी के बावजूद, 'इद-तृतीय'न्यायेन, निमित्तकारण स्वीकार ही गया है स्पर्शग्राह्य गुणोंमें भी शीत अशीत या उष्ण और अनुष्ण के बजाय शीत अनुष्ण अनुष्णाशीत स्वीकारे गये हैं और तो और प्रत्यक्षके अलौकिक सनिकर्षमें सामान्यलक्षणा ज्ञानलक्षणा और योगज यो तीन माने गये हैं। तादात्म्यसम्बन्ध और स्वरूपसम्बन्ध दोनों ही सम्बन्धी द्रव्यकी अभेदात्मकता लिये होनेपर भी दोनों भिन्न प्रकारके सम्बन्ध माने गये हैं स्वयं जीवात्माको होते प्रत्यक्षको इन्द्रियार्थसनिकर्षजन्य माननेके बावजूद, इन्द्रियरहित परमेश्वरके ज्ञानको षड्विध लौकिक सनिकर्ष और त्रिविध अलौकिक सनिकर्षमें न मान कर वहा भी, 'इद तृतीय'न्यायेन, विषयका विषय होना और ईश्वरके नित्यज्ञानका विषयी होना मान गया है पुनश्च उस ऐसे सम्बन्धका न तो स्वरूप और न तादात्म्य में ही अन्तर्भाव माना गया है अतः यह जितना अतर्कित या अतार्किक हो सकता है उससे अधिक दोषावह मुझे बुद्धिकी पाच वृत्तियोंका अंगीकार लगता नहीं है।

डा श्री एम् वी बोक्लिह द्वारा छेड़े गये मुद्दोंके बारेमें श्रीमुखोपाध्यायजीकी प्रतिक्रिया रिकॉर्ड नहीं हो पायी फिरभी अथवा वाल्लभ वेदान्तकी दृष्टिकोणके अनुसार जो कहा जा सकता है वह यो है

सारा गणितशास्त्र हम प्राणियोंकी बुद्धिमें प्रकटे वस्तुविषयक बुद्धिसापेक्ष "यह एक और यह एक—यो ये दो" ऐसे वास्तविक पर सापेक्ष प्रत्ययोपर अवलम्बित होता है अतः भौतिक एकत्व तथा लीलार्थ प्रकट अनेकत्व के बीच बुद्धि अपनी सात्त्विकादि अवस्थाओंके तश इन्हे आधेक्षिक विकल्पानुभूतिका

गोचर बनाती है बादमे निज कल्याणओके अनुसार घड़े वस्तु-अतीत प्रत्ययोकी धारणा घड कर तर्कणाके अकारद्वय नियमोके बन्धनमे वह फस जाती है बिलकुल उसी तरह जैसे शतरंजके मोहरोकी चालके नियम स्वयं हमारे घड़े होते हैं और फिर उन नियमोके अनुसार खेलने जानेपर स्वयं नियम घड़नेवाले हम जयपराजयके द्वन्द्वमे ग्रस्त हो जाते है विट्टास्टाईन यही बात कहता था वही बात यहां भी सोची जा सकती है, केवल कुछ थोड़े अन्तरके साथ वह वस्तुको अज्ञेय-अवाच्य कह देना चाहता था वात्स्य वेदान्त, जबकि, इसे सृष्टिकर्ताद्वारा प्रादुर्भूत बाह्य विषय और प्राणियोकी बुद्धि के बीच इस सीमा के भीतर ज्ञेय भी और वाच्य भी वास्तविक क्रिया-प्रतिक्रिया को भगवल्लीलाके रूपमें देखना चाहेगा

बाह्य विषयका तथा उसके बाह्याभ्यन्तर ग्राहक सचेतन करणोका यह इतरेतरसापेक्ष स्वभाव सृष्टिकी ररचनामे एही एक सम्भाव्यता है जो वास्तविकताके रूपमें उभरती लीला है गणितशास्त्रीय नियमके अन्य किसी भी बाह्यविषय या देश-काल-कर्म-स्वभाव-द्रव्यके नियमोके ज्ञानकी तरह, यथार्थ होनेपर, सात्त्विक माननेमे कोई आपत्ति हो नहीं सकती भगवान्‌के ज्ञानको तो, त्रिगुणातीत होनेके अर्थमें, हम निर्गुण ही मानते हैं सात्त्विक नहीं प्राणियोके भीतर प्रकट तामस एव राजस गुणोके उद्रेककी तुलनामे सात्त्विक गुणका उद्रेक अपने यथायथ तरतमभाववश तरतम अनुभूति प्रकट करता है इन्हे गुणातीत ज्ञानकी ओर अधिकाधिक बढ़ती अनुभूति मानी जा सकती है पर गुणातीत नहीं अतएव भगवद्गीतामे किसी एक कार्यरूप पदार्थमे अपर अनेक कार्यरूप पदार्थोंकी अनुभूतिको तामस गुणका उद्रेक माना गया होनेपर भी सभी कार्यभूत पदार्थोंमे एक सच्चिदानन्द ब्रह्मकी परोक्ष या अपरोक्ष अनुभूतिको 'सात्त्विक ज्ञान' कहा गया है "यत् कृत्स्नषट् एकस्मिन् कार्ये सक्ताम् अहेतुकम् अतत्त्वार्थवद् अल्पं च तत् तामसम् उदाहृतं, सर्वभूतेषु येन एक भावम् अव्ययम् ईक्षते अविध्वक्त विधक्तेषु तज् ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्" (भग गीता १८।२२, २०) जबकि परमात्माके स्वरूप या गुणधर्मों के बारेमे यह सुस्पष्टतया कहा गया है "अनादित्वाद् निर्गुणत्वाद् परमात्मा अयम्

अव्यय" (भग गीता १३।३१) अस्तु

इन विद्वान् विचारकोके प्रति हार्दिक कृतज्ञताके साथ इस सगोष्ठ्युत्तरलेखी
यहां उपसंहृत करना उचित होगा



प्रत्यक्षप्रमाणम् **न्यायशुद्धाद्वैतवेदान्तमतयोः तौलनिकं विवेचनम्**

डॉ वलिराम शुक्ल, पुणे

“प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दा प्रमाणानि” इति सूत्रेण भगवता गोतमेन चत्वारि प्रमाणानि स्वीकृतानि सन्ति तत्र “इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानम् अव्यपदेश्यम् अव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्” इति सूत्रेण प्रत्यक्षलक्षणं प्रत्यपादि इन्द्रियार्थयोः सन्निकर्षाद् यद् अव्यपदेश्यम् अव्यभिचारि व्यवसायात्मकं ज्ञानं जायते तस्यैव ‘प्रत्यक्षप्रमा’ इति आख्या भवति तत्र ‘अव्यपदेश्य’पदेन अशाब्दज्ञानम् इति वात्स्यायनः, अर्थात् निर्विकल्पकज्ञानम् इति

अत्र प्रश्नो अयं जागर्ति, ‘अव्यपदेश्य’पदेन कथं निर्विकल्पकलाभः ? अत्र आह दिनकरीकारो, “‘व्यपदेश’=पदवाच्यत्वं तदव्यपश्यकम् इति अर्थाद् विशिष्टज्ञाने तत्पदवाच्यत्वम् उपनीतं भासते इति प्राचीनमतानुसारित्वात्-” अतएव ‘कणाद’=‘कणाद’नामानम् इत्यादिकं तत्र-तत्र उक्तं समच्छते

अस्य इदं तात्पर्यं यद् विशिष्टज्ञानस्य न “अयं घटः” इति आकारो अपितु “अयं ‘घट’पदवाच्यः” इति पदवाच्यत्वम् अत्र ज्ञानलक्षणया भासते इति

अत्र केचन वदन्ति ‘व्यपदेश’ शब्दप्रयोगः सच शब्दप्रयोगो विशिष्टज्ञानानन्तरमेव भवति केवलं विशेषणज्ञानाद् विशेष्यज्ञानाद् वा “अयं घटः” इति शब्दप्रयोगो न भवति अतो निर्विकल्पकज्ञानानन्तरं शब्दप्रयोगाभावात् शब्दप्रयोगानर्हत्वरूपस्य निर्विकल्पकत्वस्य लाभो भवति ‘अव्यभिचारि’ इति पदं सूत्रे भ्रमे अतिव्याप्तिवारणाय इति

मनोरूपेन्द्रियजन्यत्वम् अनुमित्यादिष्वपि सत्त्वाद् अतिव्याप्तिः, ज्ञानमात्रं प्रति मनसः कारणत्वात् अतः “इन्द्रियत्वावच्छिन्न-कारणता-निरूपित-कार्यताशालि ज्ञानत्वम्” इति प्रत्यक्षलक्षणं पर्यवसितं भवति ज्ञानमात्रं प्रति मनसः कारणत्वं मनस्त्वेन अस्ति, नतु इन्द्रियत्वेन एवञ्च इन्द्रियत्वावच्छिन्न-कारणता-निरूपित-कार्यताशीलत्वस्य अनुमितौ अभावात् न अतिव्याप्तिः

सूत्रकारोक्तम् इदं लक्षणं जन्यप्रत्यक्षस्यैव ‘ज्ञानाकरणकज्ञानम्’ इति ईश्वरप्रत्यक्षसाधारणं प्रत्यक्षलक्षणम्

न्यायमते प्रत्यक्षोत्पत्तिप्रकारः इत्थं वर्णितः आत्मा मनसा सयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियम् अर्थेन, ततः प्रत्यक्षात्मकज्ञानं जायेत अत्र इयं व्युत्पत्तिः “अक्ष-अक्षं प्रतीत्य उत्पद्यते इति प्रत्यक्षम्” अतएव ज्ञानाकरणकत्वाव्यभिचारि-जातिशून्यज्ञानत्वम् इति जीवेश्वरोभयसाधारणं प्रत्यक्षलक्षणं पर्यवस्यते ईश्वरप्रत्यक्षस्य नित्यत्वेन न किञ्चिदपि कारणम् जीवप्रत्यक्षस्यतु इन्द्रियमेव कारणम् अतः उभयोरपि जीवेश्वरप्रत्यक्षयोः ज्ञानाकरणकत्वम् अस्त्येव

“साक्षात्कारत्वव्यञ्जक-विषयताविशेषवज्ज्ञानम्” इति गदाधरः (ग स म) ज्ञाने साक्षात्कारत्वं तावत् ‘साक्षात्करोमि’ इति प्रतीतिसाक्षिको जातिविरोधः इदमपि ईश्वरप्रत्यक्षसाधारणं लक्षणम् अतएव नव्यनैयायिकैः ईश्वरप्रत्यक्षसाधारणलक्षणं स्वीकृत्य प्रत्यक्षस्थाने ‘अपरोक्ष’शब्दप्रयोगः कृतः अतएव ईश्वरविषयकानुमाने गम्येन “क्षित्यादिकं स्वोपादानगोचरापरोक्षज्ञानचि-कीर्पाकृतिमन्जन्यं, कार्यत्वात्” इति अनुमानप्रयोगो दर्शितः

प्रभाकरमते “साक्षात्कारिज्ञानं प्रत्यक्षम्” इति प्रत्यक्षलक्षणं प्रतिपादितम् अस्ति तथापि तत्र मते साक्षात्त्वं न जातिः, नियतव्यञ्जकाभावात्

अद्वैतवादिना मतं “अन्तःकरणावृत्त्यवच्छिन्नचैतन्येन विषयस्फुरणं

प्रत्यक्षम्” यथाच उक्त पञ्चदश्याम् “बुद्धि-तत्त्वचिदाभासी द्वावपि व्याप्नुतो घट तत्र अज्ञान धिया नश्येद् आभासेन घटः स्फुरत्”

न्यायमते लौकिकप्रत्यक्ष द्विविध परिकीर्तित १ सविकल्पक २ निर्विकल्पकञ्च यथाच उक्तम् “अपरोक्षप्रमाव्याप्त प्रत्यक्ष द्विविध मत सविकल्पकम् इति एकम् अपर निर्विकल्पकम्”

तत्र १ नामजात्यादियोजनारहितम् २ वैशिष्ट्यगानवगाहिज्ञानम् ३ निष्प्रकारक प्रत्यक्षम् ४ विशेषणविशेष्यसम्बन्धानवगाहिज्ञानम् इत्यादीनि बहूनि लक्षणानि न्यायग्रन्थेषु प्रतिपादितानि सन्ति

तच्च ज्ञान, वस्तुस्वरूपमात्रावगाहि ‘यत्किञ्चिद्’ इत्याकारक भवति इति केचन वदन्ति घटस्य निर्विकल्पकज्ञान घटघटत्वे इत्याकारक भवति तच्चज्ञानम् अतीन्द्रिय भवति इति भाषापरिच्छेदकारेण उक्त “ज्ञान यन् ‘निर्विकल्पा’ख्य तद् अतीन्द्रियम् उच्यते” इत्यादिना

मायावादिना मते ज्ञातृशेषादिविभागशून्य ब्रह्मैकात्मविषयम् अखण्डाकारक विशेष्य-विशेषण-सम्बन्धरहित ज्ञान निर्विकल्पकज्ञानम् (व्या को पृ ४३७)

निर्विकल्पकज्ञानस्य अतीन्द्रियत्वात् प्रत्यक्षेण तस्य सिद्धि न भवति इति नैयायिका वदन्ति अतो निर्विकल्पकसत्त्वे किं प्रमाणम् ? निर्विकल्पकसत्त्वे अनुमान प्रमाणम् इति नैयायिका तद् यथा “विशिष्टज्ञान जन्यविशेषणज्ञानपूर्वक, जन्यविशिष्टज्ञानत्वात्, ‘दण्डीपुरुष’ इति विशिष्टज्ञानव-
त्”

यदि निर्विकल्पकज्ञान न स्वीक्रियेत तदा सुप्तोत्थितस्य “अयं घट” इति ज्ञान न स्यात्, कारणीभूतस्य विशेषणज्ञानस्य अभावात् विशिष्टज्ञान प्रति विशेषणज्ञानस्य कारणत्वात् पूर्वविशेषणज्ञानाभावे कथं

विशिष्टज्ञानम्? अतो विशिष्टज्ञानात् पूर्वं विशिष्टज्ञानजनक विशेषणस्य निर्विकल्पकज्ञान स्वीकरणीयम् चक्षुसयोगानन्तर घटस्य घटघटत्वयो वैशिष्ट्यान्वगाह्येव 'घटघटत्वे' इति ज्ञान जायते, तदेव निर्विकल्पकम् तस्य सविकल्पकत्वे तत्रापि सविकल्पकान्तर विशेषणज्ञान कारण स्वीकर्तव्यम् तथाच अनवस्थाप्रसंग अत पूर्वविशेषणज्ञान वैशिष्ट्यान्वगाह्येव स्वीकार्यम् तदेव च निर्विकल्पकम्

अत्र पुन प्रश्नो अय जागर्ति, विशिष्टज्ञान प्रति विशेषणज्ञानस्य कारणत्वस्वीकारे का युक्ति? चक्षुसयोगानन्तर द्वितीयक्षणएव "अय घट" इति प्रत्यक्षस्वीकारे क्षत्यभावात् नहि तृतीयक्षणएव तादृश प्रत्यक्ष भवति इति वक्तुं शक्यम्, क्षणविलम्बस्य शपथनिर्णयत्वात् "रक्तो दण्ड" इति निर्णय विना "रक्तदण्डवान्" इति विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहि प्रत्यक्षे विशेषणतावच्छेदकप्रकारकनिश्चयस्य कारणत्वम् अन्वयव्यतिरेकाभ्या सिध्यति परन्तु निर्विकल्पकज्ञानस्य अतीन्द्रियत्वात् निर्विकल्पक-सविकल्पकयो कार्यकारणभाव अन्वयव्यतिरेकाभ्या न सिध्यति अतो विशेषणज्ञान विशिष्टबुद्धि प्रति कारणम् इति कार्यकारणभाव कथ सिध्येत्

अत्र आह दिनकरीकार "कदाचिद् 'घट' इत्याकारक, कदाचित् च 'जातिमान्' इत्याकारक जातित्वेन घटप्रकारक ज्ञान जायते इति अनुभवसाक्षिकम् तन्निर्वाहाय घटत्वाशे अन्याप्रकारक-घटत्वप्रकारकबुद्धौ तादृशघटत्वज्ञानत्वेन जातित्वप्रकारक-घटविशिष्टबुद्धौ च तादृश घटत्वज्ञानत्वेन हेतुत्वम् आवश्यकत्वाद् इति भाव

अस्य अय भाव "अय घट" इति ज्ञान द्विविधाकारक भवति कदाचित् स्वरूपतो घटत्वप्रकारक, कदाचित् जातित्वेन घटत्वावगाहिजातिमान् इति आकारकम् जातित्वेन घटत्वप्रकारकमिति ग्रामाणिकानाम् अनुभव अत तादृशानुभविर्वाहाय स्वरूपतो घटत्वप्रकारकबुद्धि प्रति स्वरूपतो घटत्वज्ञान कारणम् इति स्वीकरणीयम् एव घटत्वाशे जातित्वप्रकारकजातिमान् इति

अनुभव प्रति जातित्वप्रकारकघटत्वज्ञान कारण स्वीकर्तव्यम् अन्यथा स्वरूपतो
घटत्वज्ञानात् जातिमान् इति प्रत्यय स्यात्

नच 'घट' इति प्रत्यक्षकाले जातिमान् इति प्रत्यक्षापत्ति इति
वाच्य, विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञानरूपकारणविरहाद् इति चेत्, न, जातिमान्
इति घटत्वप्रकारकबोधोत्पत्तिदशाया 'घट' इत्याकारकप्रत्यक्षापत्ते

ननु जातिमान् इत्याकारकस्य ज्ञानस्य विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहित्वात्
तत्र जातित्वरूपविशेषणतावच्छेदकप्रकारकनिश्चयस्यैव कारणत्वम् अस्तु, किमर्थं
विशेषणज्ञानत्वेन हेतुत्वम् ? इति चेत्, न, विशेष्ये विशेषण तत्रापि विशेषणान्तरम्
इति रीत्या जायमानस्य जातिमान् इत्याकारकस्य ज्ञानस्य विशिष्टवैशिष्ट्यावगा-
हित्वात्

नच प्रकाराशे जातौ जातित्वस्य प्रकारत्वात् तदपि ज्ञान
विशिष्टवैशिष्ट्यावगाह्येव, विशेष्ये विशेषण तत्रापि विशेषणान्तरम् इति
रीत्या जायमानस्यापि ज्ञानस्य विशेषणावच्छिन्नप्रतियोगिक-तत्सर्गावगाहित्वात्
विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहित्वम् अक्षुण्णमेव इति वाच्यम्

विशेषणावच्छिन्नप्रकारताशालित्वमेव विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहित्वम्
विशेष्ये विशेषणम् इति रीत्या जायमाने ज्ञाने तु प्रकारप्रकारेण अवच्छेदकताख्या
विलक्षणविषयता अत तस्य न विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहित्वापत्ति इति केचित्

किञ्च, विशेष्ये विशेषण तत्रापि विशेषणान्तरम् इति रीत्या जायमान
जातिमान् इत्याकारकज्ञान प्रति न जातित्वप्रकारकघटत्वज्ञानरूप-
विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञान कारण, यतोहि विशकलित-जातित्व-घटत्व-
ज्ञानादपि तादृश ज्ञान जायते अतो विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिबुद्धि प्रति एव
विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञानस्य कारणत्व स्वीकर्तव्यम्

केचित्तु विशिष्टबुद्धि प्रति विशेषणज्ञानस्य कारणत्वस्वीकारे

ज्ञानलक्षणाया हेतुत्वान्तरं न कल्प्यते, विशेषणज्ञानकारणतयाएव तन्निर्वाहात्

अन्ये तु विशेषणज्ञानस्य अहेतुत्वे ज्ञानलक्षणाया लौकिकान्यघटादिविषय-
ताशालिप्रत्यक्षत्वमेव कार्यतावच्छेदकं वाच्यम् विशेषणज्ञानस्य हेतुतास्वीकारे तु
लौकिकान्यत्वम् अनिवेश्य घटादिविषयताशालिमानसत्त्वस्यैव जन्यतावच्छेदकत्वं
स्वीक्रियते इति लाघवम्

अपरे तु विशिष्टबुद्धौ विशेषणज्ञानस्य अहेतुत्वे अप्रसिद्धसाध्यकपरामर्शात्
पृथिव्याम् इतरभेद इत्याकारकसाध्यविशेष्यकानुमित्युत्पादकाले इतरभेदप्रकार-
कानुमित्यापत्तिः पृथिव्याम् इतरभेद पृथिवीतरभेदवती इत्याकारक
द्विविधविषयताशाल्यनुमिते अनुभवविरुद्धत इष्टापत्ते अयुक्तत्वादिति
विशेषणज्ञानस्य विशिष्टबुद्धिः प्रति हेतुत्वम् आवश्यकम् इति उक्तञ्च
“अस्ति हि आलोचनं ज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकं घातमूकादिविज्ञानं सदृशं
शुद्धवस्तुजम्” (श्लोकवा ११२) इति

अत्र केचित् यत् पृथ्यते ‘अस्ति हि आलोचनम्’ इत्यादि,
तदपि न समीचीनं, निदर्शनं च विशिष्टविषयकमेव बालमूकपशवादीनां
जातिगुणादिविशिष्टवस्तुग्रहणाभावे तन्नियतप्रवृत्त्यादिभग्नप्रसंगाद् इति

तद् न युक्तं, वस्तुस्वरूपमात्रस्य निर्विकल्पकेन ग्रहणं पूर्वं भवति
इति अस्वीकारे तद्वाचकशब्दस्य स्मृत्यभावात् सविकल्पकस्यापि सिद्धयभावप्रस-
ङ्गः अतः सविकल्पकसिद्ध्यर्थमेव एतत्स्वीकरणीयम्

किञ्च सजातीयव्यक्त्यन्तरानुवृत्ते विजातीयेभ्यो व्यावृत्ते च
ग्रहणानन्तरमेव सामान्यविषयकं ज्ञानं जायते तदनन्तरमेव विशिष्टविषयकं
ज्ञानं भवति इति स्वीकरणीयम् एवञ्च पूर्वपिण्डान्तरानुसन्धानाभावेन
अनुवृत्तिव्यावृत्त्यो च ग्रहणासम्भवात् सामान्यविशिष्टविषयकं ज्ञानं नैव भवितुम्
अर्हति, वस्तुस्वरूपग्रहणन्तु भवत्येव, तस्य पिण्डान्तरानुसन्धानानपेक्षितत्वात्

किञ्च सर्वं ज्ञानं विशिष्टविषयकमेव इति मते घटज्ञाने घटत्वस्य

प्रत्यक्षं स्वीक्रियते न वा? स्वीक्रियते चेत् तत्रापि घटत्वत्वस्य प्रत्यक्षं स्वीक्रियते न वा? अत्र तत्प्रतीतिस्वीकारे अनवस्था अस्वीकारे घटत्वस्य निर्विकल्पकाभ्युपगमः इति.

अत्र वाल्लभीयानां मते ज्ञानं सात्त्विकादिभेदेन त्रिविधं भवति. तत्र सात्त्विकज्ञानं प्रमारूपमेव, राजसज्ञानं सविकल्पकमेव इत्यादिना प्रस्थानरत्नाकरकारेण सविकल्पक-निर्विकल्पकभेदेन तस्य द्वैविध्यं प्रतिपादितम्. तामसज्ञानन्तु तेषां मते प्रमाणमेव नास्ति. सविकल्पकज्ञानात् पूर्वम् इन्द्रियजन्यज्ञानं यत् सात्त्विकम् उत्पद्यते तत् निर्विकल्पकम्. तज्ज्ञानं सन्मात्रावगाहि एकविधमेव. सात्त्विकजागृतवृत्तिजन्यं सत्त्वानुग्रहे सति इन्द्रियैः प्रथमं तद् ज्ञानं जन्यते इति उक्तं प्रस्थानरत्नाकरकारेण.

नैयायिकमताद् अत्र अस्ति कश्चन विशेष. प्रस्थानरत्नाकरकारेण “निर्विकल्पकज्ञानं न सविकल्पकज्ञानस्य कारणम्” इति तस्य कारणत्वे प्रमाणाभावाद् इति यद् उक्तं तत् न समीचीनम् यतोहि सविकल्पकज्ञानं प्रति तस्य कारणत्वास्वीकारे कथं तद् सिद्धिः? विशिष्टबुद्धिः प्रति विशेषणज्ञानस्य कारणत्वादेव विशेषणज्ञानत्वेन तत्सिद्धेः निर्विकल्पकज्ञानस्य कारणत्वे प्रमाणम् नुमानमेव. तद्यथा “विशिष्टज्ञानं जन्यविशेषणज्ञानपूर्वकं जन्यविशिष्टज्ञानत्वाद् ‘दण्डी पुरुषः’ इति विशिष्टज्ञानवद्” इति अनुमानेन निर्विकल्पकरूपस्य विशेषणज्ञानस्य विशिष्टसविकल्पकज्ञानं प्रति कारणत्वसिद्धौ प्रस्थानरत्नाकरकारणाम् इदं कथनम् “एतस्य सविकल्पकात् पूर्वभावेऽपि न कारणत्वं, प्रमाणाभावाद्” इति न शोभते.

“इन्द्रियात्मकं प्रमाणं प्रत्यक्षम्” इत्यादिना प्रस्थानरत्नाकरकारेण इन्द्रियस्यैव प्रत्यक्षप्रमाकरणात्वं उरीकृतम्. परन्तु नैयायिकानां मते प्रत्यक्षप्रमायाः कारणं त्रिविधं; क्वचित् इन्द्रियं, क्वचिद् इन्द्रियार्थसन्निकर्षः, क्वचित् ज्ञानं च. तत्र निर्विकल्पकप्रत्यक्षएव इन्द्रियस्य कारणत्वं भवितुम् अर्हति. तथाहि यदा इन्द्रियार्थसन्निकर्षेण प्रथमतो निर्विकल्पकज्ञानम् उत्पद्यते तस्य ज्ञानस्य

इन्द्रियमेव करणं भवति, तल्लक्षणं तत्र संघटते परन्तु यत्र निर्विकल्पकज्ञानाव्यवहितोत्तरक्षणे यद् सविकल्पकज्ञानं जायते तत्र इन्द्रियार्थसन्निकर्षं करणम्. तत्र इन्द्रियार्थसन्निकर्षएव प्रत्यक्षप्रमाण. तत्र निर्विकल्पकज्ञानं व्यापारः सविकल्पकज्ञानं फलम्. यत्र सविकल्पकज्ञानानन्तरं हानोपादानोपेक्षानुद्भूयः भवन्ति तत्र सविकल्पकज्ञानं व्यापारो निर्विकल्पकज्ञानं करणम्. हानादिबुद्ध्यः फलम्.

“इन्द्रियाणि चक्षुस्त्वक्-घ्राण-रसन-श्रवण-मनोभेदेन षड्” इति यद् उक्तं तत्र नास्ति अस्माकं विप्रतिपत्तिः. मनस इन्द्रियत्वसाधने यत् प्रतिपादितं तदपि ग्राह्यमेव.

चक्षुषादिइन्द्रियाणां स्वरूपन्तु अणुतमम् अतीन्द्रियम् अनित्यं चिरस्थायि विकारि च इति यद् उक्तम्, तत्र ‘अणुतमम्’ इत्यस्य परमाणुरूपम् इति अर्थे अनित्येन सह विरोधः स्यात्. अतो ‘अणुतमम्’ इत्यस्य सूक्ष्मतममेव अर्थः प्रतिभाति.

तत्र द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति उद्भूतरूपत्वेन योग्यता इति रीत्या प्रस्थानरत्नाकरकारेण द्रव्यस्य चाक्षुषप्रत्यक्षं प्रति उद्भूतरूपं कारणम् इति उक्तम्. प्राचीनानां नैयायिकानां मतेऽपि बहिरिन्द्रियजन्य-द्रव्यप्रत्यक्षमात्रे रूपं कारणम् इति उक्तम्.

तत्र द्रव्यचाक्षुषप्रत्यक्षेतु अनेकद्रव्यवत्त्वं महत्त्वं वा उद्भूतरूपम् आलोकसंयोगं च कारणम् इति स्वीकृतम्. अत्र परमाणु-द्वणुकयोश्चाक्षुषप्रत्यक्षवारणाय महत्त्वमपि कारणं महत्त्वं षड्विधहेतु इत्यादिना षड्विधप्रत्यक्षं प्रति महत्त्वस्य कारणत्वं नैयायिकैः स्वीकृतम् अस्ति. तद्विषये अस्ति प्रस्थानरत्नाकरकारस्य विप्रतिपत्तिः. यथाच उक्तं “तत्र द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति उद्भूतरूपत्वेन योग्यता. अतः परमाणुपिशाचादीनाम् उद्भूतरूपाभावेनैव चक्षुषा अग्रहो नतु महत्त्वसामानाधिकरण्यमपि तत्र

निर्देशनीयम्, अप्रयोजकत्वात् परमाणुषु उद्भूतरूपसत्त्वे युक्त्यभावाद् इति”

तत् न अस्मभ्य रोचते पिशाचादीनाम् उद्भूतरूपाभावान् न चाक्षुषप्रत्यक्षम् इति अत्र नास्ति अस्माक विप्रतिपत्ति परन्तु परमाणो अप्रत्यक्षत्वे महत्त्वाभावएव प्रयोजकत्वेन निर्धारणीयो, लाघवात् बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्ष प्रति उद्भूतरूपस्य कारणत्वात् त्रुटे स्पर्शनप्रत्यक्षापत्ति वारणाय प्रकृष्टमहत्त्वस्य कारणत्वम् अवश्यमेव स्वीकरणीयम् त्रसरेणो उद्भूतरूपसत्त्वेऽपि तस्य स्पर्शनप्रत्यक्ष न भवति अत उद्भूतरूपसत्त्वेऽपि आवश्यकप्रकृष्टमहत्त्वाभावादेव न त्रुटे स्पर्शनप्रत्यक्षम् अनया रीत्या महत्त्वस्य कारणत्व सिद्धमेव एवञ्च, महत्त्वाभावादेव न परमाणो प्रत्यक्षम् इति स्वीकरणीयम्

यदि चाक्षुषप्रत्यक्षे उद्भूतरूप कारणम् स्पर्शनप्रत्यक्षे उद्भूतस्पर्श कारणम् इत्यादि अनेकार्क्यकारणभावकल्पनापेक्षया बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षे उद्भूतरूप कारणम् इति पङ्क्तिधप्रत्यक्षे महत्त्व कारणम् इति स्वीकारे लाघवम्

परमाणुषु उद्भूतरूपसत्त्वे युक्त्यभावद् इति यद् उक्त तदपि न रुचिकरम् सत्य, परमाणुषु उद्भूतरूपस्य न प्रत्यक्षेण सिद्धि परन्तु अनुमानेन उद्भूतरूपसिद्धौ न किमपि बाधकम् अवयविरूप प्रति अवयवरूपस्य असमवायिकारणत्वात् द्व्यणुकरूप प्रति परमाणुरूपम् असमवायिकारणम् तथैव त्रसरेणुरूप प्रति द्व्यणुकरूपम् असमवायिकारण भवति द्व्यणुकस्य अप्रत्यक्षत्वाद् अनुद्भूतरूपवत्त्वम् अनुद्भूतरूपजन्य त्रसरेणुरूपमपि अनुद्भूत भवति अनुद्भूतत्वे च तस्य अप्रत्यक्ष स्यात् प्रतिबन्धकाभावे रूपस्य स्वसजातीयरूपजनकत्वनियमात्

अतो अत्र इयम् अनुमान भवितुम् अर्हति “द्व्यणुकरूपम् उद्भूत, त्रसरेणुगतोद्भूतरूपान्यसमवायिकारणकत्वाभावे सति त्रसरेणुगतरूपासमवायिकारणत्वात्, कपालरूपवद्” इति अनुमानेन द्व्यणुकरूपस्य उद्भूतत्व सिद्धयति

एवमेव द्व्यणुकावयरूपमपि उद्भूतम्, उद्भूतरूपासमवायिकारणरूपजनक-
त्वात्, कपालिकारूपवद्' इति अनुमानाभ्यां परमाणुष्वपि उद्भूतरूपं सिद्ध्यति.
अत उद्भूतरूपसत्त्वेऽपि अप्रत्यक्षत्वावारणाय महत्त्व पङ्क्तिवधे प्रत्यक्षे कारणं
स्वीकर्तव्यमेव.

नैयायिकैकदेशिनां मते रूपादीनाम् इन्द्रियग्रहणायोग्यत्वरूपम् अनुद्भूतत्वं
नास्ति. अतः परमाणौ उद्भूतरूपाभावात् न प्रत्यक्षम् इति न वक्तुं
शक्यम्. यथाच उक्तं रघुनाथशिरोमणिना "रूपादीनाञ्च न इन्द्रियग्रहणायोग्यत्वं,
वाय्वादौ रूपं न अस्ति इति सर्वलोकप्रत्ययात्. अन्यथा अतीन्द्रियप्रतियोगिक-
त्वेन पिशाचात्यन्ताभावस्यैव तत्सामान्याभावस्यापि अप्रत्यक्षत्वापत्तिः" (रघु-
पदार्थतत्त्वनिरूपणम्).

एवमेव घ्राणयोग्या — उद्भूतगन्धः तद्वान् तज्जातिः तत्समवायः च.
एवं रसनायोग्या — उद्भूतो रसः तज्जातिः तत्समवायः च. श्रोत्रयोग्याः —
उद्भूतशब्दः तद्वान् तज्जातिः च इति यद् प्रस्थानरत्नाकरकारेण उक्तं
तत् न समञ्जसम्. घ्राण-रसन-श्रवणानां द्रव्यग्राहकत्वमेव नास्ति. नोचेत्
सुरभिगन्धानन्तरं कस्यापि अयं गन्धः चम्पकस्य केतकीपुष्पस्य वा इति
सन्देहएव न स्यात्. सन्देहस्य अनुभवसिद्धस्य अपलपितुम् अशक्यत्वात्.
अतो द्रव्यग्रहणे घ्राणादीनां सामर्थ्यमेव न इति न्यायमतमेव समीचीनं
प्रतिभाति.

श्रवणेन भेयदिः अनुभवस्य व्याप्तिज्ञानविधुसाणामपि दर्शनाद् इति
यद् गोस्वामिपादे प्रतिपादितं तदपि न रोचते. शब्दश्रवणानन्तरं सामान्यजनस्य
अयं सन्देहो जागर्ति यद् "अयं तबलावाद्यस्य वा मृदंगस्य वा शब्दः"
"वीणायां सितारस्य वा" इति. यस्य विशिष्टवाद्यस्य विशिष्टध्वन्यात्मकशब्देन
अव्यभिचारसहकृतव्याप्तिज्ञानम् अस्ति तस्यैव तस्य वाद्यस्य बोधो भवति
न अन्यस्य. व्यापितलक्षणं यत्समानाधिकरणेत्यादिना अस्माभिः प्रतिपाद्यते
तस्य लक्षणस्य ज्ञानं माभूत्, परन्तु व्याप्तिज्ञानं भवत्येव. भूयोदर्शनादिना

व्याप्तिज्ञानं प्राणिमात्रस्येव भवति. अतएव उक्तं “गावः पश्यति गन्धेन” इति अत्र तृतीयार्थो ज्ञापकत्वमेव. अतो गन्धहेतुज्ञानद्वारा तदाश्रयस्य अनुमानमेव भवति इति मामकीनः पन्थाः.

अतएव उक्तं, “तत्र इन्द्रियात्मकं प्रत्यक्षं द्वेधा १. द्रव्यग्राहकं २. द्रव्याग्राहकं च. आद्यं चक्षुस्त्वङ्-मनांसि; द्वितीयं घ्राणं, रसनं, श्रवणम् इति” (न्या.सि.मञ्जरी).

एवमेव “आकाशस्तु प्रमेयबलादेव चाक्षुषः” इति यद् उक्तं तदपि न समीचीनं, शब्दसमवायिकारणतावच्छेदकतया सिद्धस्य आकाशस्य उद्भूतरूपाभावात् न चाक्षुषप्रत्यक्षं द्रव्यग्रहणे श्रोत्रस्य असामर्थ्यात् न तस्य श्रावणप्रत्यक्षम्. अतो अनुमानेनैव तत्सिद्धिः इति प्रशस्तपादभाष्यादिग्रन्थेषु विस्तरेण अनुमानम् इदं प्रतिपादितम् अस्ति. विस्तरभयात् न अत्र उच्यते.

“आत्मा तद्धर्माः च न लौकिकप्रत्यक्षविषयाः” इति यत् गोस्मामिचरणैः प्रतिपादितम् तत्र नैयायिकानामपि अस्ति सम्मतिः. परन्तु वैशेषिकाणां मते आत्मा तावद् अनुमानस्यैव विषयः इति. परन्तु शुद्धाद्वैतिनां मते तु शास्त्रीयसाधनसहकारेण जीवात्मनः सद्भावे प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्. “अहं सुखी” इत्यादिमानसप्रतीतिविषयो जीवात्मा इत्यपि कैपाञ्चिद् मतम् अस्ति.

शुद्धाद्वैतिनां सिद्धान्ते तु “यन्न स्पृशन्ति न विदुः मनोबुद्धीन्द्रियासवः” इति भागवतवाक्याद्; एवं अणुत्वात् परमाणुवद् इत्यादि अनुमानात् तस्य लौकिकप्रत्यक्षाविषयत्वं प्रतिपादितं तत् चिन्त्यम्.

प्रत्यक्षं लौकिकालौकिकभेदेन द्विविधम् अंगीकृतं नैयायिकवत् शुद्धाद्वैतिभिः परन्तु तत्र अस्ति मतवेचित्र्यम्. नैयायिकानां मते सामान्यलक्षण-ज्ञानलक्षण-योगजभेदेन त्रिविधम् अलौकिकप्रत्यक्षम्. परन्तु प्रस्थानरत्नाकरमते सामान्यलक्षण-योगज-मायाभेदेन त्रिविधम्. तत्र सामान्यलक्षण-योगजयोः विषये नास्ति महती विप्रतिपत्तिः. परन्तु ज्ञानलक्षणप्रत्यक्षविषये

अस्ति विप्रतिपत्तिः प्रस्थानरत्नाकरकारेण न स्वीकृतो ज्ञानलक्षणरूप सन्निकर्षः

स्वविषयविषयकप्रत्यक्षजनको ज्ञानविशेषो ज्ञानलक्षणः सन्निकर्षः “सुरभि चन्दनम्” इति प्रत्यक्षे सौरभत्वस्य भानं ज्ञानलक्षणया भवति अत्र ज्ञाने सौरभस्य भानं सुरभित्वस्य स्मरणेन भवति अयञ्च सन्निकर्षः पूर्वानुभूतस्य सौरभस्य स्मरणरूपं सच सुरभिचन्दनम् इति अलौकिकप्रत्यक्ष जनयति ज्ञानलक्षणसन्निकर्षेण तद्विषयीभूत-तत्तत्पदार्थानां प्रत्यक्ष मनसा जायते ज्ञानलक्षणसन्निकर्षास्वीकारे कविकाव्यमूलभूततत्तत्पदार्थसर्गज्ञानं कथं भवितुम् अर्हति ?

किञ्च ज्ञानलक्षणसन्निकर्षास्वीकारे यत्र सौरभत्वस्य जात्युपस्थित्यनन्तरं सुरभिगन्ध इतिवत् सुरभिचन्दनम् इत्याकारकं सौरभत्वप्रकारकं चन्दनविशेष्यकं भ्रमात्मकं चाक्षुषप्रत्यक्षं जायते तत्र सौरभत्वजाते भानं न स्यात् सौरभत्वेन सह लौकिकसन्निकर्षाभावात्

सामान्यलक्षणया सौरभत्वस्य भानं भवति इति न वक्तुं शक्यं, सामान्यलक्षणाया तदधर्मप्रकारक-तदाश्रय-प्रत्यक्षं प्रत्येव हेतुतया सौरभत्वप्रत्यासत्तेः कार्यतावच्छेदकतयाएव सौरभत्वजाते भानात् न तत्र “सुरभिगन्धः” इति प्रत्यक्षम् ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्तिः स्थलेतु तादृशं स्मरणं च यद्विषयकं तद्विषयकसाक्षात्कारजनकं भवति “सुरभि चन्दनम्” इति प्रत्यक्षे सौरभस्य सौरभत्वस्य च भानं ज्ञानरूपसन्निकर्षेणैव भवति अयमेव ज्ञानलक्षण-सामान्यलक्षणयोः भेदः अयञ्च यद्विषयकं ज्ञानं जननीयं तस्यैव सन्निकर्षः सामान्यलक्षणन्तु आश्रयविषयकप्रत्यक्षजननीये सन्निकर्षः सामान्यस्य ज्ञानरूपं ज्ञानलक्षणसन्निकर्षेण पूर्वज्ञातवस्तुनो अलौकिकप्रत्यक्षं जन्यते “सुरभि चन्दनम्” इति अत्र चन्दनस्य चक्षुर्ग्राह्यत्वेऽपि सौरभस्य तदग्राह्यत्वात् पूर्वज्ञातस्य सौरभस्य अलौकिकज्ञानं भवति “सुरभि चन्दनम्” इति अत्र सौरभासो अलौकित्वं चन्दनासो लौकिकत्वमेव तत्र पूर्वगृहीतसुरभित्वस्य ज्ञानं “सुरभि चन्दनम्” इति चाक्षुषप्रत्यक्षं जनयति

यत्र यत्तु सौरभज्ञानेन चाक्षुषसामान्या च “सुरभि चन्दनम्” इति

सौरभांशे अलौकिकं, चन्दनांशे लौकिकं चाक्षुषप्रत्यक्षं जायते तत्र सौरभभानार्थं सौरभस्मरणमेव सन्निकर्षत्वेन स्वीकार्यं, सौरभांशे चक्षुसन्निकर्षाभावात्. तत्र “सुरभिचन्दनम्” इति स्मरणमेव भवति इति न वक्तुं शक्यं, “सुरभिचन्दनं पश्यामि” इति प्रतीतिविरोधात्.

अतएव नैयायिकाः अन्यथाख्यातिस्थलेऽपि सर्पत्वादिज्ञानं ज्ञानलक्षणया-
एव भवति इति स्वीकुर्वन्ति, सर्पत्वादौ चक्षुसन्निकर्षाभावात्.

किञ्च तृतीयातु अविद्यमानानां पदार्थानां बुद्धौ उपस्थापने अतएव नैयायिकानां ज्ञाने प्रत्यासत्तिभ्रम इति रीत्या मायायाः अलौकिकप्रत्यासत्तित्वं प्रतिपादितम् अस्ति तदपि न समीचीनम्, तादृश्या. मायायाः प्रमाणाभावात्. मायायाः यत्स्वरूपं शुद्धाद्वैतिभिः स्वीकृतं तद् नैयायिकैः न स्वीकृतम्. मायाविषये भागवतीयं यत् प्रमाणम् उपस्थापितं प्रस्थानरत्नाकरकारेण “ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत च आत्मनि तद् विद्याद् आत्मनो मायाम्” इति अत्र ‘माया’शब्दं मानसभ्रमद्योतकः. यस्तु “शब्दज्ञानानुपाति-वस्तुशून्यो विकल्पः” इति सूत्रेण योगशास्त्रे प्रतिपादितः. “ऋते अर्थम्” इत्यस्य तात्पर्यम् अस्ति अर्थस्य अभावे यद् अर्थस्य प्रतीतिः जायते तादृशमेव ज्ञानं मायाकरणकम् इति, यथा शशविषाणस्य ज्ञानम्. तत्र विषाणाभाववति शशे विषाणस्य ज्ञानत्वेन भ्रमएव तच्च ज्ञानं न प्रत्यक्षप्रमान्तर्गतम् इति. “आत्मनो मायाम्” इति आत्मनो भ्रमः इति तात्पर्यम्.

लौकिकसन्निकर्षाणां संख्याविषयेऽपि अस्ति द्वयो विप्रतिपत्तिः. बाल्लभैः समवायस्थाने तादात्म्यसन्निकर्षं कल्पितः. तत्र समवाय-तादात्म्ययोः भेदः समवायसिद्धिप्रसंगे बहुत्र न्यायग्रन्थेषु चर्चितो वर्तते तत्र सुधिभिः अन्येष्वप्यसः विषयः.

अभावस्य पदार्थान्तरत्वमपि बाल्लभैः न स्वीकृतम्. तत्र प्रागभावादिसिद्धिविषये विभिन्नेषु न्यायग्रन्थेषु चर्चितम् अस्ति. आविर्भाव-तितोभाव-विषयेऽपि पूर्वेषु चर्चासूत्रेषु महती चर्चा जाता.

इन्द्रियाणां प्राप्यकारित्वविमर्शः कर्तव्यो अस्ति. आधुनिकविज्ञानस्यापि अत्र भिन्नमतम् अस्ति, तदपि पर्यालोचनीयम् अस्ति. परन्तु विस्तरभयात् त्यज्यते.

सर्वेषाम् इन्द्रियाणां प्राप्यकारित्वं हि न्यायमतसिद्धमेव. तत्र घ्राणरसनत्वग्निन्द्रियाणाम् अर्था इन्द्रियपर्यन्तम् उपसर्पन्ति इति अनुभवबलात् सर्वे स्वीक्रियतएव. चक्षु-श्रोत्रेण विषयदेशं गत्वा स्वस्वविषयान् गृह्णाति.

बहिरिन्द्रियद्रव्यप्रत्यक्षे महत्त्वोद्भूतयोः सहकारिनिमित्तत्वम् इति पूर्वप्रतिपादितमेव. आभ्यां सह आलोकसंयोगस्यापि चाक्षुषप्रत्यक्षं प्रति हेतुत्वं नैयायिकैः स्वीकृतम्.

प्रस्थानान्ताकरकारेण आलोकस्य कारणत्वं नैव स्वीकृतम्. यथाच उक्तम् अन्धकारस्य घटादिषु नृचक्षु प्रति मायया तमो जननात् तदेव विषयीक्रियते नतु विषय, तदावृत्तत्वात्. एवञ्च विषयालोकसंयोगस्य सहकारिता न कल्पनीया, अभास्वरद्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति दूरत्वव्यवधानाभावविशिष्टस्य विषयतयैव निर्वाहाद् इति.

अभास्वरद्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति दूरत्वव्यवधानाभावविशिष्टस्य विषयस्य कारणत्वं स्वीकारे अथवा विशेषणविशेष्यभावव्यत्यासे कार्यकारणभाव-द्वयं स्वीकरणीयं तदपेक्षया लाघवात् चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति आलोकसंयोग कारणम् इति एकेव कार्यकारणभाव स्वीकार्यः.

ननु चाक्षुषप्रत्यक्षं प्रति आलोकसंयोगस्य कारणत्वे उलूकबिडालादीनाम् आलोकसंयोगाभावे अन्धकारे प्रत्यक्षं तस्यापि इति चेत्, न, आलोकसंयोगाभावस्य चाक्षुषप्रतिबन्धकत्वम् उपगम्य विडालचक्षुःसंयोगस्य स्वातन्त्र्येण उत्तेजकत्वाभ्युपगमे तादृशः उपपत्त्यभावात्.

अन्येऽपि केचन विषयाः पर्यालोचनीयाः सन्ति परन्तु विस्तरभयाद् अत्रैव विरम्यते.

चर्चा

प्रत्यक्षप्रमाणम्
न्याय - शुद्धाद्वैतवेदान्तमतयो तौलनिक विवेचनम्

डॉ बलिराम शुक्ल

प्रद्योतकुमार : परमाणु रूपसत्त्वे यत् कारणम् उपस्थापितं भवद्भिः
तत्र विप्रतिपत्तिः अस्ति त्रसरेणुरूपं प्रति द्व्यणुकरूपस्य
असमवायिकारणत्वात् द्व्यणुकसामान्यतो अवयवगतरूप अवय-
वीगतरूपं प्रति कारणं भवति परन्तु तत्र द्व्यणुकगतरूपस्य
त्रसरेणुगतरूपं प्रति असमवायिकारणत्वे द्व्यणुकस्य त्रसरेणु प्रति
समवायीकारणत्वम् अपेक्षितम् तद् अस्ति परन्तु "पारिमाण्डल्य-
भिन्नानां कारणत्वम् उदाहृतम्" तत्र का सगतिः ?

बलिराम शुक्ल : तत्र एको नियमो अस्ति परिमाणस्य स्वसमानजातीयोत्कृष्ट-
परिमाणजनकत्वनियमात् न अयं नियमो अत्र रूपविषये कुत्रापि
वर्तते पारिमाण्डल्यविषये एव वर्तते तादृशो नियमः तादृशो
नियमो रूपविषये न कुत्रापि गम्यते दृष्टं तत्र प्रतिबन्धकत्वम्
अस्ति इति कृत्वा तत्र सख्यायां कारणत्वम् अस्माभिः स्वीक्रियते
अत्र किमपि प्रतिबन्धकं नास्ति अतएव मया तद् विशेषणम्
अनुमाने प्रदत्तम् अस्ति

प्रद्योतकुमार : द्व्यणुकस्य त्रसरेणु प्रति समवायीकारणत्वम् असमवायीकारणत्व-
च ?

बलिराम शुक्ल : नहि असमवायिकारणस्य लक्षणं समवायिकारणसमवेत-
त्वम् तत्र भवद्भिः एकं तथ्यं सर्वदा अवगन्तव्यम् तत्र
असमवायिकारणं यद् उच्यते तद् द्व्यणुकं द्रव्यं वर्तते
द्रव्यं तावत् असमवायिकारणं न कुतोऽपि भवति अतो

द्व्यणुकस्य असमवायिकारणत्व वक्तु न शक्यम्

प्रद्योतकुमार : समवायि

बलिराम शुक्ल : समवायिकारणत्वन्तु अस्ति द्व्यणुकस्य समवायिकारणत्वम्

अस्माभि स्वीक्रियतएव

प्रद्योतकुमार : तदपि न सम्भवति

बलिराम शुक्ल : कुत ?

प्रद्योतकुमार : एतस्य समवायिकारणत्व स्वीक्रियते तदा पारिमाण्डल्यस्य कारण

बलिराम शुक्ल : न परिमाणस्य विषये, नतु त्रसरेणुविषये तत्र

एव वक्तु शक्यम् अस्ति यद् अनुद्भूतात् परमाणुरूपात् उद्भूतस्य

अथवा अनुद्भूताद् द्व्यणुकरूपाद् उद्भूतस्य त्रसरेणुरूपस्य

कुत न उत्पत्ति ? तत्र मया समर्थ्यते एतेषा मतम् तत्र

स्वसजातीयत्व कुत्रापि यदि स्वीकृत चेत् चित्ररूपस्य सिद्धि

न भविष्यति अतो विजातीयरूपादपि विजातीयरूपस्य उत्पत्ति

भवितुम् अर्हति अत समर्थनमपि कर्तुं शक्यम् अस्ति

प्रद्योतकुमार : विशेषणज्ञानस्य विशिष्टज्ञान प्रति कारणत्वे कारणतावच्छेदक

किं ? ज्ञानत्वरूपेण कारणत्व किंवा प्रत्यक्षत्वेन ?

बलिराम शुक्ल : तत्र विशेषणज्ञानत्वेनैव कारणता स्वीक्रियते प्रत्यक्षत्वेन

कारणता न भवितुम् अर्हति

+

संगोष्ठ्युत्तरलेखनम्

गो श्या म

नव्यन्यायवैदुष्यावठात्मूर्तिभि श्रीमदधि बलिराम-शुक्लमहाभागौ प्रत्यक्षप्रमाण-
चर्चागोष्ठ्या वाल्लभनव्यन्यायमतयो यत् तौलनिक स्वरूपम् उपपादित

तदगुणाविष्करणाय किमपि लेप्ता "दीपप्रभया दिवाकरावलोकन"न्यायम् अनुसरति
यत् पुन प्रस्थानरत्नाकरकरोत्तरकाले एतयो मतयो विचारविनिमयदोर्भिक्ष्यमिव
किमपि आसीत् तत्र एभि महाभागै अस्या गोष्ठ्या नून स्वकीयया
तौलनिकविवेचनसुवृष्ट्या सर्वथा तद् निवारितम् तेन वाल्ताभवेदान्ताध्ययनशीला
वय सर्वे भृशम् अधमर्णा सज्जाता सच एष परस्परविचारविनिमयप्रवाहो
हि एतावतैव अवरुद्धो मा भूदिति ये केचन सन्देहा मम हृदयाभ्यन्त प्ररोहन्ति
तान् सगोष्ठ्युत्तरलेप्ताने अस्मिन् बहि भावयामि, ननु अविज्ञायेव एतद् यद्
मदीया सशयशकुल्य केनापि नैयायिकपाठीनेन न्यायमतीये ग्रन्थराशयुदन्वति
निगलितपूर्वा सन्ति न वा इति।

तथाहि प्रस्थानरत्नाकरकृद्भि "राजस ज्ञान सविकल्पकमेव तत् पूर्वञ्च
इन्द्रियेषु सात्त्विकम् उत्पद्यते निर्विकल्पकम् एतस्य सविकल्पकात् पूर्वभावेऽपि
न तत्कारणत्वं प्रमाणाभावाद्" इति यद् उक्तं तत् "सविकल्पकज्ञानाकारणत्वे
निर्विकल्पकज्ञानसिद्धे असमीचीन विधानम्" इति शुक्लामहोदया वदन्ति तत्र
ममतु प्रतिविबक्षित निर्विकल्पकज्ञानसिद्धि तावद् भागवद्गीतोक्तज्ञानत्रैविध्यमूलैव
वाल्ताभमते नानुमानिकी इति न्यायमतेषु विशिष्टबुद्धि प्रति विशेषणज्ञानस्य हेतुतया
या निर्विकल्पकज्ञानसिद्धि तत्र तु अय सन्देहो भवत्येव विशिष्टज्ञानहेतुत्वेन
सिसाधयिषित यद् तदव्यवहितपूर्वं विशेषणज्ञानं तत् किं विशेषणत्वप्रकारकविशेषणविष-
यकम् उत विशेषणत्वाप्रकारकविशेषणविषयकम्? आद्ये तादृशस्य विशेषणज्ञानस्य
निर्विकल्पकताभगप्रसंगो विशेषणत्वप्रकारकज्ञानस्य विशेषणविशिष्टविशेष्यविषयकज्ञा-
विना जननासम्भवेन अन्योन्याश्रयदोष च अथ विशेषणत्वाप्रकारकविशेषणविषयकज्ञा-
नस्य कारणत्वाभ्युपगमेतु अनेनैव वा "खले कपोत"न्यायेनापि वा
विशेषणविशिष्टज्ञानस्यापि उत्पत्ति भवत्विति विशेषणविषयकज्ञानकारणकत्वेन तु तस्य
मुधेव नहि धावतो मृगस्य चाक्षुषोपलम्भे अकर्तृकधावनक्रियाज्ञानपूर्वकमेव
तद्विशिष्टस्य धावनक्रियाकर्तु मृगस्य प्रत्यक्ष भवति इति मन्तु युक्तम्

यत् पुन नैयायिकाना मते प्रत्यक्षप्रमाया करण त्रिविधं तत्र
निर्विकल्पकप्रत्यक्षज्ञानस्य करणम् इन्द्रियम्, निर्विकल्पकज्ञानाव्यवहितोत्तरक्षणे

जायमानस्य सविकल्पज्ञानस्य कारणम् इन्द्रियार्थसन्निकर्ष, सविकल्पकज्ञानोत्तरक्षणे जायमानस्य हानोपादानविषयकस्य ज्ञानस्य कारण निर्विकल्पकज्ञान, तद्व्यापार च सविकल्पक ज्ञानम्, इति अत्र इन्द्रियार्थसन्निकर्ष सयोगरूप चेत् तस्य गुणत्वाभ्युपगमेन सयोगस्य पुन द्विनिष्ठत्वेन स सन्निकर्षो अर्थस्य व्यापारो वा इन्द्रियस्य? इत्यत्र विनिगमनाविरहाद् इन्द्रियस्येव तद्गोचरस्य अर्थस्यापि कुतो न कारणत्वम्? अथ एतद्वलेशपरिहाराय क्रियावद्द्रव्यस्य इन्द्रियस्य कारणत्वे आग्निक्रियमाणे इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य व्यापारत्वानुपपत्ति यस्माद् विषयसन्निकर्षजनकेन स्वीयतदाभिमुख्यकरणानुकूलान्तरक्रियावत्त्वेनैव इन्द्रियस्य कारणताया औचित्यात्

तथैव जीवात्मगुणरूपयो निर्विकल्पक-सविकल्पक-ज्ञानयो हानोपादानज्ञान-करणत्व-व्यापारत्वे अभ्युपगते तत्र नामजात्यादिविस्मरणेतु सविकल्पज्ञानोत्पत्ति न शक्येति मध्ये स्मृत्युत्पत्त्यगीकारेतु इन्द्रियार्थसयोग^१ क्षणोत्तरवर्ति^२ क्षणे जायमान यत् निर्विकल्पक ज्ञान तत् तृतीयेस्मिन् स्वस्थिति^३ क्षणे सस्कारम् उद्बोधयेत् तत तेन सस्कारेण चतुर्थे निर्विकल्पकज्ञानध्वस^४ क्षणे स्मृति उत्पद्येत सा च स्मृति स्वस्थितिकालरूपपञ्चम^५ क्षणे सविकल्पकज्ञान जनयितु प्रभवेत् किन्तु उत्क्षेपणन्तु द्वितीय^६ क्षणे जायमानस्य निर्विकल्पकज्ञानस्य ध्वस^७ क्षणरूपमिति न निर्विकल्पज्ञानस्य सविकल्पकज्ञानजनकत्व सम्भवति कुतस्तत्र च तदुत्तर^८ क्षणवर्तिसवि-कल्पकज्ञानरूपव्यापारेण सप्तम^९ क्षणवर्तिनो हानोपादानज्ञानस्य जनकत्वसम्भावनापि।

यत् पुन प्रस्थानरत्नाकरकृद्भि “अन्येतु घ्राणरसनश्रवणानां द्रव्यग्राहकत्वं न इच्छन्ति, तत् न अस्माकं रोचते, तमसि रसनया दुग्धादेः, घ्राणेन चम्पकादेः, श्रवणेन भेषादेः, अनुभवस्य व्याप्तिज्ञानविधुताणामपि दर्शनाद्, अनुव्यवसायविरोधेन स्मृतिरूपत्वस्य तत्र वक्तुम् अशक्यत्वात् च” इति यद् उक्तं तत् शुक्लमहाभागा निराधिकीर्यन्ति सुभिगन्धोपलम्भानन्तरं कस्य अयं गन्धः — चम्पकस्य केतकीपुष्पस्य वा — इति सन्देह एव न स्याद् इति हेतोः अत्र ममतु एव प्रतिभाति — चक्षुषा द्रव्यग्रहणेऽपि यथा मन्दालोके “स्थानु वा पुरुषो वा?” इति सन्देहो भवत्येव तथा स्फीतालोकेऽपि “देवदत्तो यज्ञदत्तो वा?” इति सन्देहोऽपि सक्तानुभूतिसाक्षिक एव, ततोहि द्रव्याग्रहणं तावद् न सन्देहे तन्त्रम्

पूर्वम् अदृष्टवम्पकस्य पुरुषस्य इदमप्रथमतया चम्पकदर्शने गन्धग्रहणात् च पूर्वं
 “कीदृशो अस्य गन्धः स्यात् किं पारिजातस्येव उत केतकस्येव ?” इति जिघ्रासोपलम्भो
 ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्ते अकिञ्चित्करता गमयति सकृत् तदाघ्राणोत्तरन्तु दर्शनमात्रेण
 विशिष्टसौरभवत्त्वप्रत्यभिज्ञानन्तु स्मृत्युपनीतप्रत्यक्षात्मकमपि कुतो न भवितुं शक्यम् ?

तथैव “षड्जादिध्वनिश्रवणानन्तर सामान्यजनस्य ‘वीणायाः पटतन्त्र्या वा
 ध्वनिः अयम् ?’ इति सशयोपलब्धे न ध्वन्युत्पादकद्रव्यप्रत्यक्षम्” इति यद्
 मतं तदपि न बुद्धौ आरोहति तत्र संगीतकवाद्येषु आनन्द-घन-तत-सुपिरजातिभिन्नेषु
 अवान्तरजातीयकयोः वीणा-पटतन्त्र्यादिरूपयोः समानक्वणनजननोपलम्भाद् अवान्तररूपे-
 देषु कतमयोः वाद्ययोः जातः क्वणनम् इदं सन्देहसम्भवेऽपि नहि वीणाक्वणिते
 दुन्दभिघोषभ्रान्तिः कस्यचन शक्यशक्ता तस्मात् तादृक्सन्देहे नादसाजात्यमेव हेतुः
 नतु नादोत्पादकवाद्यग्रहणाग्रहणाभ्याम् कश्चिद् विशेषः तद् उक्तं संगीतरत्नाकरे
 “सा देशकाकुं या रागे भवेद् देशस्वभावतः, शरीरं ‘क्षेत्रम्’ इत्युक्तं प्रतिक्षेत्रं
 निसर्गतं, रागे नानाविधा काकुं क्षेत्रकाकुं इति स्मृता वीणावशादियन्त्रोत्था
 यन्त्रकाकुं सता मता” (संगीतरत्ना ३१२३-२५) इति षड्जादिस्वरतानरागेषु
 देशक्षेत्रयन्त्राणां काकवो या श्रूयन्ते न ता स्वजनकद्रव्यश्रवणरहिता सम्भवन्ति
 नच काकवएव श्रूयन्ते नतु देश क्षेत्र यन्त्रम् अपि इति वाच्यं, तद् एतद्
 नैयायिकैस्तु नैव वक्तव्यं, “देशादिविशिष्टकाकुंज्ञानं विशेषणज्ञानपूर्वकं विशिष्टज्ञानत्वाद्
 ‘दण्डी पुरुषः’ इति ज्ञानवद्” इति समानयोगक्षेमाद्, तच्च निमीलितनेत्रस्य
 जात्यन्धस्य वा काकुग्रहणं यथा श्रवणेन्द्रियेण तथा तदीयदेशादेः ग्रहणन्तु
 ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्त्येव भवतु का हानिः ? वस्तुतस्तु एतादृक्किल्बिषकल्पनापेक्षया
 रसनाघ्राणश्रवणेन्द्रियैः द्रव्यग्रहणापीकारे न कोऽपि क्लेशः नच महाराष्ट्रदेशे
 कर्णाटकदेशीयगायकस्य गानश्रवणे श्रूयमाणायाः देशकाक्वा कर्णाटकदेशस्य
 श्रावणप्रत्यक्षकल्पना क्लिष्टा न चेत् सर्वेऽपि दूरश्रवणसमर्था सज्जाता इति
 वाच्यं, यस्माद् ‘देशकाकुं’ इत्यस्य तत्तद्देशस्थगायककण्ठेन श्रूयमाणा या काकुः
 सैव इति अर्थो नतु भूमिखण्डरूपेण देशेन स्वरदिगानां श्राव्यते इति कल्पनाया
 कारणं किञ्चित्

अथ श्रीवलिराममहाभागा, ‘यत्समानाधिकरणं .’ इत्यादि- व्याप्तिलक्षणज्ञान-

रहिता पश्वादयोऽपि भूयोदर्शनादिहेतुना व्याप्यीभूतेन गन्धेन तद्व्यापकीभूतखाद्याखाद्य-
 द्रव्यानुमिति विधाय अदन्ति, यथाच उच्यते “गाव पश्यन्ति गन्धेन” इति
 प्रतिपादयन्ति तत्र शब्दाभिलाष्यज्ञानरहितानां पश्वादीनां व्याप्तिज्ञान निर्विकल्पक
 सविकल्पक वा आस्थेयम्? तत्र नाद्य, समानयोगक्षेमाद् मनुष्येष्वपि व्याप्तिज्ञानस्य
 निर्विकल्पकत्वं दुर्वारं स्यात् अथ द्वितीय सविकल्पकज्ञान चेत् तच्च
 शब्दाभिलाषसमर्थेषु मनुष्येषु निर्विकल्पकज्ञानोत्तरं नामजात्यादियोजनेन जायमानमपि
 ज्ञान, पश्वादियुतु नामयोजनाया अशक्यत्वेन जात्यादियोजनं शक्यताएव तेन
 तेष्वपि कथञ्चिद् उभयविधं ज्ञानं सम्भवत्येवेति न किमपि वैषम्यम् इति चेद्,
 जितं तदा “लक्षणाधीना तावद् लक्ष्यव्यवस्थिति लक्षणानि च अनुपपन्नानि
 ज्ञाताधिकरणलक्षणनिरूपणद्वारेण चक्रकाद्यापत्ते”, “‘अविशिष्टाद् विशिष्टस्य
 वैशिष्ट्ये यदि धीं विशेषत् तदबुद्धिधाराविश्रान्ति स्याद् वा मूलाविशिष्टता’ इति
 विशिष्टनिर्वासेन सर्वाणि लक्षणानि निरस्तानि इति मन्तव्यम्” इति विकल्पमानेन
 खाण्डनिकेन नहि एवकल्पनया नैयायिकानां मते कश्चन लाभो भविता तथैव
 निविडान्धकारे न केवलं तत्क्रदुग्धयोः किमुत गोमहिषीदुग्धयोरपि स्वादपार्थक्येन
 कण्ठे तत्क्रदुग्धयोः पार्थक्यं गोमहिषीदुग्धयोरपि तात्तम्यं च साक्षाद्रासनप्रत्यक्षगोचरतयैव
 उपलभ्यते अतोहि एभि इन्द्रियैः द्रव्योपबन्धौ न किञ्चिद् बाधकं पश्याम

किञ्च शब्दसमवायिकारणतावच्छेदकतयैव आकाशसिंसाधयिषुणा नैयायिकानां
 कृते आकाशस्य प्रमाणबलेन चक्षुर्ग्राह्यत्वेऽपि प्रमेयबलेन तदग्राह्यत्वं यद्यपि
 अनभिमतमेव तथापि जातिबधिराणां मनुष्याणां, श्रवणेन्द्रियरहितानां नैकप्राणिनां
 च, अवकाशरूपाकाशदर्शनसामर्थ्योपलब्धे तद् अवश्यमीकर्तव्यमेव इति भाति
 प्रत्यक्षेण प्लुतु आकाशोपलब्धे अनमीकारेण तत्र कन्दुकाद्युत्क्षेपण-हस्तप्रसारण-
 गमनादेरपि विरोधप्रसङ्गः, तादृशानां कृते शब्दसमवायिकारणतावच्छेदकतया
 आकाशसिद्धे, भूराग्रे अप्रसक्तत्वेन तथा चेष्टाया अपि अभावप्रसक्ते च वस्तुतस्तु
 अशुतशब्दानां जात्यन्धबधिराणामपि पदन्यासात् पूर्वं यष्टिकान्यासेन क्वचित् तच्चालनेन
 वापि अग्रे स्वचलनानुसूलाकाशोपलब्धे लोके दृश्यमाणतया शब्दसमवायिकारणताव-
 च्छेदकतयातु आकाशो अन्यथासिद्धएव

प्रस्थानरत्नामृतकारकृद्भिः सामान्ययोगजमायालक्षणका प्रत्यासत्तयः प्रतिपादि-

ता तत्र शुक्लमहाभागास्तु स्वविषयविषयकप्रत्यक्षजनको ज्ञानविशेषत्वेन ज्ञानलक्षणसन्निकर्षं प्रत्यापादयन्ति, “सुरभि चन्दनम्” इति प्रत्यक्षे सौरभत्वस्य भान ज्ञानलक्षणया भवति इति हेतुना तत्र इदानीम् अकृत्रिमेभ्य पुण्येभ्यो निशेषजलाशनिं साणेन तद्वर्णाकृत्यो कृत्रिमा अग्लास्तुता सम्पाद्यते इति तथाभावितेषु गन्धरहितेषु चम्पकपारिजातपद्मादिपुण्येष्वपि ज्ञानलक्षणया प्रत्यासत्त्या जायमाना या गन्धानुभूति तस्या भ्रान्तिवसाधक किं भवेत्? पुष्पाणि खलु ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्त्या गृहीतानि अकृत्रिमाण्येव सुरभिराहित्यन्तु पुन तत्र कृत्रिममेवेति व्यभिचारदर्शनात् ननु उक्त नैयायिकानां मते रज्जुसर्पादिभ्रमे सर्पत्वादिभि चक्षुसन्निकर्षाभावाद् सर्पत्वादिज्ञानमपि ज्ञानलक्षणयैव भवतीति किम् अत्र पर्यनुयोगार्हम्? भ्रमभातविषयाणां ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्त्या प्रत्यक्षज्ञानविषयतागीकारे बाधकज्ञाननिर्वचनानुपपत्ते पर्यनुयोगार्ह-त्वम् इति वदाम

तथाहि ॥ लौकिकसन्निकर्षेण चक्षुर्ग्राह्यस्य रज्ज्वादे सर्पादिस्मरणरूपराहकारि-कारणसचिवो यो ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्तिरूप सर्पादिभि सन्निकर्षं तदभास्य च यद् पुरोवस्थितापुरोवस्थितयो तादात्म्यं किं तस्य निषेधो “नाय सर्पो रज्जुरियम्” इत्येतादृशेन बाधज्ञानेन भवति? तत्रापि ॥ १ सर्पादिप्रतियोगिक-पुरोवस्थितेदमास्पदानुयोगिक तादात्म्यम् उत ॥ २ इदमास्पदप्रतियोगिक-सर्पाद्यनुयोगिकतादात्म्यम् इत्यपि विवेचनीयम् आहोस्विद् ॥ चक्षुषो लौकिकसन्निकर्षेण गृहीत यद् इदमास्पदम् तद् उद्दिश्य ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्त्यागृहीतस्य सर्पत्वादे समवायनिषेधो वा बाधज्ञानेन भवति? अथवा ॥ अन्यत्रावस्थित ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्त्या गृहीत सर्पादिकम् उद्दिश्य तत्र लौकिकसन्निकर्षेण गृहीताया पुरोवस्थितवस्तुगताया इन्दताया निषेधो बाधज्ञानेन भवति?

तत्र न ॥ १ आद्याद्य, अलौकिकसन्निकर्षेण चक्षुषा उपलब्धस्य तादात्म्यप्रतियोगिनं सर्पदि स्वदेशकालस्थत्ववैधुर्येण भाने मानाभावेन अथ तद्भावे च पुरोवस्थितयो देशकालयो भानप्रसक्त्ये अभावादेव न प्रतिषेधसम्भानापि अन्यथा स्वदेशकालस्थत्ववैधुर्येण सर्पदि भानागीकारे प्रत्यक्षत्वानुपपत्त्या भ्रान्तिगोचरेन्दताया अपि अप्रसक्तो स्मृतिरूपबोधापत्तिरेव भवित्रीति न तच्चाक्षुषता

न ^१ आद्यद्वितीय, लौकिकेन अलौकिकेन वा सन्निकर्षेण चक्षुःसन्निकृष्टे वस्तुनि इदकाद्यस्पदतानिषेधस्य स्वतोव्याघाताद् “इदमस्तु सन्निकृष्टे” इति नियमेन तत्र पुरोवस्थितेन्दतानिषेधस्यापि अनुपपन्नत्वात्

न ^२ द्वितीय, समवायरूपपदार्थान्तराणीकर्तृभ्यो नैयायिकव्यतिरिक्तस्य कस्यचन सामान्यजनस्य रज्जुसर्पादिभ्रमे ‘इदमास्पदे वस्तुनि समवायसम्बन्धेन सर्पत्वादधिर्मानस्य अप्रसक्तत्वेन बाधशने तन्निषेधस्यापि सुतराम् अनुपपन्नत्वादेव

न ^३ तृतीय, आद्यद्वितीयकल्पीयया ^१ अनुपपत्त्येन दत्तोत्तरत्वात्

अपिच प्रस्थानरत्नाकरकाटि मायिकसन्निकर्षप्रमापकं यद् “ऋते अर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत च आत्मनि तद् विद्याद् आत्मनो मायाम्” (भाग.पुरा २।१।३५) इति भागवतवचनम् उदाहृत, तत्र ‘माया’शब्दो “शब्दज्ञानानुपातिवस्तुशून्यो विकल्प” इत्येवरूपस्य मानसभ्रमस्य द्योतकः इति शुक्लमहाभागा अभिप्रयन्ति वस्तुतस्तु अनालोचितपूर्वापसन्दर्भे अस्मिन् वचने एतादृशी अभिप्रायभ्रान्ति न न स्वाभाविकी वचनस्य पूर्वससन्दर्भालोचनेन—

ब्रह्मा उवाच

“यथा आत्ममायायोगेन नानाशक्त्युपपृहितं विलुम्बन् विसृजन्
गृह्णन् विभ्रद् आत्मानम् आत्मना क्रीडसि अपोघसकल्प ऊणनाभि-
यथा ऊणुते तथा तद्विषया धेहि मनीषा मयि ”

श्रीभगवान् उवाच

“ अहमेव आसमेव अग्रे, न अन्यत् सदस्तत् परं, पश्चाद्
अहं यद् एतत् य, यो अपशिष्येत सो अस्मि अहम् ऋते
अर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत च आत्मनि तद् विद्याद् आत्मनो
माया यथा आभासो यथा तपः ”

(भाग.पुरा २।१।२६-३३)

इति एतेन पूर्वससन्दर्भस्यालोचनेन इह ‘माया’शब्दस्य मानसभ्रमवाचकत्व

नैव सम्भवति, निजात्मना नानाशक्त्युपबृंहितस्य निजात्मानं सृष्ट्युत्पत्तिस्थित्युपसंहृति-
कारिणीमायाविषयकजिज्ञासायां हि तदभिज्ञापकं वचनम् इदम्. तस्मात्
सृष्ट्युत्पत्तिस्थित्युपसंहृतिरूपकालत्रयेऽपि भगवद्व्यतिरिक्तस्य पदार्थस्य अभावादेव
भगवद्रूपम् अर्थं ऋते, अभगवद्रूपतया प्रतिभासमानम् इति यावत्, यद्
द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावादिकं किमपि प्रतीयेत तद् नानाशक्त्युपबृंहिते
सर्वाविभासके भगवद्रूपदर्पणे आभासवत् प्रतीयमानं ज्ञेयम्. अथ द्रव्यगुणकर्मसामान्यसम-
वायाभावादपदार्थेषु यद् भगवदुपादानकतया भगवन्नामरूपकर्मात्मकता न प्रतीयते
तत् परमतेजोरूपभगवदनुभवाभावे प्रतीयमानं तमोवदेव ज्ञेयम्. तस्माद् आत्मनो
नाम भगवतो नानाशक्तिरूपाः स्वस्य सर्वभवनसामर्थ्यरूपा माया, स्वांशाना च
व्यामोहिका रूपा माया, इत्यस्यैव अर्थस्य स्वासिकतया लाभः. तदेतद् उपबृंहित
श्रीमदुदयनाचार्यैरपि “इति एषा सहकारिशक्तिः असमा माया दुरुन्नीतितो, मूलत्वात्
प्रकृतिः, प्रबोधभयतो ‘अविद्या’ इति यस्य उदिता” (न्या.कु. १।२०) इत्यत्र.
नापि इह उदाहरणत्वेन निर्दिष्टे आभासतमसी न्यायमतेऽपि मानसभ्रमतया अभ्युपगते.

सर्वम् एतद् हृद्यन्तस्थसशयाविष्करणं न्यायवाल्मीकेदान्तयो मिथो
विचारविनिमयप्रवाहं सततं समभिवर्धतु इति सगोष्ठ्युत्तरलेखने मम अभिलषितप्रयोजन-
कम्. तदनुकूलपूर्वपक्षोपस्थापनेन तत्र भवद्भिः श्रीवलिरामशुक्लमहाभागे नूनं बहूपकृतम्
अस्मासु इति पुनः पुनः निजकार्त्तत्रयं द्योतयन् विरामि विस्तरात्



Jain Theory of Perception

Dr. B. K. Dalai

Jainas like other system of Indian philosophy have accepted perception as the first and most Prāmāṇa. It is a fact that all systems of Indian philosophy including Carvākas have accepted this and have discussed in their respective texts. Our concern, in the present paper, however is to present an analysis of the treatment of Perception in Jain philosophy. The discussion has to be attempted at two different levels. The treatment at the early period on the basis of Āgamic literature and the treatment based on more advanced texts of logical period beginning from Siddhasena Divakara and Akalaṅka etc.

In Jainism the knowledge is classified into two main heads Pratyakṣa and Parokṣa. Pratyakṣa of Āgamic period is treated as Mukhya Pratyakṣa or Pāramārthika Pratyakṣa and the sensory Pratyakṣa and the sensory Pratyakṣa which were treated as Parokṣa in the Āgamic period are taken as Vyāvahārika pratyakṣa.

To start with, we will discuss first the treatment of Pratyakṣa from Āgamic period and then go to see what happened in later period. It is the self only by which one can perceive

an object in its true nature and with all qualities. Therefore, they define Perception as knowledge derived by the self. They call it Pratyaksa or direct knowledge as it is produced in the self and by the self. They point out that knowledge caused by the sense organ is not direct (Paroksa).

According to the Jaina doctrine knowledge is of five kinds

- 1 Mati
- 2 Sruta
- 3 Avadhi
- 4 Manahparyaya
- 5 Kevala

There is false knowledge of Mati. Sruti, Avadhi and the total number of knowledge recognized in Jainism is eight. (8) In Tatvartha Sutra of Umasvati, Mati, Sruti have been described as Paroksa. Pramana and Avadhi etc. are Pratyaksa. The distinction between Pratyaksa and Paroksa is that in case of the former, the soul gets a clear knowledge of an object without depending upon any other knowledge, while in the latter, the cognition is not clear by itself, but has to depend upon some other kind of knowledge.

In most of the texts of Jaina Logic, knowledge is stated to be of two kinds Pratyaksa and Paroksa. It is significant to note that except in Jaina Nyaya, nowhere do we find

that knowledge derived from the senses being called Paroksa

It is Akalanādeva who, for the first time attempted to reconcile this in the following way. He divided Pramāna into two namely, Pratyakṣa and Parokṣa. But instead of dividing Pratyakṣa into 'Sakalā' and 'Vikalā' as is done in early period, he laid down hitherto two unknown divisions namely, Sāmvyāvahārika and Mukhya Pratyakṣa²

He further lay down that Matī jñāna derived through senses and mind is not Parokṣa but Pratyakṣa³

As Matī was recognized as Sāmvyāvahārika Pratyakṣa, its correlated Smṛti, Samjñā, Cīnta and Abhinibodha as mentioned by Umasvatī also come under the same head. A further distinction was made that he divided Sāmvyāvahārika Pratyakṣa into two Indriya Pratyakṣa and no Indriya Pratyakṣa / Anindriya Pratyakṣa⁴

Under Indriya Pratyakṣa was included Matī where as Smṛti, Cīntā, Samjñā and Abhinibodha were included under Anindriya Pratyakṣa as mind is prevailed in those four Indriya Pratyakṣa or Sāmvyāvahārika or Matī is divided into four categories or kinds. Sometimes they are called as fourfold of steps of Sāmvyāvahārika Pratyakṣa. They are Avagraha, Īhā, Avāya and Dhāraṇā. Nandī Sūtra (N S 27), clearly states Suyamssiyam Cauviham Pannattam, Tam jaha uggaho, Īhā, Avāya, Dhāraṇā. Ācārya Guṇabhadra, too, refers to these

four as Maichaukkam in his Vis Bha (G 169) Umāsvaī (in Ts and Bh), and others too enumerate these as four varieties of perception, although four stages in progression of this knowledge. But whether varieties of stages, their nonenumeration in 'Thana' is a problem and its commentator Abhayadeva tries to overcome this by adding thereon "ईहादयोऽपि श्रुतिनिमित्तैव, न तुष्ट, द्विष्टानुदोधात्" I.e. Iha, Avaya and Aharana too are implied to be included under Srutanistrīta, yet they are not enumerated here due to adherence to the principle of dichotomy throughout this section.

Let us now see the nature of the four we get the following picture from Thana 'Arthavagraha' means what is obtained or what is sought, and the very first apprehension of its form etc in its generality without reference to its particulars, is called "परिणाम प्रतिपद्यते अर्थस्य द्रव्यपर्यायात्मनो अर्थकृत्यक्षमस्य गूढण सयुगार्थनिर्णयो न पुन अविकल्पक दर्शनमात्रम् अवग्रह" Thus Hemacandra categorically denies the nature of the indeterminate cognition in Avagraha.

The reason for this, although not given immediately, can be gathered from his refutation of the Hindu and Buddhist logistic concept about sense perception. He clearly states there in. We find day to day behavior (Vyavahara) being carried out on the basis of determinate cognition. Hence it is better to accord the status of a valid means of knowledge to that itself, why then should it be granted to the earlier indeterminate cognition too which must operate though the

determinate state alone

It is clear from this that while viewing sense perception and its stages Hemachandra was more concerned about their validity i. e. epistemic value based on the test of empirical utility. This alone can explain the concurrence of not only the above two, but also even of Vidyānandi and Vāḍidevasūri etc.

On the Āgamic interpretation of Avagraha also on bringing sense perception into the category of direct knowledge (Pratyakṣa) by adding to it the qualification 'empirical' (Samvyavahārika) and Paramārthika or Mūhya (transcendental or main) cognition regarded as Pratyakṣa by Jāma from time immemorial.

Such attempts point to their desire to synthesize Jāma tenets with the logic and epistemology of Hindus and Buddhists as much as possible, so as to be able to clearly explain and to defend these, as and when sought to be refuted by these outsiders but such attempts did often land them into difficulties and the case of Avagraha is one such, to be sure.

For, the Āgamas and Āgamic thinkers had viewed sense perception first from the metaphysical and then from the logico psychic view point, as a process consisting of four progressive stages from vague awareness of the stimulus and

the object (Avagraha), through curiosity and speculation about its details characteristics of Īhā to Avāya Elimination of other possibilities by resorting to criteria for distinguishing it from other objects and the final perceptual judgment and last but not the least, Dhāranā (retention) of that judgment for record and for future reference, in the four residual mental impressions Arthāvagraha Hence, it is the mere object awareness Vyañjanāvagraha is even earlier than that, 'mere contact awareness'

Almost the same explanation (and lack of the definition of the term Avagraha) is enumerated by in NS 27, Vis Bh G 193, TS115,17 18 etc This is probably hinted at by the Tika through introduction of the phrase at a moment immediately after Vyañjanaavagraha'

His other classifications, namely that Arthāvagraha is a momentary awareness, still bereft of a clear idea of distinctive features (Svarupakalpana) of an association of which concepts such as a name (Nāmādikalpanā etc), are repeated by Vis.Bh 251-2 (Sanmāṭṭa aniddesaṃ svarupa namaṃ kalpana raḥjaṃ etc), which adds an argument that association with a name and such other concepts as in the example "This is a sound" requires discursive thought and determination which cannot be developed in a single moment/instant That Arthāvagraha endures and are possible only in Īhā, and in the third state of sense perception

However, quite contrary to this view of traditionalists

including Umasvāu, the Digambara, Ācārya Pūjyapāda, Devanandi, very categorically state that it is vyanjanāvagraha that is distinct and vague, Arthavagraha differs from it in being distinct and determinate. And Pūjyapada is not without company in parting with the Jaina Āgamic view in this regard. The same stand is taken by most of the Jaina logicians who came after him, whether they belong to 'Digambaras or Svetambaras' tradition. Thus Akalaṅka in Laghīyastraya 15 (अक्षर्ययोगे सत्तालोकार्थकारविकल्पधी अवग्रह) and his auto commentary thereon explains upon contact between a sense organ and its objective datum, there occurs intuitive apprehension of the bare existence thereof (सन्मात्रदर्शनम्) which can be defined (merely) as the potential capacity to comprehend. The sense Datum (अर्थग्रहणयोग्यतालक्षण) and which undergoes transformation (परिणाम प्रतिपाद्यता) into a cognition immediately afterwards (Tadantarabhutam), characterized by well organized determination of its own object (स्वविषयव्यवस्थापलक्षणम्) with reference to distinctive features is called Avagraha. Similar is the definition of Acarya Hemachandra "अक्षर्ययोगे दर्शनान्तरम् अर्थग्रह (Prāmaṇya 1.1.26) and then the explanation in his auto commentary "दर्शनम् अनुल्लिखितविषयस्य वस्तुन प्रतिपत्ति दर्शनमेव उत्तरम् '.

While granting sanction to this four fold traditional divisions of sense perception however, the Jaina logicians could not lose sight of the rigorous epistemic criteria to be applied for shifting valid cognition from one's Āgama based epistemology, Therefore what all they could do was to interpret

Avagraha etc , in such terms as would render it a valid cognition, hence their explanation of it as determinate knowledge of sense data

However, this stand raised the following question, Avagraha, even according to Jaina logicians is admittedly the first stage of empirical perception, to be followed by three more stages, and desire or expectations to know details of specific characteristics of the sense datum of Avagraha (तद्विशेषकक्षणम्) is unanimously accepted as nature and scope of the second stage, namely, Īhā As, such determinate cognition about an object to exclude all other opinions should occur after Īhā, in the third stage called Avāya If all this is to occur in the first stage itself, then what will be the significance of sequential perceptual stages? Surely, Jaina logicians had realized this problem and they even have tried and solved it in their own way Thus commenting on Pramāna Mīmāṃsā II 27 Hemachandra explains in regard to the object cognized determinably as "This is a sound" In the period before the advent of the stage, there arises in the perceiver's mind a doubt of this nature It is a sound emanating 'from a conch or one from a horn? This doubt is immediately followed by a desire or urge to verify which of the two alternatives is correct Hence, his wish to grasp further specific details about the datum, and for that, he strives to deliberate on the points of aspects in which distinctive features as of the said Datum agree or disagree, with each of the alternatives foreseen as being probably present there This striving, he

tells us, is called Īhā

And accordingly, the third stage viz , Avāya as defined by him as the determination of the specific characteristic regarding the object of Īhā as illustrated by the proposition 'the sound must be of the conch and not of the horn'

Now, this explanation of the first three stages of sense perception, although differing from the traditional one, does not seem unreasonable either And that lead us into dilemma namely, which of these two standpoints should be accepted as the more correct one ?

The answer or the solution to it can only be relative or qualified one, depending on our angle of looking at sense perception If we be interested in it from the logical and epistemic stand, then we shall automatically favor the explanation given by the Jaina logicians and care little about indeterminate cognition of an object, since that has no bearing upon practical activity which can prove it valid or invalid Nevertheless, while doing so, we cannot, and should not lose sight of the fact that, this is merely the explanation given by a group of Jaina scholars, where as another equally well known and venerated group consisting of great names like Umasvati, Siddhasena gami, Jinabhadra gami, etc had promulgated a different explanation of this stages, especially a diametrically opposite one as regards the first stage called Avagraha

We cannot dismiss these opposite trends as strictly earlier vs. later developments in terms of chronology. For, although rigorous logistic analysis was a development that began in Jainism relatively later than the Āgamas especially for the purpose of standing of with confidence in later system debates and defending the tenets of Jainism against rigorous dialectical attacks from the outsiders, yet not all great thinkers of later dates tended to give up the Āgamic line of thought altogether and switch over to pure logistic interpretations there of.

Moreover, one may argue here saying even the logicians had not rejected the old canons altogether. While differing from them on the point of general classification of knowledge types, they did not discard it totally in favor of the Buddhist or Brāhmanic view of these either. Rather, they try to synthesize the two standpoints in the best possible manner. Similarly, as regard to particular type of cognition called empirical sense perception too, they were probably attempting a similar synthesis. At the back of their mind, they had the determinate vis a-vis indeterminate division of perception made by the Nyāya-Vaiśeṣika thinkers, of which the first, because of its very nature of indistinct and vague, could not qualify as valid knowledge as epistemic point of view. All the same, they were anxious to demonstrate that Jaina āgamas were dealing only with the valid stages of sense perception, which were epistemologically quite relevant.

That alone can explain why the Vyāñjanāvagraha,

tells us, is called Īhā

And accordingly, the third stage viz , Avāya as defined by him as the determination of the specific characteristic regarding the object of Īhā as illustrated by the proposition 'the sound must be of the conch and not of the horn'

Now, this explanation of the first three stages of sense perception, although differing from the traditional one, does not seem unreasonable either. And that leads us into a dilemma namely, which of these two standpoints should be accepted as the more correct one?

The answer or the solution to it can only be relative or qualified one, depending on our angle of looking at sense perception. If we be interested in it from the logical and epistemic stand, then we shall automatically favor the explanation given by the Jaina logicians and care little about indeterminate cognition of an object, since that has no bearing upon practical activity which can prove it valid or invalid. Nevertheless, while doing so, we cannot, and should not lose sight of the fact that, this is merely the explanation given by a group of Jaina scholars, whereas another equally well known and venerated group consisting of great names like Umasvati, Siddhasena gani, Jinabhadra gani, etc had promulgated a different explanation of these stages, especially a diametrically opposite one as regards the first stage called Avagraha

most of the time

Now, the cognition, namely, this is a sound' is *agrahalapāya* for Jaina Āgamic thinkers, but when followed a further *īhā* for knowing more details about the object concerned and a more detailed *Avāya* too, that first *Avāya* must at least theoretically be termed an *Avagraha* at that later moment, following the sequence of four stages given by the Āgamas themselves

This observation brings home an important fact viz. 'that indeterminate' and determinate are relative terms. A cognition appearing determinate in relation to an earlier one, which was somewhat vague or general in nature, may itself appear later on probably in the very moments of its production to perceive rather generic characteristics of an object, which we now desire to know in more detail

We can say that Āgamic thinkers were in their own way insisting that (*Artha*) *Avagraha* had to be 'indeterminate cognition' in a relative sense, for, only then could there be any justification for an *īhā* arising in regard to it

The problem is that none of them thought in this direction or at least expressed in this way while dealing with the definition of *Avagraha* or its relation with the ensuing state in TS I 15 and commentaries thereon or in Vis Bh 121 269

On the contrary, Vis Bh 252 insists on the determinate

Arthavagraha dichotomy was quietly overlooked or side tracked by them and even the name of Vyāñjanāvagraha, replaced by Darśan (Matra) Then, taking Avagraha to imply merely Arthavagraha, they interpreted it as 'determinate cognition' and the later three stages of sense perception to suit that one

With this it has been made clear the real reason for the difference of opinion among Jain Ācāryas on the interpretation of Avagraha and other ensuing stages of sense perception

As to the question how opposite views about Avagraha could be legitimately derived from one and the same Āgamic text, the clue lies in the nature and definition of the second stage Īhā Following Umasvatī and other Āgamic thinkers, this could signify the desire to know more details about the vague intermediate cognition in the form of "this is something", and that seems quite legitimate, judging from introspection of our own psychological experience, although this happens more when the perceiver is a young child or even if an adult, who is still perceiving a hitherto unperceived object for the first time in life

All the same, it is not improbable that even a 'determinate cognition' in the shape of "this is a sound", may be followed up by a desire to know more details about that object In actual fact, this keeps happening in the minds of intelligents

even most of the time

Now, the cognition, namely, this is a sound' is Avagrahalapāya for Jaina Āgamic thinkers, but when followed by a further Īhā for knowing more details about the object concerned and a more detailed Avāya too, that first Avāya must at least theoretically be termed an Avagraha at that later moment, following the sequence of four stages given by the Āgamas themselves

This observation brings home an important fact viz , 'that indeterminate' and determinate are relative terms. A cognition appearing determinate in relation to an earlier one, which was somewhat vague or general in nature, may itself appear later on probably in the very moments of its production to perceive rather generic characteristics of an object, which we now desire to know in more detail

We can say that Āgamic thinkers were in their own way insisting that (Artha) Avagraha had to be 'indeterminate cognition' in a relative sense, for, only then could there be any justification for an Īhā arising in regard to it

The problem is that none of them thought in this direction or at least expressed in this way while dealing with the definition of Avagraha or its relation with the ensuing state in TS I 15 and commentaries thereon or in Vis Bh 121 269

On the contrary, Vis Bh 252 insists on the determinate

nature thereof, clearly stating, that the cognition of an object as 'sound' would not be Arthāvagraha but Avāya, because the former lasts for only one instant (Samaya), a time span not enough for comprehending an object determinately, to the exclusion of every other object. Moreover, if "this is a sound" is regarded as insufficient information, hence vague enough to be called Avagraha and followed of by Īhā etc., then even further detailed cognition will gratify for the nomenclature Avagraha.

Now, all these types can be easily possible for the Avāya stage, as that is of a determinate nature for all Jains, (indeterminacy therein can be explained away as being relatively so), but they obviously contradict this concept of Avagraha. So, to overcome this difficulty, Gunabhadra in Vis BH 282-3 says. Thus first Arthagraha which lasts for just an instant and comprises only the generalities in an indeterminate way, is the Avagraha per se, in absolute terms (Naiscayika). But after that and after Īhā and hence be called Avagraha metaphorically, since in relation to further details (Eṣyaviśeṣa) the particulars cognized by it appears to be rather general.

We may not be unjustified in extending their restricted idea of absolute VS metaphorical Avagraha to the general empirical sphere as well, which includes epistemology.

Thus, we can now with confidence and with Āgamic thinkers themselves, hold that Avagraha is always 'indetermina-

to cognition' provided we remember that this 'indeterminacy' is real and absolute only in case of the very first sensation of an unknown object. In all other events, it is metaphorical or transferred indeterminacy, due to determinate cognition of an earlier moment appearing as 'relatively indeterminate' when a desire to learn more about the object arises.

And this view even convinces us of the legitimacy of Jaina logicians' interpretation of Avagraha as 'determinate cognition' from the epistemic standpoint. One only wishes they had cared to admit that this was true of the Avagraha in relation to an Īhā for further details, and that, in absolute terms, an Avagraha had to be an 'indeterminate cognition'.

Akalaṅka in his Nyāya vinīścaya defines perception thus "perception is the knowledge, which is self-revealing and which reveals the object as substance and as mode, as universal and as particular and which is determinate or conceptual and which is essentially clear". The commentator Vādirāja in his Nyayavinīścaya Vivaraṇa explains this definition. He explains all these qualifications one by one and we present here his explanations of Akalaṅka's definition of Pratyakṣa.

Pratyakṣa is the knowledge which is self-revealing. If knowledge were not self-revealing it could not reveal its object. Therefore, Akalaṅka uses the adjective 'self-revealing' (Ātmanavedanam) for perception.

The next adjective is that 'which' reveals the object.

(Artha) Perception like all knowledge reveals its object. But the object of perception is Dravya Pratyakṣa i.e. perception reveals its object with the aspects of substance and mode.

To explain The object gold is revealed in perception, Perception not only reveals the object as substance (Dravya) 'gold' but also it apprehends the gold with its modes (Paryāya), for, the gold may have the form of a ring or of a chain. According to Jñāna, every object is the combination of substance and modes, substance is the permanent entity while modes are changing. Again, the object of perception possesses the universal and particular properties (Samānya viśeṣa). According to the Jñāna, every object is सामान्यविशेषात्मक i.e. every object has the universal and particular properties. For example, cow-ness is the universal property and 'black' or 'white' is particular property of a cow. Similarity amongst the objects is due to their universal properties and their differences are due to particular properties. Thus, every object is Dravya Paryāyātmaka and Samānya viśeṣatmaka, and perception is the knowledge, which apprehends such an object.

Again, Akalanka holds that perception is Sakāra jñāna. He gives these adjectives in the sense of perceptual knowledge. Perception is Sakāra or conceptual in the sense that it has the power to manifest the object through concepts, it is not merely the pure sensation of unique individuals.

Thus, perception manifests the object with all its qualities

When Akalaṅka defines knowledge as Sākāra, he means it 'Savikalpaka' or conceptual perception that perception is clear (viśada) knowledge

The word 'Añjasā' may be explained, either as quality of being Viśada or as quality of being Sākāra. The commentator Vādirāja explains it in both ways. In the first case, it would mean that clarity is its essential quality. That is perception is a clear knowledge by its own nature (Añjasā) or, knowledge is 'Añjasā' i.e. Sākāratva is the essential quality of knowledge.

As stated earlier, Akalaṅka defines perception as knowledge which reveals itself and the object as substance and mode, the knowledge is essentially Sākāra or conceptual and is also essentially clear or direct knowledge. It is significant to note that all the qualifications recorded by Akalaṅka are applicable to knowledge in general and not Pratyakṣa alone. All knowledge whether perceptual (Pratyakṣa) or non perceptual is self revealing, object revealing and conceptual. But the adjectives Viśada and Añjasas are used only for the Pratyakṣa. All knowledge is not clear essentially, only perception is clear, for it is not based on other knowledge, whereas other knowledge like inference and verbal knowledge are dependent on some other knowledge. Here, the definition of perception as "ज्ञानाकरणक ज्ञान प्रत्यक्षम्" may be compared with Akalaṅka's definition of Pratyakṣa as clear knowledge. Both define perception as a knowledge, which is not brought about by the instrumentality of any other knowledge.

Akalanka after defining Pratyaksa has classified Pratyaksa into two Namely Mukhya and Sāmvyāvahārika⁵ In this context he has refuted the definition of perception given by the Buddhists, the Naiyāyikas, the Sāṅkhyas and others He classifies Sāmvyāvahārika in to two namely, Indriya and Anindriya⁶. Then he goes on explaining the types or stages of Sāmvyāvahārika pratyksa In two Kārikās he has defined the four stages of Sāmvyāvahārika Pratyaksa namely: 1 Avagraha 2 Īhā 3 avāya and 4 Dhāraṇā⁷ He defines Avagraha as the first cognition after the contact of Indriya with object In this context he talks of nature of reality as to be द्रव्यपर्यायात्मकम्. Explaining 'Avagraha' he comments. "तदनन्तरम् उत्तरं सन्मात्रदर्शनि ... अवग्रहः" Thus it is clear that according to Akalanka there is the knowledge of mere being (सन्मात्रदर्शनिम्)⁸ This is followed by a desire to know more about that mere being⁹ When the object is known, preceded by Īhā, is Avāya Akalanka does not explain more about either Avagraha or Īhā Unlike elsewhere, he even does not try to reconcile or make a reference to the two types of Avagraha which we have already discussed

As to question namely, whether Avagraha is distinct and different from Īhā he writes "कथञ्चित् प्रभेदेऽपि परिणामविशेषाद् भेदः"¹⁰. Thus it appears that though the object remains same due to the distinction at the level of cognition, Avagraha has to be accepted as distinct from Īhā

After Īhā Akalanka defines Dhāraṇā : "धारणा स्मृतिहेतुः

. स्मृतिहेतुः धारणा सस्कारः इति यावत्” Thus Dhāraṇā, i.e. retention is the cause of remembrance in future and this stage of Dhāraṇa, which is the last stage in the process of Samvyavahārika Pratyakṣa, the knowledge acquired at the stage of Avāya is permanently retained, which is remembered at the future time. Now, the question is whether Īhā and Dhāraṇā should be accepted as different knowledge. Practically as we can say there is no further addition in the context of the knowledge after Avāya. Īhā is a mere desire to know more about the object cognized in Avagraha. Thus one may doubt the validity of treating “ईहा धारणायापि ज्ञानात्मकम् उच्यते, तदुपयोगविशेषात्” Hence, it may be concluded that all the four beginning from Avagraha should be treated as Pramāṇa.

Mukhya pratyakṣa / Pāramārthika Pratyakṣa:

Now we present an analysis of Mukhya Pratyakṣa (मुख्यप्रत्यक्ष) as discussed by Jamas. It may be recorded that Mukhya Pratyakṣa is called and treated as Pratyakṣa in Āgama literature and is different conceptually from the Pratyakṣa as defined by other systems of Indian Philosophy.

The meaning of Mukhya Pratyakṣa:

The word ‘Mukhya’ ‘Pradhāna’ i.e. superior in comparison to rest of the knowledge. It is already stated that in Āgamic literature, there is nothing called Mukhya or Gauna pratyakṣa. It is only Pratyakṣa and is defined as the direct knowledge in the sense that it arises in the self without the instrumentality of sense organs and mind. It arises when the obstruction

of the karmas is destroyed. Since word Mukhya means superior, therefore Mukhya Pratyakṣa is defined as superior knowledge. The Jñāna believes that Mukhya Pratyakṣa is of three types: 1. Avadhī, 2. Manahparyāya and 3. Kevala. These are the direct knowledge by the self itself and are not based on the instrumentality of the sense organs and mind.

The Kevala or omniscience occurs when there is complete destruction of the veil and when it is not complete, the two varieties, the Avadhī and the Manahparyāya, appear.

Definition of Mukhya Pratyakṣa:

The Mukhya Pratyakṣa is defined in different ways by different Jñāna philosophers, although essentially they do not vary much.

Pratyakṣa is the knowledge which arises immediately in the self without the help of sense organs. 'Akṣa' means the self, and the knowledge derived from the self directly is called Pratyakṣa. Parokṣa is the knowledge, which is not direct to the self but is derived with the help of sense organs.

Parokṣa is of two types: 1. Mati and 2. Śruti. All the systems of Indian philosophy accept as Pratyakṣa as sensuous knowledge derived from the sense organs. Vāṇīdeva defines it thus: "the Paramārthika Pratyakṣa arises in the self without any intermediation." Māṇikyananda and Hemachandra also define

it as a perfect knowledge arising in the self without the instrumentality of the sense organs. Now, we explain Maṇikyanandi's definition of the Mukhya Pratyakṣa

Maṇikyanandi defines Mukhya Pratyakṣa thus "Mukhya is that clear, non-sensuous and infinite knowledge of which all veils are removed by special conditions"¹¹

The question may be asked as to what is the speciality of such infinite knowledge. The commentator Prabhācandra replies that it arises when all the veils of Karmas are removed completely under special conditions (Sāmagrīviśeṣa). Right faith (Samyakdarśana) is the internal condition while space, time etc. are the external conditions when all these conditions are favourable, the karmas are removed completely and there arises the Mukhya Pratyakṣa. Prabhācandra explains Mukhya Pratyakṣa with the help of an inference "wherever there is true and clear knowledge, there is the destruction of all veils, just as in the case of perception of trees etc. which were being enclosed by clouds or mist"¹². Mukhya Pratyakṣa is clear and right knowledge. It is non-sensuous (Atindriya) i.e. does not depend on mind and the sense organs, so it is perfect and infinite. Whatever is not non-sensuous does not possess the adjective 'is' independent of the mind and the senses. Just as our ordinary sensuous knowledge, which is caused by the sense organs and the mind. Thus the Mukhya is that Pratyakṣa which is non-sensuous infinite, whatever is not of this kind, is not Mukhya, just as our sensuous

non-sensuous and they all arise in the self directly, yet the Deśapratyakṣa are partial knowledge. The Sarva Pratyakṣa is the knowledge of all, it is perfect and infinite knowledge. Thus, the Kevalajñāna is the knowledge of all, it is omniscience. The three types of Mukhyapratyakṣa may now be explained one by one.

Avadhi Jñāna:

According to the Jaina Āgamas, Mati Śruti, are sensuous knowledge and Avadhi, Manahparyāya and Kevala are non-sensuous knowledge and are called Mukhya Pratyakṣa in the logical literature. Jainas hold that the self possesses infinite knowledge as its essential quality but due to the obstruction of the Karmas this infinite knowledge is not manifested. When these obstructions are destroyed, the knowledge arises. There are five types of obstructions corresponding to the five types of knowledge. Each type of knowledge is obscured by its own obstruction or Jñānavarāna. As for example Matijñāna is obscured by Matijñānavarāna and it arises by destruction and subsidence (Kṣayopasaṃama) of its Karmic veil (Matijñānavarāna). The Avadhi-jñāna is non-sensuous knowledge. It arises in the self without the help of the sense organ and mind. 'Avadhi' means limitation, though Avadhi-jñāna is non-sensuous yet it is limited, because due to Avadhi one can perceive the objects, which possess form or shape (Rūpin). All the objects, which have form, are manifested in Avadhi but all their modes cannot be manifested in this knowledge, although the objects are of

the past, future or is distant It can apprehend very fine objects, such as the atoms and the Karmic matters etc All these objects are known by the self directly

Avadhijna is divided into many types All types of Avadhijnana cannot apprehend all objects of all space and all time This faculty differs in different beings on account of the development of their spiritual discipline The highest type of Avadhijnana is able to apprehend the material objects of all times and all space The lower type of Avadhijnana extend to a very small fraction of space and time

The question may arise as to who possesses this knowledge With respect to its possessor, the Avadhijñāna is of two types Bhavapratyakṣa and Guṇapratyakṣa The former is that which arises in a person due to his birth, for example, the beings of heaven and hell acquire this kind of Avadhijnana which is their birthright The Guṇapratyakṣa is that which has to be acquired as a result of special merit Everybody can acquire it when his Avadhijnana is destroyed by meditation and discipline Although both types of Avadhijnana arise by destruction and subsidence of its Karmic veils, yet for the Bhavapratyakṣa avadhijnana the Nimitta Karma is the birth of the beings who possess it Just as the birds acquire the capacity of flying in the sky from their very birth This Avadhijñāna is not the highest type of Avadhijnana, it is limited Avadhijñāna

Manahparyāya jñāna :

Mind, according to the Jainas is a material substance. Its modes are its different changing states. As our states of thoughts change, the modes also change correspondingly. These changing modes of the mind are called Manahparyāya. And the knowledge which knows the modes of thinking of the mind of other persons is called Manah. A person possessing Manahparyāyajñāna मन पर्यायज्ञान directly knows the other's mental states without the help of sense organs and mind. Such knowledge arises by the destruction and subsidence of मन पर्यायज्ञानावरण. According to Jainas, mind is a material substance. Its modes are its different changing status ("परकीयमनोगतार्थज्ञान मन पर्याय" TS IV 194)

There are different views on the nature of Manahparyāya. According to Jinabhadra in Manahparyāyajñāna one perceives the state of mind substance directly, but then external object of thought of another mind are known only by inference. Because, the external object of thought may be material or non material, object cannot be approached by Manahparyāya, because the Amrutas are known directly only in the state of Kevala Jñāna.

According to Akalanka Manah Paryaya Jñāna also apprehends directly the objects of others thought. The object of such knowledge cannot be an inference, it is perceptual knowledge. Akalanka holds that the external objects also are directly apprehended by Manah Paryaya, as they are associated

with mind. However, mind is not the cause of Manahparyāya. Akalanka argues that mind is only the Apekṣā in this knowledge and not the cause. For example, when one sees the moon in the sky, one cannot see the moon without perceiving the sky. The sky is only the Apekṣā and not the cause in the knowledge of the moon. It is of two types Rjumatī and Vipulamati. They are different in respect of purity and duration. Rjumatī is less pure and Vipulamati purer, clear and more enduring. It lasts up to the rise of omniscience. Man can possess both type of Manahparyāya. According to Hemachandra, the external object of other mind are not apprehend directly in Manah Paryāyajñāna, they are known only by inference.

Further, मन पर्यायज्ञान should not be understood, as knowledge desired from mind, it is not any type of mental perception. But it is a non sensuous knowledge arising within the self directly, without the help of the sense organs or mind. Mind is not the cause of this knowledge, but it is the knowledge of the mental state of others, which is derived from the self itself. Thus it is not empirical knowledge.

Kevalajñāna

Kevalajñāna is the perfect and infinite knowledge. We may call it omniscience. As mentioned before, when the obstructions of all the Karmas are destroyed, the self attains Kevala or omniscience.

In this knowledge one apprehends simultaneously and

all their qualities simultaneously without the help of sense organs and mind. It is perfect and eternal knowledge. According to the Jainas, there would be possessor of omniscience should have his birth as a human being within the specified time. Omniscience arises from the destruction of all the karmas. A question frequently discussed is whether the four imperfect knowledge (Matu, Sruti, Avadhi and Manahparyāya) are present or not, in the state of omniscience. Some hold that in the state of Kevala-Jñāna the other four knowledge exist, but they are overpowered by the light of the sun. Umasvāmi points out that this view is not true, because the Kevala arises due to the total destruction of all Karmic matters, while the other four knowledge arises by the destruction and subsidence (Ksayopasama) of their own Jñānavarānas or the Karmic matters. When there is total destruction of Karmic matters the other knowledge also could not arise. There would be only the state of omniscience¹⁶.

Yashovijaya holds in this conception that there are five types of knowledge as well as five types of Āvarānas. In other words, a particular Jñāna has its own Āvarāna as an obstruction to its manifestation. And when its Āvarāna is destroyed, that knowledge is manifested. When the Āvarāna of the perfect knowledge (केवलज्ञानावरण) is destroyed then arises perfect knowledge of the Kevala. The main question is when the Āvarāna of the Kevalajñāna is destroyed and one possesses perfect or infinite knowledge, then does he also possesses the other partial knowledge or not? The partial knowledge

arises due to the destruction of their own different ACvaranas. Yashovijaya replies that though the different knowledge are manifested by the destruction of their own knowledge obscuring Karmas, yet the Āvarana of perfect knowledge is also same time the cause of manifestation of imperfect knowledge, just as the veil of cloth may be both, obstruction of clear vision and also a cause of unclear vision.

In other words the obstruction of perfect knowledge is the cause of manifestation of imperfect knowledge. Thus, according to Yashovijaya, for an 'omniscient person partial knowledge is for the cause of partial knowledge i.e. kevalajnānavarāṇīya, has been destroyed. It may be asked, how can the self be both Āvṛta and Anāvṛta at one and the same time? In reply, it is said that this is possible only from the Anekānta viewpoint. The self may be obscured by the Kevalajnānavarāṇīya and the self may not be obscured by the Matijñānavarāṇīya at the same time. Yashovijaya says that knowledge is the essential quality of the self but it has many modes (Paryaya). These modes are the partial knowledge, and when the perfect knowledge is Āvṛta by the Kevalajnānavarāṇīya the partial knowledge may be Anāvṛta. And as the knowledge is the essential quality of the self, the self would be both Āvṛta and Anāvṛta by the destruction of different kinds of Karmas at one and the same time.

Conclusion:

The Jainas view that the sense organs are not capable

to apprehend the objects with all its permanent and changing qualities seems to be reasonable for sense organs have limited capacities

According to Jaina, Pratyaksa is that type of knowledge, which is able to apprehend the object with all its permanent and changing qualities and that is possible only by the self. Therefore, Pratyaksa means the knowledge arising in the self directly

The object derived from the sense organs is called Sāmvyavahārika Pratyaksa सांख्यवहारिकप्रत्यक्ष. The Jainas not only define Sāmvyavahārika Pratyaksa but also analysis the process involve in it. The process consists in the four stages namely, Avagraha etc. The idea of four stages is original to this system. Though other system of Indian philosophy distinguishes between Nirvikalpaka and Savikalpaka perception, yet this distinction is not as detailed distend as that of Jainas. No other system has given such an account of the different stages of sense perception.

The concept of non sensuous knowledge of the Jaina philosophy is based on their metaphysics. According to Jainas, knowledge is the essential quality of the self. The pure self possess infinite knowledge, but due to the veil of the Karmic matters it cannot realize its true nature. When the obstruction of true nature is destroyed, knowledge arises in the self. The self can then know the object directly without the help

of sense organs

Regarding the nature of the non sensuous perception, the Jamas are not very clear They say simply that in Avadijñāna one apprehends directly by the self In Manahparyāya the knowledge of other mind is acquired and in Kevalajñāna, the self possessed the knowledge of all things, past present and future and also of its own pure nature The Jainas do not say much about the nature of it

How does the self apprehend the object? Following what process?

Does it apprehend the objects as done by the sense organs?

Do the objects come in the contact with the self only in the shape of ideas?

Is this knowledge purely subjective experience like the pleasure and the pain?

—These questions are left unanswered The Jamas hold that every body can become an omniscient, which most other schools believe in God as the omniscient being

Regarding the nature of omniscient or Kevala jnana, the Jamas are not very clear They simply say that in Kevalajnana the self posses knowledge of all



चर्चा

Jama theory of perception

डॉ. बी. के. दलाई

विन्ध्येश्वरीप्रसाद : “विशदं प्रत्यक्षं” “स्पष्टं प्रत्यक्षम्” इस तरहकी प्रत्यक्षकी परिभाषा आपने बतलाई. इसका अर्थ क्या यह होता है कि अन्य प्रमाणोंसे प्राप्त ज्ञान स्पष्ट नहीं है?

बी. के. दलाई : They use three terms one is Viśadam. Sometimes in some text they replace it by Spastam. And as I told there are two adjectives Añjasā. Actually ‘Spasta’ means अनुमानादिप्रमाणव्यतिरेकेण. Therefore, it means the knowledge that is not depending on Anumāna, Śabda and other things. So ‘Spastam’ has nothing to do with clear

विन्ध्येश्वरीप्रसाद : ‘विशदम्’ इत्यस्य को अर्थ: ?

बी. के. दलाई : तदेव. अनुमानादिप्रमाणव्यतिरेकेण लब्ध ज्ञानवैशद्यम्.

यज्ञेश्वर शास्त्री : जैनोंके केवलज्ञानकी तुलना हम यौगिक प्रत्यक्षके साथ कर सकते हैं.

बी. के. दलाई : Ātmā gets direct knowledge of three types . ‘अवधिज्ञान’ ‘मन.पर्यायज्ञान’ ‘केवलज्ञान. So, Pāramārthika is of three kind therefore we have to take them together

बलिराम शुक्ल : प्रत्यक्षोक्तभेदेन प्रत्यक्षं द्विविधम् इति पत्रे लिखितम् अस्ति. Here you say that Indriya-pratyaksa is also Paroksa knowledge. What is the reason behind

117

प्रद्योतकुमार : इन्द्रियप्रत्यक्ष परोक्षम् अथवा इन्द्रियज्ञान परोक्षम्? What is the word they have used?

बलिराम शुक्ल : इन्द्रियप्रत्यक्ष परोक्षम् इत्येव.

बी. के. दलाई : Indriya pratyaksa is parokṣa, he is right

प्रद्योतकुमार : Do they use words Indriyapratyakṣa is parokṣa?

Pratyaksam paroksam? तदातु वदतोव्याघातः।

बलिराम शुक्ल : Yes

बी. के. दलाई : I will explain it. Actually we have to consider the historical account. The earliest person was Divakara who has done this division like Jñāna is of two types Pratyaksa and Parokṣa. Then very cleverly he was aware of the Agamic problem.

प्रद्योतकुमार : The idea is you begin by dividing Jñāna into Pratyaksa and Parokṣa and later on you say pratyaksam paroksam? I am asking the factual question. They say both things Jñāna is of two types Pratyaksa and Parokṣa. Again they say Pratyaksam paroksam.

बी. के. दलाई : Pratyaksa is a direct knowledge, no Indriya intervention is there. No confusion. Parokṣa knowledge is the knowledge through Indriya, Anumana etc. Now, let us come to the logical period. In logical period we can see that they are influenced by the Nyaya and Bauddha systems. So they feel that they are telling something that is not relevant. Because they are telling that Indriya

Pratyaksa is Paroksa in Āgama period So they are very much aware that they are telling something no body is going to accept Akalanka was very clever He wanted to reconcile this abnormality So he said “ज्ञान द्विविधम्: 'प्रत्यक्ष' 'परोक्षम्' प्रत्यक्षमपि द्विविधम्: 'इन्द्रियप्रत्यक्ष' 'पारमार्थिकप्रत्यक्षम्'” So did further dichotomy

प्रद्योतकुमार : You try to consider this point It can not be that in terms of Naiyāyika is such that they started uttering nonsense or contradiction This is not possible that naiyāyika teaches contradiction The idea is, actually what you are saying is this that they admit two types of Pratyaksa One is Indriyajanya and other is Anīndriya There is no contradiction in this

बी के दलाई : So that is further division

बलिराम शुक्ल : But they have included Indriya Pratyaksa in Paroksa

प्रद्योतकुमार : What I meant to say there is Indriyajanya jnana and Anīndriya jñāna Two types of Pratyaksa is there This is quite intelligible How? I can tell you Indriyajanya jñānam can be Pratyaksa and Paroksa also But how Pratyaksa can be Parokṣa ?

बी के दलाई : They have deferent sense while saying Pratyaksam paroksam

प्रद्योतकुमार : It may be But then how they begin by saying that the dichotomy is there? द्विविध्य कथम्? प्रत्यक्ष परोक्ष च इति द्विविध्य कथम्?

बी. के. दलाई : Firstly, you suggested that it can not be an influence of Nyāya but I am thoroughly convinced that it is an influence of Nyāya. Because seeing their development that they are following our pattern. They are using Indriya, Artha, Sannikarsa. So, definitely Akalanka was consistent that Indriya pratyaksa cannot be Paroksa, hence for him there was no other way than accepting two kinds of Pratyaksa^{Post script}

प्रद्योतकुमार : OK we shall come on this question some other time. Next question.

बी. एन्' झा : Do you find any argument for accepting Nirvikalpaka Pratyaksa? What they call it Vyañjanāvagraha?

Post script This problem is already raised in the tradition, and answered to as well. When we use the expression “प्रत्यक्षं परोक्षम्”, the word Pratyaksa' conventionally means the knowledge derived through sense organs which is 'Pratyaksa' according to all systems of Indian Philosophy. But the Jainas following Agamic tradition accept this as Paroksa. The objection is how Pratyaksa is Paroksa. If knowledge arising from sense perception is Pratyaksa, how to account for the views of those who called it Paroksa. The answer has been given in Syadvadaratnakara (II I) “आद्यो परोक्षम् इति तत्त्वार्थसूत्रे मति-श्रुतद्वय परोक्षं भणितं भवति कथं प्रत्यक्षम्? मतिज्ञानं परोक्षमपि प्रत्यक्षज्ञानं तथा स्वात्माभिमुखं भावश्रुतज्ञानमपि परोक्षं सत् प्रत्यक्षं भण्यते” (द्रव्यसंग्रहवृत्ति ५)

“कथं पुन एतेषां प्रत्यक्षत्वाद् वाच्यत्वम्? रूढित इति द्रूमः” (न्यायदीपिका २)

बी के दलाई : Yes There is no systematic argumentation
Even the definition is lacking Till Akalanka there
was no definition And they say that when Indriya
comes in to contact with the object, it gets some
awareness like Sattamātra or Sammatra jñānam And
that can be equated with Nirvikalpaka They have
never used such term They say it is
Vyānjanavagraha

बी एन् झा : Arthavagraha is produced by Vyānjanavagraha ?
बी के दलाई . Yes But they have no argument in favour
of accepting Nirvikalpaka

बलिराम शुक्ल . They have followed that argument of
Naiyāyika

बी के दलाई : That is my supposition

प्रद्योत कुमार . That I am ready to accept but you can't
make me believe that Naiyāyika thought them
contradiction

अम्बिकादत्त शर्मा : प्रायः सभी दर्शन निर्विकल्पकता की चर्चा में 'सन्मात्र'
शब्द का प्रयोग करते हैं 'सन्मात्र' का अर्थ जैन दार्शनिक
जिस अर्थ में स्वीकारते हैं वही अर्थ क्यों स्वीकारा जाय ?
क्यों नहीं केवल द्वैतियों के या शुद्ध द्वैतियों के अर्थ का स्वीकार
किया जाय ? जैनियों के ही अर्थ को स्वीकारने में जैन दर्शन की
क्या सुविधा होगी ? दूसरी बात यह है कि स्वयं प्रत्यक्ष की
निर्विकल्पकता किस प्रकार के सन्मात्र अर्थ को समर्थन देता
है ? यह विचारणीय है क्योंकि सभी लोग 'सन्मात्र' शब्द का
प्रयोग करते हैं किन्तु उसके अर्थ में परस्पर आत्यन्तिक
भेद है 'सन्मात्र' कहने से बौद्धों का स्वलक्षण, अभेदत्व,
शुद्ध द्वैत का पक्ष, जैनो का स्वलक्षण भी आ जाता है

प्रद्योतकुमार : सभी दर्शनोंमें “सन्मात्रविषयकत्व निर्विकल्पकत्वम्” तो कहा नहीं गया है. न्यायमें ऐसी कोई बात नहीं है.

अम्बिकादत्त शर्मा : अभिप्राय यह है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्षके विषयमें जब विभिन्न सम्प्रदायोंमें मतभेद है और जो-जो सम्प्रदाय निर्विकल्पक प्रत्यक्षको स्वीकारते हैं उनमें उसके विषयमें आत्यन्तिक भेद है तो स्वयं प्रत्यक्षकी निर्विकल्पकता किस प्रकारके विषयका प्रस्ताव करती है ?

गो. श्या. म. : आपके प्रश्नको मैं इस तरहसे प्रस्तुत करना चाहूँगा कि जेनोका जो सन्मात्रावगाही निर्विकल्पक है वह सत् ऐकान्तिक है अथवा अनेकान्तिक है ?

बी. के. दलाई : जैनन्यायमें पाचवीं शताब्दिके बाद जो ग्रन्थ लिखे गये हैं उनमें निर्विकल्पक प्रत्यक्षकी बात है ही नहीं कारण यह है कि उनके प्रत्यक्षके लक्षणमें निर्विकल्पकका कोई स्थान ही नहीं है. इसीलिये अवग्रह, ईहा, अवाय आदि जो चार स्तेज् हैं वो सब सविकल्पक प्रत्यक्ष हैं यह एक बात हुई दूसरी बात, अब आप आगमको पकड़ें आगममें यद्यपि ‘निर्विकल्पकप्रत्यक्ष’ शब्द नहीं आता है लेकिन वह विषय चर्चित है. उन्होंने वहाँ उसको सत्य या सत्ताजाति के अर्थमें नहीं लिया है, “इद किञ्चित्” इस अर्थमें लिया है और आपने पूछा कि वह सत् ऐकान्तिक है कि अनेकान्तिक तो जैन सिद्धान्तमें तो आप कुछ भी पूछेंगे तो वो दोनों बातोंको रखेंगे कि इस दृष्टिसे ऐसा है और इस दृष्टिसे ऐसा है

गो. श्या. म. : जैन अनेकान्तमें मानते हैं यह बात तो समझमें आती है पर मेरे प्रश्नका आशय यह था कि जब जैन दर्शनमें निर्विकल्पक प्रत्यक्ष माना गया है तब सन्मात्रकी अनुभूतिमें उसके पर्यायोंकी भी अनुभूति होती है या केवल द्रव्यकी अनुभूति होती है यह स्पष्ट होना चाहिये.

बी. के. दलाई : केवल द्रव्यकी अनुभूति होती है।

गो. श्या. म. : यदि केवल द्रव्यकी अनुभूति होती है तब उसमे सातो भगिमाओंका अनुभव होता है कि उनमेसे केवल "स्याद् अस्ति"का ही अनुभव होता है ?

बी. के. दलाई : इसका निर्णय तो हम नहीं कर सकते है

प्रद्योतकुमार : Don't say that This is a very good question You have to pay attention to it केवल "स्याद् अस्ति" इतना ही ज्ञान होता है कि नहीं इसका उत्तर सीधा-सीधा देना चाहिये

बलिराम शुक्ल : इतना ही होगा

प्रद्योतकुमार : तब तो सप्तभगीका सिद्धान्त .

बलिराम शुक्ल : वहा सप्तभगी नहीं है

यज्ञेश्वरशास्त्री : सप्तभगी आयेगा तो सविकल्पक हो जायगा

गो. श्या. म. : सविकल्पक हो जायगा वह तो ठीक बात है पर मेरी समस्या यह थी कि निर्विकल्पकप्रत्यक्षमे केवल "स्याद् अस्ति"का ही यदि अनुभव होता है तब फिर उसको पारमार्थिक नहीं माना जा सकता है तब फिर जैनसिद्धान्तानुसार वह बात मिथ्यादृष्टिमे चली जायगी

एस्. वी. वोकिल् : One thing which is unique about the Jaina system seems to me is that they talk about the knowledge of other's mind which other systems do not do No other system I have come across presents a discussion of a problem of other minds They speak of Manhpariyaya which is mentioned as a kind of Mukhya Pratyaksa But I do not know how they really treat this Manhpariyaya as Mukhya Pratyaksa It is quit clear that we know other minds We understand their thoughts We

know that some one is undergoing pain Now this is not a matter of direct perception This is not a sensuous perception This is a matter of inference And therefore we shall not make any gain by just describing as direct perception or Mukhya Pratyaksa The Jaina thinkers will have to think carefully about it that it is a matter of inference And even when its a matter of inference, you can not put it at such a level that it is not possible for the ordinary people It seems to me that Manahparyaya can be had by a very special category of people This is not the case

बी के दलाई : You suggested that it should be inference and not Pratyaksa But, Jainas have built their system in such a manner that they have to tell it Pratyaksa and that too Paramārthika The definition they give is that “परमनोगतार्थविषय मन पर्यायम्” So, as I said, soul has developed to such a stage that it can read others mind you gave a practical example But that is an external thing You see the Linga and go to infer the Sadhya But Jainas are not accepting this view They say that soul develop, like Yogi, such a higher extent that by even closing their eyes, without any contact they can read not anybody's mind but minds of everybody And even they have accepted various stages of Manahparyaya So we can not say that its an inference, it has to be Pratyaksa, and not only Pratyaksa, Mukhya

एस्. वी. वोकिल् : Surely you don't mean by Manhpariyāya Jñāna as telepathic knowledge. You mean that it's a knowledge which can be had by anyone who is living in human society.

प्रद्योतकुमार : It is not that there is no recognition of the fact that we can, in Indian system, know others' mind. Not even it is the case that we do not admit that we can have knowledge of others' mind directly. And thirdly, we can have also knowledge of others' mind by a person who is not explicitly a Yogi. This is called Prātibha Jñāna. This kind of knowledge has many many uses. And there are many textual evidences where it has been said that even a small girl or boy says "Me bhṛatā agamisyati" and actually his brother comes next day. So, this kind of cognition is possible. But, mostly it is inferential according to Naiyāyika. But even when you say Manhpariyāya, one point Dr. Dalai has made very clear, that it is not the perception of other's mind. It is the perception of the state of other's mind. Para-manogata-dharma. And lastly, you started with the assumption, which is very risky, you said we all have the knowledge of other's mind. So, how is it that only Jaina accept it?

एस्. वी. वोकिल् : This is a condition of our living in a society that we have knowledge of other's mind. We can not live in society if we are not able

to read the mind of others

प्रद्योतकुमार : Most of the thing we assume Eg we go on when we utter a sentence Not a single sentence do you utter which gives full description of the event that is described But still we go on conversing So for the purpose of conducting our daily business it is not necessary that we have complete knowledge nor it is necessary that we should have direct knowledge of all the things that we believe So, all these beliefs are not of practical usage But even as a matter of final attainment, then it has to be complete, it has to be direct



श्रीहरिः

श्रीद्भागवतप्रस्थाने 'प्रस्थानरत्नाकरे' च

प्रत्यक्षप्रमाणविमर्शः

डॉ. विन्ध्येश्वरीप्रसादमिश्रः

मेघश्यामतनुप्रभा स्थिरतडिद्दीप्तोज्ज्वला मञ्जुलाम्
लीलालास्यलसच्छटा मधुपृषत्सद्वर्षहर्षा पराम्।
शुष्यदतीतिधुनीविवर्धनवर्ती चिद्वाटिकोज्जीवनी
ध्यायामो हृदि सद्घनमृतमयीं राधामुकुन्दद्वयीम्॥१॥
प्रमाणप्रामाण्ये यदनुसरणात् सम्प्रसरतः
प्रमित्तावैविध्यं फलति यदुपाश्रित्य सफलम्।
प्रमेयाकारं यत् स्फुरति बहुधाऽप्यद्वयपद
नुमः तच्चैतन्यं सदिति हृदि भान्तं रसघनम्॥२॥
शुक्वाड्माधुरीस्फूर्तं मूर्तं श्रुत्यन्तविग्रहम्।
वन्दामहे हुतं दीप्तं श्रीमद्भागवतामृतम्॥३॥
कृष्णद्वैपायनं श्रीमद्वादायणसञ्ज्ञितम्।
विधातारं रसस्यास्य व्यासदेवम् उपास्महे॥४॥
ब्रह्मरताभिधं व्यासात्मजं योगीन्द्रवन्दितम्।
नन्दिताखिलसत्सार्थं नमामो बादरायणिम्॥५॥
येषां पादाब्जपासूनां स्मरणादपि तत्क्षणम्।
मनो निश्चलता याति गुरुस्ताश्च भजामहे॥६॥

प्रत्यक्षमिति सर्वप्रमाणोपजीव्यत्वात् मुख्यं प्रमाणम् इति नमनान् व्यतिरिच्य
प्रायः समेषामपि आस्तिक-नास्तिकोभयनयनिपुणानाम् अभिमतिः. चार्वाकोऽपि
व्यतिरिक्तान् प्रमाणभेदान् अनङ्गीकृत्य प्रत्यक्षमेव कक्षीकुर्वन् दृश्यते. "अक्षम्
अक्षं प्रतीत्य यस्मिन् प्रमितिः उत्पद्यते तत् प्रत्यक्षम्" इति अस्य निर्वचनं,

तत्तु प्रायः प्रायोवादतामेव अवलम्बते, सर्वे वादिभिः अत्र नियततयेन्द्रियार्थसन्नि-
कर्षनियमस्य प्रत्यक्षलक्षणावसरे अनभ्युपगमाद् इति' न अविदितं तत्
तत्त्वविदाम् 'दृष्टम्' इत्यस्यैव नामान्तरं साध्यकृतान्ते अपरोक्षम् इति,
अद्वैतवेदान्तिना नये 'आत्मसविद्' इति च, अशतं श्रीमद्भागवतप्रस्थानाभिमान-
वताम् अस्माकं सिद्धान्तइति न जातु भ्रमितव्यं सुधीभिः

चार्वाकाद् अनन्तरं सर्वेऽपि वादिभिः स्वस्वप्रक्रियाम् अनुसरद्भिः
अस्य वैशद्येन लक्षणस्वरूपभेदप्रभेदाद्याविष्कृतिः प्रसाधितेति तत्तदाकर्ण्यैव
अवगन्तव्यं, विस्तरभयात् प्रकृते अनावश्यकत्वात् न क्रमशः तेषां समेषां
लक्षणादीनाम् अनुवादो अत्र विधीयते, स्वराद्धान्तसमाधनावसरेतु यथाप्रसंगं
समालुलौचयिष्या तानि अशतं समादाय निरूपयिष्यामएव इति अलं
बहुभूमिकया अधुना प्रकृतम् अनुसराम

श्रीमद्भागवतमहापुराणं वेदान्तस्य स्वतन्त्रं श्रुतिस्मृतितर्कसमन्वयपरं
प्रस्थानम्

अष्टादशपुराणेषु अन्यतमं श्रीमद्भागवतं भावदृष्ट्या कलिकल्मषरन्ध्रं
ललितकृष्णकथानिबन्धनं भगवत्प्रीतिपरायणानाम् अन्यतमं परमञ्चं धनं
सद्भक्त्योः शास्त्रं, भगवतो वेदव्यासापरनामधेयस्य बादरायणाचार्यस्य स्वाविष्कृ-
तवेदान्तसूत्राणां स्वोपज्ञं रसभाष्यं, दार्शनिकसिद्धान्तदृष्ट्या च उपनिषद्वत्श्रुतिप्र-
स्थानस्य श्रीमद्भगवद्गीतारूपस्मृतिप्रस्थानस्य ब्रह्मसूत्ररूपतर्कप्रस्थानस्य च मिथः
समन्वयपरं वेदान्तदर्शनस्य स्वतन्त्रं प्रथमञ्चं प्रस्थानम् इति अस्माभिः
स्वीयानेकसन्दर्भेषु पुराणि अभ्यधायि वेदान्तसूत्राणां, श्रीशङ्करभगवत्पाद-
श्रीभास्कराचार्य-श्रीरामानुजाचार्य-श्रीमदानन्दतीर्थ-श्रीनिम्बार्काचार्य - महाप्रभु-
श्रीबल्लभाचार्य-श्रीबलदेवविद्याभूषणादयो ये-ये भाष्यकृतो अभूवन् ते
भारतीयविचारपद्धत्या श्रीमद्भागवतात् कालक्रमतो अर्वाञ्च समेषामपि
एषां सिद्धान्तानाम् अनादिपरम्परादृष्ट्या नित्यत्वाद् अथच सत्यत्वादपि एभिः
प्रवर्तिता समुद्धृता वा सम्प्रदायाः सन्दृब्धाश्च भाष्यादिग्रन्थाः न श्रीमद्भागवतस्य
स्वाभिप्रायम् अन्यथयितुं प्रभवन्ति - प्रभविष्यन्तीति च सुबुद्धं मन्यामहे

अत्र यद्यपि समाप्तातपूर्वाणां भक्ति-ज्ञान-वेदान्यादि-साधनसम्पत्त्या स्वस्वस्थाने अपूर्वाणाम् अमीषां केवलाद्वैत-विशिष्टाद्वैत-शुद्धाद्वैत-द्वैतद्वेताद्वेतादि-वेदान्तप्रतिष्ठापनाचार्याणाम् आर्याणां सिद्धान्तमूलानि तत्र-तत्र अधिकारिभेदाद् रुचिभेदात् श्रीमद्भागवतशास्त्रे प्रसङ्गतं सङ्गयितुं शक्यानि किन्तु एकस्यैव कस्यचन आचार्यस्य सिद्धान्तं समग्रस्य श्रीमद्भागवतस्य व्याख्याने पर्याप्नोति इति अभिनिवेशो न अस्माकं मनो अनुरञ्जयति श्रीमद्भागवतशास्त्रे बहवो अशा दर्शनशास्त्रीया तत्तत्प्रसङ्गेषु अधिकारभेदं रुचिभेदं च अनुरुधानां भक्ति-ज्ञान-विराग-पोषणपूर्वकं नैष्कर्म्याविष्कारायैव प्रभवन्ति, वस्तुतस्तु अमलज्ञानात्मिका परमहंससहितैव एषा महामुनिकृता वाक्प्रसृतिः यथा उक्तं तत्रैव ग्रन्थोपसहारे “श्रीमद्भागवतं पुण्यम् अमलं यद् वेणवानां प्रियं, यस्मिन् पापमहस्यम् एकम् अमलं ज्ञानं परं गीयते, तत्र ज्ञानविष्णुभक्तिसहितं नैष्कर्म्यम् आविष्कृतं, तत् शृण्वन् विपश्नं विचारणसो भक्त्या विमुच्यन्ते नरः” (भाग. पुरा. १२।१३।१८) इत्यत्र एतस्मादेव अस्य सर्ववेदान्तसारतापि सागत्यम् उपैति तदपि उक्तं भगवता पुराणकृता “सर्ववेदान्तसारं यद् ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणं वस्तु अद्वितीयं तन्निष्ठं केवलैकप्रयाजनम्” (तत्रैव १२।१३।१२) अपिच “सर्ववेदान्तसारं हि श्रीमद्भागवतम् इष्यते” (तत्रैव १२।१३।१५) इत्युक्तरीत्या ‘ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणकं’ ‘केवलैकप्रयोजनकं’ च शास्त्रम् इदं भूयस्त्वेन ज्ञानप्रमाण-तत्त्वाचारमीमांसासु श्रीगच्छकराचार्यसिद्धान्तम् अनुगृह्णाति इति निष्पक्षतया स्फुटम् अवबुध्येन् मार्मिका किन्तु लीलादिरसरहस्यानां प्रकाशनावसरे भगवद्भक्त्युपासनादि-निरूपणसन्दर्भे तत्तद्वैष्णवाचार्याणामपि मतानि उक्तभ्नाति इति निर्विचिकित्सं सम्प्रधारयाम अतो अस्मत्प्रतिपादितं श्रीमद्भागवतदर्शनं ब्रह्मविद्यया सार्द्धं भक्त्यादिसवलितत्वात् न केवलं केवलाद्वैतमेव श्रीमद्भाष्यकार-शंकरभगवत्पाद-प्रतिपादितं मतं प्रथयति अपितु नैकेषु प्रसङ्गेषु तद्व्यतिरिक्त्यापि अग्रे सरति इति समालोचनावसरे अवधेयं धिपणाधोरैव एतस्मादेव कारणाद् भागवतोक्त-प्रमाण-प्रमेयादि-सन्दर्भा न सर्वथा वेदान्तपरिभाषादिकानां केवलाद्वैतग्रन्थानां, नवा प्रस्थानरत्नाकरादीनां शुद्धाद्वैतसन्दर्भाणाम् अन्येषां वा साम्प्रदायिकप्रवन्धानामेव तात्पर्यम् अवकल्पन्ते तेन स्वतन्त्रानुरोधात् सुतरां स्वतन्त्राऽपीति श्रीहरिगुरुकृपया यथामतिं श्रीमद्भागवतशास्त्रस्य भृशम् अनुशीलनान्तरं निर्भ्रान्तं वक्तुम् ईशमहे अधुना

इदम्प्रथतया शास्त्रस्य अस्य प्रत्यक्षप्रमाणावलम्बिनीं पद्धतिं सक्षिप्य निदर्शयाम

श्रीमद्भागवते प्रत्यक्षप्रमाणस्य अभिस्वीकृतिः स्वरूप भेदाः पद्धति
च

प्रमाणत्वेन अत्र प्रत्यक्षस्य सुस्पष्टम् अभिस्वीकृति मुक्तिलक्षणलक्षित
एकादशस्कन्धे वाच्यम् यथा “श्रुति प्रत्यक्षम् ऐतिह्यम् अनुमानं चतुष्टयं प्रमाणेषु
अनवस्थानाद् विकल्पात् स विरज्यते” (११।१९।१७) इति प्रथमवारम् “प्रत्यक्षेण अनुमानेन
निगमेन आत्मसविदा, आद्यन्तवद् असन् ज्ञात्वा नि सगो विचरेद् इह” (तत्रैव ११।२।८।९)
इति द्वितीय वारम् अथ तृतीयवारञ्च यथा “ज्ञानं विवेको निगम तप
च प्रत्यक्षम् ऐतिह्यम् अयं अनुमानम्, आद्यन्तयो अस्य यदेव कवलं कालं च हेतु
च तदेव मध्ये” (तत्रैव ११।२।८।१८)

— इति त्रिष्वपि स्थलेषु सर्वटीकाकृतसम्मत्तत्वात् प्रत्यक्षस्य प्रमाणात्ता
यथाहि एव प्रमाणचतुष्टयम् ” (११।१९।१७) इत्यस्य भावार्थदीपिकाया
“आद्यन्तवत्त्वे प्रमाणानि प्रत्यक्षादीनि ” (११।२।८।९) इत्यस्य च भावार्थदीपिकायाम्
तत्रभगवन्तं श्रीधरस्वामिनं ‘श्रुतिरिति द्वाभ्यां प्रमाणचतुष्टयम्’ “ प्रत्यक्षं प्रमाणम्”
(११।१९।१७) इत्यस्य ‘सिद्धान्तप्रदीप’ व्याख्याने श्रीशुकदेवेन “प्रत्यक्षादिप्रमाणबलेन -
’कै१ (११।२।८।९) इत्यस्य ‘पदलान्त्या’ च श्रीमद्विजयध्वज

अत्र द्वितीयाभिस्वीकृतौ, “आत्मसविद्” इति प्रत्यक्षस्यैव आन्तरं पारमार्थिकं कश्चिद्
भेदविशेषो न प्रमाणान्तरं, यथाह श्रीस्वामिवर्या “आत्मसविदा स्वानुभावेन ”
(११।२।८।९ इत्यत्र ‘भावार्थदीपिका’) ‘प्रत्यक्षं स्वानुभव ” (११।२।८।१८
इत्यत्र च ‘भावार्थदीपिका’) इति

ननु च ‘आत्मसविदा’ इति उपादानं ‘प्रत्यक्षेण’ इति पृथक्पदसहकृतमिति
टीकाग्रन्थो न मूलम् आटीकते इति कैश्चिद् उद्वेक्येत तदपि नावदात,
‘प्रत्यक्षम्’ इति प्रथमपदेन विषयेन्द्रियसम्पर्कजस्य व्यावहारिकबोधस्य द्वितीयेन
‘आत्मसविद्’ इत्यनेन च ‘आत्मसाक्षात्कारा’ख्य-पारमार्थिकबोधस्य उद्दिष्टत्वाद्

केवलाद्वैतप्रस्थानवद् अत्र भागवतप्रस्थानेऽपि प्रकारान्तरेण इन्द्रियजन्यं तदजन्यम् इति प्रत्यक्षद्वैविध्यस्य वक्ष्यमाणरीत्या अभ्यांगीकाराद् इति अनाकुलम्. अथ अत्र किंस्विल्लक्षं प्रत्यक्षं? किञ्च तत्स्वरूपम् इति उच्यते भगवता श्रीमद्भागवतशास्त्रकृता व्यासेन स्वमुखेन ग्रन्थे अत्र न अस्य लक्षणं न्यरूप्यतः समग्रग्रन्थानुशीलनमहिम्ना वयमेव अस्य लक्ष्मेत्यं निष्कर्षयामः

“साक्षात्कारिप्रमावृत्युपजननं प्रत्यक्षम्” इति.

साक्षात्कारित्वञ्च अत्र ज्ञानान्तरसाचिव्यसाहित्यम्. तेन अनुमानादो न अतिव्याप्तिः. ‘प्रमावृत्युपजननम्’ इत्यनेन भ्रमात्मकज्ञानोपजनके करणे प्रमारूपयथार्थबोधे प्रमाणस्य फले च अतिप्रसवितः पराकृता. वृत्युपजनकता हि अत्र स्वीकृते बहुविधप्रत्यक्षभेदे पृथक्पृथगेव अवगन्तव्या. तद् यथा व्यावहारिके (लौकिके) प्रत्यक्षे वाक्पाणिपादादि-पञ्चकर्मेन्द्रियैः उपस्थापिते चक्षुरादिपञ्चज्ञानेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानेन्द्रियाणां सामान्यानां, योगिनां योगजप्रत्यक्षे तपःसंयमयोगादि-साधनोद्दीप्तबलवद्विशिष्टेन्द्रियाणां भगवद्गुहीतानां भवतानां श्रीमद्भगवद्विग्रह-लीलाधामादि-साक्षात्कारे तत्प्रसादावाप्त-दिव्येन्द्रियाणां, सुखदुःखमोहाद्यनुभवात्मके मानसप्रत्यक्षे च अन्तःकरणप्रतिरूपस्य मनसो बुद्धेः वा इत्यस्य प्रक्रियातु अग्रे विवरिष्यते. ब्रह्मापरपर्यायस्य आत्मनस्तु साक्षात्कारे यद्यपि “न तत्र चक्षु गच्छति न वाग् गच्छति नो मनः” (केनोप. १।१।३) “यद् मनसा न मनुते” (तत्रैव १।१।६) “यद् चक्षुषा न पश्यति” (तत्रैव १।१।७) “यत् श्रोत्रेण न शृणोति” (तत्रैव १।१।८) इत्यादिश्रुत्यन्तवचोभिः “यद् न स्पृशति न विदु मनोबुद्धीन्द्रियाश्रयः” (तत्रैव ६।१६।२३) “नैतन् मनो विराति वाग् उत चक्षु आत्मा” (तत्रैव ११।३।३६) प्रभृतिभिश्च पारमहंस्यसंहितोक्तवचनैः च मनोबुद्ध्यादीनां तज्जन्यवृत्तीनां वा परमार्थतया नास्ति उपयोगः तथापि “यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदाशुचिः, स तु तत्पदम् आप्नोति यस्माद् भूयो न जायते” (कठोप. १।३।८) “विज्ञानसारथि. यस्तु मनःप्रग्रहवान् नरः, सो अध्वनः पारम् आप्नोति तद् विष्णोः परमं पदम्” (तत्रैव १।३।९) “एष सर्वेषु भूतेषु गूढो आत्मा न प्रकाशते, दृश्यतेतु अग्र्या बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः” (तत्रैव १।३।१२) इत्यादि श्रवणात्. तथैव “मिमुंसे

ब्रह्मणि मयि धारयन् विशद मन , परमानन्दम् आप्नोति यत्र कामो अवसीयते”(भाग पुत्र ११।१५।१७)
 “आत्मानं चिन्तयेद् एकम् अभेदं मया मुनि ”(तत्रैव ११।१८।११) “तस्माद् ज्ञानं सहितं
 ज्ञात्वा स्वात्मानम् उद्धव”(तत्रैव ११।१९।५) “आत्मा केवल आत्मस्थो विकल्पापागलक्षण
 एवम् अन्वीक्षणस्य कथं वैकल्पिको भ्रमो मनसो हृदि तिष्ठेत व्योम्नीव अर्कोदये तम ”(तत्रैव
 ११।२४।२७-२८)

इत्येवमादिभि वाक्ये समुत्थिताद् भागवतशास्त्रानुशासनात् च,
 विविदिषादशाया मनोबुद्धिवृत्तीनामपि ओपयिकत्वं न न समञ्जसम् तस्माद्
 वक्ष्यमाणरीत्या अस्मत्स्वीकृतेषु समेष्वपि प्रत्यक्षभेदेषु अस्य लक्षणस्य सगति
 निरवद्या

अथ प्रत्यक्षभेदाः

अस्मिन् शास्त्रे प्रत्यक्षं प्रथमतया द्विरूपम् . १ इन्द्रियार्थसन्निकर्षज
 ‘प्रत्यक्ष’पदवाच्यं प्रथमम् २ मानसम् अथवा अन्तःकरणार्थसन्निकर्षज
 ‘वेदान्त’पदवाच्यासु उपनिषत्सु ‘अपरोक्षम्’ इति पदेन श्रीमद्भागवतेतु
 ‘आत्मसविद्’ इति पदेन परामृश्यमाणं द्वितीयम्

आद्यं पुनः पञ्चप्रकारकम्

क सामान्येन्द्रियप्रत्यक्षं लोकिकानां येन आधिभौतिकं स्थूलं
 वर्तमानकालिकञ्च जगत्स्वरूपम् अधिगम्यते एतच्च
 शब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मक-विषयपञ्चकत्वात् श्रोत्रत्वक्चक्षूस्स-
 नघ्राणेन्द्रियद्वारक पञ्चविधम् प्रक्रियादृष्ट्या सविकल्पकं
 निर्विकल्पकम् इति द्विविधं च

ख सामान्येन्द्रियद्वारेण घटपटादौ सन्मात्रसत्तावगाहिज्ञानिना
 प्रत्यक्षम् इदन्तु एकविधम् ब्रह्मविद्वारिष्ठज्ञानिमात्रैकसवेद्यम्
 अनेन पञ्चेन्द्रिय-परिगृहीत-भौतिकप्रपञ्चेऽपि “सर्वं खलु इदं
 ब्रह्म” (छान्दो उप ३।१४।१) इति श्रुत्युक्तदिशा ब्रह्मबुद्धिरेव
 उपादीयते

ग सामान्येन्द्रियद्वारेण भगवद्भक्ताना “वासुदेव सर्वम्”
इति ‘भावनाप्रत्यक्षम्’ प्रत्यक्षभेदो अथ भावनाप्रवणेषु
भगवद्भक्तेष्वेव स्वरूपम् आधत्ते एतस्मादेव विभूतियोगदर्शनस्य
संसिद्धि इति पश्चात् स्फुटीकरिष्यते

घ योगराश्ट्रदिव्येन्द्रियप्रत्यक्षम् अनेन भूतभविष्यदवर्तमान-
त्वावच्छिन्नम् आधिभौतिकम् आधिदेविकम् आध्यात्मिकं च
जगद् अधिगन्तु क्षमन्ते युक्तयुञ्जानभेदभिन्ना योगिन एतच्च
स्थूलशरीरस्थ-गोलकनिरपेक्ष सूक्ष्मेन्द्रियमात्रनिर्वर्त्यम् आन्तरम्
इदमपि च भेदद्वयीम् अवगाहते यथा, धारणाध्यानादिचिन्तासह-
कृत परिच्छिन्नकालमात्रावसायि प्रथमम् समाधिजन्यम्
अप्रयासनिर्वर्त्यं शश्वत्कालिकं च द्वितीयम्

ङ भगवदनुग्रहलब्ध-भगवज्जनानुग्रहलब्ध-दिव्येन्द्रिय-
प्रत्यक्षम् अनेन आधिदेविकस्य जगत तत्रापि प्रकृतिकृत-
कञ्चुकाद्यतीताना सच्चिदानन्दात्मकाना श्रीमद्भगवत तत्पार्ष-
दाना च श्रीविग्रहलीलाधामादिकान्त साक्षात्कृति उपपद्यते
अस्य अधिकारिण सगुणसाकार-भावन्मूर्त्युपासका भक्ताएव

द्वितीयम् इन्द्रियनिरपेक्षमपि द्विविधम् १ सर्वसाधारणस्य मानसप्रत्यक्ष
प्रथमम् २ जीवन्मुक्ताना विदेहमुक्ताना नित्यात्मप्रत्यक्षमर्शस्वरूपञ्च द्वितीयम्

अथ एतेषा सनिदर्शन प्रक्रियानिरूपणम्

पयसिण अत्र समेषामपि एषा प्रत्यक्षभेदानाम् उदाहरणपूर्विका पद्धति
अत्र प्रसाध्यते

क सामान्येन्द्रियप्रत्यक्ष

तेषु इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्ये प्रथमे सामान्येन्द्रियप्रत्यक्षम् अस्मदादिलौकि-
कजनानाम् श्रीमद्भगवतशास्त्रानुसारम् अस्मदादीना पुरुषाणाम् इन्द्रियाणि
ब्रह्माण्डाधिष्ठातृचेतनपुरुषस्य भगवतो ‘विण्ड’ इति उपलक्षितस्य आद्यावतारस्य
विग्रहे प्रपञ्चनिर्माणोपक्रमे समष्टिरूपतया अधिष्ठितानाम् इन्द्रियाणां

प्रतिरूपकाण्येव तथ्यम् इदं श्रीमद्भागवते द्वितीयस्कन्धस्य पञ्चमे अध्याये, द्वाविंशत्येकत्रिंशत्तमं श्लोकं यावत्, तत्रैव पठे अध्याये प्रथमाद् आरभ्य पञ्चदशपद्यपर्यन्तं, तृतीयस्कन्धस्य पठे अध्याये दशमाद् आरभ्य पञ्चदशपद्यपर्यन्तम् एवमेव अत्रैव पञ्चविंशे अध्याये त्रयोविंशतितमाद् उपक्रम्य त्रिंशत्तमं श्लोकं यावद् अपिच एकादशस्कन्धस्य द्वाविंशे अध्याये पञ्चदशमाद् आरभ्य विंशतितमं पद्यं यावद् एव विस्तरेण अधिगन्तुं सुशकम्.

अथ प्रस्थाने अस्मिन् कति इन्द्रियाणि अभ्युपगम्यन्ते? किम् एतेषां स्वरूपाणि कार्याणि इति च सक्षिप्य विमृशामः अथ अत्र क्वचन "तैजसात् विकुर्वाणाद् इन्द्रियाणि दश अभवन् श्रोत्रं त्वग्नाण्डवृजिद्वावायोर्मैद्वाद्वाग्निपायव" (२।५।३१) "इन्द्रियाणि दश श्रोत्रं त्वक्कृत्प्रसननासिका वाक्करो घ्राणो मेढ्रं पायु दशम् उच्यते" (३।२६।१३) इत्युक्तपद्धत्या पञ्चज्ञानेन्द्रियाणां श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनघ्राणा-
ख्यानां पञ्चकर्मेन्द्रियाणां वाक्पाणिपादपायूपस्थानाम् इत्याहत्य दशेन्द्रियाणाम् अभ्युपगम्य अत्र एकस्मिन् स्थले मनसस्तु उभयेन्द्रियत्वम् उक्तम् अतः क्वचित् तेन सार्द्धम् इन्द्रियाणि एकादशसंख्याकानि इत्यपि प्रत्यपीदद् ग्रन्थकारो यथा "एकादशेन्द्रियचमू पञ्चसूत्रविन्दकृत्" (४।२१।२०) "एकादश आसन् मनसो हि वृत्तयः" (५।११।१९) इति तत्तु औपचारिकमेव आभाति यतो अत्र श्रीविजयध्वज विहाय प्रायः सर्वेऽपि टीकाकृतो दशेन्द्रियैः साकं मनसं स्थाने अहकारम् अगोचरं कुर्वन्ति यथा 'भावार्थदीपिकाकार' श्रीधरस्वामिनः "एकादश वृत्तयः आसन् आकूटयः क्रियाकारा पञ्च, धियः च ज्ञानाकारा पञ्च, अभिमानः च इति" (५।११।१९)

एवमेव 'श्रीभागवतचन्द्रिकाया' श्रीवीरराघव, 'सिद्धान्तप्रदीपे' श्रीशुकदेव, 'सार्थदर्शिन्या' श्रीविश्वनाथचक्रवर्ती, 'बालप्रबोधिण्या' गोस्वामिश्रीगिरिधरलालो, 'भक्तमनोरञ्जयिन्या' श्रीभागवत्प्रसादाचार्य चापि इति समे सम्मेलने 'पदरत्नावली'कृद् विजयध्वजस्तु "अयम् अर्थः, श्रोत्रादीनि दश, एकं मनः इति एकादशेन्द्रियाणि" इति उपचारदृष्टीव व्याचष्टे अथ कुत्रचिद् ज्ञानज्ञानेन्द्रियपञ्चकेन समं मनसं सागत्यम् आदाय इन्द्रियपट्टकं, कुहचिच्च

तद्व्यतिरिच्य इन्द्रियपञ्चकमेव व्याजहार तत्र भगवान् भागवतवृद्ध यथा “पाद्वर्गिक जिघ्रति षड्गुणेश” (१।३।३६) “प्रत्याहृतषडिन्द्रिय” (१।१३।५३) “षडिन्द्रियवर्गेण” (५।१४।१) “षडिन्द्रियनामान” (५।१४।१) एवञ्च “पञ्चन्द्रियार्थप्रक्षेप” (४।२१।१९) “भूतेन्द्रियाणि पञ्चैव” (१।१२।२३) “मन कर्ममय नृणाम् इन्द्रिये पञ्चभि युतम्” (१।२२।३६) इत्यादौ

तद् एतेषु सन्दर्भेषु प्रकरणसगतिरपि उन्नेया तत्त्वार्थजिघृक्षुभि भागवतार्थविद्भि यथा सर्वत्रापि अत्र ज्ञानेन्द्रियाणामेव तत्तद्विषयेषु प्रवृत्ति प्रत्याहारसंगे च तेभ्य एव निवृत्ति विवक्षिता तद् उक्त महाप्रभुणा श्रीमद्वल्तभाचार्येणापि “प्रत्याहृतषडिन्द्रिय” (१।१३।५३) इत्यस्य वचनस्य व्याख्याने श्रीमुबोधिण्या “षडिन्द्रिय इति (कस्मादाहेत्युच्यते) कर्मेन्द्रियाणि नियमस्य प्रत्याहृतानि” यत्र ज्ञानेन्द्रियाणामेव कर्तृत्वं विवक्षितं मनसश्च पृथगुपादानं कृतं तत्र पञ्चेन्द्रियाणि उक्तानि इत्यस्य प्रकरणार्थो वेदितव्यः

वस्तुतः “इन्द्र आत्मा ईयते अनेन इति इन्द्रियम्” इति व्युत्पत्त्या इन्द्रियदशकमेव अभ्युपगन्तुम् उचितम् अत्र, ज्ञानेन्द्रिये साकं कर्मेन्द्रियाणामपि क्रियाशक्तिद्वारेण आत्माभिव्यञ्जनपरत्वात् मनसश्च उभयेन्द्रियानुग्राहकत्वेऽपि उपरिष्टात् निरूप्यमाणसरण्या अस्य तेभ्य स्वरूपतो भिन्नत्वादिति न काचिद् इह विप्रपत्तिः

अथ इन्द्रियाणां मनस च अस्मिन् शास्त्रे समुत्पत्ति-स्वरूप-कार्यादीनां विवेचनम् यथा “वैकारिकाद मनो जज्ञे देवा वैकारिका दश, दिवातार्कप्रचेतोऽश्विर्वह्नीन्द्रोऽपेन्द्रमित्रका, तैजसानु विकुर्वाणाद् इन्द्रियाणि दश अभवन्” (२।५।३०-३१) “अहृतत्वाद् विकुर्वाणाद् मनो वैकारिकाद् अभूत्, वैकारिकाश्च ये देवा अर्थाभिव्यञ्जनं यत, तैजसानि इन्द्रियाण्येव ज्ञानकर्ममयानि च (२।५।३०-३१) “वैकारिकाद् विकुर्वाणाद् मन तत्त्वम् अजायत यत् सकल्पविकल्पाभ्यां वर्तते कामसम्भव (३।२६।२७) “तैजसानि इन्द्रियाण्येव द्वित्रिज्ञानविभागशः (३।२६।३१) इत्येभि ग्रन्थसन्दर्भे प्रथमं परमात्मन त्रिगुणात्मिका प्रकृतिः सञ्जायते सदसदात्मिकायाम् अस्या मायेत्यपरपर्यायाया प्रकृतो कालवृत्त्या भगवदीक्षणात् सञ्जाते क्षोभे महत् तत्त्वं, तस्मात् च तयेव रीत्या अह

तत्त्वम् अजायत. अयम् अहंकारः पुनः क्षोभम् अवाप्य कार्यकारणकर्त्रात्मा सन् भूतेन्द्रियमनोरूपत्वं त्रिधात्वम् आधत्ते. अर्थात् कार्यरूपाणि पञ्चभूतानि कारणरूपाणीन्द्रियाणि कर्तृरूपं मनः इन्द्रियाधिष्ठातृदेवान् च क्रमशः स्वसात्त्विकराजसतामसभेदेः सञ्जनयति. सात्त्विकस्येव अत्र 'वैकारिकाहंकार' इति सञ्ज्ञा राजसस्य च तैजस इति पारिभाषिकत्वम् अवधेयम्. एतेन कारणभेदेन मनस इन्द्रियाणां च पृथग्व्यवस्थानं सुतराम् उपपद्यते.

श्रीमद्भागवतेऽपि "प्राणेन्द्रियमनोबुद्धिः..." (६।३।२८) "वित्तस्य वित्ते मन इन्द्रियाणा पति महान् भूतभूतगुणारण्येशः" (६।३।२९) "येन इन्द्रियप्राणमनोगुणान्" (६।३।३३) "निभूतमन्मनोऽक्षदृढयोगयुजो हृदि यत्" (१०।८।७।३३) "कायेन वाचा मनसा इन्द्रिये वा" (११।२।३६) "देहेन्द्रियप्राणमनोधियां यो" (११।२।४९) "इन्द्रियाणि मनोबुद्धिः सह वैकारिके नृप" (११।३।१५) "नैतद् मनो विशति वाग् उत चक्षु आत्मा, प्राणेन्द्रियाणि च यथा अनलम् अर्चिषः स्वाः" (११।३।३६) "बुद्धीन्द्रियप्राणमनोबोधिः" (११।६।७) "मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यते अन्यैरपि इन्द्रियैः" (११।१३।२४) "इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्यो मनसा आकृत्य" (११।१४।४२) "वाच यच्छ मनो यच्छ प्राणान् यच्छ इन्द्रियाणि च" (११।१६।४२) "प्राणेन्द्रियमनोमयम्" (११।२१।३६) "भूतेन्द्रियाणि पञ्चैव मन आत्मा त्रयोदश" (११।२२।२३) "मन कर्ममय नृणाम् इन्द्रियैः पञ्चभि युतम्" (११।२२।३६) "देहेन्द्रियप्राणमनोऽभिमानो" (११।२८।१६) "नात्मावपुः पार्थिवम् इन्द्रियाणि मनो अन्नमात्र पिषणा च सत्त्वम् अहङ्कृति ख क्षिति अर्थसाम्यम्" (११।२८।२८) इत्येतेषु सन्दर्भेषु मनसः इन्द्रियेभ्यः पृथगुपादानात् तस्य तत्त्वतो अनिन्द्रियत्व तेभ्यश्च वैशिष्ट्यमेव व्यवतिष्ठते.

अपिच आत्यन्तिकलयप्रसंगे "अम्बर शब्दतन्मात्रे इन्द्रियाणि स्वयोनिषु, योनि वैकारिके, सौम्यः, लीयते मनसि ईश्वरे" (११।२४।२४-२५) इति निरूपणाद् इन्द्रियाणां स्वप्रवर्तकदेवतासु अथवा स्वकारणे राजसाहंकारे लयो अभिमतः तेषां तस्य च तन्नियन्तरि मनसि तदनु देवताभिः सह मनसो वैकारिकाहंकारे इति अनेनापि मनो न इन्द्रियम् अपितु तेषां नियन्ता-नायकः इत्येव अत्र अभिप्रेतम् उपलक्ष्यते. वस्तुतो मनो अत्र अन्तःकरणस्य कार्यभेदात्

पृथग् अनुभूयमाना वृत्तिरेव यथोक्त तृतीये कापिलेयोपाख्याने 'मनो बुद्धि
अहकार चित्तम् इति अन्तरात्मक चतुर्धा लक्ष्यत भेदा वृत्त्या लक्षणरूपया" (३१६।१४)

अत्र विविधाश्च टीकाकृत तद यथा—

“अन्तरात्मकम् अन्त करण वृत्त्या स्वगुणवृत्त्या सकलप्राप्यवसा-
याभिमानचिन्तारूपया” इति भागवतचन्द्रिकाया श्रीवीरराघव

“अन्तरात्मकम् अन्त करणम् एकमेव, मननहेतुत्वाद् मनो,
बोधनहेतुत्वाद् बुद्धि, देहादो अहकरणहेतुत्वाद् अहकार,
चिन्तनहेतुत्वात् चित्तम् इति चतुर्धा भेदो लक्षणरूपया
मननबोधनादिवृत्त्या लक्ष्यते” इति सिद्धान्तप्रदीपे श्रीशुकदेव

“एकमेव अन्तरात्मकम् अन्त करण मनोबुद्ध्यादिभेदेन चतुर्धा
लक्ष्यते” इति सुबोधिण्या श्रीवल्लभाचार्य

अयम् आशय प्रस्थाने अस्मिन् अन्त करणस्य क्रियाभेदत्वादेव
मनोबुद्ध्यादीना व्यावहारिक पार्थक्य न पारमार्थिकम् तस्माद् अन्त करणस्य
विक्रियाया नाम मन, प्रक्रियाया नाम बुद्धि, सस्क्रियाया नाम चित्तम्,
अहक्रियाया च नाम अहकार इति युक्तम् उत्पश्याम तथापि
आधिदैविकपद्धत्या अत्र मनसो बुद्धे च व्यावहारिको भेद स्वरूपभेद
चपि अभ्युपगम्यते तत्तद्ग्रहस्यञ्च इत्थम् अवकल्पयाम वैकारिकाद् विकुर्वाणाद्
मन तत्त्वम् अजायत यत् सकलविकल्पाभ्या वर्तते कामसम्भव, यद् विदु हि 'अनिरुद्ध'ख्य
द्वयीकाणाम् अधीश्वर शारदेन्दीवश्याम साराध्य यागिभि शनै, तैजसातु विकुर्वाणाद् बुद्धितत्त्वम्
अभूत्, सति, द्रव्यस्फुरणविज्ञानम् इन्द्रियाणाम् अनुग्रह, सशयो अथ विपर्यासो निश्चय
स्मृतिश्च च, स्वाय इति उच्यते बुद्धे लक्षण वृत्तित पृथक्” (३१६।२।३०) इति
यद् उक्त तदेतस्य अयम् अभिप्राय श्रीमद्भागवतानुसारेण प्रत्येकमपि
सृष्टि-म्रष्टव्य-पदार्थजात तदनुरोधेन च उपास्यरूप भागवतत्वमपि आधिदैविकम्
आध्यात्मिकम् आधिभौतिकम् इति त्रिधात्वम् उपाश्रुते तत् परमार्थदृशा
अभिन्नमपि व्यवहारतो धिन्नत्वम् अवगाहते

यथा उक्त द्वितीयस्कन्धे “यो आध्यात्मिको अयं पुन्य साऽसावेव आधिदैविको
य तत्र उभयविच्छेदे पुण्यो हि आधिभौतिकः, एकम् एकतयाभावे यदा न उपलभाते,
त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाय” (२।१०।८, ९), “वीर्यं हिरण्यं देवा
मायया व्यसृजत् त्रिधा, अधिदैवम् अथ अध्यात्मम् अधिभूतम् इति त्रिधा” (२।१०।१३, १४)
अत्र आहु भावार्थदीप्तिकाकृत “आश्रयस्वरूपम् अपरोक्षानुभवेन स्पष्टं दर्शयितुम्
अध्यात्मादिविभागम् आह-योऽयम् आध्यात्मिकः पुण्यं चक्षुषादिकरणाभिमानी द्रष्टा जीव
स एव आधिदैविकः चक्षुषादधिष्ठाता सूर्यादि तत्र एकस्मिन्नेव उभयो द्विरूपो विच्छेदो
यस्मात् स आधिभौतिकः चक्षुर्गोतकाद्युपलक्षितो दृश्यो देहः पुण्य इति पुण्यस्य जीवस्य
उपाधिः ‘स वा एष पुण्यो अन्नसमयः’ इत्यादिश्रुते ‘एकम् एकतयाभावे’ इत्येतेषाम्
अन्योन्यसापेक्षसिद्धित्वेन अनात्मत्वं दर्शयति तथाहि दृश्यं विना तद्व्यतीत्यनुमेयं कारणं न
सिद्ध्यति नापि द्रष्टा न च तद्विना कारणप्रवृत्त्यनुमेयं तदधिष्ठाता सूर्यादि न च तं विना
कारणं प्रवर्तते, न च तद्विना दृश्यम् इत्ययम् एकतस्य अभावः एकं न उपलभाते तत्र
तदा तत्तितयम् आलोचनात्मकेन प्रत्ययेन यो वेद साक्षितया पश्यति स परमात्मा आश्रयः”
इति

तस्माद् अत्र एव व्यवस्था अन्तःकरणचतुर्धा, मनोबुद्ध्यहकारचित्त-
भेदेन

तत्र विपरीतक्रमेण प्रथमं चित्तव्यूहम् अत्र यद् अधिभूतं तत्
‘महद्’ इति व्यपदेश्यम् यद् अध्यात्मं तत् ‘चित्तं’ सञ्ज्ञितम् यद् अधिदैवम्
तत् ‘क्षेत्रज्ञं पुण्यं’ अयमेव आधिदैविकः पुण्य उपास्यत्वेन ‘वासुदेवः’
इति अभिमतः

द्वितीयम् अहकारव्यूहम् अत्र अधिभूतं वैकारिकादिभेदोपलक्षितं
समष्ट्यहत्तत्त्वम् अध्यात्मं प्रतिपुरुषभिन्नो अहकारो ‘अभिमानः’ सञ्ज्ञितः अधिदैव-
श्रीरुद्रः स एव उपास्यत्वेन सत्कर्षणापरनामा सहस्रफणोपलक्षितो भगवान्
अनन्तः

तृतीयं बुद्धिव्यूहम् अत्र अधिभूतं समष्टिबुद्धिः बुद्धिः अव्यक्तमेव

च" (भग.गीता १३।५) इति स्मरणात् अध्यात्म प्रतिपिण्डम् अभेन्द्रियसम्बन्धस्फुर-
णात्मिका अध्यवसायादिरूपा अधिदैवम् अत्र परमेष्ठी प्रजापति ब्रह्मा,
उपास्यदेव च 'प्रद्युम्ना'ख्यो भगवान् चतुर्व्यूहान्तर्गत तृतीय

एवमेव चतुर्थं मनोव्यूहमपि - अत्र अधिदैव ब्रह्माण्डव्यापिसोमतत्त्व
तन्मूलतत्त्व चन्द्रमण्डलं च "चन्द्रमा मनसो जात" (पुरु.सूक्त १२) इति श्रुते
(एतदेव क्षीराकूपारोदभवम् उडुपतित्वेन उपलक्षितम् इति पुराणेषु प्रथते
वाद) अध्यात्म प्रतिपिण्डव्यवस्थितम् उभयेन्द्रियाणां नायकम् अन्तःकरणवृत्ति-
रूप मन, "चञ्चल हि मम कृष्ण" (भग.गीता ६।२४) इत्यादिप्रतिपादितत्वात्
अधिदैव चन्द्रमण्डलाधिष्ठातृदेवत्वेन ब्रह्मणा व्यवस्थापितो अत्रिनन्दन
सोमापरपर्याय 'चन्द्रा'ख्यो देव "सोमो अस्माकं ब्राह्मणानां राजा" इति श्रुते

इत्थं तत्त्वतो अभेदेऽपि प्रत्यक्षादिव्यवहारे श्रीमद्भागवते स्वरूपकार्यादि-
भिन्नत्वाद् बुद्धिमनसी पृथक्-पृथक् निरूपिते

अयम् आशयो मनो वाक्पाण्याद्युपलक्षितानां पञ्चकर्मेन्द्रियाणां
श्रोत्रादीनां पञ्चज्ञानेन्द्रियाणां प्रेरयिता ईश्वर च, तद्विना तेषां स्वस्वकार्यजातेषु
प्रवृत्त्यनर्हत्वात्, कथञ्चित् प्रवृत्तेऽपि स्वकार्ये अक्षमत्वादिति अस्य स्वरूपम्
अथच "यत् सकल्प-विकल्पाभ्यां वर्तते कामसम्भव" (भाग.पुरा ३।२६।२७) इति
मूलोक्तरीत्या सकल्पविकल्पाभ्यां कामस्य इन्द्रियार्थजन्य-भोगाभिलाषस्य
सञ्जननम् अस्य कार्यम् एवमेव "द्रव्यस्फुरणविज्ञानम् इन्द्रियाणाम् अनुग्रह, सहायो
अथ विपर्यायो निश्चय स्मृतिश्च तेषां इति उच्यते बुद्धे लक्षणं वृत्तिरप्युक्तं"
(तत्रैव ३।२६।२९-३०) इति प्रागुदाहृतग्रन्थप्रामाण्याद् बुद्धिं द्रव्यादीनां,
श्रोतव्यावलोकयितव्येत्याद्यर्थानां स्फुरणकर प्रकाशक ज्ञानस्वरूपजननं किमपि
सामर्थ्यम् इन्द्रियाणां च अनुग्राहकं च बुद्ध्या विना तानि-तानि इन्द्रियाणि
तेभ्य-तेभ्य विपर्यय पृथक्-पृथक् भोगाहरणं कर्तुम् अनर्हाणि इति एतस्य
तात्पर्यम्

इत्थं चित्तस्य भोगादौ प्रवृत्तिनिवृत्त्यात्मक स्फुरण, बुद्धे द्रव्यस्फुरणरूप

विज्ञान, मनसो रागद्वेषादीच्छामयत्वम् अहकारस्य च एतेषा त्रयाणामपि कार्याणाम् अभिमानम् इति चतुर्विधस्य अन्तःकरणस्य व्यतिरिक्तानि कार्याणि इति अवधेयम् तथाहि “शब्द शृणोमि” इत्यत्र प्रथम चित्तेन चेतनामात्र निधीयते बुद्ध्या “शब्दो अयम्” इति स्फूर्ति मनसा “मधुरो अय शब्दो/अस्तुदो अयम्” इति जिघृक्षा-परिजिहीर्षा वा अहकारेण च तत्र स्वाभिमानार्पणम् इति निदर्शनसगति

बुद्धे द्रव्यस्फुरणस्यैव प्रपञ्च सशयादिकाज्ञानविशेषा, सदोपनिर्दिष्टिन्द्रिय-वृत्तिद्वारेण जायन्ते तत्र शशय “स्थाणु वा पुरुष. वा” इति उभयकोट्यवगाही अनिशचयज्ञानम् विपर्यासो अतस्मिन् तद्बुद्धिरूपो मिथ्याज्ञानम् निश्चयो अध्यवसाय प्रमाणज्ञान वा अनुभूतविषयासम्प्रमोष स्मृति पूर्वानुभूतस्य विषयस्य सस्कारद्वारेण पुन बुद्धौ उपारोह स्वापो निद्रा च न तिरोहित तदविदाम्

यसु “बुद्धे जागृण स्वप्न सुषुप्ति इति च उच्यते” (१२।४।२५) इति द्वादशस्कन्धोक्तलक्षणं न अत्र सगच्छते इति मा एव भाषिष्ठा तत्रैव ‘मायामात्रम् इदं गच्छन् नानात्वं प्रत्यगात्मनि’ (१२।४।२५) इत्युक्तपद्धत्या प्रकरणस्य अस्य पारमार्थिकत्वात् कैश्चिद् मते अत्र ‘बुद्धि’शब्दस्य जीवात्मधर्माभूतज्ञानपर-त्वात् च इति अनुक्तोपालम्भनम्

अपरत्रापि अत्र शास्त्रे “मन सर्वविकारात्मा बुद्धि विज्ञानरूपिणी” (२।१०।३२) इति मनसो बुद्धे च लक्ष्मणी यत् निर्गदिते तत् तयोरपि तात्पर्यं पूर्वोक्तनिरूपाणात् न मनागपि विसद्वदते यत् सर्वान् कामसकल्पादीन् मनएव सञ्जीवयति बुद्धिरपि तथाभूतार्थविज्ञानरूपिणी, नतु स्वयं परमार्थग्राहिणी, मनप्रेरितेन्द्रियानुग्राहकमात्रत्वात् अत्र सुबोधिनीकृतो व्याख्यान किञ्चिद् भिन्नं दृश्यते यथाहि “सर्वे हि विकारा त्रिविधा, तन्मयत्वात् मनोऽपि त्रिविध, बुद्धिरपि त्रिविधा इति आह ‘बुद्धि विज्ञानरूपिणी’ इति त्रिविधं ज्ञान विज्ञानम् तत् त्रिविधमिति तद्रूपिणी बुद्धिरपि त्रिविधा”^२ अनेन बुद्धि-मनसो प्रकृतिकृतगुणसम्पर्केण त्रैविध्यम् उदीरितम्

आचार्येण तदपि “बुद्धे भेदं धृते चैव गुणत त्रिविधं शृणु” इति उपक्रम्य
 “प्रति. सा पार्थ तामसं” (१८।१९-३५) इत्यन्त प्रकरणम् अनुसर्ततीति न प्रमाणपराहतम्.

अथ दशानामपि इन्द्रियाणां लक्षण-स्वरूप-कार्यादीनि. तत्र प्रस्थाने
 अस्मिन् प्रथमम् इन्द्रियसामान्यलक्षणं तत्रैव द्वितीयस्कन्धे “गुणात्मज्ञानि इन्द्रियाणि”
 (२।१०।३२) इति. अस्य अयम् अर्थः : गुणेषु शब्दादिषु आत्मा प्रवृत्ति
 स्वभावो येषाम् अथवा ओत्पत्तिक सम्बन्धो येषां तानि गुणाभिमुखस्वभावानि
 इति आशयः. शब्दाद्यर्थेषु प्रवृत्तिः यद्यपि मुख्यतया ज्ञानेन्द्रियाणामेव किन्तु
 कर्मेन्द्रियाण्यपि व्याहरणाहरण-गमनादिक्रियाद्वारेण तदर्थोपस्थापनोपयिकत्वम्
 आभजन्तइति लक्षणस्य न अव्याप्तिः

अथ उत्पत्ति-कारणाभिप्रायेण अपस्त्र किञ्चिद् अपरं लक्षणं, तत्रैव
 च क्रियोपजनन-ज्ञानोपजनन-कार्यद्वयविभागाद्, द्वेविध्यमपि अगीचकार
 भागवतकृदपि “तैजसानि इन्द्रियाण्येव क्रियाज्ञानविभागात्” (३।२६।३१) कापिलेयोपा-
 ख्याने. तदुभयलक्षणोत्थं समुदित लक्षणं, “तैजसाहंकारजन्यत्वे सति
 एकपिण्डस्थितत्वात् तदभिमानि-भोगसिद्धिर्चापयिक-तत्तत्क्रिया-
 ज्ञानान्यतरोपजनन-सामर्थ्यम् इन्द्रियम्” इत्येव निर्गलति

अथ एतेषां विशेषलक्षणानि : श्रीमद्भागवतशास्त्रे द्वितीयस्कन्धस्य
 षष्ठे अध्याये (प्रथमाद् आरभ्य अष्टमश्लोकपर्यन्तं), तृतीयस्कन्धस्य च
 षड्विंशे अध्याये (सप्तचत्वारिंशत्तमाद् आरभ्य अष्टचत्वारिंशत् षष्ठम्
 अभिव्याप्य) उभयविधानाम् इन्द्रियाणाम् अधिष्ठातृदेवैः समर्थजातानि कार्याणि
 च समनुक्रान्तानि. एवमेव एकादशे श्रीमद्भगवदुद्धवसवादेऽपि “श्रोत्रं त्वग्
 दर्शनं प्राणो जिह्वा इति ज्ञानशक्तयो वास्याण्युपस्थाप्यश्चिक्रमाणि अग्रे उभयं मनः, शब्द-
 स्पर्शौ स्तो गन्धौ रूपं च इति अर्थजातयो गत्युक्त्युत्सांशित्यानि कर्मयितनसिद्धयः”
 (१।१।२।१५-१६।) इतिश्लोकद्वयेन ज्ञानक्रियाभेदभिन्नानाम् एषां विषया कार्यभेदा
 च सन्निरूपिता. तदनुसृत्य क्रमशः समेषामपि विशेषलक्षणानि स्वरूपाणि
 वा च इत्थं निष्कर्षयाम

(अ) कर्मेन्द्रियाणि (पञ्च)

१ वह्निदेवताधिष्ठित स्थूलशब्दोद्भावनसमर्थम् इन्द्रिय वाक् व्यष्टिशरीरस्थमुखोपलक्षितजिह्वा अस्या गोलकम् केवल वैखर्या एव वाच समुद्भावनम् अस्या कर्म मध्यमा-पश्यन्त्यो. मनोरूपत्वात् परायाश्च आत्माभिन्नत्वात्

२ इन्द्रदेवताधिष्ठितम् आदान-विसर्जनादि- बहुविधशिल्पोपजननम् इन्द्रिय पाणि तत् मनुष्येषु सामान्येषु द्वित्वावच्छिन्न देवादीना तपोयोगवरप्रभावादि-परिवृहितसत्त्वाना मानवानाञ्च बहुबाहूपलक्षितमपि

३ उपेन्द्र(विष्णु)देवताधिष्ठितगमनसन्तरणस्फालनाघातादि- मृत्युपजननम् इन्द्रियम् अग्नि तदपि सामान्यमानवाना शरीरे द्वित्वमयम्

४ प्रजापत्यधिष्ठित कामसुखोत्पादन सन्तत्युपजनननिमित्तञ्च मेढ्रम् तच्च स्त्री-पुनभेदेन द्विप्रकारक प्रसिद्धमेव

५ मित्रदेवताक मृत्युदेवताक वा मलनिस्सारकम् इन्द्रिय पायु अस्य मलादिनिस्सारक छिद्र गुद, मूत्रापसारकञ्च मेढ्रस्थानएव व्यवस्थितम् इति वैलक्षण्यम्

एतेषा प्रत्यक्षप्रमाणे न साक्षादुपयोगो, ज्ञानाजनकत्वादिति वयमपि अभ्युपगच्छाम प्रसंगवशादेव अत्र विवेचन विहितम् एषाम् इति अवधेयम्

(आ) ज्ञानेन्द्रियाणि (पञ्चैव)

१ “नभोगुणविशेषो अर्थो यस्य तत् श्रोत्रम् उच्यते” (३।२६।४४) इत्यनेन, “अभिद्येता कर्णौ श्रोत्रं ततो दिश” (३।२६।५५) इत्यनेन च श्रीमद्भागवतवचनप्रामाण्येन “दिग्देवता-धिष्ठित नभोगुणविशेषेण शब्दग्राहकम् इन्द्रिय श्रोत्रम्” एतस्य ‘पितृहू दक्षिण कर्णो उक्तो देवहू स्मृत’ (४।२९।१२) इति पुरज्जनोपाख्यानतात्पर्याध्यायोक्तदिशा सामान्यतो गोलकद्वय

मानवानाम् शक्ति तारतम्येन स्फुटानाम् अस्फुटाना
मन्द्रमध्यतारादिस्वरवता च स्थूलशब्दानाम् अनेन ग्रहणम्
सूक्ष्मदिव्यशब्दानां ग्रहणन्तु ग्रमेयबलेन गोलकनिरपेक्षामपि
उपपद्यते

२ “वायो गुणविशेषो अर्थो यस्य तत् स्पर्शनं विदुः”
(३१२६।८६) इति वचनेन “स्पर्शो अभवत् तदा वायु
त्वक् स्पर्शस्य च सग्रहः” (३१२६।३५) इति वचनेन च “वायुदेवताक
वायुगुणविशेषत्वेन स्पर्शग्राहकम् इन्द्रिय त्वक्” एतस्य
सर्वस्मिन्नपि स्थूलशरीरे बाह्याभ्यन्तरे परिव्याप्ति त्वग् इति
उपलक्षणं स्पर्शग्राहकशरीरकोशानां स्नायुतन्त्रोत्थसूक्ष्मसवेदनानां
वा तेन न तत् चर्ममात्रपर्यवसायि, दन्तफेलादौ
उदराभ्यन्तरावप्येवमपि च स्पर्शस्य सवेदितत्वाद् इति विशेषेण
अवधेयम् वस्तूनां मृदुत्व-कठिनत्व, शैत्यम्-उष्णत्व,
लघुत्व-गुरुत्व, समत्व-विषमत्व, मृणुत्व च एवमादयो
विविधा स्पर्शा अनेन गृह्यन्ते’

३ “तेजोगुणविशेषो अर्थो यस्य तत् चक्षु उच्यते”
(३१२६।४८) इत्युक्त्वा ‘निष्प्रेरेताम् अक्षिणीं चक्षु एतया
तस्मात् सूर्यः” (३१२६।५५) इति उक्त्वा च, “सूर्यदेवताक
बलाबलतारतम्येन उद्भूतानुद्भूतरूपग्राहकम् इन्द्रिय
चक्षुः” तच्च “द्रव्याकृतित्वं गुणता व्यक्तिसत्थात्वमेव च तत्रस्त्व
तेजसः, साक्षिः, रूपमात्रस्य वृत्त्यः” (३१२६।३९।) इति उक्तरीत्या
रूपतन्मात्रस्य वृत्तयो द्रव्यस्य आकारसमर्पकत्वं ‘गुणता’=
द्रव्योपसर्जनतया प्रतीति ‘व्यक्तिसत्थात्व’=द्रव्यस्य या सत्था
सन्निवेशः तेनैव तत्प्रमाणप्रतीति चक्षुरिन्द्रियविषयत्वम्
द्रव्योपसर्जनतया द्रव्ये गुणतया प्रथमं सयोगसम्बन्धेन द्रव्यज्ञानं
ततः सयुक्तसम्बन्धेन रूपज्ञानम् इति अर्थः अथच रूपग्रहणेन
साकं प्रतिबिम्ब-सख्या-परिमाण-पृथक्त्व-सयोग-विभाग-
परत्वापरत्वादि-धर्माणां साक्षाद् ग्रहणं चक्षुषेव ‘साक्षाद्’

इति कुतः चेद्, उच्यते : संख्यादीनाम् असाक्षाद् ग्रहणं स्पर्शादिभिरपि सम्भवत्येव. शुक्लकृष्णलोहितादिवर्णानां वस्तुनो अभावस्य चापि चक्षुषेव ग्रहणं बोध्यम्. एतेषु च अन्येन्द्रिययोग्यवच्छेद, चक्षुर्मात्रैकग्राह्यत्वादिति सर्वम् उपपन्नम्. अस्य च, “खद्योताविर्मुखी च अत्र नेत्रे एकत्र निमित्ति, रूपं विभ्रजितं ताभ्यां विचष्टे चक्षुषा ईश्वर” (४१२११०) इति वचनात् लोकप्रत्यक्षाच्च दक्षिणवामनेत्रभेदाद् गोलकद्वयं सामान्यमानवानां दिव्यचक्षुः योगचक्षुः इत्यादयस्तु गोलकनिरपेक्षमेव तद् उपरिष्टाद् वक्ष्याम.

४. “अम्भोगुणविशेषो अर्थो यस्य तद् रसनं विदुः” (३१२६१४८) इत्यनेन, “.. देवा वैकारिका दश दिवातार्कप्रचेतोऽश्विनस्त्रीन्द्रोपेन्द्रमित्रका” (२१५१३०) इत्येतेन च वाक्येन “वरुणदेवताकम् अम्भोगुणविशिष्टं रसग्राहकम् इन्द्रियं रसनम्” इत्यस्य चतुर्थज्ञानेन्द्रियस्य लक्षणम् आयाति. इन्द्रियेन अनेन मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषयायानां षड्रसानां दुग्धघृतादिविशिष्टास्वादसंवेदनानां जलगतस्यापि आयनकरस्य निर्विशेषरसस्य च ग्रहणं भवति.

५. “भूमे गुणविशेषो अर्थो यस्य स घ्राण उच्यते” (३१२६१४८) इति ग्रन्थवचसा, पूर्वोदहृतेन च “दिवातार्कप्रचेतोऽश्विन” इत्यादिना सन्दर्भेण “नासृत्यौ इति ख्याते अश्विनीकुमारशुम्भेन अधिष्ठितं भूमिगुणविशेषेण गन्धग्राहकम् इन्द्रियं घ्राणम्” अस्यापि स्थूलशरीरे एकस्यामेव नासिकाया छिद्रद्वयरीत्या गोलकद्वयमेव भास्थेयम् एतत्प्रमाणन्तु पुरञ्जनाख्यानतात्पर्यनिरूपणाध्याये यथा “नलिनीनलिनी नासे गन्ध सौम उच्यते” (४१२१११) इति गन्धस्य भेदापि तृतीयस्कन्धे “कर्मभूतिसौरभ्यशान्तोग्राम्तादिभिः पृथक्, द्रव्यावयववैषम्याद् गन्ध एको विभिद्यते” (३१२६१४५) इति अलम् अतिपल्लवितेन.

एतद् सामान्येन्द्रियप्रत्यक्षं श्रोत्रादिपञ्चेन्द्रियमात्रजन्यं पञ्चविधमेव न

नैयायिकादिवत् पञ्चविधम् अस्माभिः पूर्वविवेचितरीत्या मनसः इन्द्रियनायकत्वेऽपि तस्य इन्द्रियतया अनभ्युगीकारात्. तद् इत्थम् : श्रोत्रेन्द्रियस्थूलशब्दसन्निकर्षज श्रावणम्. त्वगिन्द्रियतद्विषयवद्वस्तुसन्निकर्षज स्पर्शनम्. चक्षुरिन्द्रियरूपवद्वस्तुसन्निकर्षजं चाक्षुषम् रसनेन्द्रियरसवद्वस्तुसन्निकर्षजरासनम्. घ्राणेन्द्रियगन्धवद्वस्तुसन्निकर्षजन्यं च घ्राणजमिति.

यद्यपि वागादिकर्मेन्द्रियाणां ज्ञानजनकत्वं नास्ति किन्तु श्रोत्रादिज्ञानेन्द्रिय-
ग्राह्यशब्दाद्युद्भावने, समीपं गत्वा शब्दश्रवणे, करेण पुष्पादीनि आदाय
आघ्राणेन, स्पर्शं, रसबद्धस्त्वादाय तस्य आस्वादने च परोक्षतया हि एतेषामपि
साहाय्यम् उन्नेयम्

प्रत्यक्षप्रव्रिज्यातु अत्र वेदान्तप्रसिद्धा वृत्तिमूलेव. तत्तदिन्द्रियद्वारेण
अन्तःकरणस्य विषयाकारपरिणामएव अत्र वृत्तिः. यथा तडागोदकं छिद्रेभ्यो
बहिः निर्गत्य कुल्याप्रणालिकादिना केदारं प्रविश्य तदाकारं गृह्णाति तथा
अन्तःकरणमपि इन्द्रियवर्त्मना विषयम् उपेत्य तदाकारं गृह्णाति वृत्तिप्रामाण्यन्तु
अत्र शास्त्रे “सखायं इन्द्रियाणां ज्ञानं कर्म च यत् कृतं सख्यं तद् वृत्तयः
” (४।२।१।६) “एकादशा आसन् मनसो हि वृत्तयः” (५।१।१।९) “...
बुद्धेः लक्षणं वृत्तिरिति पृथक्” (३।२।६।३०) “बुद्धेः जागरणं स्वप्नं सुषुप्तिः
इति वृत्तयः” (७।७।२।५) इत्यादौ अवलोकयितव्यम्.

प्रत्यक्षप्रमा अत्र वस्तुतो अद्वयज्ञानापरपर्यायचेतन्यमेव तस्य
प्रमातृप्रमाणविषयोपाधिवशादेव व्यावहारिकं त्रैविध्यं, यथा उक्तम्
अत्रैव . “ज्ञानम् एकं पराचीने इन्द्रियैः ब्रह्म निर्गुणम् अवभाति अर्थरूपेण भ्रान्त्या शब्दादिधर्मिणा”
(३।३।२।२८) अपि च, “बुद्धीन्द्रियार्थरूपेण ज्ञानं भाति तदाश्रयम्, दृश्यत्वाव्यतिरेकाभ्याम्
आद्यन्तवद् अवस्तु यद् दृश्यं चक्षुः च रूपं च ज्योतिषो न पृथक् भवेद् एव धी
खानि मात्रा च न स्युः अन्यतमाद् कर्त्ताद्” (१।२।४।२३-२४) इत्यादौ

ननु चेतन्यमेव अत्र ज्ञानस्वरूपं चेत् सन्निकर्षाणां किं प्रयोजनम्?

इति जिज्ञासायाम् उच्यते व्यवहारे घट-तद्गतरूपरूपत्व-
शब्दशब्दत्वावच्छिन्न-चैतन्याभिव्यञ्जक-वृत्त्युत्पादने सयोग-सयुक्ततादात्म्य-
सयुक्ताभिन्नतादात्म्य-रूपाणां सन्निकर्षाणां विनियोगत्वात् न निष्प्रयोजनत्वम्
यद् उक्तम् एकादशे स्वयं भगवतेव “यावद् देहेन्द्रियप्राणे आत्मन सन्निकर्षणं
ससारं फलवान् तावद् अपदार्थो अविवेकिनाम्” (११।२।८।१२) इति

एवरीत्या चैत्यसंस्कारोद्बोधात् कामात्मकेन सकल्पविकल्पात्मना मनसः
प्रेरणया बुद्धीन्द्रियाणां विषयेषु प्रवृत्तिः पश्चाद्बुद्धिवृत्त्या तेषाम् अनुग्रहः
तदनु विषयसस्य इन्द्रियैः पुनरपि मनसे समर्पणं परस्ताद् “इवमेव अहम्
अहं भोगी” (भा.गीता १७।१४) इति रीत्या अहकारेण कर्तृत्वभोक्तृत्वाभिमानः
इति विमूढात्मनः प्रत्यक्षप्रक्रिया यथाहि अत्र ग्रन्थो “अन्तर्पुरं च हृदयं
विषूचिं मन उच्यते तत्र मोहं प्रसादं वा हर्षं प्राप्नोति तद्गुणैः, यथा-यथा विक्रियते
गुणावतो विक्रान्तिं वा, तथा-तथा उपद्रष्टा आत्मा तद्वृत्तीं अनुकायति” (४।२।१।६-१७)
‘मन एव मनुष्यस्य पूर्वरूपाणि शसति, भविष्यतः च भद्रं ते तथैव न भविष्यतः सर्वे
क्रमात्परोधेन मनसि इन्द्रियोच्चा आयाति वर्गशो यान्ति” (४।२।१।६६, ६८) “नाहं
ममेति भावो अयं पुरुषे व्यवधीयते यावद्बुद्धिमनोऽक्षार्थगुणब्यूहो हि अनादिमान्” (४।२।१।७०)
“मन एव, मनुष्येन्द्र! भूतानां भवभावनं यदा अक्षे चरितान् ध्यायन् कर्माणि आचिनुते
असकृत्” (४।२।१।७७-७८) युक्तात्मनस्तु “इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्यो मनसा आकृष्य,
तद् मनो, बुद्ध्या सात्त्विकं, धीरं प्रणयेद् मयि सर्वतः” (११।१।४।४२) इति अपरेवसात्
परिष्ठाद् दर्शयिष्यते इन्द्रियाणां प्राप्यकारित्वविषयेऽपि औपनिषदा राद्धान्तमेव
वयम् अव्याकलयामः तस्माद् घ्राणरसनत्वगिन्द्रियाणां स्वस्वस्थान एव
गन्धरसस्पर्शग्रहणम् चक्षुःश्रोत्रयोस्तु विषयस्थानम् उपेत्यैव रूपशब्दाहरणम्
इति सर्वं सम्प्रतिपन्नम्

इदम् इन्द्रियप्रत्यक्षनिर्विकल्पक-सविकल्पकम् इति द्विधा इन्द्रियार्थसं-
निकर्षस्य प्रथमक्षणे यत् सप्तगानवगाहि भेदरहितं किञ्चिद् इति अनुभूयते
तत् निर्विकल्पकम् मनसम्पर्कमात्रजन्यं सात्त्विकं, बुद्धितृत्या अननुगृहीतं
ज्ञानं, यत्तु बुद्धिकृतभेदभिन्नं राजसं द्वितीयक्षणे नामजात्यादि-योजनासहितम्

अवबुध्यते तत् सविकल्पक प्रत्यक्ष व्यवहारपरम् इति यथा, "केवल सात्विक ज्ञान खो वैकल्पिक च यत्" (११।२५।२४) 'विकल्पबुद्धिम् च गुणे विधत्' (११।२१।३०) "व्यवहृतये विकल्प इषितो अन्धपरम्परा" (१०।८।७।३६) इत्यादी

ख सामान्येन्द्रियद्वारेण घटपटादी सन्मात्रसत्तावगाहिज्ञानिना प्रत्यक्षम् :

अत्र निर्विकल्पकम् इति सामान्यजनप्रत्यक्षप्रक्रियानुगुण व्यावहारिक निरूपितम् यत्र ब्रह्मावबोधेन योगिना तत्त्वज्ञानिना भेदज्ञान विलीयते तत् शुद्धचिन्मात्रावगाहि द्वितीय पारमार्थिक निर्विकल्पकम् तदेव च सामान्येन्द्रियद्वारेण घटपटादौ सन्मात्रसत्तावगाहि ज्ञानिना प्रत्यक्षम्

अत्र पञ्चेन्द्रियै उपस्थापितेऽपि पञ्चविषयात्मके सासारिके बोधे विशुद्धमनसा योगिना न ब्रह्मव्यतिरिक्तम् अन्यद् भान भवति घट-पटादौ सर्वत्रापि ब्रह्माकारा वृत्तिरेव जरीजृम्भते, भेदभिन्नम् अखिल दृश्यजात च "नेह नामा इति किञ्चन" (बृह उ ४।४।१९) इति श्रुत्युक्तदिशा स्वयमेव विलीयते अमीषा शरीरादिव्यवहारजातन्तु बाधितानुवृत्तैव सघटते श्रीमद्भागवते तन्निरूपण च यथा 'निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढयोगयुजो हृदि यद् मुनय उपासते' (१०।८।७।२३) "ध्यानेन इत्थ सुतीक्ष्णेण युञ्जतं यगिणो मन, सयास्यति आशु निर्वाण द्रव्यज्ञानक्रियाग्रम्" (११।१४।४६।) "यद् विज्ञाय पुमान् सतो जह्याद् वैकल्पिक ग्रामम्" (११।२४।१) इति

अस्यैव पारमार्थिक-निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्य "तत् त्वम् असि" (छान्दो उप ६।८।७) इत्यादि महावाक्यानाम् अर्थावगमे सगति उपपद्यते

ग सामान्येन्द्रियद्वारेण भगवद्भक्ताना "वासुदेवः सर्वम्" इति 'भावनाप्रत्यक्षम्' :

पूर्वेनिरूपितज्ञानिप्रत्यक्षाद् इदं प्रमातृस्वरूपमहिम्ना किञ्चित् प्रक्रियाभेद-महिम्नैव व्यतिरिच्यते नतु परमार्थतया ह्यत्रापि सामान्येन्द्रियद्वारेण सुखदुःखादिरूपार्थसार्थवत् ससारस्य भगवद्भक्तिजन्य-भावनाप्राबल्येन "वासुदे-

व सर्वम्” इति तत्त्वमात्रपरायणत्वात् तन्निर्दर्शनानि च अत्र सक्षिप्य समानीयन्ते यथा “ख वायुम् अग्निं सलिलं महीं च ज्योतीषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन् सस्तिप्तमुद्रान् च हृत् शरीरं यत्किञ्च भूतं प्रणमद् अमन्य” (१११२।४१) “सर्वभूतानु व पश्येद् भावदभावम् आत्मनः, भूतानि भावति आत्मनि एव भागवतोत्तम” (१११२।४५) ‘मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यते अन्यैरपि इन्द्रियैः अहमव न मतो अन्यद् इति बुध्यध्वम् अब्रूवा” (१११२।४८) “इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्यः मनसा आकृष्य तन्मनः बुद्ध्या साराधिता धीः प्रणयेद् मयि सर्वतः” (१११२।४९) इत्यादीनि

अपिच अत्र एकादशस्कन्धगते श्रीकृष्णोद्धवसवादे, भगवद्विभूतिवर्णना-
त्मक षोडशोऽध्यायः समग्रोऽपि अस्येव निर्दर्शनभूत इति न प्रमितिः

घ योगराद्धदिव्येन्द्रियप्रत्यक्षम् :

यन्यायनये अलौकिकप्रत्यक्षभेदे अन्यतम, ‘योगजप्रत्यक्ष’ युक्तयुज्जान-
योगिभिः, तद् अत्र अस्मिन् भेदे परिगृह्यते अस्माभिरपि द्विविधम्
तत्र “धारणाध्यानादिचिन्तासहकृतं प्रथमम्, समाधिजन्यम् अप्रयासनिर्व-
त्यञ्च द्वितीयम्” यदुक्तम् अस्मत्प्रस्थाने “अनागतमतीतञ्च वर्तमानम् अतीन्द्रियम्
विप्रकृतं व्यवहितं साम्यं पश्यन्ति योगिनः” (१०।६१।२१) इत्यत्र

अत्र तपो योगधारणा ध्यानमहिम्ना वा मितयोगिनो गोलकनिरपेक्षतया
सूक्ष्मेन्द्रिये यत् परिच्छिन्नकालपर्यवसायिनीं साक्षात्कृतिम् आतन्वते तस्य
एतानि उदाहरणानि प्रादुर्भवन्ति शास्त्रे अस्मिन् -

पृथो यज्ञे अश्वहन्तारम् इन्द्रम् अनेनैव चक्षुषा ददर्श तत्रभवानत्रि
‘तम् अत्रि भगवान् ऐक्षत् त्वरमाणं विहायसा” (४।११।१२) इति व्यावर्णितदिशा
तथैव रेणुकाया स्वपत्न्या मनश्च्यवनम् अनेनैव विज्ञातवान् जमदग्निः,
“व्यभिचारं मुनिं ज्ञात्वा पत्न्या प्रकुर्वितो अब्रवीत्” (१।१६।५) इति एतानि
तपोबलकृतप्रत्यक्षस्य निर्दर्शनानि यद्यपि इमे अत्रिजमदयन्यादयो युक्तत्वात्
न मितयोगिनः तथापि अत्र परिच्छिन्नकालावसायिनी प्रत्यक्षप्रक्रिया अमीषाम्

इति उदाहरणत्वेन इह गृहीता. एव तपोजन्य-योगजप्रत्यक्षस्य अन्येऽपि सन्दर्भा "भूयस्त्वं तप आतिष्ठ विद्या चैव मदाश्रयां ताभ्याम् अन्तर्हृदि ब्रह्म लोकान् दृक्ष्यसि अपावृत्तान्" (३।१।३०).

एवं ध्यानधारणाद्युद्भवानि प्रत्यक्षाण्यपि यानि श्रीमद्भागवते ह्युपवर्णितानि तानि एतत्प्रभेदपर्यवसायीन्येव^१.

अथ समाधिजन्यं शश्वत्कालिकं च योगजप्रत्यक्षमपि : "दृष्ट एव आत्मनि ईश्वरे" (१।२।११) "पश्यन्ति अदो रूपम् अदभ्रचक्षुषा" (१।३।४) "दुर्भागान् च जनान् वीक्ष्य पुनि दिव्येन चक्षुषा" (१।४।१८) "अथो महाभाग भवान् अमोघदृक् समाधिना अनुस्मर तद्विचेष्टितम्" (१।५।१३) "भक्तियोगेन मनसि सम्यक्प्रणिहिते अमले, अमश्यत् पुरुष पूर्णं माया च तदपाश्रयाम्" (१।७।४) "स वा अयं यत्पदम् अत्र सूक्ष्मो जितेन्द्रिया निर्जितमातरिश्वन पश्यन्ति भक्त्युत्कलितामलात्मना ननु एष सत्त्व परिमार्ष्टुम् अर्हति" (१।१०।२३) "भगवान् वेद कालस्य गतिं भगवतो ननु विश्वं विचक्षते धीर योगरुद्धेन चक्षुषा" (३।११।१७) इत्येवमादिभिः सन्दर्भैः सर्वहृद्यताम् आधत्ते.

छ. भगवदनुग्रहलब्ध-भगवज्जनानुग्रहलब्ध-दिव्येन्द्रिय-प्रत्यक्षम् :

भगवत्कृपया सिद्धभगवज्जनकृपया च यदा भगवद्भक्तानां सामान्येन्द्रियेष्वेव काचिद् ईदृशी दिव्यशक्तिः आविर्भवति यया ते अप्राकृतानां श्रीमद्भगवद्विग्रहलीलाधामादिकानां साक्षात्काराय सुतरां प्रभवन्ति तदा अयं भेद स्वरूपम् अवकल्पते. श्रीमद्भागवते अत्र बहूनि उदाहरणानि गोचरयितुं पार्यन्ते. तेषु कानिचनेव अत्र सगृह्यन्ते, यथा -

- (१) "तस्मै स्वलोकं भगवान् सभाजितं सन्दर्शयामास परं न यत्पदम्" (२।१।१९)
इति उपक्रम्य "तद्दर्शनाह्लादपरिप्लुतान्तरो हृष्यन्तु प्रेमभाशुलोचन"
(२।१।१७) इति पर्यन्तं ब्रह्मकृतभगवत्साक्षात्कारसन्दर्भः.

(२) ध्रुवप्रह्लादादिभगवद्भक्तानां भगवद्दर्शनप्रसंगा.

(३) दशमे अवतरणप्रसङ्गे "तम् अद्भुतं बालकम् अम्बुजेक्षणम्" (१०।३।१९)

इति आरभ्य “बभूव प्राकृत शिशु” (१०।३।४६) इत्यन्तं कथानकम्
(४) दशमे मृदभक्षणलीलाप्रसंगे यशोदाये उपाहृत भगवतो विश्वरूपदर्शनम्
(१०।८।३७ - ४३)

(५) दशमस्कन्धेव उपवर्णित “इति सञ्चिन्त्य भावान् महाकारुणिको हरि,
दर्शयामास लोकं स्व गोपानां तमसं परम्” (१०।१८।१४) इत्यादिरूपेण
श्रीकृष्णेन बल्लवजनेभ्यः स्वधाम्नः प्रत्यक्षीकरणम्

(६) तथा च अत्रैव एकोनविंशो अध्याये यमुनाह्वये अक्रूराय भगवता
स्वकीय विभूतिमद्विष्णुस्वरूपदर्शनप्रदानम्

एव भगवज्ज्ञानानुग्रहलब्ध-दिव्येन्द्रियप्रत्यक्षप्रसंगादपि, भागवते -
नारदागिरोभ्यां प्रतविद्यामाहात्म्येन चित्रकेतो सकर्षणदर्शनकथानकेन (द्रष्ट -
६।१६) “व्यासप्रसादात् श्रुतवान् एतद् गुह्यम् अहं परम्” (भाग.गीता १८।७५)
इति सन्दर्भेण उन्नेया तत्तत्त्वम् अवजिगमिषुभि इति सर्वम् अवदातम्

मानसप्रत्यक्षम् -

“अहं सुखी दुःखी, मनसि मे कामो मोहो हर्षो वा जागर्ति”
इत्याद्यन्तं करणधर्मावबोधक मानसप्रत्यक्ष सर्वसवेद्यं न इन्द्रियार्थजन्यम्,
उक्तपूर्वरीत्या मनसो अनिन्द्रियत्वात् तत्र ‘आत्ममनसयोगा’ख्यं प्रथमं,
सुखदुःखादिमनसन्निकर्षलक्षणं संयुक्तसमवायं च द्वितीयं इति प्राभाकराभिमत-
पद्धति न अगीकार्या, अस्मत्प्रस्थाने सुखादीनां मनोवृत्तित्वाभ्युपगमात्
तथाच श्रुति “कामं सकल्यो विविक्लिता श्रद्धा अश्रद्धा धृतिः अपृतिः ही
धी भी इत्येतत् सर्वं मनएव” (बृह.उप. १।५।३) अत्रच, “अयो दहति” इति
लाक्षणिकव्यवहारस्वद् आत्मनः सुखाद्याकार-परिणाम्यन्तं करणैक्याध्यासाद् “अहं
सुखी” इत्यादि व्यवहारसिद्धिं बहुलतया उपलभ्यमानत्वाद् ग्रन्थगतोदाहरणवा-
क्यानि अत्र न उपन्यस्यन्ते

मुक्तात्मना नित्यात्मनःप्रत्यवशात्मकं केवलबोधमयं स्वरूपप्रत्यक्षम्

अतः परं सूक्ष्मतमम् अव्यक्तं निर्विशेषणम् “अनादिमध्यनिधनं नित्यं

वाङ्मनसः परम्" (११०१३४) "यतो अग्राप्य निवर्तन्ते वाय च मनसा सह" (३६१४०)
 "यद् न स्पृशन्ति न विदुः मनोबुद्धीन्द्रियास्रव" (६११६१३) इति आकस्मिकप्रतिपादितत्वात्
 न एकधा च "यतो वाचो निवर्तन्ते अग्राप्यमनसा सह" इत्यादि श्रुत्यन्तवचोभिश्च
 निरूपितत्वात् केवलानुभवानन्दात्मकस्वरूप-साक्षात्कारे न चक्षुरादीन्द्रियाणां
 न वा मनसो अनुप्रवेशः शक्यस्वीकरणः, तस्मात् "पश्यन्ति आत्मनि च
 आत्मनम्" (११२१२१) "ज्ञानेन वृष्टतत्त्वेन प्रवृत्ते पुरुषस्य च, निवृत्तबुद्धचवस्थानो दूरीभूतान्यदर्शन-
 उपलभ्य आत्मा आत्मानं चक्षुषेव अर्कम् आत्मदृग् एव प्रत्यक्षमय असौ आत्मनां प्रतिपद्यते"
 (१२७११०-१६) "यथा उत्सुकाद् विस्फुलिगाद् धूमाद् वापि स्वसम्भवाद् अप्यात्मत्वेन
 अभिमताद् यथा अपि पृथग् उत्सुकाद् भूतेन्द्रियान्तःकणात् प्रपन्नाद् 'जीव'सञ्ज्ञिताद् आत्मा
 तथा पृथग्द्रव्या भगवान् 'ब्रह्म'सञ्ज्ञितः, सर्वभूतेषु च आत्मानं सर्वभूतानि च आत्मनि,
 ईक्षेत अनन्यभावेन भूतेष्विव तदप्रमताम्" (१२८१४०-४२) "ईक्षेत आत्मनि च आत्मानं
 यथा खम् अमलाशयम्" (११२११२) इति उपदर्शितदिशा ब्रह्मबोधानन्तप्रकाशेन
 उपहितबुद्धितत्त्व-चिदाभासादि-प्रत्यक्षाभ्युपगमसामग्रा ब्रह्मापरपर्यायात्माकारा-
 कारित-वृत्त्यात्मप्रत्यवगमात्मकस्य अपरोक्षस्य ग्रन्थोक्तदिशा 'आत्मसविद्'
 इत्याख्यस्य अस्य चरमप्रत्यक्षस्य सगति इति अध्यवस्याम्.

इत्थम् इदम्प्रथमतया श्रीमद्भागवतप्रस्थानोपगता प्रत्यक्षप्रक्रिया प्रतिपत्तुणा
 प्रमोदाय भगवत्कृपया अत्र यथामति प्रदर्शिता

अधुना शुद्धाद्वैतनयनिपुणस्य श्रीपुरुषोत्तमचरणस्य प्रस्थानरत्नाकरीया
 प्रत्यक्षपद्धतिः तुलनात्मकधिया संक्षेपेण अत्र विमृश्यते

प्रस्थानरत्नाकरोक्तप्रत्यक्षानिरूपणे श्रीमद्भागवतस्य संवादो विसंवादो
 वेति विमर्शः.

प्रकरणम् आरम्भाणः तत्र भवान् गोस्वामिवर्यं प्रथमम् "इन्द्रियात्मकं
 प्रमाणं प्रत्यक्षम्" इति प्रत्यक्षप्रमाणस्य किञ्चिद् अपूर्वं लक्षणं परिनिश्चिकाय.
 इन्द्रियाणि अत्र चक्षुरादीनि पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि मनश्च इति षट्संख्याकान्येव
 अङ्गीकृतानि. यद्यपि अत्रेव ग्रन्थे प्रमेयप्रकरणे "तेजसाहकारोपादेयत्वे सति

ज्ञानक्रियान्यतराणम्” इति लक्ष्मनिर्धारणपुरस्सर “तानि ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय-भेदाद् द्विधा. तत्र वाणादीनि पञ्चकर्मेन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि” (‘प्रस्थानरत्नाकरं’ ग्रमेरूपग्रहण कोटिप्रय निरूपके कल्लोले द्वितीयतरोः)^६ इति भागवतप्रस्थानप्रतिपादितार्थमेव प्रादीदृशात् तथापि अत्र नवीनरीत्या मनसहकृतं पट्कमेव समचीकलदिति मर्मास्य सम्प्रधारयितु नेशमहे वय कुत ? उभयत्र विरोधापत्तेः. तत्रहि न मनसः इन्द्रियत्वेन ग्रहणम् अत्रच ‘इन्द्रिय’पदेन ज्ञानेन्द्रियपञ्चकस्येव स्वीकरणमिति अस्वारस्यम् अयसरति श्रीमदाचार्यस्य स्वकीयेष्वेव वचनेषु.

यदि प्रत्यक्षप्रक्रियानुपयोगित्वात् न कर्मेन्द्रियाणि अत्र सकलितानि इति श्रीमद्भि. मेघिष्ठैः तत्पक्षीयै समाधातुं प्रयत्येत तदपि न मनोरमम्. तथात्वे “ज्ञानेन्द्रियात्मक प्रमाणं प्रत्यक्षम्” इत्यात्मकेन लक्षणेनेव प्रतिपिपादयिषितत्वसार्थक्यम्. अथ मनराः इन्द्रियत्वविषये स्वयमेव दोलायमानचित्तता तत्र भवतो वेदान्तपरिभाषाकृतसमाधानस्य निराकरणाशक्यत्वात् “यद्वा इन्द्रियत्वम् अनिन्द्रियत्वञ्च उभयम् अस्तु इति व्याहारोपलब्धे” (तत्रैव १२८ पृष्ठे) श्रीमद्भागवतेऽपि मनो अन्तःकरणभेदत्वेनेव परिगृहीत, “मनो बुद्धि अहंकार चित्तम् इति अन्तरात्मक चतुर्धा लक्ष्यते भेदो वृत्त्या लक्षणरूपया” (१२६।१४) इति प्रागुदाहृतग्रन्थप्राप्ताण्यात् तत्रैव च “एकमेव अन्तरात्मकम् अन्तःकरणं मनोबुद्ध्यादिभेदेन चतुर्धा लक्ष्यते. एकस्य अनेकधा लक्षणे हेतु “लक्षणरूपया वृत्त्या भेदो लक्ष्यत” इति वृत्तिभेदाद् भेद वृत्ति च लक्षणरूपा” इति महाप्रभुवल्लभाचार्यकृत-सुबोधिनीग्रन्थप्राप्ताण्याद् इति प्रकरणम् इदं चिन्त्यमूलम्

निबन्धाऽनेन अतः पर चक्षुरादीन्द्रियग्राह्यविषयविचारे महता अध्यवसायेन अभावस्य आविर्भाव-तिरोभावयो अन्तर्भाव प्रसाधितः तमपि श्रीमद्भागवतप्रा-गाण्यपराहतमेव उत्पश्याम. एतत्तु युक्तिविधुरमपि सर्वविधाभावस्य अनङ्गीकरणम् इति. “अत्र षटो ह्यत्र च घटाभावः” इत्याद्यनुभवस्थले न कश्चित् सामान्य उत्प्रेक्षाप्रवणो वा जनो “अत्र घटस्य आविर्भावो अत्रच तस्य तिरोभावः” इति अनुभवति तत् निपुणतरम् उपपादितमपि प्रकरणम् इदं

न प्रत्यक्षप्रतिपादनम् उपकरोति

इतो अनन्तरं विद्वद्धोरेण श्रीमत्पुरुषोत्तमेन प्रत्यक्षकरणरूपाणाम् इन्द्रियाणां पञ्चविधव्यापारनिरूपणं निपुणम् उपावर्णिं तत्र अलौकिकव्यापारे 'योगज' इति तस्य उपभेदः न प्रत्यक्षभेद इति आम्नात तत्रापि अस्माकम् इयं जिज्ञासा समुन्मिषति—योगिना प्रत्यक्षे स्थूलेन्द्रियत्वेन उपचरितानां शरीरस्थगोलकानाम् उपयोगो अनुपयोगो वा? यदि उपयोगः तर्हि सामान्य-लौकिक-व्यापाराद् अत्र को विशेषः? यदि अनुपयोगः तर्हि कथं व्यापारत्वं? व्यापारस्य च भवन्मते प्रत्यासत्तिरूपत्वाङ्गीकारात् प्रत्यासत्ते च इन्द्रियगोलक-तत्सन्निकृष्ट-विषयरूपत्वादिति उभयतः पाशरज्जुं यश्च श्रीमद्भागवतम् अनुसृत्य "एकादशा आसन् मनसो हि वृत्तयः" (५।११।९) इति वृत्तिविचारो अत्र कृतो, यच्च जाग्रदवस्थायां पञ्चविधेन्द्रिय-सन्निकर्षमात्रजन्यं ज्ञानं निर्विकल्पकं तदेव सशयादिवुद्धिवृत्यनुगृहीतं सत् सविकल्पकं ज्ञानं भवति इति न्यरूपि तत् प्रागुक्तरीत्या वयमपि सम्प्रधारयाम श्रीमद्भागवतसमर्थितत्वाद् इति प्रमोदजनकमेव अस्मत्कृते

किन्तु अत्र उपसहारे श्रीमद्भागवत्साक्षात्कारप्रणाली या सर्वथा प्रमेयबलादेव निर्धारिता तस्य अनिन्द्रियग्राह्यत्वात् कथं प्रत्यक्षत्वसंगतिः? प्रत्यक्षत्वञ्च अस्य तद्वेतुणाम् अनुभवसिद्धम् अपिच एवरीत्या "द्विष्यं ददामि ते चक्षुः" (भग. गीता ११।८) इति गीताशास्त्रोक्तदिशा श्रीमद्भागवद्दर्शने पुराणग्रन्थेषु भृशं निरूपितं चरं दिव्येन्द्रियमयत्वमपि परोक्षं भवति तत् न उचितं, श्रीमद्भागवतशास्त्रे विविधकथासु निरूपितत्वादिति स्वाभिमतम् अतिविनम्रतया आवेदयाम

अतो अत्र प्रागुपपादिता श्रीमद्भागवतप्रस्थानस्यैव पद्धती रुचिरा इति अवधार्यं पर्यन्ते च इदमेव विनिवेद्य विरामो वयं यथा—

याऽस्माभिः किञ्चिदुन्नीता श्रीमद्भागवताश्रिता ।

प्रत्यक्षपद्धतिं सेयं विद्वद्भिरनुमन्याताम् ॥

गोस्वामिश्रीमदाचार्या स्निग्धा श्याममनोहरा ॥

बन्धवश्च शरद्वर्याः तुष्यन्त्वेतेन वर्तमाना ॥

इति श्रीकृष्णार्पणमस्तु !

टिप्पण्यः

- १ यथाहि सुगतमतानुयायिना लक्षण, “कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्”, आर्हताना,
“विशद प्रत्यक्षम्”, नव्यनैयायिकाना “ज्ञानाकरणं ज्ञानं प्रत्यक्षम्”, प्राभाकराणां
“साक्षात्प्रतीतिः प्रत्यक्षम्, अद्वैतवेदान्तिना “यत् साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म”
(बृह.उप.३।४।१) इति श्रुत्या निर्गलितं “प्रत्यक्षप्रमायाः करणं प्रत्यक्षप्रमाणं.
प्रत्यक्षप्रमा च अत्र चैतन्यमेव” इति वेदान्तपरिभाषोक्तं लक्षणं,
निशिगदाद्वैतवादिनाञ्च “साक्षात्काशिमाकरण प्रत्यक्षम्” इति यतीन्द्रमतदीपिकोक्तं
लक्षणम्.
- २ द्रष्टव्या अत्र ‘भागवतचन्द्रिका’ ‘शुक्लक्षीया’ ‘पदरत्नावली’ सञ्ज्ञिकाः टीका.
- ३ “वस्तुनो मृदुकाठिन्य लघुगुर्वोष्णशीतताम्,
जिघृक्षतस्त्यङ्गनिर्भिन्नाः तस्या रोममहीरुहा” (भाग.पुर.२।१०।२३) अपि च,
“मृदुत्वं कठिनत्वञ्च शैत्यमुष्णत्वमेव च,
एतत् स्पर्शस्य स्पर्शत्वं तन्मात्रत्वं नमस्यत” (तत्रैव ३।२६।३६।)
- ४ द्रष्टव्यो अत्र - “वेदान्तपरिभाषाया प्रत्यक्षपरिच्छेद
५. योगजो द्विविध प्रोक्तो युक्तयुज्जानभेदेत,
युक्तस्य सर्वथा भान चिन्तासहकृतो अपर” (न्यायसिद्धान्तमुक्तावल्या कारिका
६५)
- ६ “ईक्षेत चिन्तामयम् एनम् ईश्वर यावन्मनो धारणया अवतिष्ठते” (२।२।१२)
इत्यत्र धारणाप्रत्यक्ष, “यदङ्घ्रिभिर्ध्यानसमाधिधौतया धिया अनुपरयन्ति
हि तत्त्वम् आत्मन” (२।४।२१) इत्यत्र च ध्यानप्रत्यक्ष दिङ्मात्रम्.
७. गोस्वामिग्रीशयाममनोहरसम्पादितस्य श्रीबल्लभविद्यापीठ कोल्हापुरत प्रकाशितस्य
‘प्रस्थानरत्नावरस्य’ (तृतीयसंस्करणे) २५३ पृष्ठे

श्रीद्भागवतप्रस्थाने प्रस्थानरत्नाकरे च

प्रत्यक्षप्रमाणविमर्शः

डॉ. विन्ध्येश्वरीप्रसादमिश्रः

मंगला चिंचोरे : What is the period of Bhāgavat? Because of we also has differentiated between four kinds of Pratyaksa Indriya, Manasa, Svasamvedana and Yogaj So, what is the deference between the perception that is acceptable to Bhagavat?

विन्ध्येश्वरीप्रसाद : भागवतस्य क काल इति विषये मम मतन्तु प्राचीन वर्तते, परम्परिक वर्तते आचार्यै यन् निर्दिश्यते तदेव प्रमाणम्

गो. श्या म : हमारे मतमे तो पुराण वेदसे भी प्राचीन है, प्रकट वादमे हुवे है “पुरा भव पुराणम्” लो ऑफ् ग्रेविटिका नियम बहुत पुराना है पर प्रकट उसको न्यूटनने किया

विन्ध्येश्वरीप्रसाद : यह सही है अब भागवतपर किसका प्रभाव है, धर्मकीर्तिका है या ओर किसीका है यह पृथक् प्रश्न है अब आप देखिये कि महाभारतके समय तो पुराण थे ही

गो श्या. म : उपनिषदोमे पुराणोंका वर्णन आता है धर्मकीर्ति स्वयं मूलमे तो ब्राह्मण थे, बौद्ध तो बादमे हुवे अतः उन्होने पुराण पढ़े भी हो सकते है

अच्युतानन्द दास : भगवतो विश्वरूपदर्शनयोगे चिकीर्षितमपि अर्थ दृष्ट्वा तम् अर्थ दर्शितवन्त अर्जुनाय

विन्ध्येश्वरीप्रसाद : भविष्यत्कालीनम्

अच्युतानन्द दास : एवम् तम् अर्थ पुनः सञ्जयो दृष्ट्वा युधिष्ठिर वदति

सो वदति “मया हता त्व जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व
जेतासि एणे सपत्नान्” तत्र इमे भीष्मादयो मया हताएव
अत त्व जहि, मा व्यथिष्ठा, युध्यस्व, जेतासि तत्र प्रश्नो
अय भवति, यादृशम् अर्थ न सञ्जात, भावीनम् अर्थ
भगवास्तु जानात्येव भगवत तादृश सामर्थ्य वर्तते भगवत
चिकीर्षित तद् वर्तते परन्तु चिकीर्षितस्य अर्थस्य अन्यस्यै
दर्शन नाम केवल ज्ञापन वा तस्य साक्षात्कारो ?

विन्ध्येश्वरी प्रसाद : भूत-भविष्यदित्यादिदृष्ट्य तावत् अस्मदादीना कृते
भगवत कृतेषु सर्वमपि करतलामलकवत् भवति सर्व वर्तमानमेव
अतो भगवता यद् दर्शित तत् सर्व दर्शितमेव नतु श्रावितम्
भगवत्कृपया अर्जुनस्य दिव्यचक्षु सञ्जाता “दिव्य ददामि
ते चक्षु पश्य मे योगमैश्वरम्” तर्हि ‘योगम्’ इति कश्चन
प्रभाव गोलक तदेव भवति

अच्युतानन्द दास : तदानी भक्तस्य भगवद्रूपता आयाति वा ?

विन्ध्येश्वरी प्रसाद : आयात्येव

गो श्या म : इस सम्बन्धमे हमारे यहा इस तरहसे समाधान है
जो भी कुछ नाम-रूप-कर्मात्मक जगत है वह सच्चिदानन्दमेसे
चिदानन्दके तिरोधान पूर्वक लोकमे प्रकट है पर वो सारेके
सारे नाम-रूप-कर्म भगवान्मे सच्चिदानन्दात्मक रूपमे है
ही अत भगवान् जब उनका दर्शन कराते है तब अशतिरोधानके
विना उनको दर्शन कराया, नाम-रूप-कर्मोंका “स सर्वनामा
सच सर्वरूप” भगवान् है तो उनमे जब दर्शन होता
हे तब इन्हीं सर्व वस्तुओंका भगवदात्मक दर्शन होता
हे और अभी जब हमे नाम-रूप-कर्मोंका दर्शन होता
हे तो वह चिदानन्दाशके तिरोधानके कारण जडत्वके अनुरूप
या जीवात्माके अनुरूप होता हे It is a sort of
blue print which is there in Brahman And that
blue print is developed in Sṛṣṭi इसीलिये मैने अपने

पेपरमें वह श्रुति भी उद्धृत की है कि जितने भी नाम हैं वो वाणीसे उत्थित होते हैं “नाम्नां वाग्... अतोहि सर्वाणि नामानि उत्तिष्ठन्ति... ब्रह्म एतद् हि सर्वाणि नामानि विभर्ति”, जितने भी रूप हैं वो चक्षुसे उत्थित होते हैं “रूपाणां चक्षु... अतोहि सर्वाणि रूपाणि उत्तिष्ठन्ति... ब्रह्म एतद् हि सर्वाणि रूपाणि विभर्ति”, जितने भी कर्म हैं वो आत्मासे उत्थित होते हैं “कर्माणाम् आत्मा... अतोहि सर्वाणि कर्माणि उत्तिष्ठन्ति... ब्रह्म एतद् हि सर्वाणि कर्माणि विभर्ति”. तो एक तो ब्रह्मद्वारा धृत नाम-रूप-कर्म हे ओर एक चक्षु-वाणी और आत्मा, यानि कि प्राणात्मा लो या जीवात्मा लो, उसके द्वारा पुनरुत्थापित नाम-रूप-कर्म हैं. इस तरह नाम-रूप-कर्मोंका अवस्थाभेदसे... एक लीलात्मक नाम-रूप-कर्म हैं और एक स्वरूपान्तःपाति नाम-रूप-कर्म हैं. इस तरहसे दो भेद मानते हैं. माध्वमतमें बहुत अच्छी एक प्रक्रिया हे भगवान् प्रत्येक शब्दके परम या प्रथम वाच्य माने गये हैं. तो वो हम भी इस अर्थमें स्वीकारते हैं कि सर्वशब्दवाच्य भगवान् इस अर्थमें हैं कि सारे रूप भगवान्में ब्ल्यू-प्रिन्टकी तरह मौजूद हैं तो सर्वशब्दके वाच्य भगवान् होंगे ही.

अच्युतानन्द दास : इस बातपरसे मेरे मनमें यह विचार आता है कि क्या हम भगवान्के मनको 'विश्वमन' कह सकते हैं? तो प्रश्न यह है कि योगिप्रत्यक्षमें योगी अपने मनको विश्वमनके साथ जोड़ देता है. इससे विश्वमनमें जितने अर्ध हे उन सबका योगीको प्रत्यक्ष हो जाता है. अतः योगी भूत-भविष्यत् सबका दृष्टा हो जाता है.

गो. श्या. म. : इसीलिये कालपरिच्छिन्नता उसमें नहीं होती है. सच्चिदानन्दात्मकता होनेके कारण उसमें कालपरिच्छिन्नता नहीं होती है. इसीलिये महाप्रभुने लिखा है “अनित्ये

जनन नित्ये परिच्छिन्ने समागम, नित्यापरिच्छिन्नतनो प्राकट्य चेति सा त्रिधा” उत्पत्ति- त्रिधा भवति. १. अनित्ये जननम् २ नित्ये परिच्छिन्ने समागम. जड नाम-रूप-कर्म सब अनित्य है, कालत परिच्छिन्न है और देशत परिच्छिन्न नाम-रूप-कर्मका समागम होता है, उत्पत्तिनाश नहीं होता है. कालपरिच्छिन्नमे उत्पत्तिनाशकी लीला प्रकट होती है. इसके प्रतिरूप जो आनन्दात्मक है उनमे न तो उत्पत्तिनाश होता है न समागम होता है, केवल प्राकट्य या अप्राकट्य होता है. ३ नित्यापरिच्छिन्नतनो प्राकट्य चेति सा त्रिधा. तो अर्जुनको जो दीखा था वह केवल प्राकट्य था और जैसे देहमे आत्माका आना-जाना होता है. और देह खत्म होता है और पैदा होता है ऐसी प्रक्रिया हमारे यहां बतलाई गई है

... +*

संगोष्ठ्युत्तरलेखन

गो श्या म

श्रीमद्भागवत पुराणके प्रति आलेखकारके ममत्वातिशयके कारण और तदनु रूप निरन्तर अवगाहनके कारण भी भागवतीय प्रत्यक्षप्रमाणकी सुविशद तथा अद्भुत मीमांसा करनेवाली प्रस्तुतिको पढ़ कर मन सहज ही विस्मित हो जाता है। महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणके अनुसार श्रीमद्भागवत, परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णका नामात्मक रूप होनेके कारण, श्रवण-कीर्तन-स्मरण-भावनकी प्रक्रियाद्वारा आराध्य भावरूप है, सर्वसन्देहवारक केवल प्रमाणग्रन्थ ही नहीं अतः श्रीकृष्णके “मल्लानाम् अशानि, नृणां नखः, स्त्रीणां स्मरं मूर्तिमान्, गोपानां स्वजनो, अमृता क्षितिभुजा शास्ता, स्वपित्रो शिशु, मृत्यु

भोजपते, विराड् अविद्युतां, तत्त्वं पर योगिनां वृष्णीनां परदेवता इति विदितः" निरूपणके अनुरूप हम शुद्धाद्वैतियोंकी तरह अन्य केवलाद्वैती आदि मतानुगामियोंको भी यह पुराण अपने-अपने भावोंके अनुसार अतिशय ही अपना निजी ग्रन्थ लगे यह स्वाभाविक कथा ही है. अतएव श्रीमधुसूदन सरस्वतीने भागवतीय उपाख्यानोंको ब्रह्मके निदिध्यासनोपयोगी माना है. श्रीमद्भागवतपुराणके परमभक्त श्रीविन्ध्येश्वरीप्रसादजीके आलेखपत्रको भी सुनने-पढ़नेपर इस तथ्यकी सपुष्टि होती है.

भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यके प्रस्थानत्रयीके भाष्य आदि ग्रन्थोमें उपलब्ध होते तत्त्वनिरूपण तथा विभिन्न देवी-देवताओंके स्तोत्रोंमें उपलब्ध होते भक्तिभावाभिष्यञ्जन की भाषा संस्कृतभाषाके इतिहासमें एक अतीव स्पृहणीय मानक है, इसमें किसी तरहके सन्देहको अवकाश नहीं इनकी वाणीमें प्रदप्रयोगोंमें प्रकट हुवा सहज प्रसादगुण, भावगाम्भीर्य, लयबद्धता और विचार्य या स्तुत्य विषयवस्तुके निरूपणमें समप्रमाण प्रयुक्ति, उनकी वाणीको भलीभांति न समझ पानेवालेके हृदयको भी बरबस आकृष्ट कर लेती है यह उनके मतके साथ सहमत हो पानेवाले या न हो पानेवाले प्रत्येक अध्येताके लिये स्यानुभवेकवेद्य विषय है उनके तत्त्वनिरूपणकी प्रभावोत्पादकता एवं हृदयवर्जकता का प्रमाण स्वयं इतनी बड़ी संख्यामें विद्वत्समुदायका केवलाद्वैतमतानुगामी होना है। इसी तरह भगवत्पादरचित स्तोत्रोंकी भक्तिभावोद्बोधकता भी अनूठी है कोई किसी देवविशेषका भक्त हो या न हो किन्तु भगवत्पादरचित किसी देवी या देव के स्तोत्रोंको एक बार भी पढ़ ले तो अपने अनाराध्य देवको भी स्मृतिपटलसे दूर कर पाना कठिन हो जाता है, यह भी एक स्वानुभवेकवेद्य तथ्य है। साथ ही साथ यह भी एक तथ्य है कि स्वयं भगवत्पादके तत्त्वनिरूपण और देवस्तोत्रों में प्रकट होनेवाले विचार और भावों की परस्पर सगति बिठा पाना एक अतीव दुष्कर व्यायाम प्रतीत होता है

यद्यपि बौद्धोंकी तीखी आलोचना करते हुये भगवत्पाद "अपिच

वाह्यार्थ-विज्ञान-शून्य-वाटत्रयम् इतरेतरविरुद्धम् उपदिशता सुगतेन स्पष्टीकृतम् आत्मनो असम्बद्धप्रलापित्व प्रद्वेषो वा प्रजासु विरुद्धार्थप्रतिपत्त्या विमुह्येषु इमा प्रजा इति" (ब्र सू भा २।२।३२) ऐसा विधान करते हैं वाल्लभ सम्प्रदाय, परन्तु, भगवान् बुद्धको श्रीहरिका अवतार तो भगवत्पाद श्रीशङ्कराचार्यको उसी रुद्रका अवतार, जो सदा वशीरूपेण श्रीकृष्णके करकमलो और मुखकमल से सलम है, मानता है। अतः इन दोनोंके बीचकी इस नोकझोंकी भी हम तो गम्भीररूपसे लेनेके बजाय लीलाकलहके रूपमें ही लेना चाहेंगे फिरभी इस सन्दर्भमें एक तथ्य अवश्य ही उल्लेखनीय लगता है कि भगवत्पाद श्रीशङ्कराचार्यके तत्त्वनिरूपण तथा भक्तिपूर्ण स्तोत्रों में प्रकट हुयी विरुद्धधर्माश्रयतामें परवर्ती शाङ्करोंको निरन्तर उलझाये रखा कि इस विरुद्धधर्माश्रयताका समाधान क्या देना।

परवर्ती शाङ्कर विद्वानोंने कभी बौद्धोंके द्विविध सवृत्ति-परमार्थ सत्योंकी तरह व्यावहारिक-पारमार्थिक द्वैतकी कल्पना द्वारा इसे सुलझाना चाहा तो कभी विनैय-विनीतरूप द्विविध अधिकारियोंके प्रभेदकी कल्पनाकी तरह चित्तशुद्ध्यर्थ/शुद्धचित्तवाले जिज्ञासु/ज्ञानीके प्रभेद "उपलम्भात् समाचाराद् अस्तिवस्तुत्ववादिना जातिस्तु देशिता बुद्धे अजाते वसता सदा" (माण्डु कारि ४।-४२) की कल्पनाद्वारा तो कभी निर्वाणैकगम्य सर्वविध शून्यताके सम्पूर्ण साक्षात्कारके बादभी करुणाभावकी प्रबलताके वश निरन्तर जनमते रहनेवाले बुद्धकी ही तरह तरह "सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाह न मामकीन त्वम्!" (पट्ट स्तो ३) या ब्रह्मात्मैक्यके साक्षात्कारके बाद भी "द्वैत मोहाय घोधात् प्राग् जाते घोधे मनीषया भक्त्यर्थं कल्पित द्वैतम् अद्वैतादपि सुन्दरम्" जैसी उत्तरकालिक उपासानार्थ द्वैतकी कल्पनाद्वारा तो कभी "य चोऽसं स्थाणु" की याधितानुवृत्तिकी कल्पनाद्वारा तो कभी "देशना लोकनाधाना सत्त्वाश्रयवशानुगा भिद्यन्त बहुधा सांके उपाये बहुभि भिन्नापि देशना अभिन्ना शून्यताद्वयलक्षणा" (इष्ट ब्र सू भा २।२।१८) की तर्ज पर "अधियतभिदा जननहरणी सुक्ति ग्रहमाद्रूपैकपरायणा प्रार्चयन् व्ययहासिद्विषयसु आत्मैक्यसिद्धौ परा सनहृद्यदभि अनादयन् सारणया नानाविधा दशिता" (सि ले स मा) नीतिकी कल्पनाद्वारा

तो कभी आवरणनिवृत्तिके बाद भी विशेषानुवृत्तिकी कल्पना द्वारा तो कभी अपने अलावा अन्य सारे मतवादोको मिथ्या ओर अपने ही मतको एकरात्र पारमार्थिक मान कर सर्वाविरोधी "स्वसिद्धान्ताव्यवस्थानु द्वैतिनो निश्चिता वृद्ध परस्पर विरुद्धयन्ते तै अयं न विरुद्धयते" (माण्डु कारि ३।१७) की नीतिके अपना कर भी सुलझाना चाहा इसलिये मिथ्यात्वेन अभिमत अन्य मतोंका स्वयंके मतमें अन्तर्भाव स्वीकारनेमें भी किसी तरह आपत्ति न होनेके कारण सर्वसमन्वयकी कल्पनाद्वारा भी कभी सुलझाना चाहा तो कभी बौद्धोंकी तरह पूर्व-पूर्व प्रसक्तके तात्कालिक अभ्युपगमके बाद उत्तरोत्तर प्रतिषेधद्वारा "यथा-यथा समारोपा जायन्ते तत्त्वयोगिनः तथा-तथा समारोपा हन्यन्ते तत्त्ववादिनाः" की तरह अपवादार्थ अध्यारोपाभ्युपगमकी नीति अपना कर "विवर्तवादस्य हि पूर्वभूमि वेदान्तवादे परिणामवादः व्यवस्थिते अस्मिन् परिणामवादे स्वयं समायाति विवर्तवादः" (सधे शारि २।६१) सुलझाना चाहा यो तत्त्वोपदेश और कर्तव्योपदेश के बीच रहे विरोधाभासके परिहारमें निरन्तर शाकरोका चित्त दोलायमान लक्षित होता है शाकर वेदान्तमें, अतः, अनेकविध विरुद्धवादोंके आनुपगिकतया अभ्युपगमोंके उत्तरोत्तर विकसनकी प्रक्रियाके इतिहासका क्रमबद्धतया निर्धारण एक महान् गवेषणीय विषय लगता है

कहा तो "न देवा न लोका न वेदा न यज्ञा न तीर्थं न शुक्लं न कृष्णं अरूपं तथा नच एकं तदन्यद् द्वितीयं कुत स्यात् नवा केवलत्वं नच अकेवलत्वं न शून्यं नच अशून्यम् अद्वैतकत्वात्" (दशरत्नो ३-१०) और कहा "घनश्यामो वामो वज्रशिशुवयस्यो अर्जुनसख मम भवतु कृष्णो अक्षिविषयः" (श्रीकृष्णाष्ट ७)। और फिर "प्रपञ्चो मिथ्या दृश्यत्वात् स्वप्नवत्" भी यो सतत विरोधाभासी भावोंमें आन्दोलित होते मूलाचार्योपदिष्ट तथा परम्पराविकसित द्विविध उपदेशोंमें ही अन्तमें "अद्वैतं न सदेहो अस्ति विदेहे द्वैतम् अस्ति नो जीवन्मुक्तस्य न अन्यस्य द्वैताद्वैतमहोत्सवः" के अंगीकारद्वारा आविद्यक मिथ्या द्वैतको बाधयोग्य माननेके बजाय महोत्सवका घटक बना दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि शाकर वेदान्तिओंके ऐसे दोलायमान चित्तका ही यह चरम परिपाक था कि श्रीचित्सुजाचार्य और श्रीश्रीधरस्वामी की

परम्परामे आगे चल कर महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके पड़ोसी तथा उनके द्वितीयात्मज गोस्वामी श्रीविठ्ठलनाथ प्रभुचरणके विद्यागुरु श्रीमधुसूदन सरस्वतीको एक श्वासमे ही “एतेन भगवल्लोकादेऽपि नित्यत्वम् अपास्त तस्मात् निर्गुण निराकार ब्रह्म इति सिद्धम् वशीविभूषितकराद् नवनीरदाभात् पीताम्बराद् अरुणविम्बफला- धरोष्ठात् पूर्णन्दुसुन्दरमुखाद् अरविन्दनेत्रात् कृष्णात् पर किमपि तत्त्वम् अह न जाने” (अद्वै सि २) विधानमें कुछ अनुपपत्तिजनक प्रतीत नहीं होता गौडब्रह्मानन्दी व्याख्यामे, परन्तु, “जीवन्मुक्तोऽपि आचार्यं पूर्वसञ्चितभजनवासनया श्रीकृष्ण स्मरति” (तत्रैव) कह कर यहा उभरे विरोधाभासको टालनेका प्रयास कथञ्चित् किया गया इस विरोधाभासका सर्वाधिक विस्फोट भगवान्की आत्मस्वीकृति “अजोऽपि सन् सम्भवामि आत्ममायया” (भग गीता १४६) के भाष्यमे भगवत्पाद स्वयं “स्वा मम वैष्णवी माया त्रिगुणात्मिका यस्या वशे सर्वं जगद् वर्तते यया मोहित सत् स्वम् आत्मानं वासुदेव न जानाति आत्ममायया न परमार्थतः” (तत्रैव शा भा) कहते है और शाकर मतके कितने बड़े वकील होनेके बावजूद श्रीमधुसूदन सरस्वती भाष्यकारके मतके समकक्षतया अन्यमतके नामसे जो उन्हे रुचता है वैसा वैष्णवपक्ष प्रस्तुत कर उसे उपपन्नतया दासना चाहते हैं

‘नित्यो य कारणोपाधि ‘माया’ख्यो अनेकशक्तिमान् सएव भगवदेह इति भाष्यकृता मतम् अन्येतु परमेश्वरो देहदेहिभाव न मन्यन्ते किन्तु यश्च नित्यो विभु सच्चिदानन्दधनो भगवान् वासुदेव परिपूर्णो निर्गुण परमात्मा सएव तद्विग्रहो नान्य कश्चिद् भौतिको मायिको वा इति अस्मिन् पक्षे योजना सर्वभासक सवकारणमायाधिष्ठानत्वेन सवभूतेश्वरोऽपि सन् अह ‘प्रकृति’ = स्वभाव सच्चिदानन्दधनैकसम् माया व्यावर्तयति स्वस्वरूपम् अधिष्ठाप्य स्वरूपावस्थितएव सन् सम्भवामि देहदेहिभावम् अन्तर्णीव देहिवद् व्यवहारामि कथं तर्हि अदेहे सच्चिदानन्दधने देहत्वप्रतीति इत्यत आह त्रिगुणे शुद्धे सच्चिदानन्दसत्तवे मयि भगवति वासुदेवे देहदेहिभावगुण्य तद्रूपेण प्रतीति मायामात्रम्” (तत्रैव मधुसू)

यहा यद्यपि यह ग्रन्थकारने कण्ठत यह स्पष्ट नहीं किया उल्लिखित दोनो मतोमेसे उन्हे कौन सा अभिप्रेतततर है परन्तु आगे बढ़नेपर -

“तस्मात् श्रीकृष्णाद् अन्यद् वस्तु पारमार्थिकं किं निरूप्यता,
तदेव एकं पारमार्थिकं न अन्यत् किमपि पराकृतनप्रद्वन्द्वं
परं ब्रह्म नराकृति सौन्दर्यसारसर्वस्व वन्दे नन्दरत्नजं मह”

“शैवा होरा च गणेशा वैष्णवा शक्तिपूजका भवन्ति
यन्मया सर्वे सोऽहमस्मि पा शिव प्रमाणतोऽपि निर्णीत
कृष्णमाहात्म्यम् अद्भुतं न शक्नुवन्ति ये सोऽहं ते मूढा निरपगता”

“अस्मिन् हि गीताशास्त्रे निष्ठाग्रय साध्यसाधनभावापन्न
विवक्षितम् उक्तं च बहुधा भगवद्भक्तिनिष्ठातु उभयसाधनभूतोभ-
यफलभूता च भवतीति अन्ते उपसंहृता ‘सर्वधर्मान् परित्यज्य
माम् एकं शरणं ब्रज’ इत्यत्र भाष्यकृतस्तु ‘सर्वधर्मान् परित्यज्य’
इति सर्वधर्मसन्न्यासानुवादेन ज्ञाननिष्ठा उपसंहृता इति आहुः
भगवदभिप्रायवर्णने के छय कराका । यद्यो यद् ‘गीता’ख्य
परमपुरुषस्य आगमगिरा रहस्य तदव्याख्याम् अनतिनिपुण को
वितनुताम् ! अहन्तु एतद् बाल्यं यद् इह कृतवान् अस्मि कथमपि
अहेतुस्नेहाना तदपि कुतुकायेव महताम्”

(तत्रैव १४।२७, १५।२०, १८।६६)

इन वचनोंके अवलोकनसे दबी जवानमे गूढार्थदीपिकाकार निजमत ही
कहते से दृष्टिगत होते हैं वैसे भाष्योत्कर्षदीपिकाकारने अनेकत्र गूढार्थदीपिकाकारके
व्याख्यानकी जम कर आलोचना की है वे इस तरहके अमायिक साकाररूपकी
मायावादी सिद्धान्तके साथ संगति स्वीकारने उद्यत नहीं सो जो विकल्पजाल
रचते हैं उसका भावानुवाद देना चाहता ऐसा भगवद्विग्रह क्या साकार
होता है कि निराकार ? आद्य कल्पमे ऐसे आकारको निर्गुण ब्रह्मका परिणाम
मानना कि विवर्त ? परिणाम इसलिये माना नहीं जा सकता कि निर्विकार
ब्रह्मका विकाररूप परिणाम सम्भव नहीं, अन्यथा उसे अनित्य ही मानना
पड़ेगा विवर्त माननेपर उस विवर्तकी साधिका मायाकी अपरिहार्यताके कारण
भगवद्विग्रहको ‘अमायिक’ कहना उपपन्न नहीं होगा भगवद्विग्रहको निराकार

मान कर श्रीकृष्णरूपमें विशेषाकारवान् भी मानना तो वदतोव्याघात होगा श्रीकृष्णका ऐसा सच्चिदानन्दधनैकरस विग्रह करचरणादिमान होता है या करचरणादिरहित? ये करचरणादि भी क्या दृश्य होते हैं अथवा अदृश्य? आद्य कल्पमें भगवद्विग्रह पाचभौतिक कार्य होनेसे मायिक सिद्ध होगा अदृश्य होनेपर तो भक्तोंको भी जो उनके दर्शन होते हैं वे अलौकिकप्रत्यक्ष न हो कर अनिर्वचनीयरूपातिमें अन्तर्गणित होने चाहिये यहा एक ऐसी उपपत्ति प्रस्तुत की जा सकती है कि अदृश्य होनेपर भी मायाके कारण दृश्य क्यों नहीं बन सकते। परन्तु इसमें भी विचारणीय यही है कि भगवद्विग्रहके करचरणादि परमाणु आदिकी तरह अदृश्य होते हैं या कि स्वयं ब्रह्मकी तरह? आद्य कल्पमें भक्तजनोंके प्रत्यक्ष और योगिजनोंके प्रत्यक्ष में प्रभेद न रह जानेसे कोई अन्तर सिद्ध नहीं होगा ब्रह्मकी तरह अदृश्य माननेपर तो करचरण आदि अवयव होते हैं और करचरणादिमान् भगवद्विग्रह होता है, ऐसा कहना भी कहने भरकी बात रह गयी, अपने शिष्योंको मायिक बन्धनमें फसानेवाली भगवद्विग्रहको करचरणादिसे रहित और सहित दोनों मानना तो शुद्ध वदतोव्याघात ही है

इस तरहकी शाकर वेदान्तिओकी आपसी नोकझोंकको यहा लक्ष्यमें रखनेपर इतना तो स्पष्ट हो जाता है इस दुविधाने शाकर वेदान्तको अपने जन्मकालसे ही अत्यधिक आपसमें ही उलझाये रखा है स्वाभाविकतया श्रीमधुसूदन सरस्वतीकी परम्पराके अनुवर्ती प्रिय आदरणीय श्रीविन्ध्येश्वरीप्रसाद मिश्रजीके श्रीमद्भागवतपुराण तथा शाकर वेदान्त विषयक परमस्नेहभाव तथा उसके अनन्यसाधारण गहन अध्ययनमूलक भागवतानुसारी प्रत्यक्षप्रमाण विषयक सुविशद आलेखप्रभे भी कथञ्चित् पुन इसी तरहके उलझनभरे इतिहासकी पुनरुत्पत्ति होती दिखलायी देती है

मुझे ऐसे लगता है कि शाकर वेदान्तमें परम्परागत प्रमाणव्यवस्थासे पृथक् भागवतपर अवलम्बित स्वतन्त्र प्रमाणव्यवस्थापर भार देनेपर वह शाकर वेदान्तकी सैद्धान्तिकी परिणामसे बर्हिभूत हो जानेसे अमुरक्षित बन जायेगी यह विनापत इसलिये कि आलेखप्रकार भागवतीय तत्त्वमीमासा और प्रमाणमीमासा को शाकर वेदान्तसे मुसगत मानते हैं जबकि भगवत्स्वरूप पार्यद लीला

धाम आदि विषयोमे वैष्णवमतसे सुसगततया भी प्रस्तुत करना चाहते है
 वस्तुतः तो जैसी कि भाष्योत्कर्षदीपिकाकारने गूढार्थदीपिका व्याख्यापर आपत्ति
 उठायी है वही यहाँ भी दोहरायी जा सकती है कि प्रमाण और तत्त्व
 मीमांसाकी दृष्टिसे भागवतीय प्रतिपादन शाकर वेदान्तके अनुकूल हो तो
 भगवत्स्वरूप पार्षद लीला या धाम आदि प्रत्यक्ष कमसे कम अनिवर्चनीयख्याति
 और अधिकाधिक भजनवासनाप्रयुक्त उपासनार्थ की जाती कल्पना ही होनी
 चाहिये यदि भागवतको सर्वसमन्वयसाधक ग्रन्थतया बिरदाना हो तो वैष्णव
 वेदान्तकी प्रमाण और तत्त्व मीमांसाकीय अवधारणाओको भी अनाविद्यक
 अमायिक एव अनारोपित स्वीकारे बिना कोई गति नहीं रह जाती उन्हें
 मिथ्या मान कर पूर्णज्ञानके अभावमे अनधिकारियोंको नाराज न करनेको
 बच्चोंकी तरह बहलानेको या फुसलानेको “ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वे सति ब्रह्मज्ञानबाध्य”
 राहुकल्प मिथ्यामतोका चन्द्रमाकल्प पारमार्थिक शाकर वेदान्तद्वारा प्रकाशन
 भी और निवर्तन भी दरसा कर स्वीकारा जाता समन्वय तो अन्तर्मे स्वप्रतिपन्नोपाधौ
 त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगितारूप समन्वय ही हो सकता है, पारमार्थिक नहीं
 अतः श्रीभागवतपुराणको सर्वसमन्वयसाधक माननेके बजाय सभी इसे
 स्व-स्वसम्प्रदायका प्रतिपादक माने यह बात सौम्यतर भी एव बुद्धिगम्य
 भी लगती है ऐसे दावेमे किसे क्या आपत्ति होनी चाहिये? क्योंकि
 सारे ही दर्शनशास्त्र सभी प्रमाणोंको अपने-अपने मतोंके पोषक न माने
 तो दार्शनिक चिन्तनकी प्रक्रियामे ही व्याघात उत्पन्न होने लगेगा हम
 प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाणोंको सर्वसमन्वयसाधक दरसानेका लोभ नहीं रखते
 तो अकारण भागवतके बारेमे हमें क्षमस्ववादी दृष्टिकोण क्यों अपनाना चाहिये?
 वाल्लभ वेदान्तके अनुसार, अतः, कुछ कहना हो तो यही कहना चाहुगा
 कि जब तक कोई बलवद् बाधक प्रस्तुत न किया जाये तब तक हमे
 तो स्वीकारना ही चाहिये कि श्रुति-स्मृति-सूत्रादि प्रमाणोमे उभरते सभी सन्देहोका
 वारक श्रीमद्भागवतपुराण वाल्लभ वेदान्तके सर्वथा अनुकूल ही है, सभी
 वेदान्तप्रस्थानोंका समन्वयसाधक नहीं साथ ही साथ ऐसे दावे करनेके अपने
 अधिकारकी तरह अन्यान्य वेदान्तप्रस्थानोंका भी अथवा अन्य भी जो दर्शन
 भागवतको प्रमाणतया मानते हो उनके भी ऐसे दावे प्रस्तुत करनेके मौलिक
 अधिकारको इन्कार नहीं जा सकता कोई जब “माता भूमि पुत्रो अहम्”
 दावा करता हो तो भूमिपर जनमनेवाले अन्योके भूमिके बारेमे मातृभावके

निराकरणार्थ वह फलितार्थ नहीं हो सकता

अतएव साधारण लौकिक प्रत्यक्षसे पृथक् यदि भावनाप्रत्यक्ष या योगिप्रत्यक्ष आदिके प्रभेद भागवतप्रामाण्यके आधारपर करने हो तो शांकर वेदान्तकी प्रमाणमीमांसा और तत्त्वमीमांसा की परिखा या दृढ़ दुमिसे बाहर निकलना उचित नहीं लगता क्योंकि प्रत्यक्षके इन प्रकारको न तो 'अह-ब्रह्मास्मि'- 'तत्त्वमसि' वाक्यजन्य ब्रह्मका अपरोक्षानुभव माना जा सकता है और न ब्रह्मज्ञानबाध्य विकल्पावगाही लौकिक व्यावहारिक प्रत्यक्ष ही जैसे मध्यमकशास्त्रमे "स्वभाव परभाव च भाव च अभावमेव च ये पश्यन्ति न पश्यन्ति ते तत्त्व बुद्धशास्त्रे" (मध्य शा १५।६) कहा गया है उसी तर्जपर भगवत्पादका भी इस विषयमे सुस्पष्ट विधान है कि "भाववृत्त्या हि भावत्व शून्यवृत्त्या हि शून्यता ब्रह्मवृत्त्या हि पूर्णत्व तथा पूर्णत्वम् अभ्यसेत् ये हि वृत्ति जहाति एना 'ब्रह्मा'ख्या पावनी परा वृथैव तेषु जीवन्ति पशुभि च समा नरा" (अपरोक्षानु १२९-१३०) अतः भगवत्स्वरूप पार्षद लीला या धाम आदिके प्रत्यक्षमे यदि ब्रह्मवृत्ति स्वीकारनी हो तो पृथक् निरूपण बालसमोहन लगेगा और निर्गुण-निर्धर्मक-निराकार-निर्विशेषब्रह्मविषयिणी वृत्तिसे पृथक् कोई वृत्ति तो शांकरवेदान्तगर्हित होनेसे विसर्गत ही सिद्ध होगी कथञ्चित् इसका ब्रह्मवृत्तिमे ही अन्तर्भाव यदि अन्तर्मे स्वीकारना ही पडता हो तो प्रत्यक्षानुभूतिके ये प्रभेद/विभाजन अजागलस्तानवत् निरर्थक सिद्ध होंगे अतएव भगवत्पदत्त दिव्यदृष्टिगम्य प्रत्यक्षमे और योगिप्रत्यक्षमे भी त्रैकालिक वस्तुओंके साक्षात्कारकी जो बात है, वह ब्रह्मज्ञानबाध्य त्रैकालिकता हो तो प्रभेद अनावश्यक लगता है और ब्रह्मज्ञानबाध्य हो तो अद्वैतसिद्धान्तका तो भग ही होगा यही बात भगवत्स्वरूप पार्षद लीला या धाम आदि सच्चिदानन्दात्मक अप्राकृत होनेकी कथापर भी लागू होती है क्योंकि यह सच्चिदानन्दात्मकता मायिकी या उपासनार्थ अध्यारोपित हो तो मिथ्या ही होनेसे स्वप्रतिपन्नोपाधिमे त्रैकालिक निषेधप्रतियोगिनी ही होगी अथवा अद्वैतभगापत्ति दुवार ही लगती है

जहां तक मनके इन्द्रिय होने या न होने का प्रश्न है तो स्वयं भगवत्पाद श्रीशंकराचार्य भी भगवद्गीतामे "इन्द्रियाणाम् एकादशानां चक्षुरादीनां मनः च अस्मि", "इन्द्रियाणि दश एकं च किं? तद् मनः एकादश ।

तानि एतानि सख्यातः चतुर्विंशतितत्त्वानि आचक्षते", "श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च त्वग्निन्द्रियं रसनं च घ्राणमेव षष्ठं प्रत्येकम् इन्द्रियेण सह अधिष्ठाय देहस्थो विषयान् शब्दादीन् उपसेवते" (भ.गी.शा.भा.१०।२२, २३।६, १५।९) इन वचनोपेक्षणा मनका इन्द्रियतया ही निरूपण कर रहे हैं। इसे भी औपचारिक प्रयोग माननेका सुझाव देनेपर तो भगवत्पादके "अस्ति तावद् मनः श्रोत्रादिवाह्यकरणव्यतिरिक्तं, यतः एवं प्रसिद्धं वाह्यकरणविषयात्मसम्बन्धे सत्यपि अभिमुत्तीगूतं विषयं न गृह्णाति 'किं वृष्टवान् असि इदं रूपम्।' इति उक्तो वदति 'अन्यत्र मे गत मनः आसीत् सोऽहम् अन्यत्रमना आसं नादर्शम्'... तस्माद् यस्य असंनिधौ रूपादिग्रहणसमर्थस्यापि सतः चक्षुरादेः स्वस्वविषयासम्बन्धे रूपशब्दादिविज्ञानं न भवति यस्य च धावे भवति तद् अन्यद् अस्ति मनो नाम अन्तःकरणं सर्वविषययोगी इति अवगम्यते। तस्मात् सर्वो लोकः मनसा एवेव पश्यति मनसा शृणोति, तद्व्यग्रत्वे दर्शनाद्यभावात्" (बृह.उप.भा.१।५।३) ऐसे प्रतिपादनके आधारपर चक्षुरादि इन्द्रियोका करण होना भी औपचारिक प्रयोग माना जा सकता है। मनको वस्तुरूप करण न मान केवल अन्तःकरणकी अन्यतम वृत्ति माननेकी कल्पना भी गीताके द्वितीय उद्धरणमें तत्त्वतया परिगणनसे असंगत होनेसे अमान्य लगती है। भगवत्पादरचित 'पञ्चीकरण' नामक ग्रन्थगत "कर्मिन्द्रियपञ्चकं ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं प्राणादियायुपञ्चकं बुद्धिः मनः च इति अन्तःकरणद्वयम् इति सप्तदशकं लिंगम् तत् च सप्तदशकं भूतजायंतया भीतिकम्" (पञ्चीकर.) के निरूपणसे भी विपरीत होनेके कारण भी, अत आदर्शणीय श्रीविन्ध्येश्वरजीजीद्वारा उद्धृत भागवतीय प्रमाणव्यवस्था और तत्त्वव्यवस्था शाकर वेदान्तसे स्वतन्त्र ही केवल नहीं प्रत्युत असंगत भी लगती है। अतः भागवतावलम्बी प्रस्तुत आलेखपत्रमें प्रस्तुत प्रतिपादनको शाकर वेदान्तकी दृष्ट्या अप्रमाण मानना पड़ता है।

प्रधानतत्वाकारका द्वारा प्रदत्त योगिप्रत्यक्षमें आलेखपत्रकी आपत्ति कि इसमें सूक्ष्मेन्द्रियका उपयोग होता है कि नहीं? यदि होता हो तो लौकिक प्रत्यक्षसे किसी तरहका वैलक्षण्य सिद्ध नहीं होगा और अनुपयोग माननेपर इन्द्रियव्यापार दुर्निरूप्य हो जायेगा, मुझे लगता है कि दिव्यदृष्टिमें यदि भगवत्प्रदत्त दिव्यशक्तिका आधान आलेखपत्रकारको अभिमत हो तो योगिप्रत्यक्षके उदाहरणमें यौगिक उपायो द्वारा भी किसी न किसी तरहकी शक्तिविशेषका आधान होता माननेमें क्या या क्यों आपत्ति होनी चाहिये? व्यर्थ ही

बाह्यगोलकके उपयोगसे रहित सूक्ष्मेन्द्रियद्वारा प्रत्यक्षकी कल्पना तक दौड़ लगानेकी आवश्यकता नहीं रह जायेगी ऐसा प्रश्न सुरसाकी तरह अपना विकराल मुख खोल बैठेगा कि ऐसी स्थितिमें स्वारसिक बाह्यार्थग्रहणसामर्थ्यसे रहित बाह्यगोलकसे जन्य प्रत्यक्षको 'इन्द्रियजन्य' मानना या 'इन्द्रियेतरकरणके साचिव्य या सहकार से जन्य' अथवा दोलायमान चित्तसे 'इन्द्रियानिन्द्रियोभयजन्य' सूक्ष्म और स्थूल इन्द्रियोके बीच अभेद मानना या भेद? क्योंकि अभेद माननेपर योगिप्रत्यक्ष और अयोगिप्रत्यक्ष के बीच भेद सिद्ध नहीं होगा भेद माननेपर योगद्वारा किसी तरहके अतिशयका आधान जैसे सूक्ष्ममें सम्भव है वैसे स्थूलमें भी क्यों सम्भव नहीं? दोनोंके बीच किसी तरहका तादात्म्य माननेपर या इतरेतस्तादात्म्यप्रतियोगिक अभावका त्याग कर आलेखपत्राभिप्रेत आविर्भाव-तिरोभाव गलेपित होगा तादात्म्याध्यास माननेपर योगप्रयुक्त अतिशयसे उसे निवर्तनीय मानना या अनिवर्तनीय? यदि निवर्तनीय मानते हैं तो योगिप्रत्यक्ष आन्तर मानस प्रत्यक्षकी तरह सिद्ध होगा बाह्यार्थप्रत्यक्ष नहीं और अनिवर्तनीय मानते हैं तो योगीको भी स्थूल इन्द्रियसे उत्पन्न होती भ्रान्तिका शिकार मानना पड़ेगा

इस सगोष्ठ्युत्तरेखनके उपसंहार करनेसे पूर्व जिस एक मुद्देपर और ध्यान आकृष्ट करना चाहूंगा वह यह है कि आलेखपत्राभिप्रेत "साक्षात्काशिप्रमावृत्त्युपजनन प्रत्यक्षम्" और प्रस्थानरत्नाकराभिप्रेत "इन्द्रियात्मक प्रमाण प्रत्यक्षम्" इन दोनों प्रत्यक्षलक्षणोंमेंसे स्वयं भगवत्पाद श्रीशङ्कराचार्य द्वारा प्रदत्त " 'इन्द्रिये अर्थोपलब्धिर्जागरितम्' सुषुप्तिव्यावृत्त्यर्थं शब्दादिविषयवाचकम् 'अर्थ'पदम् स्वप्न निरसितुम् 'इन्द्रिय'विशेषणम् तत्र विद्यमानमपि मनो विविधविषयाकारेण परिणत साक्षिणो दृश्यतया अवतिष्ठमानं न उपलब्धी करणं भवति इति भावः" (पञ्चीकर.) इस जागरितोपलब्धिके लक्षणसे सनिफूटतर लक्षण कौन सा है? इस प्रश्नके उत्तरतया प्रस्थानरत्नाकरकी प्रत्यक्षलक्षणकी ही सनिफूटतर मानना पड़ता है यह कथा भिन्न है कि भागवतको स्वतंत्र प्रस्थान माननेवाले आलेखपत्रकारके अभिप्रायमें भागवतपुराणप्रतिपादित प्रमाणव्यवस्था और तत्त्वव्यवस्था शाक्तवेदान्तके साथ सनिफूटतर है

ये कुछ वैमत्यजनक मुद्दे हैं जिनका विमर्श आवश्यक हो या न

हो. इसमें, परन्तु, किसी भी तरहके सन्देहका कोई अवकाश नहीं कि आलेखपत्रमें जिस तरहसे भागवतपुराणके प्रत्यक्षप्रमाणसम्बन्धी वचनोंका सकलन, उनका प्रत्यक्षप्रमाणमीमांसोपयिक वर्गीकरण तथा व्याख्यान हमें श्रीमद्भागवतपुराणके अनुपम पाण्डित्य तथा निष्ठा से परिपूर्ण श्रीविन्ध्येश्वरीप्रसाद मिश्रजीने प्रदान किया तदर्थ शब्दोंमें जितना भी अभिनन्दन कोई दे पाये उससे कुछ समधिक महत्त्वशाली ही है. मुझे यह स्वीकार करनेमें तनिक भी सकोच नहीं होता है कि मुझसे यह कार्य कोई करनेको कहे तो वह मेरेलिये अति कठिन होता।



Advaitic Theory of Perception in Comparison with Śuddhādvaita View.

Prof. Dr. Yejneshwar S. Shastri

Dharmarājadhvarīndra has systematically developed the epistemology of Advaita Vedānta in his monumental work Vedāntaparibhāṣa. Pramāṇa is the means that leads to right knowledge (तत्र प्रमावक्षणं प्रमाणम्) Vedāntaparibhāṣā-Pratyakṣaparichheda, (-VPP p 9) Right knowledge (Pramāṇa), in Advaita Vedānta, is the knowledge of an object being excludent of memory, which is previously unacquired - (anadhigata) and uncontracted (abādhita) तत्र स्मृतिव्यावृत्त प्रमात्व, अनधिगतावाधितविषयज्ञानत्वम् (VPP p 10) memory is excluded from the right knowledge, because, novelty is essential character of valid cognition. All our uncontradicted knowledge of the objects of the external world should be regarded as right knowledge until the absolute is realised (सिद्धान्ते घटादेः मिथ्यात्वेन बाधितत्वात् तत् कथं प्रमाणम्? उच्यते, ब्रह्मसाक्षात्कारानन्तरं हि घटादीनां ननु ससारदशायां बाधः) (VPP p 12 12)

Vedāntaparibhāṣa mentions six means of valid knowledge (Pramāṇas) accepted by the Advaitins viz , Perception, Inference, Comparison, Verbal Testimony, Presumption and non apprehension (तानि प्रमाणानि षट् प्रत्यक्षानुमानोपमानागमार्थपत्यनुपलब्धिभेदात्) (VPP p 14) Advaitic stalwart Sankarācārya has not separately discussed the theory of Pramāṇas, but he mentions

only five Pramānas by name, excluding non apprehension (anupalabdhi), while commenting on Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad (III III 1)

Sureśvarācārya also accepts only five pramānas and does not admit non apprehension (anupalabdhi) as an independent source of valid knowledge (Vidvat paricarcā śaddakhaṇḍa, p 308) It seems at the time of Dharmarājadhvarindra, non apprehension (anupalabdhi) has been accepted as an independent means of valid knowledge in advaitic tradition Among the six Pramānas are dependent on it (तत्र प्रत्यक्षस्य सर्वप्रमाणोपजीव्यत्वात् ज्येष्ठत्वात् च - Arthadīpikā p 14)

Perception is defined as being the instrument of valid perceptual knowledge (तत्र प्रत्यक्षप्रमाया कारणप्रत्यक्षप्रमाणम् VPP p 14 15) According to Advaita, the perceptual knowledge is nothing but pure consciousness or Caitanya (प्रत्यक्षप्रमा च अत्र चैतन्यमेव VPP, p 15) Despite the fact that the pure consciousness is beginningless, pervading everywhere and devoid of sense organs, it is revealed through the mental state Thus, perception is the cit of pure consciousness manifestation in the Antahkaranavṛtti into the form of an object with which it is in contact Hence, pure consciousness, though beginningless when qualified by the Antahkaranavṛtti is spoken of as having beginning (चैतन्यस्य अनादितदभिव्यञ्जकान्त कारणवृत्ति इन्द्रियसन्निकर्षादिना जायते इति वृत्तिविशिष्ट चैतन्य आदिमत् इति उच्यते VPP p 16)

That means, perception is the direct consciousness of

objects brought about by the actual contact of the object of perception with the percipient. What is required for perception is a certain kind of identity or unification between consciousness determined by the object and consciousness determined by the mental state (Vrtti). This unification or contact is effected either through the mediation of a sense or without such mediation.

Advaita Vedantins accept only five sense organs. Knowledge arising through the eyes, ears, tongue, nose and skin is regarded as perceptive knowledge. Mind is not accepted as a sense organ though it is included in the group of the instruments of perceptual knowledge. Thus, primarily, there are two kinds of perceptual knowledge, and caused by the exercise of a sense organ (Indriyajanya) and the other that is not so caused (Indriyajanya). Perception of physical object belongs to the formed category, while perception of mental states, like desire, happiness, misery and so forth belongs to the latter kind.

The process of perceptual knowledge in Advaita may be analysed in the following manner, when any of our senses, say, sight, comes in contact with an object, say, a pot, existing out there in space the internal organ undergoes modification. The Vrtti or the modally transformed Antahkarana, streams forth through the concerned sense organ (the eye in the present case) to the object and assumes the form of some quality of the object like its shape or colour. We have, then the perception of the object in that particular

attribute Antahkarana, though by itself powerless to illumine objects reflects the knowledge that is constitute of ultimate consciousness Hence, as a result of the outgoing activity or attention (Avadhāna) of the Antahkarana, we have the perceptive cognition of the object Consciousness flows with Vrtti towards the object and when it unites with consciousness determined by the object whose form the Vrtti has assumed If the Vrtti assumes the form of the colour of the object, we perceive the colour If it takes the form of the weight or the object, we perceive its weight, And similar, the several properties of the object fall within our cognition according to the specific form assumed by the Vrtti The outgoing Vrttis extend only up to a certain distance and this accounts for our non perception of remote objects

Thus perception of an object is the self shining of the consciousness (cit) through a Vrtti (mental state) of a form resembling an object of knowledge This process of perception is beautifully explained in the Vedantaparibhāṣā Just as a water tank goes out through a hole, enters the field through channels, and then water assumes the shape of the field, either a quadrangular or any other shape, so too, the Antahkarana which is of the nature of light, goes out through the eye, eye, enters the space occupied by the object like a pot, and is modified into the shape of the object, like a pot This modification of Antahkarana (Vrtti) serves to reveal the objects of knowledge (तत्र यथा तद्वागोदकं छिद्रात् निर्गत्य कुल्यात्मना केदारान् प्रविश्य तद्देव चतुष्कोणाद्याकारं भवति तथा तैजसम्

अन्तःकरणमपि चक्षुरादिद्वारा निर्गत्य घटादिविषयदेशं गत्वा घटादिविषयाकारेण परिणमते स एव परिणामो वृत्ति इति उच्यते VPP p 23)

Put it in more clear words, in a case of a perception of a pot, when eye is fixed on a pot, the mental state comes out through the eye, illuminates the pot by its own light and assumes its shape. Further, the consciousness (cit) within the pot manifests in the mental state, then, the pot is perceived. The two limiting conditions of consciousness or cit, (i.e. cit in the mental state and in the pot before the eye), the modification and the object do not produce any difference, because, they are in the same place. This identity makes the cognition of the pot perceptual. In the perception of an external object there is non difference of cit (consciousness) within the Antahkarana and cit within the object.

Perception on the subjective side is defined as the union or undifferentiation (Abheda) of the subjective consciousness with the sensible objects through the specific mental states (तथाच तत्तदिन्द्रिययोग्यवर्तमानविषयावच्छिन्न-चैतन्याभिन्नत्वं तत्तदाकारवृत्त्यवच्छिन्नत्वं तत्तदसौ प्रत्यक्षत्वम् VPP p 33). This union in perception means that the objective has at the moment no separate existence from the subjective consciousness of the perceiver. The undifferentiated consciousness appears as the subject and the object as a result of ignorance (Avidyā).

There are three limiting factors (Upādhis) to consciousness

They are the internal organs (Antaharana), the modification of the internal organ (Vritti) and the particular object (Visaya). In reality there is no distinction in consciousness. But in false association with these adjuncts (Upādhis), consciousness apparently modifies into three factors, the knower, the means of knowledge and known object on account of these superimposed Upadhis, consciousness appears to be three kinds

1. Pramāṭr caitanya consciousness in association with the internal organs appears as the subject or knower
2. Viśaya caitanya Consciousness associated with particular object (Viśaya) which may be either physical objects or mental states, it serves as the object of knowledge and
3. Pramāṇa caitanya Consciousness associate with the Antahkaranavṛtti. In association with the Vṛtti, consciousness appears as the process or means of knowledge, the cognitive consciousness

Empirical knowledge is the result of this apparent three fold modifications of consciousness (त्रिविधं चैतन्यं १ प्रमातृचैतन्यं २ प्रमाणचैतन्यं ३ विषयचैतन्यं च इति VPP p 22)

Pramāṭrcaitanya is the ultimate consciousness determined by the internal organ. The internal organ is the connecting link between the Ātman and the organs of sense. It is not itself a sense organ. It is distinct from the organs of sense which are external to it. The function of the internal organ

is to receive and arrange the material that is brought to it through the senses. Like a mirror, which has the power to reflect, it reflects object presented to it through the senses and what is more, becomes conscious of them. However, this power to reflect is acquired by it from the Ātman the internal organ partakes of the physical world. Hence, by itself, it has no power to illumine objects.

Antahkarana must be admitted as connecting link between the Ātman and the organs of sense in the process of perception, otherwise there would be either perpetual perception or perpetual non perception (BSB II III 32). Suppose, that the only requisites for perception are

- 1 the Ātman as the subject of knowledge,
- 2 The presence of the object to be perceived and the senses in proper condition

So long as these are present, there should be perpetual perception of the objects. But the fact is that even though these conditions may be present one may fail to perceive. The sense organs may be in contact with any object and yet one may not perceive. One may not see, though the eye may meet the object, one may not hear, though the ear may receive the sound. If on the contrary one does not grant that the mere conjunction of the Ātman, the senses, the objects can effect perception, in the absence of a sufficient cause of perception, one would have to admit that perpetual

non perception would be the result

But neither is this observed. Given the Ātman, the senses and the objects, perception sometimes takes place and sometimes does not. This fact can be explained only by positing the existence of a fourth factor, the Antahkarana, on whose attention perception takes place and on whose non attention perception does not take place (BSB II III 3)

The validity of the assumption is evidenced by the common experience of ours that when we are absent minded, we do not perceive, though the objects may be presented to the senses. The Brhadaranyaka Upanisad refers to this and declares that, therefore, there is a mind apart from the external organs (Br op I V 3 Sankarabhasya on it and VPP p 18)

We have already noted that, this Antahkarana undergoes modifications of forms and these modifications are known as Vrtti serve to reveal the objects of knowledge. The Vrtti of internal organ is of four kinds. In each of these Vrttis, the internal organs has a distinct name and form. The same Antahkarana (internal organ) according to its diverse functions, is called, means, Buddhi, Ahankara and Citta. When it has the mode of doubt or indetermination (Samśay) it is called Manas, when it has the mode of determination (Niścaya), it is called Ahankāra, and in the mode of remembrance (Smarana), it goes by the name Citta (सा च वृत्ति चतुर्धा, १ सशयो २ निश्चयो ३ गर्व ४ स्मरणम् इति एवविधवृत्तिभेदेन एकमपि अन्तकरण

मन इति, बुद्धि इति, अहंकार इति, चित्तम् इति व्याख्यायते VPP P 40)

The internal organ differs from individual to individual and so cognition by one does not imply or involve cognition by all. Its functions within varying limits which are determined by the past conduct of the individual to whom it belongs.

It is when screened by the Antahkarana that consciousness functions as the subject in empirical knowledge. This is the witnessing self or Jivasaksi. The Jiva is a consciousness identified with the knowable elements, namely, the mind or the internal organ and through it, the body (तत्र 'जीवो' नाम अन्तर्करणावच्छिन्न चैतन्यम् VPP p 46). The Jivasaksi or Witness Self, is pure consciousness merely hidden by these adjuncts (तत्सद्वितु अन्तर्करणोपहित चैतन्यम् VPP p 46). It is the Jivasaksi that the subject knows the constituents of the Jiva as well as the objects of the external world. Jivasaksi differs from the Jiva or the empirical ego. The Jiva is the internal organ, but the Jivasaksi is the same consciousness merely hidden by the internal organ. While the internal organ enters into the constituent of the Jiva, it remains outside the Jivasaksi screening it, as it were. In the former case it is an attribute (Viśeṣana), in the latter case it is a limitation viz. Upādhi (अन्तर्करणस्य विशेषणत्वेनोपाधित्वाभ्यां अनयो भेदः VPP p 46).

Viśayacatanya is the ultimate consciousness determined by the object cognised. Knowledge requires a subject and an object as distinct from each other. In order that the

same consciousness may appear as subject and object, two independent adjuncts are required the internal organ and the object cognised. Just as consciousness has to be limited on the subjective side by the internal organ, it has to be limited on the objective side by the object cognised, which may be a physical thing or a mental image.

The variety of our cognition can be accounted for only by positing the objective existence of a variety of objects, each limiting the undifferentiated consciousness according to its own specific nature.

Pramanacartanya According to Advaita, all empirical knowledge is a process of revelation rather than of acquisition. The other thing is that the mind is actively at the work in the formation of empirical knowledge. The cognitive process exhibits these two fundamental features. Empirical knowledge is the manifestation of the undifferentiated consciousness under limitations imposed by the internal organ, the modification of the internal organ and the external object that which is manifested is beyond time and space, reason and relations. But the manifestation is subject to all such limitations. It is temporal and occurs through individual minds. It involves relations like those of subject and object, substance and attribute, concept and percept and so forth.

Knowledge is the very nature of the self. Just as a salt crystal is through and through saltish, the human soul

is consciousness all compact (Br Up II iv 12) The analysis of the process of knowledge thus reveals the true nature of the self. It is this inner light of consciousness that manifests itself through the sense organs. Sankara beautifully expresses this idea and says when a lamp is placed inside a pot having many holes, the light streams out through the holes. In the same way, the knowledge, that the self streams out through the various sense organs, like the eye, the ear and so on नाना छिद्रघटोदस्थित-मर्यादया प्रभाभास्वर ज्ञान यस्यतु चक्षुरादिकरणद्वारा बहिः स्वयन्ते (Daksinamurtistotra 4)

The various Pramanas serve as vehicles for the revelation of consciousness under the limitations of empirical life

The other important feature of knowledge is that the mind is not passive. The Antahkarana is actively at work in the formation of knowledge. Empirical knowledge is the result of the mind's interpretation of the object that it comes in contact or meets. We do not acquire ready made knowledge. Without mental construction, no knowledge is formed during deep sleep, when Antahkarana is temporarily at rest. The constructive activity takes place through a modification of the internal organ, known as Vritti. The mind undergoes a modification (or Vritti), according to the nature of the material that has to be interpreted. These two features of process of cognition are most apparent in the case of sense perception (Indriya janya pratyaksa)

Kinds of perception :

According to Advaita Vedānta, the perception is two-fold one is determinate (Savikalpa) and the other being indeterminate (Nirvikalpa)

In the determinate perception (Savikalpa), there is a distinction between the thing determined the jar, for example and the determining attribute i.e. jar-ness. In an example, 'I know the jar' the object of knowledge i.e. jar and its qualifying attribute - jar-ness, are apprehended. Thus, it is a cognition apprehending relatedness (तत्र प्रत्यक्ष द्विविधम् सविकल्पक-निर्विकल्पकभेदात् तत्र सविकल्पक वैशिष्ट्यावगाहि ज्ञान यथा "घटम् अहं जानामि" इत्यादि ज्ञानम् VPP p 41). Advaitins differ from other systems while interpreting Nirvikalpaka Pratyaksha.

In the Nirvikalpaka (indeterminate) perception there is no apprehension of relatedness. All determining attributes are left out of view. This indeterminate perception is the knowledge arising from the sentence like 'This is that Devadatta', 'Thou art That' etc. In such cases cognition arises by leaving out the particular features like this and that, which refer to the present and past, as such recognition of the Devadatta is possible. So also, 'Thou' and 'That' referring to something present and absent respectively, have to be left out before the apprehension of the essential. To Advaita, there is no distinction between determinate and indeterminate in visual perception, but only is Sabda perception as in case referred above (निर्विकल्पकन्तु ससर्गानवगाहिज्ञानम् यथा "सोऽयं देवदत्त" "तत्त्वमसि"

Advaitins have again accepted two more kinds of perception, according to their metaphysical stand. That is Jivasākṣi or the witness within the individual self and Isvarasākṣi or the witness within God. As has been already stated in earlier pages jiva is nothing but ultimate consciousness, limited by the Antahkarana or the mind, and sakṣi however is the consciousness that has the Antahkarana as its limiting adjunct (Upadhi). The difference between Jiva and Sakṣi is that, in the former case Antahkarana is a limiting adjunct. In fact, Antahkarana being insentient cannot reveal the objects, it is the limiting adjunct of consciousness that makes the object revealed. This Sakṣi which manifest itself as possessing limiting adjunct of Antahkarana is considered to be different in each individual. Because of this reason, what one has known, the other would not recollect (VPP p 46 47)

When the cosmic illusion or Maya is a qualifying attribute of consciousness, that consciousness is called God, and when the cosmic illusion is limiting adjunct (Upadhi) of the consciousness it is called the witness in God (तस्य प्रत्यक्षं पुन द्विविधं जीवसाक्षि-ईश्वरसाक्षि च इति तत्र 'जीवो' नाम अन्तःकरणवतच्छिन्नं चैतन्यम् तत्साक्षितुं अन्तःकरणोपहितं चैतन्यम् अन्तःकरणस्य विशेषणत्वोपाधिभ्यां अन्यो भेदः VPP p 45 46)

This Advaitic theory of perception has its own significance from the Scientific as well as metaphysical point of view

From the scientific point of view, it can explain the connection between physical vibrations and mental states, which is the central difficulty of Western theories of perception. The activity, according to the latter, is primarily on the object side, when a jar is presented to sight, the light waves proceeding from it impinge on the eye, and an inverted impinge of it is formed on the retina. When this is followed by the stimulation of the optic centres of the brain, we perceive the jar. But we fail to understand how the inverted image of the object, formed on the retina is transformed into the mental picture or idea of the tangible upright object, out there in space, Western psychology, having created a gulf, a big gap, between the physical vibrations occurring in the sense mechanism and the mental act of perception of the object, is unable to bridge it (Pancapādikā, Eng Tran D Venkataramaiah, Intro, pp XXII in G O Series, 1948). Such a difficulty does not arise when we recognize that the physical Vibrations are not the material, which is transformed into the mental out of perception, but that they are only the media through which the mental act of perception takes place. The higher cannot be explained in terms of the lower, but the lower can certainly be explained by the higher.

On the metaphysical side, the importance of the theory cannot be exaggerated. It signifies that consciousness delimited (determines the limit or fix the boundary) by the Antahkarana and consciousness as delimited by the object are in essence, non different. This non difference of consciousness is

manifested by the *Vṛtti* going out through the senses, pervading the object and assuming the form of the object. Consciousness is the common basis which sustains the illuminating *Antahkarana* as well as the illumined object. Not only perception, but every form of cognition can be reduced and traced to the single ultimate source of consciousness (The concept of the *Vyāvahārika* in *Advaita Vedānta* pp 180-181).

The Advaita account of sense perception marks an improvement on the theories of some of the Western thinkers especially the view of empiricists and of the Idealists. Regarding the perception, these two schools differ on the question of the need for the constructive activity of the mind. The empiricists, who regard the mind as a "tabula rasa" (a clean slate, a blank sheet of paper), believe that perception consists in the mere passive reception of impressions from the external world. The idealists like Kant and Hegel call attention to the significant part played by the mind in giving rise to knowledge. The Advaitins agree with Kant in that without conceptions perceptions would be blind. The common fact that, when one is absent minded or deeply engrossed in something, one may actually hear a sound or see an object and yet, not notice it illustrates this truth. But Advaitins differ from both Kant and Hegel in regard to the procedure, which the mind adopts for interpreting the sensations.

According to both Kant and Hegel, the mind interprets the sensations, which come from the object. The interpretation

is done in terms of the categories of the understanding. But Kant looks upon the categories as external to the mind and at its possession like a bunch of Keys. A little reflection would however show that the categories cannot be separate from the mind. Hegel corrects this mistake and treats the categories as constitutive of the mind. The mind itself takes the different forms in order to suit the nature of the material, which requires to be interpreted. Hegel's view is good so far as it goes, but it does not go far enough. How does the mind decide which categories would be most natural to the sensations received? naturally in the light of its previous knowledge. But the origin of this original knowledge will have to be explained. This is the difficulty in the idealistic position. This difficulty can be overcome only by admitting that the order of experience the reverse of what we have referred to instead of sensations coming from the object and the mind interpreting them, the mind illumined by knowledge which is the nature of the self itself goes forth and interprets the sense object. This is the Advaitic position. The position has been aptly summed up by stating that it is not the object, which comes to the subject, but it is the subject, in a sense, that goes to the object in order to apprehend it. (D Venkataramaiah, Pañcapādikā, Eng Trans Into p.XXII G O Series 1948, Baroda)

Prasthānaratnākarakāra disagrees with Advaitins in several respects. Advaitins do not accept Manas, as one of the sense organs whereas Suddhādvaitins accept it as one of the sense

organs He defines perception as “इन्द्रियात्मक प्रमाण प्रत्यक्षम्” (p 127) Sense organs are the means of direct perception and they are of six kinds, viz , eye, skin, nose, tongue, ear and mind (तानि चक्षु-त्वक्-घ्राण-रसन-श्रवण-मनोभेदेन पद p 127)

He accepts Manas or mind as one of the sense organs and refutes Advaitic view He says Lord Kṛṣṇa clearly mentions in the Gītā, that Manas is one of the sense organs (Gita X 22) Advaitic view contradicts this statement of the God mind is internal and external both, since it is connected with action and Knowledge

Secondly, according to Advaita, perceptual knowledge is nothing but pure consciousness, which is revolved through the mental state, whereas in Suddhādvaita, perceptual knowledge is knowledge of manifestation of properties of particular object, or substance or categories

Thirdly, Vedāntaparibhāṣakāra accepts, Anupalabdhi (non existence) as an independent means of valid knowledge This means of Valid knowledge, according to Dharmarajādharma, which consists in non existence (Abhava), which is not generated by an instrumental (Karana) of knowledge As there is not contact of sense organ with non existence, the cognition of non existence does not arise from sense organ The cognition of non existence arises when a perceptible object is not seen For example when there is a jar on the brightly lit ground there is an apprehension of the

jar If the jar is not perceived on such ground, non-existence of the jar is ascertained And this non existence of the jar is to be known through non apprehension (इदानीं पृष्ठ प्रमाण निरूप्यते ज्ञानकरणाजन्याभावानुभवासाधारणकारण अनुपलब्धिरूप प्रमाणम् तथाच पटाद्यभावाकाखृति न इन्द्रियजन्या, इन्द्रियस्य विषयेण असन्निकर्षात् किन्तु घटानुपलब्धिरूपमानान्तरजन्या, इति भवति अनुपलब्धे मानान्तरम् VPP p 141-145)

Advaitins accept four kinds of Abhāva (non existence) viz Prior non existence (Prāgabhāva), posterior non existence (Pradhavamsābhāva), absolute non existence (atyāntābhāva) and mutual non existence (Anyonyabhava), like Naiyayikas and others and state that, the cognition of the above four types of non existence is through non apprehension which is possessed of capacity Hence, non apprehension is a separate means of valid knowledge (स च अभाव चतुर्विध - १ प्रागभाव २ प्रध्वसाभाव ३ अत्यन्ताभाव ४ अन्योन्याभाव च इति चतुर्विधाभावानां योम्यनुपलब्ध्या प्रतीति तत्र अनुपलब्धि मानान्तरम् VPP p 147 152)

Suddhādvaitins do not agree with this Advaitic view and state that it is not necessary to accept non apprehension (Anupalabdhi) as an independent means of valid knowledge to perceive non existence, because, just as after perceiving particular object through eyes, its knowledge is manifested, similarly, we do not get knowledge of any object through non apprehension By receiving the material cause, the method of perception of prior non existence and posterior non existence can be known Prior non existence is concealment of effect

and favourable to, manifestation of effect. Posterior non-existence is unfavourable state of the effect. Mutual non-existence is perceived or understood in two ways, viz, in the example of- 'pot is not cloth', the absence of pot in the cloth is experienced and object as 'can pot be cloth?' which is refuted as 'pot cannot be cloth;' thus, mutual non-existence can be perceived. In the perception of the absolute non-existence, such as 'pot is not on the floor', perception of the floor, associated with concealing of pot is perceived.

Both, Advaitins and Śuddhādvaitins accept determinate (Savikalpaka) and indeterminate (Nirvikalpaka) kinds of perception. Śuddhādvaitins' concept of indeterminate knowledge is very similar to that of Naiyāyikas. Here Advaitins differ from other systems of thought. According to them there is no distinction between determinate and indeterminate in visual perception but only in Sabda perception as in case of - 'This is that Devadatta' and 'Thou art that' etc. Again, Advaitins have accepted two more kinds of perception based on their metaphysical stand point, viz, Jīvasākṣī and Īśvaraśākṣī, which is not found, in any other system of thought.

+

Advaitic Theory of Perception in Comparision with Śuddhādvaita View.

डॉ. यज्ञेश्वर शास्त्री

अच्युतानन्द दास : Essentially what the Advaitins do is, they try to bring in identity between three Cantanyas i.e. प्रमातृचैतन्य, विषयचैतन्य, अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्य . Then only one gets perception And Advaitins accept only Eka Ātmacaitanya So there is only one in paramārthadaśā And only in Vyavahāra-daśā they have three types of Cantanyas And it will be possible only on the account of Māyā Avidyā Then the question comes, it is due to Māyā we understand Viśya as Viśya totally deferent from the Cantanya i.e. Jada Because of Māyā we can not see Viśya, Viśyacaitanya

My question is, Śankara's Adhyāsa bhāṣya is possible in the beginning he says “युष्मदस्मत्प्रत्ययो-चरयोः विषयविषयिणोः तमःप्रकाशवद् विरुद्धस्वभावयोः. Viśya is चैतन्यस्वभावः प्रकाशस्वभावः, विषय is तमःस्वभावः, जडस्वभावः.. Only if that state remains then only superimposition i.e. अध्यास becomes possible And in व्यवहारदशा प्रमातृचैतन्य goes through the प्रणालिका i.e. through the अन्तःकरण to the Viśaya which is Jada Pramātracaitanya wants to see the Viśaya as

Jada, which is not essentially Caitanya. If the Caitanya is there suppose pramatracaitanya knows that Visaya is caitanyatmaka, not Jada then naturally the thing like pranalika thesis there is Pramatracaitanya, and there is Visayacaitanya e.g. there is water and there is Tadaga where also there is water, and the Pranahika i.e. channel also is water. Only it is blocked due to Māya. Now, that is not the case. And if you accept the block theory, that is the Avarana bhanga type of Siddhānta, then perception would be possible like Caitanya ekatmakata. Then question is, Adhyasa theory would not stand.

श्रीतुलसीदास : Why? Clarify it.

व्योमनाथदास : Because, Adhyasa is possible only if you take Visaya as Jada.

श्रीतुलसीदास : Is it necessary for Adhyasa to take place that I take the thing to be Jada or the thing to be Jada?

व्योमनाथदास : I know it is Jada. That is Jada. I should not say I take Visaya as Jada.

श्रीतुलसीदास : you are not clarifying the question.

श्री प्रह्लादाचार्य : Advaita explanation, so far I understand, is this Caitanya doesn't go outside. It has no movement at all. Antahkarana goes out through the Indriya and reaches the object and takes the shape of the object. This is called Antahkarana vṛtti. And here in this Vṛtti the Caitanya reflects

“स्वच्छे अन्तःकरणे अज्ञानि प्रसमरे नेत्रादिमाणोद्गते
तत्तद्बाह्यविषयात्मना परिणते बिम्बीभवति चिति चैतन्य
is reflected there एकापि अर्थमनोविशेषकवशात् द्वेत्प्रपन्ना
हरति अज्ञान, प्रकटीकरोति विषय. ज्ञातं मया इदन्तु इति
See, that Ajñāna also is not an Āvarana for the
object That object is Jada Jada has no Āvarana
There is no necessary for a Jada to have an Āvarana
Only Caitanya which is of a nature of illumination,
it needs some Āvarana Because otherwise it should
be having illumination all the time But it is not
being illuminated all the time That means only
the Caitanya requires an Āvarana So the Caitanya
is Āvṛta And because of this Vṛtt, that Āvarana
is removed and then the Caitanya becomes
manifested This manifestation of Caitanya being
identical with the Viśayāvacchinnā caitanya and
Antahkaranāvacchinnā caitanya is considered as the
knowledge of the object This will be in the form
of “इदं मया ज्ञातम्” So, the knower need not recognise
it as Jada While we get the cognition we don't
think whether it is Jada or something If it is
Ghata it is Ghata and you will get the cognition
So in order to get the cognition, this is the process
that they have explained

अच्युतानन्द दास : तत्र प्रश्नो भवति यदि तत्र प्रतिबिम्बितम् इति स्वीक्रियते
यथा स्वच्छे स्फटिके जपाकुसुमस्य प्रतिबिम्ब, तावता तत्र
जपाकुसुमगतलौहित्यम् यदि स्फटिके प्रतिबिम्बितं वर्तते योहि
दृष्ट्वा सो जानाति यद् जपाकुसुमगतलौहित्यम् अत्र प्रतिबिम्बितं

वर्तते. वस्तुवृत्त्यातु स्फटिके स्वच्छतेव वर्तते तत्र लोहित्यं नास्ति इति वस्तुस्थितिः. तथैव, इदं जडवस्तु वर्तते.

प्रद्योतकुमार : विषयेतु प्रकाशस्वभावो नास्ति. चेतन्यसम्बन्धतया तस्य प्रकाशत्वम्.

अच्युतानन्द दास : अत्र मम प्रश्नः. विषयस्तु जडात्मा तमःस्वभावरूपम्. प्रमातृचैतन्य प्रकाशस्वभावः. किन्तु सामान्यतो अस्माकम् अनुभवस्तु एव हि भवति “अयं घटः” इति उक्ते जडात्मनः कस्यचिद् वस्तुनो दर्शनं मया कृतम्. तत्र चैतन्यात्मकस्य घटस्य ...

डी.प्रह्लादाचार : चैतन्यात्मकस्य घटस्य इति नास्ति. :

अच्युतानन्द दास : तर्हि ‘विषयचैतन्यम्’ इति कथम् उच्यते? ...

प्रद्योतकुमार : The point I understand is this that you are not distinguishing two things Knowing an object and knowing the process which made this knowing possible One thing is विषयज्ञानम्, अपरन्तु विषयज्ञानजनक-कारणस्य ज्ञानम् प्रक्रियाज्ञानम् is not necessary. Prakriyā is there, and that generates the knowledge in our sense So, when I have the knowledge of the jar, there is entire process In every system there is a process But this is not known as the same act Its a deferent thing You can ask me how do we know the process Śāstra discription is also there But that is a deferent thing Knowing the jar and knowing the process of cognition is deferent thing So, when you are asking, you are confusing between knowing the object and knowing the process of the knowledge

अच्युतानन्द दास : Perceptual process as explained by the

Advaitins will work only if we accept this is विषयचेतन्य,
प्रमातृचेतन्य एव प्रणालिका

श्री एन्. झा : विषयचेतन्य does not mean विषयरूपचेतन्य

प्रद्योतकुमार : विषयावच्छिन्नचेतन्य

श्री प्रह्लादाचार : 'विषयावच्छिन्नचेतन्य' means अन्तःकरणवृत्तिप्रतिबिम्बित-चेतन्याभिव्यक्ताधिष्ठानचेतन्यम् इदञ्च चेतन्य विषयस्य ज्ञानम् घटावच्छिन्नचेतन्य नाम the Caitanya on which Ghata is superimposed Ghata is Adhyasta and the Caitanya is Adhishthāna So, whatever the object is being seen, actually the Caitanya is there On that Caitanya the object is superimposed So, घटावच्छिन्नचेतन्य नाम घटाधिष्ठानचेतन्यम् That Caitanya, when it become manifested, then there is Jnanam For the manifestation of that Caitanya, we need अन्तःकरणवृत्तिचेतन्य Thus Caitanya is प्रमातृचेतन्य यदा अन्तःकरणवृत्ति takes place in it Pramātrī caitanya means Antahkaranavacchinnā Caitanya Antahkarana-vacchinnā Caitanya will have reflection in it This kind of Caitanya alone is capable of removing that Āvarana which covers Ghatavacchinnā caitanya or Ghatādhishthana caitanya

अच्युतानन्ददास : That Āvarana covers Visya

श्री.प्रह्लादाचार : Object is not at all Āvṛta

प्रद्योतकुमार : There is a way of saying 'विषयावरक' It actually means विषयावच्छिन्नचेतन्यावरक' नतु

श्री प्रह्लादाचार : विषयावच्छिन्न-चेतन्यावरकम् अज्ञानम्

प्रद्योतकुमार : नतु चेतन्यावरकम्, नतु विषयावरकम् इदं विषयावच्छिन्न-चेतन्यावरकम् अज्ञानम्

वी. एन्. झा : Manas is not accepted as an Indriya in Advaita, whereas it is accepted in Śuddhadvaita. -
Now suppose Manas is accepted as an Indriya, what is going to happen to the Advaita system as such?

बलिराम शुक्ल : “इन्द्रियात् परो मनः” इति श्रुतिः वर्तते. श्रुतिबाधात्

डी.प्रह्लादाचार : श्रुतिबाधः प्रधान कारणम्. अन्यत् किमपि नास्ति. दृष्टः मया युक्तवः काश्चन उक्ताः. यथा प्रमाणसहकारित्वात्, प्रमाश्रयत्वात्. यः प्रमाश्रयः भवति सः प्रमाणं न भवति. य. प्रमायाः प्रमाणस्य सहकारी भवति तत् प्रमाणं न भवति. आलोकः चक्षुरिन्द्रियस्य सहकारी, नहि प्रमाणम् अङ्गीक्रियते, प्रमाणसाधनम् इति अङ्गीक्रियते. So many arguments are there, but these arguments are based on the assumption that Manas is not an Indriya because the Śruti is there

यज्ञेश्वरशास्त्री : It is not Indriya because Manas is subtler than other five Indriyas

डी.प्रह्लादाचार : No I don't think that there is any deference among them Caksumindriya is as subtle as Manas How can you say that

प्रद्योतकुमार : You can get a bit more light this is the reason, I think, in Advaita But there is a greater light you will get if you ask yourself why is it that some other people insist on Manas being an Indriya

डी.प्रह्लादाचार : I have an answer When other sense organs are not functioning, when there is not Śabda, no

Anumāna, even then you are getting cognition There must be some instrument there, Karana is needed

द्योतकुमार : That is not the only thing The thing is this, we are having the perception Sākṣāt-pratīti That is to be first decided And then the next question is you already think Sākṣāt-jñāna is to be defined in the terms of Indriya इन्द्रियजन्य ज्ञान साक्षात्कारम्. If you change that notion of Sākṣātva

डी.प्रह्लादाचार : My submission is what is a perception as described it is Sākṣātkāra The word 'Sākṣātkāra' means it is a direct cognition Not an indirect cognition An indirect cognition doesn't take place immediately It needs so many steps E.g. व्याप्तिज्ञान, परामर्श and then we get the cognition ultimately It is not immediate Whereas in Pratyakṣa the moment the sense organ comes into contact with object, the cognition takes place That is direct one

वी. एन्. झा : What I feel, there is a process When I say that pratyakṣa is Kārya, all these things comes because of that So, there is a structure that Kārya has to be produced by some Karana And, therefore, unless we maintain this kind of structure, we can not understand the production of a perception at the particular point

प्रद्योतकुमार : No, there is one type of analysis

वी. एन्. झा : and therefore in that process there should

be some element which should act as an element

Without that, I think, no Kārya can be explained

वलिरामशुक्ल : But only that “इन्द्रियात् पर मन.” we also accept that Śruti, then what ?

डी प्रह्लादाचार : The explanation is given

वलिरामशुक्ल : In Vātsyāyana bhāṣya that these are भौतिकानि

इन्द्रियाणि, मनस्तु अभौतिकम् इन्द्रियम्

गो श्याम : इस सन्दर्भमें वाल्लभ सिद्धान्तकी स्पष्टता करना चाहूँ।
क्योंकि हम भी अतिरिक्तेन्द्रियवादी हैं सबसे पहली बात यह है कि श्रुतिबाधका विषय है पञ्च ज्ञानेन्द्रियोमें चेतना रहती है और उसका जो *क्वच्युएशन* हम देखते हैं कि उस सचेतन इन्द्रियोमें कभी विषय प्रत्यक्ष होता है कभी नहीं होता है जैसे अभी मैं अकस्मात् आपसे पूछ लूँ कि “आप क्या कर रहे हैं ?” तो आप कहेंगे कि “सुन रहे हैं” एक प्रसिद्ध जोक् है शिक्षक बच्चेको पढ़ा रहा था बच्चेका ध्यान खिड़कीके बाहर था बाहर एक साप अपने बिलमें घुस रहा था उसकी पूछ घुसनी बाकी थी इतनेमें शिक्षकने उस बच्चेसे पूछा “मेरी बात तुम्हारे दिमागमें घुसी कि नहीं ?” बच्चेने प्रश्नका उत्तर दिया “बस थोड़ीसी पूछ बाकी है” तो आदमी देख रहा है कि सुन रहा है कि सूँघ रहा है कि स्पर्शानुभव कर रहा है सारी इन्द्रिया सचेतन हैं उसके बावजूद भी कोई एक *क्वशन्* हमारे भीतर ऐसा है कि जो इन सब *क्वशनों*को सचेतन होनेके बावजूद भी प्रत्यक्षमें पर्यवसित नहीं होने देता है उस तरहका जो *क्वशन्* है श्रुति स्पष्ट कहती है “अन्यत्रगता नाशृण्वन्, अन्यत्रगता नापश्यन्” तो सुननेमें यदि मेरा मन नहीं है तो सुनाई नहीं देगा, कान यद्यपि खुले हुवे हैं देखनेमें मेरा मन

नहीं है मेरेसे एक नोर्वेजियन् स्कूलर पढ़ने आती थी वह दर्शनकी विद्यार्थी नहीं थी उसने मुझसे कहा कि आप दर्शन पढ़ाओ वह खुली आखोंसे सो जाती थी मे समझ नहीं पाता था कि उसे क्या हो रहा है उसकी आखे शबकी आखों जैसी हो जाती थीं मे उससे पूछता कि क्या तुम सुन रही हो तो वो हडबडाकर कहती हा, मे सुन रही हू पर वो सुनती नहीं होती थी तो मनकी अतिरिक्त इन्द्रियताका यह स्पष्ट प्रमाण है

ज्योर्ज करविलेल् : Comparison between tradition knowing is a process of the mind taking the form of the object Similarly, here we have seen that Antahkarana goes out and takes the form of the object What are the bases of that? Same problem Thomistic tradition also It assumes that the object has one form, what happens if there is more then one form? How would Advitins explain that?

एस् वी बोकिल् : Whatever has been said about perception in Indian philosophy we shall just leave it bit apart See we must make distinction between the questions as to how we come to acquire perceptual belief that is a process of perception You have described it Now whether we are required to accept mind as an instrument, I think, these are matters of this is rather a factual question and perhaps we may not agree on that But whether such perceptual belief can be claimed to be known? I think that is more important question for a

philosopher This is a normative issue, not a factual issue And it seems to me that sometimes you will find the solution

प्रद्योतकुमार : Whether the perceptual belief itself can be known

एस्.वी बोक्लि : Perceptual belief may be had by us through the senses and all that but whether it can be claimed to be an item of knowledge Its a normative issue

प्रद्योतकुमार : Perceptual belief is it a knowledge? Pratyaksa jñāna mātṛ prama ki nahin?

एस्.वी बोक्लि : I will give you an example How we come to acquire our knowledge of the size of the moon and sun Actually perception gives us the knowledge And do we really accept that perception that moon is of that size that we perceive? No We consider our perception in the context of the whole as to physical system And I think there are definite ways and means of Now we are not deceived in it Or take the example of the rainbow, its not a deception Because, deception could be subjective But this is not a deception This is only an appearance I would not call rainbow as an illusion Its an appearance And we must make distinction between that And you will find that we do not take rainbow at its face value We know what it is and science of optics and physics will tell us So we must

make a distinction between the factual question as to how we come to collect a certain perceptual belief And how we judge that perceptual belief to be knowledge Now whether in the Advaitic system you have such a distinction Getting the perceptual belief, I believe that there is such a distinction in Advaita though it may not be in the context of natural science that we have at present But they have there own metaphysical explanation of it

पद्मेश्वरशास्त्री : In our Indian tradition प्रमा, सशय, विपर्यय, भ्रम all these things have been accepted Because when there is a doubt

अम्बिकादत्तशर्मा : श्रीहर्षने “मानाधीना मेयसिद्धि”का भूरि-भूरि खण्डन किया ओर सभी प्रमाणोंका खण्डन किया कि ये कोई सर्वतन्त्रस्वतन्त्र सिद्धान्त नहीं बन सकते प्रत्यक्षका कोई लक्षण नहीं बन सकता है, अनुमानका कोई लक्षण नहीं बन सकता है ऐसी स्थितिमे धर्मराजाध्वरीन्द्रने प्रमाणोंके एक तन्त्रका निर्माण किया तो जिन आपत्तियोंको श्रीहर्ष उठा रहे थे दूसरे सम्प्रदायोंके प्रमाणोंके प्रति, क्या उन आपत्तियोंके प्रति धर्मराजाध्वरीन्द्र सजग रहे है जब वह स्वयं प्रत्यक्षका लक्षण बना रहे है या अनुमानका लक्षण बना रहे हे ?

पद्मेश्वरशास्त्री : श्रीहर्षका मेटाफिजिकल पॉइन्ट ओफ़ व्यू अब इम्पिरिकल पॉइन्ट ओफ़ व्यू स्वतन्त्र कोई ग्रन्थ ही अद्वैतमे नहीं था प्रमाणमीमासाके ऊपर अद्वैतमे कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ ही नहीं था

प्रद्योतकुमार : जरूरत भी नहीं थी

यज्ञेश्वरशास्त्री : ससारदशायां सकलानामपि प्रमाणानां आवश्यकता. जो
अद्वैतके मेटाफिजिक्सके साथ चले उस तरहका ग्रन्थ जल्द
थे. वेदान्तपरिभाषा अद्वैतके मेटाफिजिक्सके साथ चलता
है.



वैभाषिक दर्शनमें प्रत्यक्षकी अवधारणा तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य : वाल्लभ वेदान्त

डॉ अम्बिकादत्त शर्मा

सख्खारोस्सज्जम सुत्त' का एक प्रसंग है कि बुद्धके अतिवृद्ध हो जाने पर 'मार' नामक प्रेतने उन पर आक्रमण किया और कहा कि आप आयु सस्कारको समाप्त कर निर्वाण लाभ करें इसके उत्तरमें बुद्धने कहा कि "न तावह पापिम परिनिब्बायिस्साभिभाव में भिक्खु उपपन्न परण्यवाद सह धम्मेन सुनिग्गहित निग्गहेत्वा सम्पाटि हरिय धम्म देहे स्सन्तिति" अर्थात् जब तक हमारे भिक्षुगण तर्क, प्रमाण एवं युक्ति में पटु नहीं हो जाते— जिससे कि वे प्रतिपक्षियों द्वारा उठाये गये प्रश्नोंका पूर्ण समाधान कर 'धम्म'को सस्थापित कर सके —तब तक में निर्वाण लाभ नहीं करूंगा इस प्रसंगसे स्वयं बुद्धका 'धम्म'के प्रति यौक्तिक आग्रह और तदनुरूप प्रमाण - विद्या हेतु - विद्या के प्रति गहरी अभिरुचिके सकेत मिलते हैं सम्प्रति अनात्मवाद एवं क्षणिकवाद की आधारशिला पर बौद्ध प्रमाण विद्याका जिस रूपमें विकास हुआ है, उसके बीज बुद्धवचनोंमें तो मिलते हैं लेकिन उसका प्रारम्भिक रूप हमें वैभाषिक दर्शनमें प्राप्त होता है प्रस्तुत निबन्धमें हम वैभाषिक दर्शनमें अन्तर्निहित प्रत्यक्षकी अवधारणाको उजागर करते हुए वाल्लभ वेदान्तकी प्रत्यक्ष विषयक अवधारणासे कुछ बिन्दुओपर तुलनात्मक दृष्टिसे विचार करनेका प्रयत्न करेंगे इसकेलिए सर्वप्रथम हम प्रत्यक्षविचारकेलिए एक दार्शनिक परिप्रेक्ष्यका निर्माण करते हुए यह दिखानेका प्रयास करेंगे कि किस प्रकार दो दर्शनोंमें प्रत्यक्षकी अवधारणा उन दर्शनोंकी तत्त्वदृष्टिको सम्पोषित करनेमें ही अपने स्वरूपको प्राप्त करती है

किसी भी दर्शनकी प्रमाणमीमासीय योजनामें प्रत्यक्षका अवधारणात्मक महत्व आधारभूत होता है इस रूपमें प्रत्यक्षकी आधारभूत महत्ताको केवल इतने तक सीमित नहीं किया जा सकता कि वह प्रत्यक्षेतर प्रमाणोंका उपजीव्य होता है उपजीव्यताके कारणमूलक साधारण अर्थोंसे कुछ भिन्न एवं विशिष्ट इसके महत्वका एक बृहत्तर आयाम होता है वह यह कि प्रत्यक्ष ही अपने ऊपर किसी प्रमाणमीमासापर पड़नेवाले सम्पूर्ण तत्त्वमीमासीय अधिभारोंका वहन करता है प्रत्यक्ष ही वह द्वार है जिसके माध्यमसे तत्त्वदृष्टि किसी प्रमाणमीमासामें सक्रमित होती है वास्तवमें एक विशेष प्रकारकी तत्त्वदृष्टिको धारण करते हुए ही कोई प्रमाणमीमासा अपने स्वतन्त्र एवं समानान्तर स्वरूपको विज्ञापित कर पाती है इस रूपमें तत्त्वमीमासीय अधिभारोंको प्रमाणमीमासा विशेषके प्रति “नीतिनिर्देशक तत्त्व” के रूपमें समझा जा सकता है सर्वप्रथम प्रत्यक्ष ही उपजीव्य प्रमाण होनेके चलते इससे निर्दिष्ट होता है और तत्त्वमीमासीय निर्दिष्टियोंके आलोकमें अपनेको निरूपित करता है इसलिए जब यह कहा जाता है कि प्रत्यक्षपूर्वक ही अन्य प्रमाण फलित होते हैं तो इसका तात्पर्य यह भी है कि तत्त्वमीमासीय निर्दिष्टियोंके आलोकमें निरूपित होकर प्रत्यक्ष उन निर्दिष्टियोंको अन्य प्रमाणों तक अग्रसारित करते हुए ही उनका उपजीव्य होता है

साधारण तौरपर प्रत्यक्षको बड़ा ही सरल और शुद्ध प्रमाण माना जाता है परन्तु उपर्युक्त रूपमें प्रत्यक्षके अवधारणात्मक महत्वको स्वीकार कर लेनेपर प्रत्यक्षके सरल एवं शुद्ध स्वरूपका निर्धारण प्रमाणमीमासीय दृष्टिसे उतना ही सरल एवं शुद्ध नहीं रह जाता है प्रमाणमीमासाके वैकल्पिक प्रारूपोंके सम्भव होनेके कारण उनके मध्य यह निश्चित कर पाना और भी कठिन हो जाता है कि प्रत्यक्षका कोई सरल और शुद्ध स्वरूप होता भी है अथवा नहीं वास्तवमें प्रत्यक्षका हाना जितना निर्विवाद है उतना ही विवादास्पद यह है कि प्रत्यक्ष

केसका ओर कैसे होता है. यदि प्रत्यक्षकी प्रत्यक्षता अर्थात् साक्षात् एवं सद्यः ज्ञानको कमसे कम प्रत्यक्षका सरल एवं शुद्ध स्वरूप मान भी लिया जाय तो भी साक्षात्कारित्वकी आधारभूमिपर प्रत्यक्ष अपनी बहुविध व्याख्याका विरोध नहीं करता. वस्तुतः प्रत्यक्षकी तथाकथित सरलता एवं शुद्धता ऐन्द्रिक संवेदनकी एक ऐसी प्रभावाभिनत स्थिति है कि उसके स्वरूप एवं व्याख्या को आसानीसे प्रभावित करते हुए प्रत्यक्षविषयक एकसे अधिक अवधारणाओंको निर्मित करनेका लाभ लिया जा सकता है. इसलिए तो विभिन्न दर्शनोंके प्रस्थानभेदसे प्रत्यक्षकी भिन्न-भिन्न अवधारणाएं सम्भव होती हैं, ओर तब भी सबके सब प्रत्यक्षके वास्तविक स्वरूपको ही उद्घाटित करनेका दावा करते हैं. अवधेय है कि यदि किसी दर्शनकी प्रमाणमीमांसाके अन्तर्गत प्रत्यक्षपर संशोधनात्मक रूपसे विचार किया जाता है ओर इस तरह प्रत्यक्षके सरल एवं शुद्ध स्वरूपको ही उद्घाटित करनेका दावा किया जाता है तो ऐसे प्रयासोंमें भी प्रत्यक्षके किसी अन्य प्रकारके तत्त्वमीमांसीय आग्रहकी अनुरूपतामें ही निरूपित किये जानेका पूर्वाग्रह निहित होता है. अतएव यह कहा जा सकता है कि दार्शनिक दृष्टिसे प्रत्यक्षका संज्ञानात्मक मूल्य जितना महत्त्वपूर्ण नहीं उससे अधिक महत्त्वपूर्ण उसका अवधारणात्मक मूल्य होता है. प्रत्यक्षको ऐसा अवधारणात्मक मूल्य किसी तत्त्वदृष्टिकी अनुरूपतामें निरूपित किये जानेसे प्राप्त होता है. लोकव्यवहारमें प्रत्यक्षविषयक एक आम सहमति है लेकिन दो या दोसे अधिक दर्शनोंमें प्रत्यक्षविषयक जो मतभेद होता है, उसे प्रत्यक्षके अवधारणात्मक मूल्यके सन्दर्भमें ही समझा जा सकता है.

यहां यह भी अवधेय है कि प्रमाता, प्रमाण ओर प्रमेय की त्रिपुटीय संतचनामें करण एवं विषय नामक दो पक्ष प्रत्यक्षकी अवधारणाके महत्त्वपूर्ण घटक होते हैं. एतदर्थ तत्त्वशास्त्रीय निर्दिष्टियोंके आलोकमें प्रत्यक्ष अपनेको निरूपित करे, इसकेलिए प्रत्यक्षप्रमाको अपने करण एवं विषय में परस्पर सामञ्जस्य स्थापित करते हुए दोनों ही दृष्टियोंसे

अपनेको निरूपित करना पड़ता है। यही कारण है कि भारतीय दर्शनमें प्रत्यक्षात्मक ज्ञानके कारण उपकरण एवं विषय को लेकर रोचक विवादोंका एक लम्बा इतिहास देखनेको मिलता है। इस विवादके अन्यान्य निहितार्थोंमें एक प्रमुख निहितार्थ यह भी रहा है कि प्रत्यक्षके करणात्मक पक्षकी व्याख्यामें किसी प्रकारका बदलाव प्रत्यक्ष प्रमाके स्वरूपको प्रभावित करते हुए उसके विषय पक्षमें भी बदलावके पूर्वग्रहको न्यूनाधिक रूपसे सूचित करता है दूसरे शब्दोंमें प्रत्यक्षके करणात्मक पक्षकी व्याख्या ही प्रत्यक्षकी पात्रताको निर्धारित करता हुआ प्रतीत होता है कि निर्दिष्ट प्रत्यक्षका विषय कैसा और क्या होगा? अब यदि विषयका स्वरूप एक तत्त्वमीमासीय निर्धारण है तो प्रत्यक्षकेलिए भी यह आवश्यक हो जाता है कि तदनुरूप ही वह अपनेको इस तरह निरूपित करे कि प्रत्यक्षकी प्रत्यक्षता और निर्दिष्ट विषयके प्रति उसकी प्रमाणता दोनों सुरक्षित रहे

उपर्युक्त दृष्टिसे यदि भारतीय दर्शनके प्रमाणमीमासीय चिन्तनके विकासको देखा जाय तो प्रत्यक्षके करणात्मक पक्षकी व्याख्यासे सम्बन्धित भिन्न-भिन्न प्रकारके सिद्धान्तोंके सन्दर्भ प्राप्त होते हैं इन्हे मोटे तौरपर इन्द्रियप्रमाणवाद (न्याय-वैशेषिक), सन्निकर्षप्रमाणवाद (माध्व वेदान्त), ज्ञानप्रमाणवाद (मण्डनमीमासा, कुमारिलभट्ट, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, बौद्ध एवं जैन), त्रिपुटीप्रत्यक्षवाद (प्रभाकरमीमासा), वृत्तिप्रमाणवाद (सांख्य-योग), चित्प्रमाणवाद (शाक्त, शैव) और वृत्तिचित्प्रमाणवाद (अद्वैतवेदान्त) इत्यादिके रूपमें रेखांकित किया जा सकता है इन सभी सिद्धान्तोंके पारस्परिक भेदको केवल प्रत्यक्षके विषयको ही सामने रखकर नहीं समझा जा सकता तब भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि ऐसे सभी सिद्धान्त प्रत्यक्षकी ग्राह्यताको एक विशेष रूपमें संस्कारित तो अवश्य ही करते हैं प्रत्यक्षात्मक विषयके स्वरूपके अतिरिक्त प्रत्यक्षात्मक प्रमाके कारण पक्षकी व्याख्याको प्रभावित करने वाला दूसरा महत्वपूर्ण पटक चेतनाके स्वरूपसे सम्बन्धित उनकी निराकारता

और साकारता है जो भारतीय दर्शनोंके प्रमाणचिन्तनको बहुत गहरे अर्थोंमें प्रभावित करते हैं. प्रमाण और प्रमाणफल में भेद और अभेद जैसी निष्पत्तियोंको इन्हीं दोनों अभ्युपगमोंके सन्दर्भमें समझा जा सकता है. प्रकाशवाद एवं प्रतिभासवाद की समस्या भी मौलिक रूपसे निराकारज्ञान एवं साकारज्ञान वादसे ही सम्बन्धित प्रतीत होती है.

II

अब यदि उपर्युक्त पृष्ठभूमिमें वैभाषिकोंके प्रमाणचिन्तनपर विचार किया जाय तो कहा जा सकता है कि यह बौद्ध दर्शनका पहला सम्प्रदाय है जिसने “वे धम्मो हेतु प्रभवाः...” नामक बुद्ध वचनको आधार बनाकर एक धर्मप्रविचयात्मक तत्त्वशास्त्रकी रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए कुछ एक प्रमाणमीमांसीय प्रश्नोंपर विचार किया है. धर्मप्रविचयके पीछे उनकी मूलभूत दृष्टि इस संसारमें चेतनाकी प्रवृत्तिको समझकर वास्तवमें संसारसे चेतनाकी निवृत्तिके सूत्रको खोजना था. इसीलिए अभिधर्मकी व्याख्या “अमला प्रज्ञा सानुचराः अभिधर्माः”^२. अर्थात् निर्वाणोन्मुखी धर्मके रूपमें की गई है. अवधेय है कि चित्तकी लोकप्रवृत्ति और विषयोन्मुखता के साथ ही सञ्ज्ञानकी प्रक्रिया और उससे सम्बन्धित एक सिद्धान्तका जन्म हो जाता है. सञ्ज्ञानकी प्रक्रिया और उसका अवधारणीकरण किये बिना हम चित्तकी लोकप्रवृत्तिको पुंखानुपुंख समझ भी नहीं सकते. अतएव कहा जा सकता है कि वैभाषिकोंने धर्मप्रविचयके अन्तर्गत भूत - भौतिक, चित्त - चैतसिक आदि स्थितियोंको जितनी सूक्ष्मताके साथ पहचाननेका प्रयास किया है उसमें स्वभाविक रूपसे एक प्रमाणविज्ञान अन्तर्निहित है. यह बात अलग है कि वैभाषिक दार्शनिकोंने अपने प्रमाण - चिन्तनको उस रूपमें विवेचित और व्याख्यायित नहीं किया है जितना कि अन्य भारतीय दर्शनोंमें प्रमाणचिन्तन अपने विवेचित रूपमें प्राप्य होता है. तब भी यह कहा जा सकता है कि वैभाषिकोत्तर बौद्ध दर्शनके सम्प्रदायोंमें बौद्ध प्रमाणशास्त्रका विकास जिस रूपमें हुआ

है, उसकी मूलभूत दृष्टि उन्हें वैभाषिकोंसे ही प्राप्त हुई हो

वैभाषिकोंने अस्तित्वके अवयवोंके रूपमें धर्मोंका प्रविचय स्कन्ध, आयतन एव धातु के रूपमें किया है स्कन्धके अन्तर्गत रूप, वेदना, सञ्ज्ञा, स्पर्श और विज्ञान परिगणित किये गये हैं आयतनके अन्तर्गत पाच ज्ञानेन्द्रिया और एक मन तथा तत्तद् इन्द्रियोके रूप-शब्दादि विषयोंको सम्मिलित किया गया है इसी तरह द्वादश आयतनमें पञ्चविध इन्द्रियोंसे अन्य विज्ञानोंको समाविष्ट कर अष्टादश धातुओंकी व्यवस्थाकी गई है वैभाषिक इस प्रकार ७२ सस्कृत धर्म और ३ असस्कृत धर्म स्वीकार करते हैं उनके अनुसार बुद्धने जब यह कहा था कि “सर्वम् अस्ति” तो सब कुछ होनेका तात्पर्य इन्हीं सस्कृत एव असस्कृत धर्मोंसे था^३ इसीलिए वैभाषिक दर्शन ‘सर्वास्तिवाद’की एक शाखाके रूपमें सामने आता है धर्मोंको भाव, लक्षण अवस्था एव कारित्र की दृष्टिसे क्षणिक लेकिन द्रव्यात्मक दृष्टिसे त्रैकालिक माननेके कारण इन्हे कभी-कभी ‘सर्वदास्तिवादी’ भी कहा जाता है^४ वास्तविक सत्ता इन्हीं धर्मोंकी है हमारा जीवन और जगत् ऐसे ही धर्मोंकी एक सुसहज व्यवस्था है, लेकिन धर्मसंपातको अविद्यादृष्टि अथवा कल्पित बताया गया है संपातदृष्टि ही वैभाषिक सम्मत पुद्गल नैरात्म्यदृष्टि है इनमेंसे प्रत्येक सस्कृत धर्म अपने स्वरूपमें एक-दूसरेसे पृथक्-पृथक्, क्षणिक, स्वलक्षणात्मक, प्रतीत्यसमुत्पन्न एव अनात्मलक्षणसे सम्पन्न होते हैं यहां तक कि इनके मध्य किसीको आन्तरिक और बाह्य भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सभी धर्म अपनी असकीर्णता एव असाधारणता में एक-दूसरेकेलिए बाह्य ही हैं जिस रूपमें विज्ञान एक सस्कृत धर्म है, विज्ञानका विषय भी उसी रूपमें एक सस्कृत धर्म है ऐसे पृथक्-पृथक् स्वलक्षणात्मक धर्मोंके बीच जो एक व्यापक नियम क्रियाशील है, वह है—प्रतीत्यसमुत्पाद यशोभिन्न^५ ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि “कुछ धर्मोंके हेतु होनेपर अन्य कुछ धर्मोंकी समुपेत उत्पत्ति ही प्रतीत्यसमुत्पाद है” वसुचन्द्र^६ ने तो धर्मसंकेतका

अभिप्राय ही “अस्मिन् सति इदं भवति” माना है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैभाषिकोंका धर्मप्रविचय अथवा धर्मसंकेत चित्त और चित्त की लोकप्रवृत्तिके साधनभूत इन्द्रियां और उन साधनोंसे उपलब्ध होने वाले विज्ञान और विज्ञेय वस्तुओंके असाधारण स्वरूपकी एक ऐसी व्यवस्था है कि जिसमें प्रत्येक धर्म अपने हेतु - प्रत्ययोंसे उत्पन्न होकर क्षणिक रूपसे अध्व(/ ऊर्ध्व)संक्रमण करते रहते हैं। इस व्यवस्थामें प्रमाणविज्ञानसे सम्बन्धित प्रश्न धर्मोंकी क्षणिकताके चलते जटिलताके साथ उपस्थित होते हैं कि ज्ञानके घटक ज्ञानोत्पत्तिमें किस प्रकारका सहयोग करते हैं? आयतनों तथा धातुओं की प्रत्यक्षोपलब्धि किस प्रकार होती है? ज्ञानोत्पत्तिके सम्बन्धमें बौद्ध दार्शनिकोंकी एक सामान्य मान्यता है कि नील विज्ञानकी उत्पत्ति आलम्बनप्रत्यय, समनन्तप्रत्यय, अधिपतिप्रत्यय और सहाकारीप्रत्यय के अधीन होती है^५। नील - स्वलक्षण वस्तु नीलविज्ञानका आलम्बनप्रत्यय है, क्योंकि इसीके चलते नीलविज्ञान नीलविषयक होता है। जिस विज्ञानके अनन्तर नीलविज्ञानकी उत्पत्ति होती है, उसे समनन्तप्रत्यय कहते हैं अर्थात् चित्तकी सन्तानधारामें पूर्ववर्ती चित्तक्षण उत्तरवर्ती चित्तक्षणकेलिए समनन्तप्रत्यय होता है^६। इसीसे नीलविज्ञानमें बोधरूपता आती है। इन्द्रियां अधिपतिप्रत्यय हैं, क्योंकि ये ही रूप आदि ज्ञानके नियामक होते हैं अर्थात् रूप-स्पर्शादि ज्ञानका परिच्छेदक इन्द्रिया ही होती हैं ज्ञानोत्पत्तिके प्रति प्रकाश आदिको सहाकारी प्रत्ययके अन्तर्गत परिगणित किया गया है^७। इसके अतिरिक्त वैभाषिकोंने छ प्रकारके हेतुओंको भी स्वीकार किया है जो किसी भी वस्तु तथा चित्त - चेतसिककी उत्पत्तिकेलिए एक व्यापक कारणसामग्रीका ताना-बाना तैयार करते हैं।

यहां विचारणीय है कि ज्ञानोत्पत्तिके घटकोंका प्रत्ययोंके रूपमें जिस प्रकारसे निर्देश किया गया है, वे सभी एक-दूसरेसे पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र एवं क्षणोंमें विभक्त हैं। ऐसा होनेसे उनके मध्य किसी प्रकारके

सम्बन्धकी सकल्पना नहीं की जा सकती परन्तु किसी वस्तुका प्रत्यक्ष होनेकेलिए ज्ञानग्राहक चेतना और ज्ञेय वस्तु सदा अथवा किसी माध्यमसे सम्बन्धका होना आवश्यक है, जैसा कि बौद्धेतर दर्शनोमें विभिन्न प्रकारके सन्निकर्षोंकी अवधारणा की गई है वास्तवमें जब वस्तुमात्रकी सकल्पना पृथक्-पृथक् क्षणभंगुर धर्मोंके रूपमें की जाती है तो प्रत्यक्षकी व्याख्या बहुत जटिल हो जाती है ऐसा इसलिए कि न केवल वस्तुएँ क्षणिक हैं बल्कि प्रत्यक्षकी प्रक्रिया भी उतनी ही क्षणिक है, तो दोनोंके मध्य किस प्रकारका सम्बन्ध हो सकता है?—पुनः सम्बन्धके बिना आखिर किस प्रकार विषयको 'प्रत्यक्षका विषय' कहा जायेगा? यदि प्रत्यक्षकी प्रक्रिया पूर्ण होने तक भी विषयको स्थिर माना जाय तो वस्तुकी क्षणिकता ही बाधित हो जाती है।^{१०} अतएव ज्ञेय वस्तुकी क्षणिकता एवं उसके प्रत्यक्षमें एक सहज ही विरोध प्रतीत होता है यह समस्या बौद्ध प्रमाणमीमासाकेलिए आधारभूत एवं साथ ही साथ सामान्य रूपसे विचारणीय है

III

उपर्युक्त समस्याका सर्वास्तिवादी वैभाषिकोंने बड़ा ही मौलिक समाधान प्रस्तुत किया है जो बौद्ध दर्शनके सभी सम्प्रदायोंकी प्रमाणमीमासाकेलिए उपादेय सिद्ध हुआ है उनकी दृष्टिमें वस्तुओंकी क्षणिकता और उनके प्रत्यक्षमें विरोध तब दिखाई देता है जब वस्तु और उसके ज्ञानको कालिक अनुक्रममें रख कर देखते हैं साथ ही साथ कालिक अनुक्रममें ही वस्तुको ज्ञानका कारण अथवा आलम्बनप्रत्यय स्वीकार करते हैं यह बात सही है कि कालिक अनुक्रममें ज्ञानोत्पत्ति चतुर्विध प्रत्ययोंका समवधान क्षणिकवादमें सम्भव नहीं और इस प्रक्रियामें वे सभी घटक ज्ञानोत्पत्तिमें किसी प्रकारका सहयोग प्रदान नहीं कर सकते, परन्तु इसकी व्याख्या एक-दूसरे रूपसे भी की जा सकती है वैभाषिकोंके अनुसार प्रतीत्यसमुत्पादके नियमानुसार ज्ञानोत्पत्तिके घटकोंका

समवधान, वास्तवमें, कालिक अनुक्रममें न होकर समानान्तर और युगपद् रूपसे होती है। ये सभी घटक अपनी समानान्तर और युगपद् उपस्थितिके अतिरिक्त ज्ञानको उत्पन्न करनेमें किसी अन्य प्रकारका सहयोग नहीं करते। इनके समानान्तर और युगपद् सन्निपातसे ही ज्ञानोत्पत्ति हो जाती है। वैभाषिकोंके अनुसार वास्तवमें यह तथ्यता-दृष्टि है अर्थात् ज्ञानोत्पत्तिके घटक तत्त्वोंका स्वभाव ही ऐसा है कि ज्ञानके कारणोंमें न कोई सम्बन्ध होता है, न ही उनके बीच कोई क्रिया होती है। तब भी उन कारणोंके समानान्तर सन्निपातसे विज्ञानकी उत्पत्ति हो जाती है। बोद्धेतर अधिकांश दर्शनोंमें ज्ञानोत्पत्तिकी व्याख्याकेलिए कालिक अनुक्रम और उसके क्रियामीमांसीय विश्लेषणका तरीका अपनाया गया है; लेकिन वैभाषिकोंकी उपर्युक्त मान्यता क्रियामीमांसा ज्ञानसिद्धान्तके विरोधमें खड़ा होता है। वैभाषिकोंका यह सिद्धान्त हमारे साधारण और संश्लिष्ट अनुभवसे कितना संगत है, यह विचारणीय तो है हि, लेकिन क्षणिकवादकी आधारभूमिपर ज्ञानमीमांसाको खड़ा करनेका इससे बेहतर विकल्प शायद ही कुछ हो सकता था।

इस सिद्धान्तके अनुसार आलम्बन, इन्द्रियविकार और विज्ञान का त्रिकसन्निपात होना ही प्रत्यक्षका घटना है। त्रिकसन्निपातको पारिभाषिक शब्दावलीमें 'फस्सो' अथवा 'स्पर्श' कहा जाता है^{११}। स्पर्शके परिणामस्वरूप इन्द्रियोंमें साकारता आती है और ततद् इन्द्रियविज्ञानोंका समुत्पाद होता है उदाहरणकेलिए रूप एक क्षण, चक्षुरिन्द्रियका एक क्षण और विज्ञानका एक क्षण — इन तीनोंके युगपद् स्पर्शसे चक्षुर्विज्ञान समुत्पन्न होता है और उससे रूपका ग्रहण अर्थात् रूपस्वलक्षणका निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होता है। ऐसे ही सभी इन्द्रियोंके विज्ञानका समुत्पाद और उनके विषयोंका प्रत्यक्ष समझना चाहिए। एक दूसरी व्याख्याके अनुसार रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्शादि आयतनोंकी प्रज्ञा चक्षुर्विज्ञान, घ्राणविज्ञान, जिह्वाविज्ञान तथा कायविज्ञानके अतिरिक्त मनोविज्ञानसे भी होती है। अतः इनके दो-दो प्रज्ञाता माने गये हैं^{१२}। अवधेय है कि चक्षुर्विज्ञान पश्चात्

मनोविज्ञानके उत्पादकका यह अर्थ नहीं लिया जाता कि उसकी परिव्याप्ति सम्पूर्ण प्रत्यक्ष तक नहीं रहती. आचार्य धर्मत्रातने स्पष्ट किया है कि चक्षु, रूप, आलोक तथा मनस्कार से चक्षुर्विज्ञानका समुत्पाद होता है फिर भी उसे केवल 'चक्षुर्विज्ञान' नाम दिया गया है, क्योंकि उसमें चक्षुरिन्द्रियकी प्रधानता है. वह रूपसे प्रतीत्यसमुत्पन्न विज्ञानके प्रति असाधारण कारण, अधिपतिप्रत्यय है. जिस प्रकार बीज अंकुरका आश्रय है उसी प्रकार चक्षुर्विज्ञानका आश्रय चक्षु है. जिस प्रकार सुना जानेवाला शब्द भेरीकी समीपतासे भेरीजन्य शब्द कहा जाता है. उसी प्रकार चक्षुर्विज्ञान चक्षुरिन्द्रियके सन्निकट होनेसे चक्षुर्विज्ञान कहा जाता है. जब चक्षुरिन्द्रिय देखता है तो उस विषयको चक्षुर्विज्ञानसे संयुक्त व्यवस्थापित किया जाता है^{१३}. अतएव सभी विषयोंका मनोविज्ञान एक साथ नहीं होता, क्योंकि एक चित्त-सन्तानमें दो चित्त नहीं होते हैं^{१४}. वास्तवमें इन्द्रियविज्ञान और मनोविज्ञान की संयुक्त व्यवस्थासे ही प्रत्यक्षको पूर्णता मिलती है. इन्द्रिय विज्ञानोंसे रूपादि स्वलक्षण धर्मोंका निर्विकल्प प्रत्यक्ष होता है. इससे बहुत सारे चैतसिक धर्मोंके प्रत्यक्षकी व्याख्या नहीं हो सकती. पुन इन्द्रियविज्ञान धर्मोंके त्रैकालिक अस्तित्वकेलिए कोई प्रमाणमीमांसीय आधार प्रस्तुत नहीं करते, क्योंकि उनके द्वारा वस्तुतः पूर्वापरसे व्यावृत्त वस्तुका ही ग्रहण प्रसन्न होता है. अतः प्रत्यक्षकी अवधारणामें मनोविज्ञानका समावेश वैभाषिकोंकेलिए कई दृष्टिसे उपादेय है. बादमें बौद्ध नैयायिकोंकेद्वारा मानस प्रत्यक्षकी अवधारणाका विकास सम्भवतः इसी आधारभूमिपर हुआ है.

IV

बौद्ध दर्शनके वैभाषिकोत्तर सम्प्रदायोंसे वैभाषिक मतकी एक विशिष्टता यह है कि ये निराकारवादी हैं^{१५} अर्थात् इनके मतमें विज्ञानोंके स्वरूपको निराकार स्वीकार किया गया है रूप आदि वाह्यार्थोंका प्रतिभास चक्षुमें हुआ करता है, चक्षुर्विज्ञानमें नहीं. चक्षु ही रूपको देखता है, चक्षुर्विज्ञान तो चक्षुगत प्रतिबिम्बका साक्षात्कार करता है^{१६}. अतः

इनके मतमें इन्द्रियोंमें साकारता होती है, इन्द्रियविज्ञान निराकार ही रहते हैं। अपनी ऐसी मान्यताके पीछे उनका तर्क यह है कि यदि चक्षुर्विज्ञानमें रूपोंका प्रतिभास माना जायेगा तो उसके द्वारा प्राचीर - कुड्चादिके ओझल रूपोंका साक्षात्कार भी मानना पड़ेगा^{१७}। ऐसा इसलिए कि विज्ञान सप्रतिष नहीं, बल्कि स्वभावसे ही अप्रतिष होता है। विज्ञानके अप्रतिष होनेसे रूपी धर्म उसके गमनागमनमें बाधक नहीं हो सकते। वैभाषिकोंके अतिरिक्त बौद्ध दर्शनके अन्य सम्प्रदाय अपने-अपने तरीकेसे इन्द्रिय विज्ञानको ही साकार मानते हैं और उसीकेद्वारा रूपादि विषयों एवं चेतसिक धर्मोंके प्रत्यक्षकी व्याख्या करते हैं।

इस दृष्टिसे इन्द्रियोंकी साकारता और उनकी प्रकृति तथा निराकार विज्ञानकेद्वारा रूपादि विषयोंका ग्रहण वैभाषिकोंके प्रत्यक्ष-विचारकेलिए महत्वपूर्ण हो जाता है। जहां तक इन्द्रियोंके स्वरूपका प्रश्न है तो वैभाषिक मतमें इन्द्रियां भौतिक ही हैं। वसुबन्धुने अभिधर्मकोशमें इनके स्वरूपका बड़ा ही सूक्ष्म और आलंकारिक वर्णन किया है। रूप धर्मका वह अंश है जिससे इन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है, वह 'रूपप्रसाद' कहलाता है। यह अत्यन्त सूक्ष्म और मणिप्रभाके समान होता है। इसे न तो खण्डोंमें विभाजित किया जा सकता है और न ही जलाया जा सकता है। जीवन पर्यन्त इनका अस्तित्व रहता है। जीवन कालमें परमाण्वात्मक इन्द्रिया पांच विभिन्न प्रकारके परमाणुओंके माध्यमसे अभिव्यक्त होती हैं। चक्षुके परमाणु काले जीरे (अजाजी)के पुष्पके समान चक्षुगोलकपर अवस्थित होते हैं। जिह्वेन्द्रियके परमाणु अर्धचन्द्रके आकारमें जिह्वापर स्थित रहते हैं। कायेन्द्रियके परमाणु काय-संस्थानमें रहते हुए सम्पूर्ण शरीरमें व्याप्त होते हैं। वस्तुतः इन्द्रियोंके सम्बन्धमें इस प्रकारका वर्णन प्रमाणमीमांसीय दृष्टिसे बहुत महत्वका नहीं है। महत्वपूर्ण केवल इतना है कि इन्द्रिया परभासक हैं और स्वसामर्थ्यके अनुरूप विशेषताके कारण वे अपने-अपने विषयोंका प्रतिभास ग्रहण करते हैं। इसमें चक्षुरिन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय असम्प्राप्तग्राही अर्थात् दूरीसे

विषयोका ग्रहण करते हैं और ग्राण, जित्वा तथा कायेन्द्रिय सम्प्राप्तग्राही अर्थात् सन्निहित विषयके ग्रहणमें समर्थ होते हैं अभिधम्मत्थ-संगहो, अभिधर्मकोश आदि ग्रन्थोंमें इन्द्रियोके सम्प्राप्तग्राहित्व एव असम्प्राप्तग्राहित्व तथा उनके ग्रहणक्षेत्रपर विभिन्न दृष्टान्तों एव युक्तियों केद्वारा सविस्तार विचार किया गया है जो द्रष्टव्य है^{१८}

यहां यह भी द्रष्टव्य है कि सर्वास्तिवादमें इन्द्रियोके सम्बन्धमें जो इस प्रकारके विचार प्राप्त होते हैं, उसे उस विचारका प्रारम्भिक रूप कहा जा सकता है जिसका विकास बादमें इन्द्रिय प्राप्यकारित्व और अप्राप्यकारित्व की समस्याके रूपमें हुआ है यद्यपि बौद्ध नैयायिकोंकेद्वारा बौद्धतर दर्शनोंके इन्द्रियप्राप्यकारित्व सिद्धान्तका खण्डन किया गया है और उसके पीछे उनका उद्देश्य सन्निकर्षकी अवधारणाका खण्डन प्रतीत होता है, लेकिन वैभाषिक मतमें भी इन्द्रियोको सम्प्राप्तग्राही असम्प्राप्तग्राही भेदसे प्राप्यकारी ही मानना पड़ेगा परन्तु वैभाषिकोंका प्राप्यकारित्व विविध प्रकारके इन्द्रियार्थसन्निकर्षोंके रूपमें व्याख्येय न होकर 'स्पर्श-सिद्धान्त'के परिप्रेक्ष्यमें निरूप्य है इस दृष्टिसे वैभाषिक मतमें प्रत्यक्षीकरणकी प्रक्रियामें चक्षुरिन्द्रिय और विज्ञान वस्तुतः कोई क्रिया नहीं करते और उनका वस्तुओंके साथ कोई वास्तविक सम्बन्ध भी स्थापित नहीं होता किसी विशेष परिस्थितिमें एक सायोगिक नियमसे इन्द्रिय, चित्त और वस्तुक्षण का त्रिकसन्निपात होनेसे इन्द्रिय वस्तुका प्रतिभास ग्रहण कर लेती है और विज्ञानको उस वस्तुका प्रत्यक्ष होता है बुद्धवचन भी है कि "हे ब्राह्मण! चक्षुरिन्द्रियरूपी दरवाजासे विज्ञान रूपको देखता है" अतः इन्द्रिय दरवाजा है, द्रष्टा तो चित्त है इस प्रकार वैभाषिक प्रत्यक्षीकरणकी प्रक्रियामें ज्ञानेन्द्रियो एव विज्ञानके भेदपूर्ण भूमिका को आगम एव युक्ति दोनों ही तरहसे प्रतिपादित करते हैं

V

सोत्रान्तिकोंने वैभाषिकोंके इस अभ्युपगम (इन्द्रिय ओर इन्द्रिय

विज्ञानों की भेदपूर्ण भूमिका और इन्द्रियोंकी साकारता)की जमकर आलोचनाकी है। एतद्विषयक उनके मध्य शास्त्रार्थका एक लम्बा इतिहास है। दोनों ही अपने-अपने पक्षमें आगमों और युक्तियों का संग्रह करते हैं लेकिन अन्तमें सौत्रान्तिक^{१८} इस टिप्पणीके साथ विवादको समाप्त कर देता है कि चक्षु देखता है और विज्ञानको वस्तुकी चेतना होती है, दोनोंमें अन्तर करते हुए विवाद करना शून्याकाशको चबाने जैसा है। कोन द्रष्टा है? कोनसी क्रिया है? —यह सब निरर्थक प्रश्न हैं। धर्मके अतिरिक्त किसी अन्यका अस्तित्व नहीं है। वे ही हेतुप्रत्ययके रूपमें प्रकट होते हैं और आवश्यकतानुसार चक्षु देखता है, विज्ञानको ज्ञान होता है जैसी अभिव्यक्तियोंका प्रयोग हुआ करता है। इस प्रकारकी पृथग्जन अभिव्यक्तियोंका कोई सैद्धान्तिक महत्व नहीं है। इस तरह सौत्रान्तिकोंने वैभाषिकोंके विचारोंमें संशोधन करते हुए वास्तवमें प्रत्यक्षीकरणकी प्रक्रियामें इन्द्रियोंकी भूमिकाको गौण कर दिया है और इन्द्रियोंकी साकारताके बदले विज्ञानकी साकारताके सिद्धान्तको विज्ञान, और वस्तुमें 'सारूप्य' मानते हुए स्थिर किया है। इनके मतमें इन्द्रियक्षण, वस्तुक्षण और चित्तक्षण के त्रिकसन्निपात होनेपर साकार विज्ञानका समुत्पाद होता है और वस्तुतः आकारप्रत्यक्ष ही प्रत्यक्ष होता है, बाह्यार्थप्रत्यक्ष प्रत्यक्ष नहीं। बाह्यार्थमें आकारके प्रत्यक्षका अभिनिवेश होता है। ऐसा इसलिए कि ज्ञानोत्पत्ति कालमें वस्तुक्षण मृत पूर्ववर्ति क्षण हो चुका रहता है। इस तरह 'क्षणादूर्ध्वम् अविज्ञप्ति'^{१९} होनेसे सौत्रान्तिक मतमें बाह्यानुमेयवाद फलित होता है। इस प्रसंगमें सौत्रान्तिकोंकेद्वारा वैभाषिकोंके निराकारवादकी खूब आलोचना हुई है। यदि इस आलोचनाको व्यापक परिप्रेक्ष्यमें देखा जाय तो बौद्धेतर दर्शनोंका निराकारवाद तथा नैयायिक एवं मीमांसक आदि भी आलोच्य हो जाते हैं। न्याय-वार्तिक-तात्पर्य-टीकामें वाचस्पति मिश्रने^{२०} सौत्रान्तिकोंके पक्षको ऐसे ही व्यापक परिप्रेक्ष्यमें बहुत ही परिष्कारपूर्वक उपस्थापित किया है। सौत्रान्तिकोंका प्रमुख तर्क यह है कि यदि सत्तामात्रसे अर्थात् विद्यमान होनेसे बाह्यार्थ निराकारज्ञानके विषय हो

जाते है तो समस्त अर्थोको भी सभी विज्ञानोंका विषय हो जाना चाहिए, क्योंकि सत्तागात्रसे तो सभी वस्तुएं विद्यमान होती हैं। इस तरह अनायास ही सर्वजनसुलभ सर्वज्ञता प्रसक्त होगी। इसपर वैभाषिको^{२२} की ओरसे कहा जा सकता है कि चूंकि बाह्यार्थ ज्ञानके कारण हैं, अतएव अपने कारणोंसे उत्पन्न विज्ञानका स्वभाव ही ऐसा होता है कि उसमें अपने स्वरूपको भासित करनेके साथ-साथ अर्थको भी प्रकाशित करनेकी शक्ति होती है। अतएव कोई अर्थविशेष ही ज्ञानका विषय बनता है, सभी अर्थ समानकालमें उसके विषय नहीं होते। पुनः सौत्रान्तिक इसपर आपत्ति करता है कि विज्ञानकी उत्पत्तिमें वस्तुक्षण जिस रूपसे कारण होता है, उसी तरह इन्द्रियां भी कारण सामग्रीके अन्तर्गत समान रूपसे कारण होनेकी भूमिकाका निर्वाह करती हैं। अतः इन्द्रियोंको भी निराकार ज्ञानका विषय होना चाहिए^{२३}। केवल विषयमें अर्थात् वस्तुक्षणमें ऐसी क्या विशेषता होती है कि वही ज्ञानमें प्रकाशित होता है और इन्द्रियां नहीं होती हैं। वैभाषिक पक्षसे इसका क्या उत्तर हो सकता है यह बहुत स्पष्ट नहीं है। अभिधर्मकोशमें इस प्रश्नको उठाकर विषय एव विज्ञान में 'सारूप्य'की स्थापना करते हुए उत्तर दिया गया है^{२४} परन्तु यह उत्तर सौत्रान्तिक सम्मत प्रतीत होता है, क्योंकि यह प्रश्न न केवल वैभाषिकोंके प्रति बल्कि सौत्रान्तिकों प्रति भी समान रूपसे उठाया जा सकता है। पुनः सारूप्यकी अवधारणा साकारज्ञानवादकी स्थापना करता है जबकि वैभाषिकोंका इन्द्रियोंकी साकारता और इन्द्रियविज्ञानोंकी निराकारता का है। वस्तुतः सारूप्य और साथ ही साथ स्वसंवेदन को स्वीकार कर सौत्रान्तिक साकारविज्ञानवादकी स्थापना तो कर लेते हैं लेकिन बाह्यार्थकी सत्ताको मानते हुए भी बाह्यार्थके प्रत्यक्षकी समुचित व्याख्या न कर विज्ञप्तिमात्रतावादी मार्ग प्रशस्त करने लगते हैं। दूसरी और वैभाषिक बाह्यार्थवादी बने रहनेका हर सम्भव प्रयास करते हैं। सौत्रान्तिक मतमें बाह्यार्थोंकी बाह्यार्थ रूपसे प्रत्यक्षकी अव्याख्येयताकेलिए उत्तरदायी उनका धर्मोका द्वित्वक्षणात्मक सिद्धान्त भी है, जिसके अन्तर्गत वे संस्कृत धर्मोंको उत्पत्ति और

विनाश नामक दो ही लक्षणोंसे युक्त मानते हैं यही कारण है कि सोत्रान्तिक सर्वास्तिवाद अर्थात् "सर्व अस्ति" की प्रतिष्ठा बाह्यानुमेयवादके द्वारा करनेके लिए विवश हो जाते हैं परन्तु यहाँ हम टिप्पणी करना चाहेंगे कि आत्यन्तिक क्षणिकताको तर्कबलसे स्वीकार करते हुए भी बाह्यानुमेयवाद धर्मोंकी स्वलक्षण सत्ताकी स्थापनाके लिए मजबूत ज्ञानमीमासीय आधार प्रदान नहीं करता सोत्रान्तिकोत्तर कालमें बौद्ध दर्शनके अन्तर्गत अनुमानका विकास जिस रूपसे हुआ है और जिस तरहसे अनुमितिके सम्पूर्ण क्षेत्रको सामान्यलक्षण अर्थात् सवृत्तिके क्षेत्रके अन्तर्गत लिया गया है, उससे भी यही बात प्रमाणित होती है इसके विपरीत वैभाषिकोंके द्वारा सस्कृत धर्मोंकी जाति, स्थिति, जरा और अनित्यता नामक चतुर्विध लक्षणोंसे सम्पन्न मानना और इन्द्रियोकी साकारता तथा इन्द्रियविज्ञानकी निराकारताको मानते हुए बाह्यार्थप्रत्यक्षके द्वारा धर्मोंकी स्वलक्षण सत्ताको प्रतिष्ठित करना सर्वास्तिवादको अपेक्षाकृत अधिक आगमसम्मत सबल प्रमाणमीमासीय आधार प्रदान करता है

इस प्रकार वैभाषिकोंकी धर्मप्रविचयात्मक प्रणालीमें स्वाभाविक रूपसे प्रत्यक्षकी जैसी अवधारणा अन्तर्निहित है और जिस रूपसे उसका विवेचन किया जाना यहाँ सम्भव हुआ है, उसका निहितार्थ यह है कि वैभाषिक बाह्यार्थप्रत्यक्षवादी है इनका बाह्यार्थप्रत्यक्षवाद धर्मलक्षण तक ही सीमित है धर्मोंका स्वभाव अर्थात् द्रव्यरूपसे उनकी त्रैकालिकता बुद्धिगोचर है धर्मलक्षण यद्यपि क्षणिक है लेकिन निराकारविज्ञान सयुक्त साकार इन्द्रियद्वारा उनका निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होता है जाति, जरा, स्थिति और अनित्यता नामक चतुर्विध लक्षणोंसे सम्पन्न मानना और इन्द्रियोकी साकारता तथा इन्द्रियविज्ञानकी निराकारताको मानते हुए बाह्यार्थप्रत्यक्षके द्वारा धर्मोंकी स्वलक्षण सत्ताको प्रतिष्ठित करना सर्वास्तिवादको अपेक्षाकृत अधिक आगमसम्मत सबल प्रमाणमीमासीय आधार प्रदान करता है

प्रत्यक्षीकरणकी प्रक्रियामें रूप, इन्द्रिय (चक्षु), चक्षुर्विज्ञान और

मनोविज्ञान अपने - अपने चतुर्विध लक्षणोंके साथ प्रयुक्त होकर समन्वागमको १६ क्षणोंका जीवन प्रदान करते हैं यहा तक प्रत्यक्षका स्वरूप निर्विकल्प ही होता है इसके बाद मनोविज्ञानका आश्रय लेकर मनोजल्पात्मक उत्प्रेक्षणात्मक रूपमे विकल्पोंका प्रादुर्भाव होता है और नामजात्यादि विकल्पोसे विकल्पित सविकल्प विज्ञप्तिका अध्यवसाय होता है

जहा तक प्रत्यक्षके प्रकारोंका प्रश्न है तो वैभाषिक मतमे इन्द्रियप्रत्यक्ष, मानसप्रत्यक्ष एव योगप्रत्यक्ष ही मान्य हो सकते हैं चूँकि वैभाषिक स्वसवेदनको नहीं मानते, अतएव उनके मतमे स्वसवेदनप्रत्यक्ष नहीं होता वस्तुतः स्वसवेदनप्रत्यक्षकी अस्वीकृति और निराकार विज्ञानकी स्वीकृति ही वैभाषिक प्रमाणमीमासाके दो आधारभूत अभ्युपगम हैं जो उनके बाह्यार्थप्रत्यक्षवादको शुद्धता प्रदान करते हैं

अब यदि वैभाषिकोंकी प्रत्यक्ष विषयक अवधारणा एव वाल्लभीय प्रत्यक्षकी अवधारणा पर तुलनात्मक दृष्टिसे कुछ बिन्दुओंपर विचार किया जाय तो तुलनासे पहले कुछ स्पष्टीकरण अपेक्षित प्रतीत होता है ध्यातव्य है कि सार्थक तुलनाकी कुछ पूर्वपिक्षाएँ होती हैं और उसी प्रागपेक्षामें तुलनाएँ एक सार्थक निष्कर्षमे रचितार्थ होती हैं दो या दोसे अधिक वस्तुओं अथवा सिद्धान्तोमे सार्थक तुलना वहीं सम्भव होती है जहा तुलनीयोंके मध्य कुछ मूलगामी समानताएँ हों अर्थात्, तुलनीय पदार्थ कमसे कम एक ही मूलपर अधिष्ठित होकर अपनी पारस्परिक विभिन्नताओंको अवाप्त किये हुये हों उदाहरणकेलिए सभी प्रकारके वनस्पतियोंका एक ही 'आर्चिटाइप' होता है, लेकिन उस मूलगामी एकताके बावजूद भी उनके आकार-प्रकार एक-दूसरेसे सर्वथा भिन्न हुआ करते हैं परन्तु तुलनाके प्रकृत प्रसंगमें वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है वैभाषिक और वाल्लभ दर्शन दो भिन्न मूलके दर्शन हैं इनकी तात्त्विक दृष्टिमें भेद ही नहीं, आत्यन्तिक विरोध विवक्षित है अतएव दोनोंकी प्रमाणमीमासामे प्रत्यक्ष - विचार जिस आकारको

ग्रहण करता है, उसमें कोई निकटवर्ती तुलना सम्भव नहीं है यदि तुलनाकेलिए कुछ दूरवर्ती आधारोंको सन्दर्भ बनाया जाय तो विभज्यवादका पोषण करने वाले वेभाषिकोंकेलिए प्रत्यक्ष-विचार और शुद्धाद्वैतका पोषण करने वाले वाल्लभीय प्रत्यक्ष-विचारमें कतिपय अतिवर्ती तुलनाएँ की जा सकती हैं इस प्रकारकी तुलनासे केवल यही समझा जा सकता है कि किस प्रकार दो दर्शनोंके प्रमाणमीमासीय सिद्धान्त अपने विकास क्रममें अपनी-अपनी तात्त्विक विशिष्टताओंको ही विज्ञापित करते हुए फलित होते हैं

वाल्लभ वेदान्तके अनुसार यह सम्पूर्ण दृग्-द्रष्टृ-दृश्यात्मक नाम-रूप-कर्मात्मक जगत् एकमेवाद्वितीय सच्चिदानन्द ब्रह्मकी सत्यसकल्पता तथा सर्वसम्भवनकी इतिकर्तव्यरूपा आविर्भाव-तिरोभावरूपा शक्तियोंद्वारा सम्पन्न होती एक लीला है इस लीलोमें आविर्भूत और तिरोभूत होने वाला ब्रह्म अपने उस स्वरूपमें प्रमाणों (प्रत्यक्षादि) से गम्य न हो कर शास्त्रैकगम्य है परन्तु लीलारूपसे नाम-रूप-कर्मात्मक जगत् चूँकि ब्रह्मात्मक ही है, अतएव प्रत्यक्षादि विषयोंकी ब्रह्मात्मकता शुद्धाद्वैतमें मान्यकी गई है अवधेय है कि यहाँ न केवल प्रत्यक्षादि विषयोंकी ब्रह्मात्मकता बल्कि प्रत्यक्षात्मक वृत्तिका घटित होना भी ब्रह्मात्मक ही है क्योंकि इन्द्रिया अपने स्वसागर्थ्यसे अपने-अपने विषयोंका प्रत्यक्ष नहीं करती बल्कि “भगवदिच्छेव सर्वे पश्यन्तु”^{१५}

“भगवदिच्छेव सर्वे पश्यन्तु”के आलोकमें शुद्धाद्वैती प्रत्यक्षकी प्रक्रिया इस प्रकार है— अन्तर्यामी एव अदृष्ट रूप देवके अनुकूल होनेपर प्रस्तुत ज्ञानक्रियाके प्रति मनको अन्तर्यामी प्रेरित करता है, मन इन्द्रियको प्रेरित करने हेतु उस इन्द्रियसे सन्निकर्ष लेता है, इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवोंके अनुकूल होनेपर विषयसन्निकर्षके द्वारा पहले इन्द्रियविशिष्ट मनमें निर्विकल्पक ज्ञान जनित होता है जिसकी बुद्धिवृत्ति इन्द्रियप्रदेशमें रहती है तत्पश्चात् वृत्तिद्वारा बुद्धिका अनुग्रह प्राप्त करने पर सविकल्पक

ज्ञान और हानोपानादि बुद्धिका उदय होता है^{२६}

उपर्युक्त रूपसे निर्देशित प्रक्रियाके प्रति कहा जा सकता है कि वाल्लभ मतमे देवाधिशसित तत्त्वमीमासीय जगत्मे प्रत्यक्ष जिस रूपसे घटित होता है, वह प्रमाताकी स्वतन्त्र-इच्छामूलक घटना नहीं है बल्कि राच्चिदानन्दके सर्वसम्भवके सातत्यमे घटित होने वाली उसीके अन्तर्गतकी घटना है यहा 'दैव' शब्दका अर्थ बहुत स्पष्ट नहीं है लेकिन भारतीय दार्शनिक परम्परामे यह शब्द 'नियामकत्व' और 'नियति' के अर्थमे प्रयुक्त होता रहा है इसके विपरीत वैभाषिकोंकी दृष्टिमे 'प्रत्यक्ष' प्रतीत्यसमुत्पादके नियमसे अधिशसित जगत्मे घटित होनेवाली घटना है और जिसका घटित होना हेतुप्रत्ययरूप कारणसामग्रियोंके सन्निपातद्वारा निर्धारित होता है यहा अवधेय है कि प्रतीत्यसमुत्पाद कोई ईश्वर-निमित्तक नियम नहीं बल्कि एक सायगिक निमित्तवाद है बौद्ध इसे 'तथतादृष्टि' कहते हैं

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैभाषिक और वाल्लभ मतमे प्रत्यक्ष जिस जगत्मे घटित होनेवाली एक ज्ञानमीमासीय घटना है, वह जगत् ही दोनों दर्शनमे तत्त्वमीमासीय दृष्टिसे परस्पर भिन्न ही नहीं, विरोधी भी है तत्त्वमीमासीय दृष्टिसे जगत्की परस्पर भिन्न अवधारणाएँ दोनों दर्शनमे प्रत्यक्षकी अवधारणाको बहुत गहरे प्रभावित करती हैं परन्तु इसके बावजूद भी दोनों दर्शनोंकी प्रत्यक्षकी अवधारणामे कुछ समानताएँ देखी जा सकती हैं उदाहरणकेलिए दोनों दार्शनिक परम्पराएँ बाह्यार्थप्रत्यक्षवादी हैं जब हम भारतीय प्रमाणमीमासीय चिन्तनके सम्पूर्ण विकासको प्रकाशवाद और प्रतिभासवाद में विभाजन करते हैं तो वैभाषिक और वाल्लभ दोनों ही मत प्रतिभासवादके विरोधमे खड़े होकर बाह्यार्थके प्रत्यक्षकी व्याख्या अपने-अपने ढंगरे करते हैं दोनों ही परम्पराओंमे प्रत्यक्षके प्रति इन्द्रियोंकी भूमिकाको समान महत्त्वके साथ स्वीकारा गया है इन्द्रियोंका महत्त्व इस रूपमे इन्द्रिया विकारी

वस्तुका प्रतिबिम्ब अथवा वृत्तिको ग्रहण करती हैं और इन्द्रियविशिष्ट या विज्ञानमें निर्विकल्पक ज्ञानका उदय होता है। परन्तु निर्विकल्पक यक्षका विषय जहां वाल्लभ वेदान्तमें समात्र होता है वहीं वैभाषिक तमे विविक्त स्वलक्षण। वैभाषिक मतमें प्रत्यक्ष निर्विकल्पक ही है, विकल्पक प्रत्यक्ष वास्तवमें प्रत्यक्ष नहीं बल्कि मानसिक, विकल्पात्मक संरचना है। जबकि वाल्लभ मतमें प्रत्यक्षकी प्रत्यक्षता सविकल्पक प्रत्यक्ष पर्यन्त बनी रहती है। प्रत्यक्षकी निर्विकल्पकता और सविकल्पकता का भेद विषयकी दृष्टिसे नहीं किया गया है। दोनोंका विषय समान ही होता है। वस्तुतः शुद्धाद्वैती किसी भी प्रमाणकी व्याख्या करनेमें आत्मनिष्ठताको अपने मतमें प्रवेश ही नहीं दे सकते हैं। इसीलिए ख्यातिकी व्याख्या भी वे 'अन्यख्याति'के रूपमें करते हैं ताकि ज्ञानकी व्याख्या करते हुए आत्मनिष्ठताका सर्वतोभावेन निराकरण किया जा सके। जहां तक इन्द्रियोंके स्वरूपका प्रश्न है तो वाल्लभ मतमें इन्द्रियां प्राप्यकारी हैं। इसीलिए वे अलौकिक एवं लौकिक रूपसे विभिन्न प्रकारके सन्निकर्षोंकी स्वीकार करते हैं और इस तरह वाल्लभ वेदान्त भी नैयायिकोंकी तरह ज्ञानका क्रियामीमांसीय विश्लेषण ही प्रस्तुत करता है। इसके विपरीत वैभाषिक यद्यपि इन्द्रियोंको प्राप्यकारी मानते हैं लेकिन उनमें सम्प्राप्तग्राही और असम्प्राप्तग्राहीका एक विशिष्ट भेद प्रतिपादित करते हैं। साथी ही साथ वैभाषिक किसी प्रकारका सन्निकर्ष नहीं मानते, क्योंकि सभी धर्म वास्तवमें निर्व्यापार हैं। वैभाषिकोंने सन्निकर्षके बदले एक सर्वथा अभिनव सिद्धान्त 'स्पर्श'का प्रतिपादित करते हैं। इस प्रकार दोनों मतोंमें बहुतसी समानताएं एवं भेद देखे जा सकते हैं। लेकिन प्रत्यक्ष जैसी सर्वजनसुलभ घटनाके प्रति जो मतभेद दिखाई पड़ते हैं उन्हें अन्तिम रूपसे दोनों दर्शनोंके तत्त्वमीमांसीय भेदमें ही समझा जा सकता है।

वस्तुतः सम्पूर्ण भारतीय प्रमाणचिन्तनके अन्तर्गत जो असमझौतापूर्ण असहमतियां दिखाई पड़ती हैं, वे सभी प्रमाणमीमांसीय नहीं बल्कि

अधिग्रमाणमीमासीय अर्थात् तत्त्वमीमासामूलक है

सन्दर्भ एव टिप्पणि

१ महावग्गो, १ - २३

२ "धर्माणां प्रविचयमन्तरेण नास्ति क्लेशानां यत उपशान्तयेऽभ्युपाय" अभिधर्मकोश,

१/२ एव १/३ (भाष्य)

३ "तदस्तिवादात् सर्वास्तिवादी मत" अभिधर्मकोश, ५/२५

४ शेखात्तिकी, सेन्ट्रल कन्सेप्शन आफ् बुद्धिज्म, पृ ३५

५ "समेत्य सम्भ्रमप्रत्ययै कृतं संस्कृतम् त-त प्रत्यय प्रतीत्यसमुत्पन्नं प्रतीत्यं समुत्पन्नं इति" अभिधर्मकोश भाष्य, २/४६

६ अभिधर्मकोश, ३/१८, २/४७ इत्यादि

७ "चतुर्भिर् चैता हि चित्त-चैता हि चतुर्भिर् प्रत्ययै उत्पद्यन्ते" अभिधर्मकोश, २/२६

८ "समनन्तरप्रत्ययशब्द, स्वसन्तानवर्तिनि उपादाने ज्ञाने रुद्ध्या प्रसिद्धि" मोक्षाकर्तृभाषा

९ चतुर्विध प्रत्ययोंकी सज्ञानोत्पत्तिमे भूमिका विषयक वाचस्पति मिश्रकी व्याख्या द्रष्टव्य है, "नीलाभासस्य हि चित्तस्य नीलाद् आलम्बनप्रत्ययत्वात् नीलाकारता समनन्तरप्रत्ययात् पूर्वविज्ञानाद् बोधरूपता चक्षुषो अधिपत्तिप्रत्ययाद् रूपग्रहणप्रतिनियम आलोकात् सहकारिप्रत्ययाद् हेतौ स्पष्टार्थता" भामती पृ ५३३

१० "वर्तमानालम्बनग्रहणे क्षणभावाद्य" मध्यान्तविभागसूत्रभाष्य टीका, सम्पा भट्टाचार्य एव दुर्ज्जी, पृ २१

११ "त्रिणिष्ठागति कस्सो" अथवा "त्रयाणां सन्निपात स्पर्श"

१२ "रूपाणि चक्षुर्विज्ञान-मनोविज्ञानम् इति द्वे विज्ञाने प्रज्ञानीतं कार्यविज्ञान-मनोविज्ञानम् इति" प, चवस्तुकशास्त्र, पृ ३

१३ "यदा चक्षु इन्द्रियं पश्यति तदा चक्षु विज्ञानेन व्यवस्थाप्येत एकस्मिन् सन्ताने चित्तद्वयावतनात्" प, चवस्तुक विभाषा, पृ २६

१४ "निष्कारुबुद्धिवादिषेभाषिक्रमते" प्रमाणवार्तिक-मनोरधनन्दी २/३

१५ "चक्षु पश्यति रूपाणि सत्त्वभाग न तदाश्रित, विज्ञानं दृश्यते रूपं न किल

अन्तरित यत्" द्रष्टव्य अभिधर्मकोश, १/४२

"चक्षु पश्यति विज्ञान विजानाति स्वगोचरम्, आलोचनोपलब्धित्वाद् विशेष सुमहान्
तयो" तत्रेव १/४४

१६ "दृश्यते रूप न किल अन्तरित यत् तस्य चक्षुषु आलोचनवृत्त्यभाव अभिधर्मकोश,
स्फुटार्थ, १/४२

१७ "चक्षु श्रोत्र मनो अप्राप्तविषय त्रयम् अन्यथा" वहीं, १/४३ "अप्राप्यम् अर्थ
मन चक्षु श्रोत्र च त्रीणि अतो अन्यथा, अप्राप्तग्राहिण सिद्धा दूरसन्नसमग्रहात्,
प्रदीपादिप्रभावश्चेत् न सम तत्समुद्भवात्, सर्वग्रहप्रसंग चेत्चेत् न अयस्कान्तादिदर्शनात्,
सर्वगतत्वाद् अदोष चेत् न अयोगात् तिलतेलवत्" अभिधर्मदीप १-४५/४६/४७

१८ "किमिदम् आकाश खाद्यते! चक्षुर्हि प्रतीत्य रूपाणि निर्व्यापारहि इद धर्ममात्र,
हेतुफलमात्र च विज्ञान विजानातीति न अत्र अभिनिवेष्टव्यम्" अभिधर्मकोश
१/४२ (भाष्य)

१९ अभिधर्मकोश-४/४

२० द्रष्टव्य न्याय वार्तिक तात्पर्य टीका, पृ ६५६, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, बनारस,
१९८२ विक्रम सं

२१ "स्वकारणाद् आत्मप्रकाशनशक्तियुक्तम् उत्पद्यते ज्ञान तादृश येन कश्चित्देव अस्व
विषयो न सर्वम् इति चेत्" वहीं, पृ ६५७

२२ "अविच चक्षुषादयोऽपि विज्ञानस्य कारणम् इति विषयारूपज्ञानस्य प्रसज्येत्"
वहीं, पृ ६५६

२३ शेरड्वात्सिकी-सेन्ट्रल कन्सेप्शन् आफ बुद्धिज्म, पृ ५६, तत्त्वार्थदीपनिबन्ध,
पृ १/७१ ७२

२४ "तत्र अय क्रमो देवानुकूल्येन अन्तर्यामिणा मन तत्कार्यार्थं प्रैयति तच्च इन्द्रियप्रेरणाय
तत्तदिन्द्रियेण ससृज्यते तत्र तत्तदिन्द्रियदेवतानुकूल्ये विषयसंसृष्टे इन्द्रिये स्वावच्छिन्ने
मनसि पूर्वं निर्विकल्पकम् उत्पाद्यते तदिन्द्रियप्रदेशे बुद्धे वृत्ति ततो बुद्ध्यापि
वृत्तिद्वारा तदनुगृहे सविकल्पक भवति" प्रस्थानरत्नाकर, पृ १४७-४८
सम्पादक गोस्वामी श्याम मनोहर, प्रकाशक श्रीवल्लभ विद्यापीठ, कोल्हापुर

चर्चा

वैभाषिक दर्शनमें प्रत्यक्षकी अवधारणा
तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य : वाल्लभ वेदान्त

डॉ अम्बिकादत्त शर्मा

अच्युतानन्द दाश . डा शर्माने एक तरहसे अपने आलेखमें वैभाषिकोंके प्रत्यक्षविचारको रीकंस्ट्रूक्ट करनेका प्रयास किया है और ऐसा करते हुवे उन्होंने वैभाषिकोंकी प्रमाणशास्त्रीय दृष्टिको अच्छेसे उभारा है यद्यपि बौद्ध दर्शनके वैभाषिकोत्तर सम्प्रदायोंमें वैभाषिक मतकी खूब आलोचना हुयी है मेरा प्रश्न सीधे-सीधे यह है कि वैभाषिक सर्वास्तिवादी थे और इस अर्थमें वे सस्कृत धर्मोंकी पारमार्थिक सत्ताको स्वीकारते करते हैं सस्कृत धर्मोंका सघात कल्पनामात्र होनेसे आविद्यक है पुन वे सस्कृत धर्मोंकी व्याख्या भी दो धरातलपर करते हैं प्रथम द्रव्यात्मक दृष्टिसे धर्मोंकी त्रैकालिक सत्ता है और दूसरे स्तरपर कारित्रकी दृष्टिसे धर्मोंको क्षणिक माना गया है अब प्रश्न उठता है कि वैभाषिकोंके प्रत्यक्षके द्वारा धर्मोंकी त्रैकालिकताका ग्रहण होता है अथवा उनके क्षणिकत्वका ?

अम्बिकादत्त शर्मा . दाश बाबुकी इस टिप्पणीसे हम सहमत हैं कि हमने वैभाषिकोंके प्रत्यक्षविचारकी पुन-रचना की है और यह दिखानेका प्रयास किया है कि प्रत्यक्षविषयक उनकी दृष्टि सर्वास्तिवादी तत्त्वदृष्टिसे कितनी सगत है परन्तु डा दाशने जो प्रश्न उठाया है वह महत्वपूर्ण है वस्तुतः

वैभाषिकोंने संस्कृत धर्मोंके क्षणिक स्वरूपको ही ध्यानमें रखते हुवे प्रत्यक्षपर विचार किया है. बादमें सौत्रान्तिकोंने जिस तरह इनके प्रत्यक्ष और क्षणिकत्व में विरोध दिखाते हुवे बाह्यार्थके बदले बाह्यार्थानुमेयवादकी स्थापना की है उससे यह विदित होता है कि वैभाषिक प्रत्यक्षके द्वारा धर्मोंके क्षणिकत्वका ही ग्रहण मानते रहे होंगे, लेकिन जहां तक धर्मोंके त्रैकालिक अस्तित्व और प्रत्यक्ष की ग्राह्यताका प्रश्न है तो प्रत्यक्षके द्वारा धर्मोंकी त्रैकालिकताका ग्रहण दुष्कर प्रतीत होता है. इसीलिये वैभाषिकोंने धर्मोंकी त्रैकालिकताको सिद्ध करनेके लिये बुद्धवचन और युक्ति प्रस्तुत की है : तदुक्ते द्वायात् सद्विषयात् फलात् इत्यादि.

यज्ञेश्वर शास्त्री : अम्बिकादत्तजीसे भेरा प्रश्न यह है कि भगवत्पाद शंकराचार्यने सर्वास्तिवादके खण्डनके प्रसंगमें यह दिखाया है कि क्षणिक वस्तुका ज्ञान ही नहीं हो सकता तो उसके होनेका प्रमाण ही क्या है? फिर सौत्रान्तिकोंने भी प्रत्यक्ष और क्षणिकत्व में परस्पर विरोध दिखाया है. तब अम्बिकादत्तजीको अपने निष्कर्षपर पुनः विचार करना होगा कि वैभाषिक किस तरह सर्वास्तिवादको अपेक्षाकृत अधिक युक्तिसम्मत प्रमाणमीमांसीय आधार प्रदान करते हैं?

अम्बिकादत्त शर्मा : शास्त्रीजीने शंकराचार्यकी आलोचनाका अच्छा प्रसंग उठाया है. और सौत्रान्तिकोंने वैभाषिक मतकी जैसी आलोचना की है उससे उन्हें प्रतीत होता है कि शंकरकी आलोचनाको बल अथवा समर्थन मिल रहा है जबकि बात ऐसी नहीं है. आचार्य शंकर क्षणिक बाह्यार्थ और ज्ञान में ही विरोध देखते हैं जबकि सौत्रान्तिक क्षणिक बाह्यार्थ और उनके प्रत्यक्षोपलब्धिमें विरोध देखते हैं. हमने अपने आलेखमें ज्ञानोपलब्धि और क्षणिकत्व के विरोधका समाधान करते हुवे दिखाया है कि ज्ञानकी कारणसामग्री और ज्ञेयवस्तु

के बीच जब कालिक अनुक्रममें सम्बन्ध मानते हैं तो क्षणिकत्व और उसके ज्ञेय होनेमें विरोध जायज है. परन्तु द्रष्टव्य है कि वैभाषिक ज्ञानोत्पत्तिकी व्याख्या 'त्रिकसन्निपात' के द्वारा करते हैं. त्रिकसन्निपातकी दृष्टिसे ज्ञानकी कारणसामग्री और ज्ञेय का युगपद् समवधान होता है. अतएव कहा जा सकता है कि शंकराचार्य वैभाषिकोंकी आलोचना करते हुवे उनके मतको उचित रूपसे प्रस्तुत नहीं किया है. अर्थात् ज्ञानकी क्रियामीमांसीय दृष्टिको सामने रख कर क्षणिकत्व और ज्ञान की सम्भावनामें विरोध देखा है. जहां तक वैभाषिकोंद्वारा बाह्यार्थवादी सर्वास्तिवादी दृष्टिके सबल पक्षधर होनेका प्रश्न है तो इसपर भी हमने आलेखमें विस्तारसे विचार किया है. वस्तुतः सर्वास्तिवादी तो सौत्रान्तिक भी है लेकिन उनका नित्यानुमेयवाद तथा अन्य सहायक सिद्धान्त सर्वास्तिवादको छोड़ते हुवे और विज्ञानवादकी ओर बढ़ते हुवे प्रतीत होते हैं.

पारसनाथ द्विवेदी : शर्माजीकी सर्वप्रथम हम सराहना करते हैं कि इन्होंने बड़े परिश्रमसे वैभाषिकोंके प्रत्यक्ष-विचारको ठीक ढंगसे उद्घाटित किया है. वस्तुतः सर्वदर्शनसंग्रह इत्यादिमें एतद्विषयक जो कुछ विवेचना मिलती है वह अपर्याप्त है. शर्माजीसे मेरी जिज्ञासा है कि 'विज्ञानाति' पदका योग इन्द्रियसे अथवा विज्ञानसे होता है—इस बातको लेकर सौत्रान्तिक और वैभाषिक आचार्यों के बीच लम्बा विवाद हुआ है और इसका कोई एक निष्कर्ष नहीं निकला. शर्माजी आप इस विषयमें क्या सोचते हैं?

अम्बिकादत्त शर्मा : आप तो गुरुजी मुझे संकटमें डाल रहे हैं। जो विवाद सम्प्रदायके आचार्योंने नहीं सुलझाया, उसे हम क्या सुलझायेगे?

पारसनाथ द्विवेदी : परवर्ती आचार्योंके प्रमाणचिन्तनमें तो 'विज्ञानाति'

पदके साथ विज्ञानका ही योग पुरस्कृत हुवा है.

अम्बिकादत्त शर्मा : आपका कहना, गुरुजी !, सर्वथा उचित है कि बादके प्रमाणशास्त्रीय चिन्तनमें इन्द्रियकारणवादके बदले ज्ञानकारणवादको ही बौद्धोंने अपना स्वाभिमत बनाया है. परन्तु वैभाषिकोंके बाह्यार्थ प्रत्यक्षवादके लिये इन्द्रियोंकी ज्ञानके प्रति कारणता “चक्षु पश्यति रूपाणि” अधिक श्रेयस्कर प्रतीत होती है. वस्तुतः विज्ञान ही जानता है लेकिन जो जाना जाता है या जाना जा रहा है, वह है रूपका विज्ञान अथवा रसका. इसका परिच्छेद तो इन्द्रियोंसे ही सम्भव है. यदि परिच्छेद्यताको ज्ञानके लिये साधकतम माना जाय तो इन्द्रियोंकी भूमिकाको गण नही बनाया जा सकता. परवर्ती सम्प्रदायोंमें भी इन्द्रियोंके तटस्थ द्वारिभावको स्वीकार किया गया है. वैभाषिक विज्ञानकी साकारताके इन्द्रियोंकी साकारताको ही स्वीकार करते हैं और उनके मतमें ज्ञान निराकार है. ये दोनों बातें सयुक्तरूपसे वैभाषिकोंके बाह्यार्थ प्रत्यक्षवादके लिये अति आवश्यक है

के.ई.देवनाथन : वैभाषिक यदि ज्ञानकी परिच्छेद्यतामें इन्द्रियोंकी भूमिकाको साधकतम मानते हैं तो इन्द्रियार्थसन्निकर्ष आवश्यक होगा. परन्तु बौद्ध मतमें इन्द्रियोंको अप्राप्यकारी माना गया है. इसी कारणसे वे न्यायाभिमत नियम इन्द्रियोंके प्राप्यकारित्वका खण्डन करते हैं.

अम्बिकादत्त शर्मा : देवनाथनजी ! आप न्यायवाचन-वासितरूपमें बौद्धोंके पक्षको समझनेका प्रयास कर रहे हैं. वस्तुतः ज्ञानोत्पत्तिकी व्याख्या जब त्रिकसन्निपातके द्वारा की जाती है तो इन्द्रियार्थसन्निकर्ष माननेकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती. बहुधा लोग ऐसा मानते हैं कि इन्द्रियार्थसन्निकर्षके बिना ज्ञानोत्पत्ति हो ही नहीं सकती. जबकि आस्तिकपरम्परामें भी वादमें इन्द्रियार्थसन्निकर्षकी धारणाका प्रबल विरोध हुवा है. फिर

यह भी आवश्यक नहीं कि इन्द्रियाकी प्राप्यकारिता इन्द्रियार्थसन्निकर्ष-पूर्वक ही होती है अद्वैतवेदान्तमें आदि दर्शनोमें विषयदेशमें ही विषयका ग्रहण होता है और इस तरह प्राप्यकारित्वकी उच्च प्रतिष्ठा होती है लेकिन फिर भी इन दर्शनोंने न्यायसम्मत इन्द्रियार्थसन्निकर्षका गुण्डन किया है और बदलेमें इन्द्रियोंका योग्यतामूलक सम्प्राप्तग्राहित्व और असम्प्राप्तग्राहित्व को स्वीकार किया है शान्तरक्षितने एतद्विषयक विवादका उपसंहार करते हुवे एक सुन्दर टिप्पणी की है कि दूर तक विचार करनेपर इन्द्रियार्थसन्निकर्ष माननेपर भी इन्द्रियाकी योग्यताका पक्ष स्वीकार ही करना पड़ता है अब इन्द्रियोंकी योग्यतामात्रसे ही प्रत्यक्षकी व्याख्या हो जाती हो तो पुन इन्द्रियार्थसन्निकर्षको मानना एक तरहका अनावश्यक अतिरेक अभ्युपगम ही है

मगला चिचोरे : अम्बिकादत्तजीने प्रत्यक्षका जैसा निरूपण किया उससे मेरे मनमें एक प्रश्न बनता है कि वैभाषिकोंका भ्रमविषयक सिद्धान्त क्या होगा? इन्हें 'असत्ख्यातिवादी' भी नहीं कहा जा सकता और बाह्यार्थवादी होनेके कारण इन्हें आत्मख्यातिवादिओंके अन्तर्गत भी नहीं रखा जा सकता

अम्बिकादत्त शर्मा : मगलाजी! आपने बहुत अच्छा और सटीक प्रश्न उठाया है वस्तुतः पूरे भारतीय दर्शनमें जहाँ भी ख्यातिपर विचार किया गया है वहाँ बाह्यार्थवादी बौद्धोंकी ख्यातिकी विचार नहीं किया गया है ऊपर तौरपर ऐसा लगता है कि वैभाषिक चूँकि बाह्यार्थवादी है, इसलिये ख्यातिके सन्दर्भमें उनका मत अन्यथाख्यातिवादीकी तरहका होना चाहिये वाचस्पति मिश्रने भामतीमें एक जगह सकेतमात्र किया है कि वैभाषिक-सौत्रान्तिक सम्प्रदायका ख्यातिविचार भी आत्मख्यातिमें अन्तर्भूत हो जाता है यद्यपि आचार्यप्रवरने मिश्रने इस अन्तर्भावका खुलासा नहीं किया है, फिरभी

मुझे उनकी टिप्पणी बहुत समीचीन प्रतीत होती है। बाह्यार्थवाद और स्थैर्यवाद साथ-साथ माननेपर अन्यथाख्याति उसकी संगोत्रीय किसी अन्यविध ख्यातिकी निष्पत्ति होती है, लेकिन वैभाषिक बाह्यार्थवादी तो हैं परन्तु स्थैर्यवादी नहीं हैं। अतः उनके मतमें ख्यातिका अधिष्ठान और विषय बाह्यार्थ नहीं हो सकता। क्षणिक वस्तु ज्ञानका आलम्बन तो है लेकिन भ्रमात्मक ज्ञानका वेसा ही अधिष्ठान नहीं क्योंकि “जन्मदेशे एव च्युति” उसका स्वभाव है। वैभाषिक मतमें क्षणिक आलम्बनका सारूप्य इन्द्रियां ग्रहण करती हैं, एतदर्थ उन्हें इन्द्रियोंकी साकारता मान्य है। अब इन्द्रियों द्वारा इन्द्रिय इन्द्रियदोषके चलते सारूप्यका अन्यथाग्रहण भी हो सकता है और तब दोषपूर्ण सारूप्य विकल्पित हो कर आत्मनिष्ठ रूपसे ही बाह्यतया प्रक्षेपित होगा क्योंकि वह आलम्बन क्षण जिसका दोषपूर्ण सारूप्य इन्द्रियग्राह्य हुआ, वह तो निरुद्ध हो चुका है। इस तरहसे बाह्यार्थवादी बौद्धोंकी ख्यातिको आत्मख्यातिकी गोत्रकी ‘विकल्पख्याति’ भी कहा जा सकता है।

.....+.....

संगोष्ठ्यचुत्तरलेखन

गो.श्या.म.

डॉ. श्रीअम्बिकादत्त शर्माजीके साथ जबसे इन विद्वद्गोष्ठियोंके माध्यमसे परिचय हुआ तबसे ही इनके बौद्ध आदि अनेक दर्शनोके गहरे अभ्यास और उन दार्शनिक अवधारणाओपर इनकी अपनी अनूठी पकड़को सुननेकी-जाननेकी उत्कण्ठा बनी ही रहती है।

स्वाभाविकतया वैभाषिक और वाल्लभ मतोंकी प्रत्यक्षसम्बन्धी अवधारणाओंके तुलनात्मक विमर्शका प्रसंग उपस्थित होनेपर शर्माजीकी सुध सबसे पहले आनी स्वाभाविक ही थी. और हम देख सकते हैं कि वैभाषिकोंके प्रत्यक्षसम्बन्धी चिन्तनको कितने तलस्पर्शी विवेचन द्वारा शर्माजीने उभारा! तदर्थ विचारगोष्ठीमें सभी सहभागी निश्चयेन उपकृत हुवे हैं.

दुर्भाग्यवश विचारगोष्ठीके समय बिजलीके गुल हो जाने तथा टेपेकॉर्डके भी खराब हो जानेसे शर्माजीके आलेखपत्रपर हुयी चर्चा रेकॉर्ड नहीं हो पायी. अतः अपनी स्मृतिके आधारपर जो कुछ श्रीअम्बिकादत्तजी पुनः प्रस्तुत कर पाये उसे यहां सलम किया गया है. इसकी शब्दानुपूर्वी चाहे वैसी हो कि न हो पर ऐसे ही मुद्देपर चर्चा हुयी थी, ऐसा तो लिखित चर्चाविवरणको पढ़नेपर प्रतीत होता ही है.

स्मृतिके आधारपर लिखित इस चर्चाविवरणके उपसंहारमें श्रीअम्बिकादत्तजीने ऐसा स्नेहाग्रह रखा कि मैं भी इस विषयमें कुछ लिखूं. तदनुसार आलेखपत्रमें छेड़े गये मुद्देपर कुछ बातें लिखना चाहूंगा.

वैभाषिक और वाल्लभ प्रत्यक्षप्रक्रियाकी तुलनात्मक विवेचनाके हेतु उद्यत होनेसे पहले सार्थक निष्कर्षार्थ श्रीअम्बिकादत्तजीने कुछ प्रागपेक्षा या निकष प्रस्तावित किये हैं : “..सार्थक तुलना वहीं सम्भव होती है जहां तुलनीयोंके मध्य कुछ मूलगामी समानताएं हों अर्थात् तुलनीय पदार्थ कमसे कम एक ही मूलपर अधिष्ठित होकर अपनी पारस्परिक विभिन्नताओंको अवाप्त किये हुवे हों” इस बारेमें मेरी रुझान और तुलनात्मक अध्ययनकी धारणा तनिक भिन्न है वह कितनी प्रामाणिक है या कितनी फलवती है, यह तो कह पानेको समर्थ नहीं हु. फिर भी श्रीअम्बिकादत्तजी कथमपि पराये नहीं लगते होनेसे मेरी विपरीत बात निसकोच लेखबद्ध अवश्य कर देना चाहता हु.

मेरी समझमें तुलनात्मक अध्ययनकी उल्लिखित या ऐसी अन्य भी

प्राग्पेक्षायें विवेचका. खलु एवं विवेचयन्ति ननु प्रतिपत्तारो लोके एव
 " कहावतको चरितार्थं करती हैं. मुझे लगता है कि हमारे मस्तिष्कमें
 तुलनात्मिका बुद्धिवृत्तिके मूल इससे कहीं अधिक गहरे होने चाहिये.

किन्हीं दो पदार्थों या चिन्तनो के बारेमें तुलनात्मक विमर्श करना
 हो तो निशंक ही उन दो पदार्थों या चिन्तनों के हमारे मनमें अवधारणात्मक
 प्रत्ययोके उभरे बिना वह सम्भव नहीं हो पाता. वैसे तो मनमें अगणित
 प्रत्ययोका भण्डार भरा हुआ रहता ही है परन्तु उस भण्डारमें से जब
 किन्हीं दो प्रत्ययोंको चुन कर हमारी बुद्धि एक-दूसरेके पास जमाती (Juxtapose)
 है तो सबसे पहले उन दो प्रत्ययोंका द्वन्द्व हमारी बुद्धिमें अवभासित होता
 है. "चार्ये द्वन्द्वः" (पाणि.सू.१।१।२९) सूत्रद्वारा 'च'कारार्थरूप समुच्चय अन्वाचय
 इतरेतरयोग और समाहार में से अन्तिम दो अर्थोंमें द्वन्द्वसमासको पाणिनि
 वैध मानते हैं. वह समासघटक वस्तुद्वन्द्व भी किस-किस प्रकारके उदाहरणोंमें
 हमारे वाग्व्यवहारमें अभिव्यक्त होता है, यह भी पाणिनिने सूत्रित किया
 है. उदाहरणतया, 'धर्म-अर्थ' 'जाया-पति' 'गो-व्याघ्र' या 'होता-पोता' आदि-आदि
 वस्तु व्यक्ति गुण कर्म सामान्यधर्म आदिके बीच हमारी बुद्धि इतरेतरयोग
 या समाहार की अनुभूति करती है. पाणिनिने ऐसी गवेषणाके द्वारा तुलनीय
 प्रत्ययोंके बुद्धिमें उद्भव तथा वाग्व्यवहारमें उनके शब्दप्रयोग के नियमोंपर
 हमारा ध्यान इदमप्रथमतया आकृष्ट किया अतः वस्तुओं या व्यक्तियों के
 प्रत्ययोके मानसिक द्वन्द्वभावापन्न होनेकी प्रक्रिया मुझे लगता है कि सारे
 तुलनात्मक विमर्शका परममूल है इसका विकास बादमें तर्कोंदाहरण,
 सौन्दर्यादि-अनुभूतिके उदाहरण; इसी तरह प्रत्यभिज्ञानके उदाहरण आदि अनेक
 रूपोंमें विकसित होता है.

वादात्मिका चर्चाकी मनोवृत्तिके वश परार्थानुमानमें उलझे भारतीय चिन्तकोंने
 न्यायसूत्रकारके "लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन् अर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः"
 (गौ.न्या.सू.१।१।२५) वचनमें प्रतिपादित तर्कोंदाहरणको विचारयात्राके इस
 आरम्भबिन्दुसे प्रतिज्ञावचनके साथ तुलनीय व्याप्ति-उदाहरण पर्यन्त बड़ी लम्बी

दूरी तै कर के “यो-यो धूमवान् स-स वह्निमान् इति उदाहरणम्” (तर्कस अनु.परि.) गन्तव्य तक पहुँचाया एतावता लौकिक परीक्षकोकी किन दो अर्थोंमें बुद्धिसाम्य है यह जाननेकी अपेक्षा क्षीणप्राय हो गयी क्योंकि व्याप्तिस्वरूप जिसके आधारपर पक्ष और सपक्ष तुलनीय हो सकते हैं उसने स्वयं इतना जटिल रूप धारण कर लिया कि लौकिक पुरुषोंके लिये व्याप्तिका स्वरूप समझ पाना भी एक दुर्बोध व्यायाम हो गया. तो उसके आधारपर पक्ष-सपक्षोंकी तुलना तो बहुत दूरतत्त्वार्थ पदार्थ हो जाते हैं परिणामस्वरूप ऐसे आदर्शोंसे प्रेरित होनेके कारण दो दर्शनोंके तुलनात्मक चिन्तनसे भी हमारी अपेक्षाये हमने अति तर्ककठोर घड़ ली है.

स्वतस्फूर्त आन्तर तुलनात्मक बौद्धिक व्यापार तो, जबकि, वस्तुतः ऐसी प्रागपेक्षाओंके बिना भी न जाने कितनी वाह्य जगत्की सूचनाओंका अध्यवसाय करता है, उनका सचय करता है, इसी तरह परिकलन, वर्गीकरण, साधर्म्य-वैधर्म्यनिर्धारण, परिभाषा, एव, उपनयात्मक (inductive) या निगमनात्मक (deductive) निष्कर्ष भी निकालता ही रहता है।

अतएव तुलनात्मक चिन्तनकी एकदम प्राथमिक प्रयोगान्वितिकी अन्वेषणा करनी हो तो हमें द्वन्द्वसमास एव कर्मधारयसमास कहा-कहा होते हैं, उस बारेमें मानवकी बौद्धिक अवधारणाओंको पाणिनिने कैसे सूत्रबद्ध किया है, यह पहले खोज करनी चाहिये क्योंकि इतरेतरके कार्य या कारण, प्रयोज्य या प्रयोजन, सहभावी या असहभावी, सदृश या विसदृश, सजातीय या विजातीय, इतरेतरके विरोधी या अविरोधी आदि अनेक निकटोंके अनुरोधवश हम किन्हीं दो वस्तुओंको द्वन्द्वके रूपमें बुद्धिसे अवधारित करते हैं अतएव ये दोनों समास सारे तुलनात्मक प्रत्ययोंके बीजभाव सदृश बौद्धिक अवग्रह होते हैं इनमें कहीं एकमूलकता तो होती है तो कहीं अनेकमूलता भी वस्तुओंके द्वन्द्वभावापादक बौद्धिक प्रत्ययसे थोड़ा और आगे बढ़नेपर अलंकारशास्त्रोक्त “साधर्म्यम् उपमा भेदे” सदृश उपमा रूपक प्रतीप व्यतिरेक आदि अर्थालंकारोंके प्रत्यय भी उभरते ही हैं इन्हे काव्याग होनेके कारण केवल काव्यसाहित्योपयोगी

मान कर किसी भी तरहके गम्भीर यौक्तिक निष्कर्षमें सर्वथा अनुपयोगी मान लेना, बुद्धिके उत्स्फूर्त तुलनात्मक व्यापार या प्रत्ययों के उत्सके अस्वीकारमें पर्यवसित होगा।

अपने स्वाभाविक उत्ससे तौलनिक प्रत्ययोंके उभरनेके बाद तार्किक निष्कर्षोंकी अवाप्तिके हेतु तुलनीय सादृश्य किन्हीं दो पदार्थोंके या चिन्तनोंके बीच स्वाभाविक या औपाधिक हो सकता है।

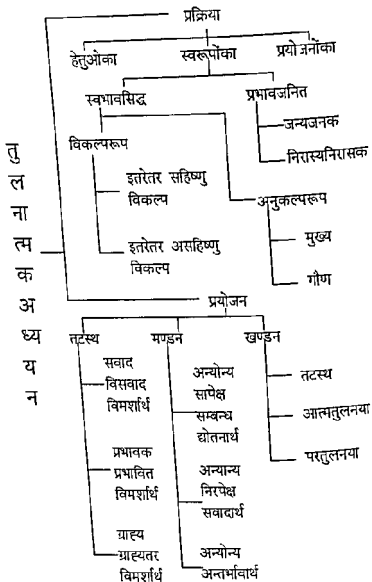
यदि स्वाभाविक हो तो वह सादृश्य इतरनिरपेक्षस्वभावानुरोधी भी हो सकता है अथवा इतरसापेक्षस्वभावानुरोधी भी।

यदि वह सादृश्य औपाधिक हो तो वह उपाधि जैसे ज्ञेयवस्तुसमवहित हो सकती है जैसे ही ज्ञानोपकरणसमवहित अथवा ज्ञातृसमवहित भी। यह भी औपाधिक सादृश्यके बारेमें विचारणीय होना चाहिये।

कभी ज्ञाताके भीतर रही ज्ञानेतर वृत्तिओकी प्रबलताके वश भी सादृश्यानुभूति विचारप्रक्रियापर भावारेपित हो जाती है ऐसा होनेपर बुद्धिमें प्रकट होते तुलनात्मक प्रत्यय तार्किक निष्कर्षार्थ अनुपयोगी माने जा सकते हैं।

उपमानोपमेयभावघटित अवधारणावधारणीयभावघटित पदोंके द्वन्द्वैकवद्भावमें उपमान और रूपक के अनुरूप तुलनात्मक प्रत्यय अवधारित होते पाये जाते हैं। आपाततः इन व्याकरणाशास्त्रीय और अलंकारशास्त्रीय बुद्धिकी तुलनात्मक अवधारणाओंके आधारपर यौक्तिक निष्कर्ष निकाल पाना दुष्कर माना जा सकता है फिरभी यौक्तिक निष्कर्षोंके उदाहरणोंमें भी साजात्य या सादृश्य को वस्तुधर्म न मान कर बुद्धिधर्म माननेवाले चिन्तकोंके मतमें तो तादात्म्य और तदुत्पत्ति रूप व्याप्तिसम्बन्ध भी वस्तुका अकल्पित स्वरूप नहीं माना गया अतः परार्थानुमितिके पञ्चावयववाक्यीय उदाहरणका भी अलंकारशास्त्रीय उदाहरणसे अधिक तार्किक मूल्य प्रकट नहीं हो पाता है। अतएव 'तुलनात्मक दर्शन' नामक ग्रन्थ जब श्रीअम्बिकादत्तजीने मुझे स्नेहोपहारके रूपमें भेजा तो मुझे भी इस दिशामें कुछ विचार करनेको विवश होना पड़ा। उस समय जो एक तालिका मैंने

तुलनात्मक अध्ययनकी बनायी उसे यहा केवल प्रस्तुत करना चाहुंगा :



तुलनात्मक विमर्श कि इन अनेकविध प्रकारोंमें समानमूलके अथवा विभिन्नमूलके किन्हीं दो चिन्तनोंमें मुक्तमनसे तुलनात्मक विमर्श शक्य होनेसे वैभाषिक प्रत्यक्षप्रक्रिया और वाल्लभ प्रत्यक्षप्रक्रिया का तुलनात्मक विमर्श सहज ही हो सकता है

अतः शर्माजी जब यह विधान करते हैं कि वैभाषिक मतमें प्रत्यक्षज्ञान प्रमाताकी इच्छा/सामर्थ्यसे घटित होनेवाली घटना है जबकि वाल्लभ मतमें इन्द्रिया स्वसामर्थ्यसे अपने-अपने विषयोका प्रत्यक्ष नहीं करती बल्कि “भगवदिच्छैव सर्वे पश्यन्तु”वाली नीति यहाँ है तो वाल्लभ मतकी दृष्टिसे दोनों प्रक्रियाओंके तुलनात्मक पक्षोंके बारेमें यह स्पष्ट करना चाहूँगा कि यह बात अर्धांशमें सही है और कुछ अपूर्ण भी क्योंकि वाल्लभ मतमें ब्राह्मिक अद्वैत जागतिक द्वैतको मिथ्या नहीं मानता ब्रह्मरूप अशीकी लीलात्मिका ‘अर्थक्रियाकारिता’ जड़रूप अश आशिकी अर्थक्रियाकारितासे रहित नहीं होते और न जीवरूप अश निजी आशिक ज्ञान इच्छा या यत्न के सामर्थ्यसे रहित

वहाँ वैभाषिक मतमें यदि प्रत्यक्षज्ञानकी घटना ब्रह्मसदृश सर्वव्यापी प्रतीत्यसमुत्पादसे नियत है तो यहाँ वाल्लभ मतमें ब्रह्म भी काल-कर्म-स्वभाव-प्रकृति-पुरुषके प्रतीत्यसमुत्पादसदृश अनेकद्वारभूत करणसामग्री द्वारा ही प्रत्येक जागतिक क्रिया या इप्ति का जनक होता है अतएव भगवान् गीतामें स्वयं अपने और स्याश जीवात्मा के कर्तृत्वका स्वरूप समझाते हुवे कहते हैं “चातुर्वर्ण्य मया सृष्टं गुणकर्मविभागश्च तस्य कर्तारमपि विद्धि अकर्तारम् अव्यय”, “प्रकृते क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः अहंकारविमूढात्मा कर्ता अहम् इति मन्यते”, “न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभु न कर्मफलसंयोग स्वभावस्तु प्रवर्तते” (भग गीता ४।१३, ३।२७-५।१४) भगवान् भी अनेक करणसामग्रियोंको जुटा कर ही लीलाके स्वभाववशा कुछ होने देते हैं इसी अर्थमें कर्ता भी होते हैं अकर्ता भी इसी तरह उनका अशरूप जीव भी दोनोंके बीच अन्तर तब केवल इतना ही है

कि सर्वज्ञ सर्वोपादान परमात्मा अपने द्वारा पटित होते कर्ममें कर्तृत्वमोहसे ग्रस्त नहीं होता, आत्मभिन्न पूर्वसिद्ध हेतुके अभाववश जबकि असर्वज्ञ जीवात्मा तो स्वयं अपने पञ्चमहाभूतोंके सघातरूप शरीरका धारक होनेपर भी उपादान नहीं होता फिरभी कर्तृत्वमोहसे ग्रस्त हो जाता है, अपने शरीरको निजकर्मोंका विपाक मान लेता है।

स्वयं प्रतीत्यसमुत्पादवाद भी एक तरहके अकठोर लीलात्मक कार्य-कारणभावका अनुभावक लगता है इसी तरह भगवल्लीलात्मक कार्य-कारणभाव भी असत्कार्यवादी अथवा आरम्भवादी कठोर नियतपूर्ववृत्तिकाके बजाय निजान्तर्निहितके ही बहिरविर्भावरूप अकठोर कार्य-कारणभावका अनुभावक होता है प्रतीत्यसमुत्पादकी नियतिमें जैसे ज्ञाता ज्ञेयाभिमुख होनेमें शतप्रतिशत न तो निज स्वातन्त्र्यवश समर्थ हो पाता है और न शतप्रतिशत असमर्थ ही ऐसे ही भगवल्लीलावादमें भी ज्ञाता ज्ञानोत्पत्ति इच्छोत्पत्ति यत्नोत्पत्ति अथवा फलोत्पत्तिमें भी, न शतप्रतिशत समर्थ होता है और न शतप्रतिशत असमर्थ ही अतएव भगवद्गीतामें भगवान् स्वयं यह कहते हैं “प्रकृते क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः अहंकारविमूढात्मा ‘कर्ता-अहम्’ इति मन्यते”, “अधिष्ठानं तथा कर्ता कारणं च पृथग्विधं विविधा च पृथक्चेष्टा देवैश्चैव अत्र पञ्चपक्व तत्र एव सति आत्मानं कर्तारं केवलन्तु यः पश्यति अकृतबुद्धित्वात् न स पश्यति दुर्मतिः” (भग गीता ३।२७, १८।१४) इस सूचिमें क्रियाजनक ज्ञानजनक सामग्रिओका शब्दान्तरमें प्रतीत्यसमुत्पाद नहीं तो अन्य क्या प्रतिपादित हुवा? अतएव केवल जीवात्माके कर्ता या ज्ञाता होनेके मनोभावकी ‘दुर्मति’के रूपमें निन्दा भी की गयी है

वाल्मिकि मतमें निर्विकल्पज्ञानगोचर सन्मात्र है जबकि वैभाषिक मतमें विविक्त स्वतक्षण, इतने अशोभे दोनोंके मतोंके बीच थोड़ी-बहुत सदृशता खोजी भी जा सकती हो परन्तु सविकल्पज्ञानके स्तरपर वाल्मिकि मतमें प्रत्यक्षका सातत्य स्वीकृत है जबकि वैभाषिक मतमें वहां मानस विकल्पोंकी स्रचनाका जाल छा जाता है शर्माजी कहते हैं “प्रतीत्यसमुत्पाद कोई

ईश्वर-निमित्तक नियम नहीं बल्कि एक सायोगिक निमित्तवाद है", इस विषयमें मुझे ऐसा लगता है कि विकल्प तो वाल्लभ मतमें भी मनसा ही योजित होते हैं परन्तु वे ज्ञाताकी कल्पनासे जन्य न हो कर ज्ञेयधर्म और ज्ञातृधर्म का एक तरहका प्रतीत्यसमुत्पाद/सायोगिक निमित्तोत्पाद होनेपर भी बाह्याभ्यन्तर उभयत्र तितोहित (potentiality) का आविर्भाव (manifestation) है

इसके अलावा वाल्लभ मतमें प्रमाके स्वरूपमें आत्मनिष्ठाका अप्रवेश भ्रमके की मीमांसामें उसे अन्यख्यातिवादी बनाता है, इस विधानके बारेमें मुझे यह कथनीय है कि ऐसा 'अन्य' निर्विकल्पज्ञानगोचर अधिष्ठानसे भिन्न होनेकी विवक्षावश है नकि अधिष्ठानसे भिन्न बाह्यदेशस्थ अन्यकी विवक्षावश, क्योंकि अन्यख्यातिमें 'अन्य' तथा अभ्युपगत अर्न्तजगत्में वस्तुतः विद्यमान परन्तु बहिर्प्रक्षिप्त होनेके रूपमें मिथ्यावभासित होने लगता है

इस तरह देखनेका प्रयास करे तो विभिन्नमूलवाले इन दोनों दर्शनोंमें भी साधर्म्यविमर्शात्मिका तुलनीयता की तरह वैधर्म्यविमर्शात्मिका तुलनीयता को भी जान लेनेपर, दोनों मतोंकी आशिक सवादितोंके प्रत्यभिज्ञानका मार्ग प्रशस्त हो पाता है

पुनश्च श्रीअम्बिकादत्तजीके तलस्पर्शी विचारके अनुभावक आलेखपत्रकी प्रस्तुतिके कारण प्रस्तुतिकर्ताको भूरिश अभिनन्दनके साथ



प्रत्यक्षे बल्लभसौत्रान्तिकमतयोः विमर्शः

प्रा. पारसनाथ द्विवेदी

चत्वारो बौद्धा भवन्ति : वैभाषिकाः, सौत्रान्तिकाः, योगाचाराः,
माध्यमिका च इति.

तत्र कात्यायनीपुत्रप्रथितज्ञानप्रस्थानव्याख्यानभूत 'विभाषा' ह्यविपुलग्रन्थम्
उपजीव्य यथायोग्य प्रत्यक्षानुमेयबाह्याभ्यन्तरास्तित्ववादिनो वैभाषिकाः.

सिद्धान्तचरमरहस्यप्रतिपादकसूत्रपिटकम् उपजीव्य तेनैव चरन्तः
सर्वास्तित्ववादिनः परन्तु बाह्यार्था अनुमेया इति वदन्तः सौत्रान्तिकाः.

योगानां सप्तदशभूम्यभ्यासपटव तथा चरन्तो विज्ञानमेव सत् न
बाह्याः पदार्थाः प्रत्यक्षा अनुमेया वा सन्ति इति वदन्तो योगाचारा
विज्ञानवादिनः.

योगानां सप्तदश भूमयः

- (१) विज्ञानभूमिः, विवेकविज्ञानाद् विरतिकारिणी.
- (२) मनोभूमिः मननाद् निश्चयकारिणी.
- (३) सचित्तर्का सविचारा स्थूलसूक्ष्मावगाहनाद्
- (४) अचित्तर्का सविचारा सूक्ष्मार्थध्याननेपुण्यात्.
- (५) अचित्तर्का अविचारा चेतनमात्रध्यानात्.
- (६) समाहितभूमिः चित्तसमाधानात् ऐक्याद्वाङ्मया.
- (७) असमाहिता यत्नेन विना समाधानात्.
- (८) सचिन्ता 'अहं ध्यायामि' इत्येव ज्ञानयुता.

- (९) अचित्ता चित्तानुभव विनापि ज्ञानधारामात्रा
 (१०) श्रुतमयी बुद्धादेशश्रवणप्रधाना
 (११) चिन्तामयी तदुपदेशचिन्तनात्
 (१२) भावनामयी श्रवणमननसहितसमाधानरूपा
 (१३) श्रावकभूमि निर्वाणमार्गाधिरोहतात् (स्रोतापन्न, सकृदागामी,
 अनागामी भवति)
 (१४) प्रत्येकबुद्धभूमि अर्थात् स्वतः स्फुरणात्
 (१५) बोधिसत्त्वभूमि परमकल्याणप्राविण्याद्
 (१६) सोपाधिकबुद्धिभूमि परदुःखप्रहाणेच्छासत्त्वात्
 (१७) निरुपाधिकबुद्धभूमि परमोपशमरूपनिर्विकल्पकनिर्वाणप्राप्ते

— एव सप्तदशयोगभूमिम् आहरन्तो योगाचारा

बाह्यान्तरसर्वशून्यत्ववादिनो बाह्यमनसातीत परमार्थतत्त्व सानृतिक
 विश्वम् इति वदन्तः शून्यवादिन मध्यममार्गाश्रितत्वाद् माध्यमिका

तत्र चतुर्ध्वपि बौद्धेषु सौत्रान्तिकमते प्रत्यक्षचर्चा बल्लभमतसापेक्षा
 प्रस्तुता अस्मिन् निबन्धे

सौत्रान्तिका अपि वैभाषिकमतवत् पदार्थान् मन्यन्ते तथाहि बाह्यम्
 आन्तरं च जगत् भूतभौतिकं बाह्यं चित्तचित्तं च आन्तरम्

भूत पृथिव्यादयो धातवो अणुरूपाः, भौतिक रूपादयः चक्षुरादयः
 च अणवः पृथिव्यादिभावेन सहन्यन्ते अयम् अणुहेतुको भूतभौतिकसमुदायः,
 तथा रूपविज्ञानवेदनासंज्ञासंस्कारसंज्ञका पञ्चस्कन्धाः तेषां अप्यात्म
 सर्वव्यवहारास्पदभावेन सहन्यन्ते अयं स्कन्धहेतुकः समुदायः सविषयाणि
 इन्द्रियाणि रूपस्कन्धः यद्यपि रूप्यमाणाः पृथिव्यादयो बाह्याः तथापि
 कायस्थत्वाद् इन्द्रियसम्बन्धाद् वा भवन्ति आध्यात्मिकाः विज्ञानस्कन्धः

‘अहम्’ इत्याकारो आलयविज्ञान रूपादिविषय प्रवृत्तिविज्ञान च प्रवाहापन्नम् वेदनास्कन्ध प्रियाप्रियविषयस्पर्शं सुखदुःखाद्यवस्था चित्तस्य सज्ञास्कन्ध सज्ञासर्गायोग्यप्रतिभास सविकल्पप्रत्यय, यथा दित्य कुण्डली गौर ब्राह्मण इत्यादि सस्कारस्कन्धो रागादयः क्लेशाः, मदमानादयः उपक्लेशाः धर्माधर्मौ च एव समुदायद्वयात्मकं सर्वं जगत् सस्कृत क्षणिक प्रत्यक्षानुमेय सौत्रान्तिकमते बाह्यार्थो अनुमेय एतत् क्षणिक जगत् दुःखहेतुकत्वात् साम्रव दुःखरूप, उत्पत्तिमत्त्वाद् भवरूप, लोक्यमानत्वात् ‘लोक’ इति उच्यते सच अयम् उभयविधः समुदायः प्रतीत्यसमुत्पादः, हेतुप्रत्यय प्रतीत्यः समुत्पन्नो न ईश्वरनियत्यादिकृत आकाशः प्रतिसंख्यानिरोधो अप्रतिसंख्यानिरोधः च नभावरूपो असस्कृतो अक्षणिको अनाद्यः निर्वाणोऽपि असस्कृतः

तथा अविद्यादयो द्विविधसमुदायाक्षेपका वर्ण्यन्ते - अविद्या, सस्कार, विज्ञान, नामरूप (शरीरस्य कललाद्यवस्था), पडातयन (इन्द्रियाणि), स्पर्श, वेदना, उपादान, भव (स्कन्धप्रादुर्भावः), जाति, जरा, शोक, परिवेदना, दुःखः दौर्मनस्यम् इत्येव समाराख्यासरूपेण पदार्था निर्दिष्टा तत्र यावद् अविद्या न निवर्तते तावद् सस्कारादयो न निवर्तन्ते इमे भावाः घटीयन्त्रवद् अनिशम् आवर्तमानाः सन्ति इति संक्षेपः

प्रमाणविमर्शः

अथ इदानीं सौगतसमये प्रमाणविचारः प्रस्तूयते तत्र प्रमाकरणं प्रमाणं, “प्रमीयते अनेन” इति व्युत्पत्तेः प्रमा च सम्यग् ज्ञानम् अविस्वादकं ज्ञानं सम्यग् ज्ञानम् ज्ञाने सम्यक्त्वम् अविस्वादकत्वं वा स्वप्रदर्शितार्थप्रापकत्वं यथार्थत्वं वा, यथार्थत्वं नाम अर्थम् अनतिक्रम्य विद्यमानत्वम् लोके च पूर्वप्रदर्शितम् अर्थं प्रापयन् ‘सवादक’ उच्यते ज्ञानमपि स्वयं प्रदर्शितम् अर्थसवादकम् उच्यते ज्ञानस्य प्रापकत्वं नाम स्वप्रकाशिते अर्थे प्रवर्तकत्वम्, तच्च प्रवृत्तिविषयप्रकाशकत्वम् नहि बलादेव ज्ञानम् अर्थं प्रवर्तयत्येव अर्थाधिगतिः प्रमाणफलम् अधिगते च अर्थे प्रवर्तितः पुरुषः प्रापितः च अर्थः प्रमाणेन एतदधिकन्तु किं ज्ञानेन कार्यम्! ज्ञानस्य अर्थप्रकाशः

तद्वारा प्रवृत्ति वा कार्यम् यदि च प्रमाणान्तरेण अर्थप्रकाशो जात
तदा तम् अर्थं प्रकाशयद् ज्ञान न प्रमा भवति तादृशेन ज्ञानेन नाधिक
किञ्चित् कृत पूर्वज्ञानकृतात् तस्माद् अधिगतविषयकज्ञानम् अप्रमाणम्
तथाच अनगधिगताबाधितविषयकज्ञानत्वं प्रमात्वम् इति स्थितम्

प्रत्यक्षविमर्श :

प्रतिगतम् अक्ष प्रत्यक्षम् “अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया” इति
वार्तिकेन समासे प्रत्यक्षम् अक्षाश्रित ज्ञानम् अथवा “अक्षिणी प्रति”
इति विग्रहे लक्षणेन “अभिप्रत्याभिमुख्ये” (पा सू २।१।१४) इति सूत्रेण
समासे “प्रतिपरसमनुभ्योऽक्षः” (पा ग सू १४८) इति गणसूत्रेण टचि
‘प्रत्यक्षम्’ इति रूपम् तत्पुरुषसमासपक्षे न परवर्त्तिग, “द्विगुप्राप्तापन्नालपूर्व-
गतिसमासेषु प्रतिषेधो वाच्य” (वा १।५।४५) इति वार्तिकेन निषेधात्
‘प्रत्यक्ष’शब्दो विशेष्यनिष्ठा, अत एव समासो युक्त अव्ययीभावपक्षेतु
‘प्रत्यक्ष’शब्दस्य नेत्राभिमुख्यम् अर्थं प्रत्यक्ष घटो नेत्राभिमुख्य घटस्य इति
अर्थ

एतच्च अक्षाश्रितत्वं अक्षाभिमुख्यं वा ‘प्रत्यक्ष’शब्दस्य व्युत्पत्तिनिमित्तं
नतु प्रयोगनिमित्तम् अन्यथा मानसादिप्रत्यक्षे एतन्निमित्ताभावात् प्रत्यक्षत्वं
न स्यात् तस्मात् साक्षात्कारिज्ञानत्वं ‘प्रत्यक्ष’पदप्रवृत्तिनिमित्तं बोध्यम्

तत्र न्यायविन्दौ आचार्येण धर्मकीर्तिना “कल्पनापोढम् अभ्रान्त
प्रत्यक्षम्” इति उक्तम् प्रत्यक्ष साक्षात्कारिज्ञान कल्पनापोढम् अभ्रान्त वेदितव्यम्
प्रत्यक्षम् अनूद्य कल्पनापोढत्वादि विधीयते प्रत्यक्षञ्च प्रसिद्धम्
इन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायिषु अर्थेषु लोके साक्षात्कारि विज्ञानम् तद् अनूद्य
कल्पनापोढत्वादि तत्र प्रमात्वप्रयोजकं विधीयते

कल्पनया अपोढम् अपेत=‘कल्पनापोढ’, कल्पनास्वभावरहितम् इति
अर्थ ‘अभ्रान्तम्’=अविपर्यस्त भ्रमभिन्नम् इति अर्थ एतद्वयं प्रत्यक्षविशेषण

विप्रतिपत्तिनिरासार्थम् तथाहि 'अभ्रान्त'ग्रहणाभावे गच्छद्बुद्धदर्शन / श्वेतौ-
 रजतदर्शन च प्रत्यक्ष प्रमा स्यात् तस्माद् 'अभ्रान्त'ग्रहणम्
 'कल्पनापोढ'ग्रहणाभावे च अनुमानादावपि लक्षण प्रसज्येत इति तदग्रहणम्

कल्पनाविमर्शः .

का नाम कल्पना यथा रहित 'प्रत्यक्षम्' इति उक्तम्?
 उच्यते "अभिलापससर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीति कल्पना" (न्यायविन्दु)
 अयम् अर्थो "अभिलप्यते अनेन इति 'अभिलाप' शब्द" 'अभिलापेन
 शब्देन ससर्गो अभिलापससर्ग अभिलापससर्गाय योग्यो आधेयाभासो यस्या
 सा अभिलापससर्गयोग्यप्रतिभासा सा एषा प्रतीति इति व्युत्पत्ति
 'आभासो'-ज्ञाने अर्थाकारता अभिलापससर्गो नाम एकस्मिन् ज्ञाने
 अभिधेयाकारस्य अभिधानाकारेण सह ग्राह्याकारतया शीलनम् एकत्र ज्ञाने
 अभिधेयाभिधानाकारौ प्रविष्टौ यदा भवत तदा तज्ज्ञानेन समुष्टौ अभिधानाभिधेयौ
 भवत अभिलापससर्गयोग्याभिधेयाभासवती प्रतीति कल्पना शाब्दबोधस्थले
 अनुमानादौ च तथा सम्भव शाब्दबोधे शब्दस्य तदर्थस्य च ग्राह्यत्वम्
 भवतिच तत्र शब्देन सह अभिधेयस्य ज्ञानविषयतया प्रतीति इति सा
 कल्पना प्रत्यक्षेच न तथा तत्र काचित् प्रतीति अभिलापससृष्टभासा
 भवति यथा गृहीतसकेतस्य 'घट'शब्दसमुष्टाभासा भवति काचित् प्रतीतिस्तु
 अभिलापासमुष्टाभासापि अभिलापससर्गयोग्याभासा भवति यथा अव्युत्पन्नस-
 केतस्य बालकस्य प्रतीति तस्यापि कल्पनाया समुहाय 'योग्या' इति
 निवेश ग्राह्योहि अर्थो विज्ञान जनयन् नियतप्रतिभास करोति यथा
 रूप चक्षुर्विज्ञान जनयद् नियतप्रतिभास करोति विकल्पविज्ञानन्तु अर्थाद्
 न उत्पद्यते इति प्रतिभासनियमहेतो अभावाद् अनियतप्रतिभासाद् विकल्पविज्ञान
 हि न अर्थसन्निधिम् अपेक्षते असन्निहितविषय तद्विज्ञानम् पूर्वदृष्टापरदृष्ट
 च अर्थम् एकीकुर्वद् विज्ञानम् असन्निहितविषयक पूर्वदृष्टस्य असन्निहितत्वात्
 असन्निहितविषयक च विज्ञानम् अर्थनिरपेक्षम् अनपेक्षञ्च अनियतप्रतिभासम्
 तादृशज्ञानम् अभिलापससर्गयोग्य न इन्द्रियविज्ञान तादृश, सन्निहितार्थमात्रग्राहि-
 त्वाद् अर्थसापेक्ष तद् अर्थस्य च प्रतिभासनियमहेतुत्वाद् नियतप्रतिभास

विज्ञानम्.

तत्त्वसंग्रहेऽपि कथितं : “प्रत्यक्षं कल्पनापोढम् अभ्रान्तम्. अभिला-
पिनी प्रतीतिः कल्पना” इति. तथाच इन्द्रियविज्ञानं न अभिलापसंसर्गयोग्यम्.
असन्निहितविषयं च विज्ञानं कल्पना तथा रहितं प्रत्यक्षम्. ‘अभ्रान्तम्’
इत्यस्य भ्रमरहितम् इति अर्थः. भ्रमश्च काचकामलतिमिरादिनयनदोषात्
सम्भवति. सच बाधितविषयको, न संवादिविज्ञानम् इति तन्न प्रत्यक्षम्.

अयं भावो : नामजात्यादियोजना कल्पना. तत्र ‘देवदत्तः’ इति
नामयोजना, ‘गो’ इत्यादि जातियोजना, ‘गच्छति’ इति क्रियायोजना,
‘शुक्लः’ इति गुणयोजना, ‘दण्डी’ इति द्रव्ययोजना इत्येषा पञ्चविधाकल्पना.
एतत् सर्वं नामैव गृह्यते. योजनासंसर्गः प्रत्यक्षे, निर्विकल्पके नायं संसर्गः
इति.

प्रत्यक्षभेदः :

तच्च प्रत्यक्षं विज्ञानं चतुर्विधं : इन्द्रिज्ञानम्, मनोविज्ञानम्,
आत्मसंवेदनम्, योगिज्ञानं च इति.

इन्द्रियज्ञानम् :

इन्द्रियस्य ज्ञानम् इन्द्रियज्ञानम्. इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि. इन्द्रियाश्रितं
यद् विज्ञानं तत् प्रत्यक्षम्.

मनोविज्ञानम् :

स्वविषयान्तरविषयसहकारिणा इन्द्रियज्ञानेन समनन्तप्रत्ययेन जनितं यत्
तद् मनोविज्ञानम् (न्यायविन्दुः). अयम् अर्थः : स्वविषयस्य इन्द्रियविज्ञानवि-
षयस्य अनन्तरो व्यवधानरहितो य इन्द्रियविज्ञानविषयक्षणाद् अव्यवहितोत्तरक्षणे
एकसन्तानान्तर्भूतो विषयक्षणः, स सहकारी यस्य इन्द्रियविज्ञानस्य तत्
तथा इति उक्तम्. तादृशेन समनन्तप्रत्ययेन हेतुना जनितं यद् ज्ञानं

तन्मनोविज्ञानम् अनेन एकसन्तानान्तर्भूतयोरेव इन्द्रियज्ञानमनोज्ञानयो जन्मजनक-
भावे मनोविज्ञान प्रत्यक्षम् उच्यते योगिविज्ञान च परसन्तानवर्तिमनोविज्ञानाद्
अतिरिच्यते अयं भावः चक्षुरादीन्द्रियविज्ञानविषयः प्रथमक्षणे जायते गृहीतः
च तदुत्तरक्षणे तस्य इन्द्रियविषयस्य योऽयं सन्तानप्रादुर्भावो द्वितीयक्षणोत्पन्नो
विषयः स एव सहकारिकारणम् तादृशस्वविषयानन्तरक्षण-प्रादुर्भूत-विषयसहकारि-
समवधान-सहितेन इन्द्रियज्ञानेन समनन्तरप्रत्ययेन जनितं ज्ञानं मनोविज्ञानम्
अत्र मनोविज्ञाने इन्द्रियविज्ञानविषयद्वितीयक्षणोत्पन्नो विषयः सहकारिकारणम्
इन्द्रियविज्ञानं च समनन्तरप्रत्ययहेतुः तादृशविषयसहकृतेन्द्रियविज्ञानसमनन्तर-
प्रत्ययेन मनोविज्ञानं जायते इन्द्रियज्ञानविषयः च अत्र सहकारिः एककार्यकारित्वेन
नतु परस्पररोपकारकत्वेन, क्षणिके वस्तुनि सहकारिणा परस्परम्
अतिशयानाधायकत्वात् स्वविषयसन्तानवर्तिविषयसहकारिणा इन्द्रियज्ञानेन
मनोविज्ञानरूपैककार्यकारित्वम् अस्त्येव स्वविषयाव्यवहितोत्तरक्षणजायमानविष-
यसहकृतेन्द्रियज्ञानेन मनोविज्ञानं जन्मते इति भावः

अत्र ईदृशेन इन्द्रियविज्ञानेन आलम्बनप्रत्ययभूतेन योगिज्ञानं जन्मते
इति तन्निरासार्थं 'समनन्तरप्रत्ययेन' इति उक्तम् समश्च असौ ज्ञानत्वेन
अनन्तरश्च असौ अव्यवहितत्वेन, सच असौ प्रत्ययः 'समनन्तरप्रत्ययः',
तेन जनितम् इति भावः

नच इन्द्रियविज्ञानाद् मनोविज्ञानस्य अन्यविषयाभावाद् एक एव विषयः
उभयविज्ञानस्येति ग्रहीतग्रहणाद् मनोविज्ञानस्य अप्रामाण्यं स्याद् इति वाच्यम्,
उभयो विज्ञानयो विषयभेदात् इन्द्रियविज्ञानस्य प्रथमक्षणविषयः तदव्यवहितोत्त-
रक्षणोदितो विषयो मनोविज्ञानस्य अन्य एव एतच्च मनोविज्ञानम् उपरते
इन्द्रियव्यापारे इष्यते व्यापारवर्तितुं चक्षुषि तद्रूपविज्ञानम् इन्द्रियप्रत्यक्षमेव

आत्मसर्वेदप्रत्यक्षम् :

“सर्वचित्तचैतानाम् आत्मसर्वेदनं प्रत्यक्षम्” (न्यायविन्दुः) चित्तम्
अर्धमात्रग्राहिविज्ञानं, चेता विशेषायस्थाग्राहिणं सुखदुःखादयः चित्तचेतविज्ञा-

नन प्रत्यक्षम् नास्ति काचिद् अवस्था चित्तस्य यस्याम् आत्मसवेदन
न स्यात् सुखादयएव स्फुटानुभवात् स्वसविदिता येनहि रूपेण आत्मा
वेद्यते तद्रूप आमात्मसवेदन प्रत्यक्षम् एतच्च ज्ञानरूप वेदनम् आन्मन
साक्षात्कारि अभ्रान्त च तस्मात् प्रत्यक्षम्

योगिप्रत्यक्षम् :

“भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तज योगिज्ञानम्” (न्यायविन्दु) प्रमाणेन
दृष्टो अर्थ सदभूतो ‘भूतार्थ’ यथा चत्वारि आर्यसत्यानि भूतार्थस्य
भावना पुन पुन चेतसि विनिवेशनम् तस्या भावनाया प्रकर्ष,
भाव्यमानार्थाभासस्य ज्ञानस्य सस्फुटत्वारम्भ प्रकर्षपर्यन्तो यदा स्फुटाभत्वम्
ईपद् असम्पूर्णो भवति तदा तस्य नास्ति प्रकर्षगति तत सम्पूर्णावस्थाया
प्राक्तनी अवस्था स्फुटाभत्व ‘प्रकर्षपर्यन्त’ उच्यते तस्मात् पर्यन्ताद् यद्
ज्ञात भाव्यमान सन्निहितमिव, तस्य स्फुटाकारावगाहिज्ञान योगिन प्रत्यक्षम्
स्फुटत्वारम्भावस्था भावनाप्रकर्ष अभ्रकव्यवहितमिव यदा भाव्यमान पश्यति
सा प्रकर्षपर्यन्तावस्था, कर्तलमलकमिव भाव्यमानस्य यद् दर्शन तद् ज्ञान
योगिप्रत्यक्षम् तच्च स्फुटाभम् स्फुटाभत्वादेव निर्विकल्पकम् योग समाधि
सो अस्य अस्ति इति योगी

एव चातुर्विध्य प्रत्यक्षस्य व्याख्यातम्

प्रत्यक्षविषयविमर्श :

तस्य चतुर्विधस्य प्रत्यक्षस्य विषयो बोद्धव्य स्वलक्षणम्
‘स्वम्’=असाधारण ‘लक्षण’=तत्त्व ‘स्वलक्षणम्’ द्विविध हि वस्तुन तत्त्व
साधारणम् असाधारण च इति साधारणम् असामान्य स्वलक्षण प्रत्यक्षग्राह्यम्
सामान्यञ्च अनुमानविषय द्विविधो हि प्रमाणस्य विषयो ग्राह्य च
यदाकार प्रमाणम् उत्पद्यते प्रापणीय च यम् अध्यवस्यति अन्यो ग्राह्यो
अन्यो अध्यवसेय प्रत्यक्षस्य हि क्षणे एकग्राह्य अध्यवसेयस्तु प्रत्यक्षबलेन
उत्पन्नेन निश्चयेन सन्तानएव सन्तानएव क्षणभगवादे प्रत्यक्षस्य प्रापणीय

क्षणस्य प्रापयितुम् अशक्यत्वात्.

स्वलक्षणञ्च अर्थस्य सन्निधानासन्निधानाभ्यां ज्ञानप्रतिभासभेदः. प्रतिभास आकारः. प्रत्यक्षविषयएव स्वलक्षणम्. तस्यैव परमार्थसत्त्वात्. परमार्थो अनारोपितरूपम्. तेन अनारोपितरूपेण अस्तीति परमार्थसत्. अनुमानेन हि आरोपितो अर्थो गृह्यते. परमार्थसदेव अर्थक्रियासमर्थम्. अर्थस्य क्रिया हानोपादानरूपा. तस्य हानोपादानस्य सामर्थ्यं परमार्थसत्येव वस्तुनि न आरोपिते अस्ति.

यस्माद् अर्थक्रियासमर्थं परमार्थसद् उच्यते सन्निधानासन्निधानाभ्यां च ज्ञानप्रतिभासस्य भेदको अर्थो अर्थक्रियासमर्थः, तस्मात् स एकः परमार्थस्तन्. ततएव हि प्रत्यक्षविषयाद् अर्थक्रिया प्राप्यते न विकल्पविषयात्. सामान्यञ्च यद्द्रूपं तद् अनुमानस्य विषयः.

प्रत्यक्षफलविमर्शः :

अर्थप्रतीतिरेव प्रत्यक्षप्रमाणफलम्. साच प्रतीतिः प्रत्यक्षाः. प्रापकं ज्ञानं प्रमाणम्. अर्थाद् उत्पन्नज्ञानस्य प्रत्यक्षस्य अस्ति कश्चिद् अवश्यः कर्तव्यः प्रापकव्यापारः प्रापणरूपो येन कृतेन अर्थः प्रापितो भवति. तदेव प्रमाणफलम्. एतदनुष्ठानात् प्रापकं भवति ज्ञानम्. प्रापणञ्च ज्ञानेन न केवलम् अर्थाविनाभावाद् भवति. प्रवृत्तिविषयप्रदर्शनमेव प्रापकस्य प्रत्यक्षस्य प्रापणव्यापारः तदप्रदर्शनं प्रतीतिः, अर्थदर्शनरूपं प्रमाणस्य फलम्.

ननु प्रत्यक्षार्थप्रतीति तदवगमो वा प्रत्यक्षस्य फलं तर्हि किमिति तत् प्रमाणम्. नच प्रत्यक्षप्रतीतिरेव प्रमाणं तत् फलं च इति युज्यते इति चेद्, उच्यते : अर्थसारूप्यम् अत्र प्रमाणम्. अर्थेन सह ज्ञानस्य यत् सारूप्यं सादृश्यं तदेव प्रमाणं ज्ञानस्य. ज्ञानं हि सम्भवद् अर्थाकारं भवति. यथा नीलाद् अर्थाद् उत्पद्यमानं ज्ञानं नीलाकारं नीलसदृशं वा भवति. तच्च सारूप्यं सादृश्यम् आकारः आभासः इति व्यपदिश्यते.

ज्ञाने अर्थाकारसादृश्य प्रमाणम् तत् सारूप्यसामर्थ्यदिव अर्थप्रतीतिसिद्धि
भवति यथा नीलनिर्भासाद् विज्ञानाद् नीलस्य प्रतीति अवसीयते नहि
चक्षुषि उत्पद्यमान ज्ञान नीलस्य इति शक्यते व्यवस्थापयितुं यावज्ज्ञाने
तस्मिन् नीलाकारता नीलसारूप्य वा न व्यवस्थित भवति नीलसदृशान्तु
विज्ञान नीलप्रतीतिकारक भवति एकस्यापि वस्तुन किञ्चिद् रूप प्रमाण
फल किञ्चिद्रूपम् इति न विरुध्यते प्रत्यक्षज्ञानस्य हि अर्थसारूप्य प्रमाणम्
अर्थप्रतीति फलम् इति भाव एकस्मिन्नेव विज्ञाने व्यवस्थापक अर्थसारूप्य
व्यवस्थाप्यम् अर्थप्रतीति इति एव प्रत्यक्षस्य विषय फल स्वरूप भेदा
एतत् सर्वं व्याख्यातम् कल्पनापोढत्वम् अभ्रान्तत्व स्वरूप, स्वलक्षण
विषयो, अर्थप्रतीति फलम्, इन्द्रियजन्यादिवत्त्वो भेदा, अर्थसारूप्यम्
अस्य प्रमाणम् एतेन अन्येषां मत निरस्त वेदितव्यम्

वल्लभमतनिर्देशः

प्रत्यक्षप्रमाकरण इन्द्रियात्मक प्रमाण प्रत्यक्षम् दोषदुष्टेन्द्रियवाराणाय
'प्रमाणम्' इति शब्दादिवाराणाय 'इन्द्रियम्' इति तानि इन्द्रियाणि
चक्षुस्त्वग्राणरसनश्रवणमनोभेदेन पद तैजसाहकारोपादेयत्वे सति ज्ञानक्रियान्यत-
रणत्वम् इन्द्रियत्वम् अणुतमत्वम् अतीन्द्रियत्वम् अनित्यत्व अक्षणिकत्व
विकारित्व च एषाम् आहकारिकत्वमेव न भौतिकत्वम्

एतेषां योग्या विषया अपि तृतीयतरो प्रस्थानरत्नाकरे श्रीपुरुषोत्तमाचार्येण
निर्दिष्टा यथा चक्षुष उद्भूतरूप तद्वान् उद्भूतरूपवन्मात्रवृत्तय
सख्यापरिमाणादय इत्यादि तत्रैव द्रष्टव्यम् बुद्धिरपि अहकारस्य रूपविशेष
“ततो विकुर्वतो जातो यो अहकारो विमोहनो वैकारिक तैजस च
तामस च इति अह त्रिवृत् तन्मात्रेन्द्रियमनसा कारण चिदचिन्मय”
(भाग ११।२४।६।७)

अस्य अर्थ श्रीपुरुषोत्तमेन कृत तत्रैव तन्मात्रजनकत्व तामसत्व,
इन्द्रियजनकत्व राजसत्व, तदेव अस्य तैजसत्व मनोजनकत्व सात्त्विकत्वम्
तस्यैव 'वैकारिक' इति सज्ञा प्राणो बुद्धिरिति अस्यैव रूपान्तरम्

“द्रव्यस्फुरणविज्ञानत्व” बुद्धे स्वरूपलक्षणम् “इन्द्रियानुग्राहकत्वं सारायादिपञ्चवृत्तिकत्वं” द्वयं कार्यलक्षणम् बुद्धिप्राणमनोऽहकाराणां हृदयं गोलकम् इति केवलात्मा न प्रत्यक्षविषयः अनध्यस्ताविद्यान्तः करणादिपञ्चपर्वत्मा केवलो न प्रत्यक्षगम्यः शास्त्रीयसाधनम् अन्तरेण केवलात्मा न लौकिकप्रत्यक्षगम्यो विभुत्वाद् आकाशादिवत्, तथा आत्मत्वात् परात्मवद् अणुत्वात् परमाणुवद् इति तमसः प्रतिबिम्बादेः पदार्थान्तरत्वम् अमीकृतगन्धर्वनगरादेरपि मायिकत्वम् एतेषां प्रतीतिरपि पदार्थस्य भावादेव न कार्यकारणभावान्तरकल्पना अभावानां तिरोभावे अन्तर्भावात् ‘स्वसंयुक्तविशेषणता’ ख्यसंज्ञेन प्रत्यक्षता, न अनुपलब्धिः प्रमाणान्तरम् इन्द्रियाणां व्यापाररूपसन्निकर्षो द्विविधो लौकिको अलौकिकः च इति अलौकिकः त्रिधा सामान्य-योगज-माया-भेदात् सामान्यस्य अनुगताकारेण व्यक्तिज्ञाने उपयोगः अतीतानागतयोः भगवद्ध्यानादौ च द्वितीयस्य उपयोगः तृतीयस्य च अविद्यामानानां पदार्थानां शुक्तिरजतादीनां बुद्धौ उपस्थाने उपयोगः लौकिकः पञ्चविधः सयोगः तादात्म्यः संयुक्ततादात्म्यः संयुक्तविशेषणतादात्म्यः स्वरूपः च इति शब्दग्रहे स्वरूपम् उपयुज्यते मनसस्तु वहिर्विषये स्वसंयोगद्वाराक इन्द्रियसंयोगादि स्वधर्माणां ज्ञानसुखादौ तादात्म्यं वृत्तीनां ग्रहणे तु वृत्तिस्वरूपमेव तिरोभावस्तु इन्द्रियसंयुक्तविशेषणतया गृह्यते बुद्धे अवस्था वृत्तिगुणजन्मा वृत्तिः इन्द्रियेण विषयसम्पर्के निर्विकल्पकः ज्ञान जायते बृद्धिवृत्त्यनुग्रहेण सविकल्पः प्रमाभ्रमादिरूपः इदञ्च सर्वं ज्ञानं अन्तः करणाद्यध्यासात् जीवात्मा स्वस्मिन् अभिमन्यते अतएव लोके एतेषाम् आत्मधर्मत्ववादः हृदये देशे अन्तः करणादीनां जीवस्य च विद्यमानत्वाद् अध्यासः तेषु अन्तः करणेषु तस्य प्रतिबिम्बः तस्य प्रतिबिम्बस्य इन्द्रियेषु प्रतिबिम्बान्तरं तत्र इन्द्रियाध्यासः तस्य देहे प्रतिबिम्बे देहाध्यासः प्रतिबिम्बः च तत्प्रकाशस्य तेषु सक्रमेण भवति सूर्यस्येव, न तु मुखस्येव सन्निधिमात्रेण एव प्रस्थानरत्नाकारे विस्तरेण प्रत्यक्षप्रक्रिया वर्णिता सक्षेपेण इह संगृहीता

सौत्रान्तिका वदन्ति

बाह्यार्था अनुमेया एव बाह्याः सन्तोऽपि न ते प्रत्यक्षाः, क्षणिकत्वाद्

अतो भूतभौतिकसघातो अनुमेय चित्तचेतञ्च च स्वसवेदनप्रत्यक्षगम्य स्वेनेव स्वयंप्रकाशा क्षणिकविज्ञानसन्तति चित्तम् इति आलयप्रवृत्तिविज्ञानम् उच्यते चैत सुखादय चित्तचैत न अविदित किञ्चिद् भवतीति सर्वजनीनो अनुभव इति

बाल्लभा वदन्ति :

चित्तत्वं निर्विषयसर्वविकारहितज्ञानवृत्तिकत्वम् बुद्धिवाणाय 'निर्विषये-
'ति, मनोवाणाय 'सर्वविकारहिते'ति, अहकारवाणाय 'ज्ञाने'ति,
आत्मवाणाय 'वृत्ति'इति अस्यापि गोलक हृदय ब्रह्मा देवता चित्तचैतमपि
मानसप्रत्यक्षविषयएव मनसस्तु स्वधर्माणा ज्ञानसुखादीना ग्रहणे तादात्म्य
वृत्तीना ग्रहणेतु स्वरूपमेव द्वारम् वृत्तयो बुद्धे अवस्था चित्त महतो
अध्यात्मिकभेदो ज्ञानवृत्तिक मनो अन्यद् अन्त करणरूप, बुद्धि अन्या
सविकल्पकज्ञानहेतुभूता अहकारस्यैव रूपान्तर मनोबुद्धिप्राण च तत्र
अन्तरिन्द्रिय मन बहि अस्वतन्त्र इन्द्रियम् अपेक्षते स्वधर्मग्रहणे स्वग्रहणे
वृत्तिग्रहणे च किम् अपेक्षते? तत्र स्वधर्मग्रहणे तादात्म्य सुखादीना तादात्म्येन
मनआश्रितत्वात् इन्द्रियदेशे बुद्धिवृत्तीना ग्रहणे वृत्तिस्वरूप द्वारम्

इन्द्रियाणि मन च एतत् अतीन्द्रियाणि स्वरूपेणैव ज्ञानहेतु बुद्धिस्तु
न इन्द्रियम्, अत तस्या वृत्त्यात्मिकाया ग्रहण वृत्तिस्वरूपेण इति वृत्तिविषयिणी
वृत्ति न भवति

ननु वृत्तिविषयिण्या वृत्ते अभावाद् तस्या प्रत्यक्षता न स्यात्
स्यादपि निर्विकल्पमेव स्यात् बुद्धे अननुग्रहाद् वृत्त्यैव बुद्धि अनुगृह्णाति
इति तदभ्युपगमो अनुभवविरोधोऽपि बुद्धि अप्रत्यक्षा न भवति इति
चेद् न, बुद्धे ज्ञानरूपत्वाभावात् ज्ञानस्य बुद्धिवृत्तित्वात् बुद्धि न न्यायमतवद्
आत्मसमवायिनी ज्ञानरूपा न साख्यवद् महत्त्वरूपा, अपितु अहकारस्यैव
सत्त्वगुणयुक्तावस्थाविशेष इन्द्रियमनोऽनुग्राहको विकल्पविज्ञानहेतु इन्द्रियमनो-
धि च विषयसम्पर्के निर्विकल्पक ज्ञान जायते

नच विषयेन्द्रियमनोधिरेव सविकल्पकत्वं विज्ञानं जायता कृत बुद्धिप्रवेशेन
इति वाच्यम् आगमविरोधाद् “द्रव्यस्फुरणविज्ञानम् इन्द्रियाणाम् अनुग्रह”
(भाग ३।२६।३०) इत्यादिशास्त्रविरोधात्

अथ को अयम् अनुग्रह ? इन्द्रियेण उत्पादिते निर्विकल्पके
सविकल्पत्वापादनम् तच्च ज्ञाने नानाकारतापादनद्वारा नानाकारतापादनं च
ज्ञाने इन्द्रियदेशएव मनस्युक्ते नतु बुद्धे वहिर्निर्गमो, मायया तमसा वहि
अर्थाकारस्य इन्द्रियदेशे आक्षेपाद्

अत्र सौत्रान्तिकं शकते

चित्तम् एकं चेतनं, बुद्ध्यादि तस्य अवस्थाविशेषएव तत्तद्विषयाकार
वृत्तिविज्ञानरूपं, तस्या बुद्धावेव अर्थाकारता प्रथमं इन्द्रियेण विषयसम्पर्के
जाते बुद्धौ विषयाकारार्पणम् अर्पितेन च बुद्ध्याकारेण विषयानुमानं जायते
चेतन्यसन्ततिं बुद्धिं स्वतो निराकारा विषयसम्पर्काद् विषयकारा जायते
इन्द्रियविषयाभ्यां बुद्धौ चित्सन्ततिरूपायाम् आकारो जायते, आकारं च
बुद्धयेव स्वप्रकाशया प्रकाशितं बाह्यं च अनुमेयो न प्रत्यक्षं तदतिरिक्ताया
बुद्धौ प्रमाणाभावात् बल्लभमतेतु ज्ञानं सुखादिकं मनोधर्मं, इन्द्रियेण मनसा
निर्विकल्पकं ज्ञानं, बुद्धिवृत्तियोगात् सविकल्पकं ज्ञानं जायते न बुद्धि
अध्यवसायारमिका एका, अपितु सहायादिसर्वज्ञानानां ऐन्द्रियकानाम् अनुग्राहिका
वृत्तिभेदाद् नाना

यद्यपि आलोचनात्मकं ज्ञानम् इन्द्रियेण, मनसा सकल्पं, बुद्ध्या
अध्यवसाय इत्येव शास्त्रान्तरे प्रसिद्धं तथापि भागवतादिशास्त्रप्रामाण्याद्
बाल्लभे तथा अभिमन्यते एव बुद्धिपदार्थे द्वयो विप्रतिपत्ति इदन्तु
अवधेयं यदा मनसः तद्धर्माणां बुद्ध्यादीनां च जीवात्मनि चित्स्वरूपे
अध्यासं तदा तच्चेतन्येनेव साक्षिणा बुद्ध्यादीनां प्रत्यक्षोपपत्त्या
मानसप्रत्यक्षत्ववर्णनं गौरवग्रस्तम्, अद्वैतमते अन्तःकरणादीनां साक्षिभाष्यत्वाव-
गमाद् अध्यासस्य, जीवस्वरूपस्य चिद्रूपस्य च समानत्वात्

यदि बुद्धि सशयादिकारिणी तर्हि का निश्चयकारिणी? यदि बुद्धिरेव तर्हि तस्या भेदो वक्तव्य अस्त्येव वृत्ति बुद्धिभेदरूपा इति चेत् तर्हि तस्य भेदहेतु वक्तव्य नानार्थाकारतेव हेतु कथं नानार्थाकारता बुद्धे बहिर्निर्गमाभावाद् इति चेत् मायाविक्षेपात् मायाविक्षेपात् चेत् तर्हि कथं न भ्रमत्वमेव ज्ञानस्य? इति चेद् उच्यते यदा सत्त्वगुणात्मिकया मायया अर्थाक्षेप क्रियते तदा प्रमा, यदा रजस्या आक्षेप तामस्या च विषयावरण तदा भ्रम यद् उक्तं प्रस्थानरत्नाकरे ननु इन्द्रियार्थसम्प्रयोगोत्तर सम्प्रयुक्तार्थाकारसमानो बुद्धौ आकारो जायते इति प्रमा भवतु भ्रमादिकन्तु न भविष्यति, शुक्तादौ तद्विरुद्धस्य रजताद्याकारस्य अभावेन बुद्धौ मायाकृत-तत्समर्पणायोगाद् इति चेद् न, स्वभावगुणानुग्रहादेव तस्यापि सिद्धे पूर्वोत्पन्नस्य रजताद्याकारकसंस्कारस्य रजसा बहिःक्षेपे सम्प्रयुक्तार्थाकारस्य तमसावरणे च भ्रमस्य सुखेन वक्तुं शक्यत्वात् एव नानाविधाद् गुणक्षोभजवृत्तिभेदादेव अन्येऽपि ज्ञानभेदा उन्नेया

एवञ्च यदा विषयेन्द्रियसंयोगाद् निर्विकल्पक स्वावच्छिन्ने मनसि ज्ञान जायते तदा इन्द्रियदेशे बुद्धे वृत्ति तथा इन्द्रियानुग्रहे सविकल्पकम् अननुग्रहे न इति वृत्त्यन्तरेण पूर्ववृत्तिनाशे सविकल्पकस्य संस्काररूपेण अवस्थान तस्य उद्बोधकै उद्बोधे मायोपस्थापितमाधिकार्यसहकृता स्मृति रजसै रागादिभिः संस्कारप्राबल्ये मायया विषयाकारावरणपूर्वक मायिकपदार्थसहितस्य ज्ञानस्य गोलकाग्रभागे क्षेपे भ्रम किञ्चिदावरणे सशय सत्त्वेन सर्वथा आवरणभागे विक्षेपस्यापि निवृत्तौ विशेषदर्शनम् इत्यादि वृत्तिविषयात् वृत्ति न भवति

तत्र अयं क्रमो दैवानुकूल्येन अन्तर्यामिणा मन तत्तत्कार्यार्थं प्रेर्यते तच्च इन्द्रियप्रेरणाय तत्तदिन्द्रियेण समुज्यते तत्र तत्तदिन्द्रियदेवतानुकूल्ये विषयसमृद्धे इन्द्रिये स्वावच्छिन्ने मनसि पूर्वं निर्विकल्पकम् उत्पाद्यते तदा इन्द्रियदेशे बुद्धे वृत्ति ततो बुद्ध्यापि वृत्तिद्वारा तदनुग्रहे सविकल्प भवति इति (पृ १४८)

अत्र विचार्य मनसि इन्द्रियै विषयसमृष्टै निर्विकल्पक 'किञ्चिद् एतद्' इत्याकारक विज्ञानम् उत्पाद्यते, वृत्त्या अनुग्रहात् सविकल्पकम् इति बुद्धिवृत्ति अर्थाकारावस्था बुद्धे बहिर्निर्गमाभावेऽपि इन्द्रियदेशे मायया क्षिप्तो विषयाकार तदर्थाकारा बुद्धि जायते इन्द्रिये निर्विकल्पके जनिते सविकल्पके जननीये वृत्त्या अर्थाकारया अनुग्रहो, ज्ञाने विषयाकारसमर्पण क्रियते इति एव तर्हि बुद्धिवृत्तिभेदा एव प्रमाविज्ञानानि यत्रच वृत्ति नास्ति तद्विकल्परहित ज्ञानम् मनस तर्हि क उपयोग इन्द्रियैरेव बुद्धचनुग्रहाननुग्रहाद् ज्ञानद्वय जन्यताम् कृत मनसा इति चेद्, उच्यते क्व तर्हि ज्ञानम् उत्पद्येत इन्द्रिये बुद्धौ वा? न उभयो तथानभ्युपगमात् नच आत्मनि, आत्मना सह उभयो सम्पर्काभावात् नच इन्द्रिये, इन्द्रियस्य ज्ञानाधारत्वाभावात्, नापि बुद्धौ तस्या अनुग्रहमात्रकारित्वात् अतो अगत्या ज्ञानादितादात्म्याधारतया मनोऽपि तत्र अगीकर्तव्यम्

अत्र अद्वैतिनो मनोबुद्धी अन्तःकरणस्य वृत्तिभेदादेव मन सकल्पयति बुद्धिवृत्तिस्तु निश्चिनोति इति मनोवृत्तिरेव ज्ञानम् इति वदन्ति ननु बल्लभमते ज्ञान जड चेतन वा? स्फुटमेव ज्ञानस्य जडत्व नहि इन्द्रियादिभि जडवर्गे चैतन्य कर्तुं शक्यते, चितो नित्यत्वात् ज्ञानस्य जडत्वे च विषयप्रकाशो न स्यात् अद्वैतमते च जडाया अपि बुद्धिवृत्तौ तदवच्छेद्येन चैतन्येन अवभासितत्वात् विषयप्रकाश सम्भवति सोत्रान्तिकमते च चित् (विज्ञान) सन्त-तिरेव बुद्धिरिति तस्या अर्थाकारसहिताया स्वप्रकाशत्वादेव विषयप्रकाश इति चेद् न, बुद्धे सत्त्वगुणाया प्रकाशकत्वोपपत्ते बुद्धिरेव अर्थप्रकाशिका नच बुद्धे स्वभावजडाया कथ प्रकाशकत्वम् इति वाच्य, सत्त्वगुणस्यैव प्रकाशकत्वम् नतु वृत्ते प्रकाशकत्वम् एतच्च सौत्रान्तिकनये न अगीक्रियते अद्वैतेतु सत्त्वस्यापि चैतन्याध्यासादेव प्रकाशकत्वम् नतु वृत्ते स्वाभाविक प्रकाश ज्ञानाद्यध्यासस्तु जीवात्मनि चिद्रूपे बाल्लभानामपि इष्टएव अन्यथा "अह ज्ञानी" - "अह सुखी" इत्यादिप्रत्ययो न स्यात् तदध्यासादेव ज्ञानादे बुद्धिवृत्तिरूपस्य प्रकाशोपपत्ति भवेत् नहि चैतन्य न प्रकाशते इति न नहि गुणप्रकाशादव वस्तुप्रकाश, अपितु चैतन्यादेव स्फुटप्रकाश, 'साक्षात्करोमि'

‘जानामि’ इत्यादिव्यवहारात्

अतः क्षणिकायामपि चित्सन्ततो सविषयत्वसाकारत्वार्थं बहिर्विषयानुमेया मन्तव्या, अर्थाकारता विना विज्ञानवैचित्र्यानुपपत्तेः साकारता अवश्य मन्तव्या साच विषयद्वारेण सम्भवति विषया च चित्ति विज्ञाने स्वाकारम् अर्पयन्ति यद् उक्तं सर्वसिद्धान्तसंग्रहे -

नीलपीतादिभिः चित्रैः बुद्ध्याकारैः इह आन्तरैः ।
सौत्रान्तिकमते नित्यं बाह्यार्थस्तु अनुमीयते ॥
अर्थेन घटयति एना नहि मुक्त्वा अर्थरूपताम् ।
तस्मात् प्रमेयाधिगते प्रमाणं मेयरूपता ॥

अर्थरूपताम् अर्थाकारता मुक्त्वा एना बुद्धिः चित्सन्तति न कश्चिद् घटयति अपितु अर्थेन अर्थाकारेणैव घटयति, “घट जानामि” - “पट जानामि” इत्यादिरूपेण तस्मात् प्रमेयाधिगते प्रमाणम् बुद्धेः मेयरूपता अर्थसारूप्यमेव इति भावः

तस्मात् प्रत्यक्षं चित्तचेतः, चतुर्विधान् प्रत्ययान् (कारणसमुदायः) प्राप्य जायते ते च चत्वारः प्रत्ययाः प्रसिद्धा आलम्बनसमनन्तरसहकार्यधिपतिरूपाः तत्र नीलाद्यवभासस्य ज्ञानस्य नीलादिविषय आलम्बनप्रत्ययो अतएव विज्ञाने नीलाकारता भवति पूर्वविज्ञानमेव समनन्तरप्रत्ययः तस्मात् नीलादिविषयप्रकाशनसामर्थ्यं लभ्यते आलोकादिव सहकारिकारणं, तस्मात् नीलादिविज्ञाने स्पष्टता भवति चक्षुरादिव अधिपतिप्रत्ययः तस्माच्च विषयग्रहणप्रतिनियमो भवति रूपचक्षुषा गृह्यते रस रसनया इत्यादि

विज्ञानातिरिक्तचेतन्ये प्रमाणं नास्ति न च तदतिरिक्तात्मसिद्धिः

वाल्मीकिस्तु चित्सन्तान आत्मा इति पक्षं पूर्वाचार्यैकत-वाचोयुक्तिभिरेव आक्षेपयन्ति

इदमपि विचारणीयं यद् वाल्लभगते चक्षुषि रूपप्राप्तिं प्रतिबिम्बभवनरूपैव सातु प्राप्तिं मायया भवति एव बुद्ध्याकारसमर्पकत्वं प्रतिबिम्बस्यैव चक्षुषि विषयसन्निकर्षे रूपस्य प्रतिबिम्बो रूपप्रतिबिम्बएव बुद्धे आकारसमर्पकं सौत्रान्तिकनये बाह्यविषयाणां इन्द्रियसम्पर्के चित्तसन्ततौ आलयविज्ञानेन बाह्यरूपप्रतिबिम्बो, नवा बाह्यार्थारोप, नवा चक्षुषि प्रतिबिम्बस्य बुद्धौ आकारार्पकत्वम् अपितु इन्द्रियद्वारा बुद्धे अर्थाकारता साच अर्थाकारता विषयसारूप्यं बुद्धे प्रवृत्तिविज्ञानसिद्धये नहि विज्ञानम् अस्मृशन् बाह्यो विषयो भोगाय भवति विषयाकारो न अध्यारोपितो अपितु विषयवासनारूपतापत्तिरेव एवञ्च सवासनं विज्ञानं प्रतिक्षणम् उत्पादविनाशशालि जायते इदमपि विचारम् अर्हति अन्तःकरणाध्यासात् सर्वं ज्ञानं जीवात्मा स्वस्मिन् अभिपन्यते इति वाल्लभा सौत्रान्तिकमते अन्तःकरणाध्यासास्वीकारेण अन्तःकरणं चित्तमेव स्वस्मिन् स्वस्य अध्यासायोगात् चैतन्यसन्ततिं बुद्धिं सा स्वयं निराकारा अर्थच्छायाया अर्थाकारा भवति यथा जपाकुसुमसान्निध्यात् मणिरपि लोहितो भवति तादृशाकाराद् उत्तरविज्ञानसन्ततौ यदि स एव आकारं तर्हि स साकारा बुद्धिः स्मृतिः प्रत्यक्षेण आकारं चेत् ज्ञानं प्रत्यक्षं अनुमानेन आकारं चेद् अनुमिति इति प्रत्यक्षानुमितिस्मृतिरित्यादिप्रवृत्तिज्ञानानि विषयसरूपाणि जायन्ते

बुद्धिसन्ततो पूर्वं कदाचित् रजतादिज्ञानजन्यसत्कारसदभावात् इन्द्रियदोषाद् रजताद्यविषयेऽपि रजतबुद्धिः भवति सा बुद्धिः भ्रम इति तदेव निर्गलितो अर्थः सौत्रान्तिके बुद्धिः चित्सन्ततिः आलयविज्ञानरूपा विषयाकाराकारिता विषयाकारः विषयवासना अथाकारेणैव बाह्या अनुमेया पृष्ठ्या भोजनमिव बाह्या प्रत्यक्षा न भवन्ति प्रत्यक्षं स्वसवेदनं योगजं मनोविज्ञानम् इति इन्द्रियजन्यं प्रत्यक्षं न अभ्युपगम्यते

किञ्च दीदमते अभावो अनुमानगम्यो न प्रत्यक्षगम्यः तथाहि पक्षसत्त्वादिरूपस्य लिङ्गस्य त्रयं प्रकाराः अनुपलब्धिः स्वभावः कायम् इति अनुपलब्धिः अभावादिङ्गः, स्वभावः कार्यञ्च भावावेदकः (न्यायविन्दुः)

वाल्लभमते च अभाव प्रत्यक्षगम्यएव. यदि अनुपलब्धि अनुमानं यदि वा प्रमाणान्तरं तदुभयपक्षेऽपि अभाव तिरोभावरूपो वस्तुनो अवस्थाविशेषो वा आविर्भावरूपो वा न अनुपलब्धिगम्य. विवृतं च एतत् प्रस्थानरत्नाकरे.

अत्र इदं बोध्यम् : अभावप्रत्यक्षवादिनापि उपलब्ध्यभावाद् अभावज्ञाने हेतुता क्लृप्तैव तत्र करणत्वमात्रं कल्प्यते. किञ्च अभावस्य इन्द्रियसन्निकर्षाभावात् न प्रत्यक्षज्ञानगोचरता. नच संयुक्तविशेषणता सन्निकर्ष, तत्र प्रमाणाभावात्. संयुक्तविशेषणतासन्निकर्षेणैव ज्ञात्यादेरपि प्रत्यक्षसम्भवे संयुक्ततादात्म्यादे पृथक् सन्निकर्षाभावात्. किञ्च संयुक्ते प्रथमं सिद्धे अभावस्य तत्र विशेषणतया भान स्यात् विशेषणतया ग्रहे च उक्तसन्निकर्षेण अभावग्रह इति व्यक्तम् अन्योन्याश्रयत्वम्. तस्माद् अभावस्य प्रत्यक्षता न्यायमतानुसारिणी.

क्षणिकत्वखण्डनम् :

अत्र विमृश्यते बाह्यार्था तावद् विज्ञानवासनावैचित्र्यनिर्वाहार्थं सौत्रान्तिके अगीक्रियन्ते तेच अनुमेया न प्रत्यक्षा क्षणिकत्वात्. क्षणिकत्वञ्च द्वितीयक्षणध्वसप्रतियोगित्वम्. सन्निकर्षक्षणोत्तरक्षणे नष्टा बाह्या कथं प्रत्यक्षप्रतीतिगोचरा स्युः. वस्तुसन्निकर्षक्षणे एव सन्निकृष्टा भावा चित्ते स्वाकारम् अर्पयन्ति. तेन अर्पितेन च आकारेण पुष्ट्या भोजनादिमिव बाह्यार्था अनुमीयन्ते. यद् उक्तम् “अर्थेन घटयति एना नहि मुक्त्वा अर्थरूपता तस्मात् प्रमाणाधिगते प्रमाण मेयरूपता” नहि वित्तिसत्तयैव तद्वेदना युक्ता. तस्या सर्वत्र अविशेषात् तान्तु सारूप्यम् आविशत् सारूपयितुं घटयेद् इति च. तथाच वित्तो अर्थसारूप्यमेव बहि अर्थानुमापक भविष्यति.

अत्र उच्यते : क्षणिकत्वाद् भावानां प्रत्यक्षत्व न उपगच्छते इति

अयुक्त, भावा क्षणिका सत्त्वात् प्रदीपकलिकावद् इत्याद्यनुमान
 प्रत्यक्षप्रत्यभिज्ञानाबाधितम् अस्तिच पूर्वापरक्षणवर्तिभावयो एकत्वस्थैर्यसाधक
 निष्कम्पम् अबाधित प्रत्यभिज्ञान “तदेव इदम्” इति इदं प्रत्यभिज्ञान
 घटादे वस्तुन स्थैर्यं विना अनुपपद्यमान बलादेव एकस्य वस्तुन
 तत्कालैतत्कालसम्बन्धित्व साधयति नच द्वितीयादिक्षणे निरन्वयविनाशम्
 उपागतस्य वस्तुनो अनन्तरक्षणे तदनुगमाभावात् उक्तप्रत्यभिज्ञानस्य उपपत्ति
 भविष्यति नच एतत् प्रत्यभिज्ञान भ्रमो अबाधितविषयकत्वात्

किञ्च सत्त्वात् क्षणिकत्व साधन विरुद्धम् सत्त्व नाम त्रिकालाबाध्यत्व
 तच्च कथं क्षणिकत्वसाधनम् नच अर्थक्रियाकारित्वमेव सत्त्वम् तच्च
 क्षणिकत्वेन व्याप्तम् इति वाच्य, विकल्पासहत्वात् तथाहि अर्थक्रियाकारित्व
 सद् वा असद् वा? सत्त्वे तत्रापि अर्थक्रियाकारित्व वक्तव्यम् इति
 अनवस्था असत्त्वे असत्त्वापत्ति अतो असतो अर्थक्रियाकारित्वेन
 क्षणिकत्वव्यवस्थापनासम्भवात् अतः सत्तासामान्ययोगित्वम् अबाध्यत्व वा
 सत्त्व वक्तव्यम् तथाच न क्षणिकत्वसिद्धि घटादयो अक्षणिका
 प्रमाणभूतप्रत्यभिज्ञाविषयत्वाद् व्यतिरेकेण वन्ध्यापुत्रादिवत् किञ्च क्षणिकत्वपक्षे
 अर्थक्रियापि न उपपद्यते क्षणिकत्वादेव नहि निर्व्यापारस्य अर्थक्रिया दृष्टा
 व्यापारकाले अवस्थायित्वे क्षणिकत्वभगप्रसंग

किञ्च पूर्वक्षणस्य निरुद्धचयमानस्य निरुद्धस्य वा उत्तरक्षणहेतुत्वं न
 स्यात् नहि अभावाद् भावोत्पत्तिसम्भव सम्भवे वा सर्वत्र सर्वस्य उत्पत्तिप्रसंगो
 अभावाविशेषात् “उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोद्धाद्” इत्यादिसूत्रे क्षणिकत्वस्य
 निराकृतत्वात्

एव बाह्यार्थस्य अक्षणिकत्वे यथायोग्य प्रत्यक्षगम्यत्वम् उपपद्यते
 इति वाल्लभा वदन्ति अन्ये च प्रत्यक्षवादिन अप्रत्यक्षे कस्मिंश्चिद्
 बाह्यार्थे बाह्यार्थानुमानमपि दुसम्पादकम्

सविकल्पकस्यापि प्रत्यक्षत्वम्:

सौत्रान्तिकादिसोगता प्रत्यक्षं निर्विकल्पमेव कल्पनापोढत्वात्. सविकल्पकप्रत्ययस्तु कल्पनायुक्तत्वाद् अप्रमाणम्. कल्पनाच्च जातिगुणकामादि-ससर्गयोग्यता इति वदन्ति. तदपि न युक्तिमत्. तथाहि इन्द्रियार्थसन्निकर्षण जायमानं ज्ञानं निर्विकल्पकं सामान्यरूपम् एकं जायते तत्र बुद्धिवृत्त्यनुग्रहात् सविकल्पकं प्रत्यक्ष व्यवहारोपयोगि ज्ञान जायते. बुद्धिवृत्तिश्च निर्विकल्पके अर्थाकारम् आरोपयति अतो निर्विकल्पक ज्ञानं बुद्धिवृत्त्युपनीतार्थाकारेण युक्तं सविकल्पक ज्ञान इन्द्रियजन्यत्वादेव प्रत्यक्ष जायते.

ननु सौत्रान्तिकमतेऽपि ज्ञाने अर्थाकारता जायते. इन्द्रियेण यो अर्थो ग्राह्य स तत्क्षणे स्वाकारम् अर्पयति विज्ञाने. तथाच विज्ञान साकारं जायते साकारमेव ज्ञान निर्विकल्पकं कल्पनापोढत्वात्. तच्च प्रमाणभूतम्. बल्लभगते तु निर्विकल्पक निराकारं बुद्धिवृत्ते प्राग् ज्ञाने अर्थाकारभावात् निर्विषयत्वं निर्विकल्पकज्ञानस्य स्यात् किञ्च कोऽयं बुद्धिवृत्त्यनुग्रह. यदि निर्विकल्पे जायमाने अर्थाकारारोप, तर्हि स आरोपो न उपपद्यते. बुद्धौ अर्थस्य अभावात्. बुद्धिवृत्तेरपि बहिर्देशे निर्गममन्तरा असम्भवात्.

किञ्च इन्द्रियेण अर्थसंयोग, मनसयोग, अविकल्पज्ञानोत्पत्ति पुन बुद्धिवृत्ति तथा ज्ञाने अर्थाकारोपः इति गुर्वी अप्रमाणिकी च प्रक्रिया. तद्वर इन्द्रियेण ग्राह्यार्थस्यैव आकारार्थकत्वम् इति चेद् न स्यादेवं यदि विज्ञानसन्ततिः चित्तापरपर्याया अनुच्छिन्ना अशाश्वती आलयविज्ञानरूपा श्रुत्यादिप्रमाणवादे अंगीक्रियते युक्तिभि उपपद्येत. किन्तु तथा नास्ति. अत कुत्र आकारार्पण स्यात्. अप्रमाणिकम् अण्वपि कल्पन न युक्तिमत् प्रमाणिकञ्च गुरुभूतमपि अंगीकर्तव्यम्. खण्डितश्च अयम् अर्थ पूर्वाचार्ये तथाहि : क्षणिकचित्तसन्तति आलयविज्ञानं नाम यदि स्वीक्रियते तर्हि तेन इद सरूपम् इति ज्ञानस्य पूर्वोत्तरक्षणवर्तिसदृशपदार्थकस्य कतुरेकस्य अभावात् सादृश्यनिमित्तं प्रतिसन्धान न स्यात् यदि एक गृहीता कल्प्यते तदा क्षणद्वयसम्बन्धित्वात् तस्य क्षणभाग. नच कल्पितएव उच्यते ज्ञाने आकार

नतु बाह्य कश्चिद् अर्थं वासनावेचित्र्यादेव विज्ञाने साकारे ते अर्थाः भासन्ते. अत एकमेव विज्ञानसादृश्याकारम् इति न पूर्वोत्तरक्षणवर्तिनो बाह्यौ पदार्थौ इति वाच्यम्. तेन इदं सदृशम् इति वाक्यप्रयोगस्य आनर्थक्यप्रसंगात्. किञ्च उक्तविज्ञाने प्रतिभासमाना पदार्थानां विज्ञानाभेदे सति अर्थानामपि अभेदः प्राप्नोति. तथा च इतरेतरभेदेन लोके प्रसिद्धा पदार्था बाध्येन् एवं सति बाह्यस्य लोके प्रसिद्धस्य कस्यचिद् अर्थस्य विज्ञानव्यतिरेकेण अभावात् स्वपक्षसिद्धि-परपक्षनिरासरूपो विवादो न स्यात्. विज्ञानाकारत्वे हि विकल्पप्रतिभासिनां नित्यत्वानित्यत्वादीनाम् एकार्थविषयत्वाभावात् ज्ञानानाञ्च धर्मिणां भेदात् विरोधाभावात्. एकधर्मिक विप्रतिषिद्धधर्मद्वयाभ्युपगमस्य विवादरूपत्वात्.

यदि सौत्रान्तिको ब्रूते “अस्ति बाह्यो अर्थः. सतु क्षणिक निर्विकल्पके चकास्ति. सविकल्पकप्रत्ययास्तु विकल्परूपाः बाह्यार्थगतसादृश्याकारे निर्विकल्पकगतसादृश्याकारेण प्रतिभासन्ते. अत बाह्यार्थसदभावे न विवादहानि. इति. नच स्वग्राहकस्य ज्ञानस्य स्वयं तावद् ग्राह्यम् आन्तरं कथं तस्य बाह्याकारविषयत्वम् इति वाच्यम्. विकल्पविषयद्वेविध्यात्. द्विविधो हि विकल्पानां विषयो ग्राह्यः च अध्यवसेयः च. स्वाकारस्य निर्विकल्पस्य अवसायाद् ‘अधि’=उपरि अवसेयो ‘अध्यवसेय’. अध्यवसेयो बाह्यः. तेन हानोपादानादिप्रवृत्ति लोके सिध्यति स्वप्रतिभासे आन्तरे बाह्यात्मत्वाध्यासाद् इति तदपि न युक्तम्, आन्तरस्य निर्विकल्पस्य ज्ञानाकारस्य तद्विपरीतबाह्याकारेण अध्यवसायस्य असम्भवात्. अध्यवसायो यदि आरोपः तर्हि कस्य-कुत्र इति वक्तव्यम् आन्तरस्य ज्ञानाकारस्य बाह्ये आरोपः चेत् सच बाह्ये गृह्यमाणे अगृह्यमाणे वा? तदपि बाह्यं स्वलक्षणं सामान्यं वा? अक्षसन्निकर्षेण विज्ञाने जायमानम् अर्थसारूप्यं विकल्पेन अनुमानेन गृह्यमाणे बाह्ये स्वलक्षणे न सम्भवति. नहि विकल्पस्य स्वलक्षणं विषयः. नच सामान्यमेव बाह्यं तत्र गृह्यमाणे अर्थाकारारोपः इति, तदपि न, व्यक्तिग्रहणं विना सामान्यस्य गृहीतुम् अराक्यत्वात्. अगृह्यमाणे बाह्ये स्वाकारस्य आरोपे स्वाकारएव स्यात् नतु बाह्यः

इति एवम् अधिष्ठानप्रतिभासासम्भावाद् बाह्ये ज्ञानस्वरूपस्य नारोप आरोप्यस्य अस्फुरणादपि नारोप पूर्वं स्वाकारग्रहण पश्चाद् बाह्यार्थारोपण च अशक्यम् ज्ञानस्य क्रमविरहिणो ग्रहणारोपणयो असम्भवात् नच यदैव गृह्णाति तदेव आरापयति इति युक्तं स्वाकारस्य स्वसंवेदनप्रत्यक्षतया अतिविशदत्वात् बाह्यस्य च आरोप्यमाणस्य अविशदत्वात् उभयो भेद स्यात् एवम् अध्यवसायो असम्भव छण्डितश्च अयं सौत्रान्तिकवाद सूत्रभाष्यभामत्यादिषु वाल्लभग्रन्थेषु च ततश्च बाह्यार्थो अक्षणिर्को यथायोग्य प्रत्यक्षेण बोध्य इति वाल्लभानाम् आशय एवञ्च सविकल्पकस्यापि प्रत्यक्षत्व सम्भवति इन्द्रियविषयसन्निकर्षजननीये निर्विकल्पे बुद्ध्या वृत्तिरूपया सविकल्पकत्वं जायते

अर्थारोप

इदं विचार्यते निर्विकल्पके बाह्यार्थारोपो वल्लभमतेऽपि सौत्रान्तिकमतेऽपि प्रकारस्तु उभयो वर्णितं तत्र विषयेन्द्रियसन्निकर्षे जाते चित्सन्ततो विषयसारूप्यं भवति तच्च स्वाकारविज्ञान निर्विकल्पकं तादृशाकारस्य बाह्ये आरोपाद् प्रवृत्तिं वाल्लभे तु विषयेन्द्रियसम्पर्काद् मनसि निर्विकल्पकं जायते तत् किं निर्विषयं सविषयं वा? सविषयत्वे केन विषयाकारं आरोप्यते बुद्धिवृत्ते पश्चाद् भावितत्वाद् यदि तद् निर्विकल्पकं ज्ञानं स्वभावादेव विषयम् अवगाहते चेद् विषयप्रकारमपि अवगाहेत, बुद्धिवृत्ते का आवश्यकता? किञ्च बुद्धौ यदि विषया सन्ति इति मतं तर्हि योगाचारमतोपपत्तिरिति बुद्धो बहिर्वद् विषया सम्भवन्ति अपितु वासनारूपतयैव नच मायया बुद्धो आक्षिप्यन्ते इति मतम् मायया मनस्यपि विषयाकाराक्षेपसम्भवात् किंवा मायया निर्विकल्पकज्ञानेव विषयाकाराक्षेपसम्भवाद् व्यर्थो बुद्धिवृत्त्यागीकारः

किञ्च इन्द्रियार्थसन्निकर्षाद् मनसि यद् ज्ञानं जायते तत् किं मनःपरिणामरूपम्? किंवा मनसमवायी मनोधर्मः? किंवा मनसि अर्थाकारारोपः? प्रथमे निर्विकल्पकमनःपरिणाम, सविकल्पकं च बुद्धिपरिणाम

इति गौरवम्. वृत्तिरपि बुद्धचवस्थाविशेषएव तै अंगीक्रियते.

द्वितीये समवायस्य अस्वीकृत्वात् मनोधर्मो ज्ञानं चेत् तद् बुद्धिवृत्तिः किम् उपकरिष्यति. अथ बुद्धि मनएकमेव अन्तःकरणरूपम् इति? तदपि न, स्वसिद्धान्तविरोधात्.

अपिच माया यदि भगवतो व्यामोहिका शक्तिः तर्हि सर्वस्य विज्ञानस्य भ्रान्तत्वापत्तिः. यदि सर्वभवनरूपाशक्तिः तर्हि विज्ञानस्य भ्रमत्वानापत्तिः. किञ्च वाल्लभमते ज्ञानं जडं चेतनं वा? जडत्वे विषयप्रकाशनासम्भवात्. चेतनत्वे आत्मनो जडत्वापत्तेः, एकत्र चैतन्यद्वयानंगीकारात्. अथ चैतन्यं चेतनस्य आत्मनो धर्मएव इति मतं तर्हि शरीरादिसंघातस्य आत्मनि अध्यासात् आत्मचैतन्येनैव प्रकाशसम्भवात् अलं बुद्धिवृत्त्या मानसे ज्ञाने अर्थारोपेण.

किञ्च बुद्धिवृत्ति बुद्धेः अर्थाकारावस्थाविशेषः इति तदपि न उपपद्यते. बुद्धौ विषयाभावात् तस्य विषयस्य च घटादे बाह्यत्वात्. मायया आक्षेपोऽपि समानाकारस्येव न वस्तुतो विषयस्य तथानुभावात्. एतस्माद् वरं बुद्धे बहिःनिःसरणमेव तथात्वे सिद्धान्तहानिः. बहिःनिःसरणाभावे बुद्धौ अर्थाकारो विषयेन्द्रियसम्पर्काद् इति सोत्रान्तिकमतप्रवेशः इत्येवमादयो विचाराः समाधेयाः सम्भवन्ति.

बौद्धमतखण्डनम् :

तदेतत् सर्वं तर्कप्रभवम्. नहि तर्केण अप्रमाणभूतेन वस्तुतत्त्वं व्यवस्थायितुं शक्यते, "तर्काप्रतिष्ठानात्" इति स्मरणात्. एवञ्च यथाप्रमाणमेव वस्तुतत्त्वावगतिः. नहि वाल्लभैः अप्रमाणं किञ्चिद् उच्यते यथाशास्त्रम् अवगतिः क्रियते. किं मनः, का बुद्धिः, को अहंकारः, किं चित्तम्, इत्यादि सर्वं यथाशास्त्रमेव उच्यते. नहि शास्त्रं व्यवस्थितम् आप्तप्रकाशं तर्कं व्याकुलीकर्तुं शक्यम्. बाह्यैरथ बौद्धैः स्वमतिप्रकल्पनादेव स्वस्य

बहुप्रलापित्वं ख्याप्यते.

सौत्रान्तिकैः विज्ञानसन्ततिः तस्याअपि क्षणिकत्वं वाह्यस्यापि क्षणिकत्वम् इत्यादिसर्वं स्वमतिकल्पितमेव सर्वथा अनुपपन्नम् उच्यते. सर्वमेव विश्वं परमेश्वरान्तम् इति अविर्भावतिरोभावशक्तिभ्याम् उत्पन्नम् इति नातिरोहितं वेदशास्त्रविदाम् इति दिक्.

.....+

संगोष्ठ्युत्तरलेखनम्

गो.श्या म.

बौद्धशास्त्राद्यनेकमतेषु पाण्डित्यनिकषभूते मूर्तिमत्सौमनस्यै तत्रश्रीपारसनाथद्वि-
वेदिमहाभागैः सौत्रान्तिकवाल्मभवेदान्तमतयोः प्रत्यक्षप्रमाविषयके तौलनिकविमर्शयोः
अस्मिन् आलेखपत्रे उभयोः मतयोः यत् तुलनात्मकस्वरूपप्रतिपादनं तदुभयोः च
मतयोः सम्भावितपूर्वोत्तरपक्षावपि स्वरोमुपि विरोपप्रकर्षेण समुद्भाव्य यच्च निरूपणं
कृतं तद् एतन्महाभागेतरेण दुर्बलं खलु कर्तव्यभारो केनापि निर्वोद्धुं शक्यः ।

तेन यद्यपि उत्थिताकाशाप्रयुक्तं किमपि वक्तव्यं नावशिष्यते, श्रीमद्भि-
पारसनाथमहाभागैरेव निराकरणप्रकारस्यापि द्योतितत्वादेव. तथापि विषये अस्मिन्
योहि “वल्गुभामतेषु निर्विकल्पक निराकार बुद्धिवृत्तेः प्राग् ज्ञाने अर्थातोपाभावात्
निर्विषयत्वं निर्विकल्पकज्ञानस्य स्यात्. किञ्च कोऽयं बुद्धिवृत्त्यनुग्रहः? यदि
निर्विकल्पके जायमाने अर्थाकारारोपः, तर्हि स आरोपो न उपपद्यते. बुद्धौ अर्थस्य
अभावात्. बुद्धिवृत्तेरपि यहिर्देशे निर्गमम् अन्तरा असम्भवात्” इति यौक्तिकाक्षेपो
दर्शितः तत्र वाल्मभट्टप्रस्था इह यत् किमपि यौक्तिक समाधानं मगतिं स्फुरति
तद् उत्थाप्याकाशापूर्त्यै आवेद्यते : न तावद् अस्माकं मते निर्विकल्पज्ञानस्य
सर्वथा विषयाकाराहित्यम् आपादयितुं शक्यं “पुरोवस्थितम् इदं किञ्चिद्”

इति विषयाकारस्य अभ्युपगतत्वेन निर्विकल्पकज्ञाने अभ्युपगतत्वेन न तत्र निर्विषयकत्वापत्तिः, नामगुणकर्मसामान्यधर्माद्यनुल्लेखिन्या अनुभूत्या समनस्केन्द्रियेण निर्विकल्पकज्ञानवता पुरुषेण अपलपितुम् अशक्यत्वात् च नच एतादृशे विशेषानुल्लेखिनि ज्ञाने भासमान पुरोवस्थित स्फीतालोकवर्ति वस्त्वपि दूदेशस्थवस्तुवत् स्वविशेषाकार निगूह्यतेवेति तत्र बुद्धिवृत्तिकृतविशेषाकारापेक्षैव न स्यात् पश्चात् पूर्वानुभूत्यधिगतसंज्ञादिसंस्काराणां सकल्पविकल्पपरे मनसि समुत्थानेन च बुद्धिं प्रति मनसा च प्रदर्शितेषु सत्सु तामसराजससात्त्विकान्यतमगुणोद्रेकजनितया च बुद्धिवृत्त्या तेषु सकलितानां अनवबोधसशयभ्रमादिवृत्तयः कुतो न समुपजायेयुः ? सर्वस्यापि प्रत्यक्षावभासस्य इह परस्परसापेक्षदुर्लक्ष्योत्तरोत्तरावस्थाभेदेन शतपत्रवेधवद् झटिति जायमानत्वेन बाह्यार्थविशेषाकारारोपोऽपि तत्र बुद्धे बहिर्गमनापेक्षाभावादेव नासम्भवः

एतेन “बाल्लभेतु विषयेन्द्रियसम्पर्काद् मनसि निर्विकल्पकं जायते तत् किं निर्विषयं सविषयं वा ? सविषयत्वे केन विषयाकार आरोप्यते ? बुद्धिवृत्तेः पश्चाद् भावितत्वाद् यदि तद् निर्विकल्पकं ज्ञानं स्वभावादेव विषयम् अवगाहते चेद् विषयप्रकारमपि अवगाहेत, बुद्धिवृत्ते का आवश्यकता ? इत्यस्यापि पर्यनुयोगस्य समाधानं जायतएव यस्मात् निर्विकल्पकं हि तावत् समनस्केन्द्रियजनितं ज्ञानं सविषयकमेव तत्र अवभातस्य अनवगतविशेषाकारस्य वस्तुन पश्चाद् सकल्पविकल्पात्मकमनोगृहीतस्य विशेषाकारस्य बुद्धिवृत्त्या ग्रहणपूर्वकं निर्विकल्पकज्ञाने तद्विशेषाकाराधानम् तेनच निर्विकल्पकज्ञानक्षणे विशेषाकारवत्या अनवभातप्रकारता-काशायामेव पश्चाद् बुद्धेः विशेषाकारावभासकतापि सशयभ्रमाध्यवसायाद्यन्यतमबुद्धिवृत्तिरूपा भवचा इयमेव खलु बुद्धेः आवश्यकता यदि उच्येत मनसैव तद् भवतु तदा इदम् आलोच्यतां मनसोऽपि का आवश्यकता ? यदि पुरोवस्थितवस्तुसंयुक्तस्यापि चक्षुषो मनसाचीव्याभावे तद्ग्रहणसामर्थ्यानुपलम्भाद् आवश्यकता अस्त्येव इति चेत् तदा तेनैव न्यायेन बुद्धेऽपि आवश्यकत्वम् अङ्गीकार्यम् तथाहि अमनस्कपुरुषस्य इन्द्रियाणां विषयसंयोगेऽपि विषयानुपलम्भदर्शनाद् यथा मनसः आवश्यकता तथैव समनस्कपुरुषस्यापि इन्द्रियसंयुक्तार्योपलम्भक्षणे विषयविशेषाकारादेः यदि उपलम्भनैयत्य चेत् तदा अनवबोधसरायभ्रमानुदयप्रसङ्गः

अथ अनुपलम्भनैयत्य चेद् अध्यवसायप्रत्यभिज्ञास्मृत्यनुदयप्रसंगं ततः सकल्पविकल्प-
हेतुना मनसा स्वकार्यकरणेऽपि अनवबोधसशयभ्रमाध्यवसायस्मृत्यादेः उपलम्भादेव
मनोभिन्नाया बुद्धेः अङ्गीकारोऽपि आवश्यक एव नहि ज्ञान स्वस्वभावादेव स्वविषयम्
अवगाहति इति बाह्याभ्यन्तरकरणनिरपेक्षेण स्वभावेनैव लोके विषयावभासनं
सम्भवदुक्तिकम्

एतेन “किञ्च बुद्धी यदि विषयाः सन्ति इति मतं तर्हि योगाचारमतापत्तिः.
नहि बुद्धी बहिर्वद् विषयाः सम्भवन्ति अपितु वासनारूपतयैव” इति आपादनमपि
निरस्तं वेदितव्यम् यस्मात् “तदेतत् (नामरूपकमत्रिक) त्रयं सद् एकम् अयम्
आत्मा, आत्मो एकः सन् एतत्त्रयम्” (बृह. उप. १।६।३) इति एकस्य त्र्यात्मकता
प्रयाणा च एकात्मकता चेति तादात्म्यवादिनाम् अस्माकं मते “सर्वं सर्वविषयम्”
इतिच श्रुत्यनुसंधाद् प्रागपि इन्द्रियार्थसंयोगाद् इन्द्रियार्थवस्तुनो नामात्मकतया बुद्धौ
विद्यमानता तथा वस्तुन्यपि नामवदबुद्धेरपि रूपात्मकतया विद्यमानताया दोषाभावात्
विद्यमानयोरपि नामरूपयोः आविर्भावस्तु पाञ्चभौतिकपदार्थानां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धत-
न्मात्राद्वारा तत्तद्ग्रहणोपकरणभूते इन्द्रिये सह परस्परसन्निकर्षव्यापारद्वारकएव,
समानस्वरोपेतयोः इतरेतरपार्श्ववर्तिनो द्वयोः तन्तुवाद्ययोः एकस्य वादने अपरेस्मिन्
स्वरानुरणनवत् इन्द्रियाणाञ्च मनोहकारसात्त्विकबुद्धिरूपाभ्यन्तरकरणव्यापारैः उपकृतानां
पुरोवस्थितविषयेण सह सम्पर्के सति तस्मिन् “चक्षुषा आलोच्य वस्तूनि विकल्प्य
मनसा तथा अहमत्यापि अहकाराद् बुद्धयेव हि अध्यवस्यति” इति प्रणालिकयैव
ज्ञेयताविर्भावः तस्माद् यथा सौत्रान्तिकनये अर्थसारूप्यं ज्ञानप्रामाण्यपटकं तथा
वाल्मीकनये ज्ञानाविर्भूतनामादिसारूप्यम् अनुभूतिगोचरस्य वस्तुनः प्रमेयतापटकम्
इति आस्थेयम्

एतेन “मायया मनस्यपि विषयाकाराक्षेपसम्भवात् किंवा मायया
निर्विकल्पकज्ञानएव विषयाकाराक्षेपसम्भवाद् व्यर्थं बुद्धिवृत्त्यङ्गीकारः” इत्युक्तिरपि
परास्ता भ्रमात्मकज्ञाने विषय-तद्बहिर्दृष्ट-बहिर्इन्द्रियग्राह्यत्वादीनां विनैव सर्वाविभास-
कतोपलम्भकत्वदर्शनात् न प्रमात्मकेऽपि ज्ञाने एतेषां प्रत्यक्षगोचरत्वं वा अनुमेयत्वं
वा व्यर्थम् इति शक्यशकं, सौत्रान्तिकमतत्यागेन योगाचार-माध्यमिकमतप्रवेशापत्तेः

इति विषयाकारस्य अभ्युपगतत्वेन निर्विकल्पकज्ञाने अभ्युपगतत्वेन न तत्र निर्विषयकत्वापत्तिः, नामगुणकर्मसामान्यधर्माद्यनुल्लेखिन्या अनुभूत्या समनस्केन्द्रियेण निर्विकल्पकज्ञानवता पुरुषेण अपलपितुम् अशक्यत्वात् च नच एतादृशे विशेषानुल्लेखिनि ज्ञाने भासमान पुरोवस्थित स्फीतालोकवर्ति वस्त्वपि दूरदेशस्थवस्तुवत् स्वविशेषाकार निगूह्यतेवेति तत्र बुद्धिवृत्तिकृतविशेषाकारापेक्षैव न स्यात् पश्चात् पूर्वानुभूत्यधिगतसंज्ञादिसंस्काराणां सकल्पविकल्पपरे मनसि समुत्थानेन च बुद्धिः प्रति मनसा च प्रदर्शितेषु सत्सु तामसराजससात्त्विकान्यतमगुणोद्रेकजनितया च बुद्धिवृत्त्या तेषु संकलितानां अनवबोधसशयभ्रमादिवृत्तयः कुतो न समुपजायेयुः ? सर्वस्यापि प्रत्यक्षावभासस्य इह परस्परसापेक्षदुर्लक्ष्योत्तरोत्तरावस्थाभेदेन शतपत्रवेधवद् झटिति जायमानत्वेन बाह्यार्थविशेषाकारारोपोऽपि तत्र बुद्धेः बहिर्भिन्नापेक्षाभावादेव नाराग्भवः

एतेन “चाल्लभेतु विषयेन्द्रियसम्पर्काद् मनसि निर्विकल्पक जायते तद् किं निर्विषयं सविषयं वा ? सविषयत्वे केन विषयाकारः आरोप्यते ? बुद्धिवृत्ते पश्चाद् भावितत्वाद् यदि तद् निर्विकल्पकं ज्ञानं स्वभावादेव विषयम् अवगाहते चेद् विषयप्रकारमपि अवगाहेत, बुद्धिवृत्ते का आवश्यकता ? इत्यस्यापि पर्यनुयोगस्य समाधानं जायतएव यस्मात् निर्विकल्पकं हि तावत् समनस्केन्द्रियजनितं ज्ञानं सविषयकमेव तत्र अवभातस्य अनवगतविशेषाकारस्य वस्तुन पश्चाद् सकल्पविकल्पात्मकमनोगृहीतस्य विशेषाकारस्य बुद्धिवृत्त्या ग्रहणपूर्वकं निर्विकल्पकज्ञाने तद्विशेषाकाराधानम् तेनच निर्विकल्पकज्ञानक्षणे विशेषाकारवृत्तया अनवभातप्रकारता-काशायामेव पश्चाद् बुद्धेः विशेषाकारावभासकतापि सशयभ्रमाध्यवसायाद्यन्यतमबुद्धिवृत्तिरूपा सुवचा इयमेव खलु बुद्धेः आवश्यकता यदि उच्येत मनसैव तद् भवतु तदा इदम् आलोच्यतां मनसोऽपि का आवश्यकता ? यदि पुरोवस्थितवस्तुसंयुक्तस्यापि चक्षुषो मनसाचीव्याभावे तद्ग्रहणसामर्थ्यानुपलम्भाद् आवश्यकता अस्त्येव इति चेत् तदा तेनैव न्यायेन बुद्धेरपि आवश्यकत्वम् अंगीकार्यम् तथाहि अमनस्कपुरुषस्य इन्द्रियाणां विषयसंयोगेऽपि विषयानुपलम्भदर्शनाद् यथा मनसः आवश्यकता तथैव समनस्कपुरुषस्यापि इन्द्रियसंयुक्तार्थोपलम्भक्षणे विषयविशेषाकारादेः यदि उपलम्भनैयत्य चेत् तदा अनवबोधसशयभ्रमानुदयप्रसंगः

पक्षे तावत् प्रक्रियातु उपपादनीयैव वाल्लभेरपि. तत्र क्रते चार्वाकमत सर्वेषामपि
वादिना मतेषु — ज्ञानाद्वैतवादिनो वा भवन्तु ज्ञानज्ञेयद्वैतवादिनो वा — एते जडरूपाएव
चित्ताहकारमनोबुद्धयश्च शुक्लवस्त्राणस्सनध्रुवणेन्द्रियाणि च भवन्ति. तेष्वेतेषु —
बिम्बप्रतिबिम्बन्यायेन वा भवतु अयोगोलकन्यायेन वा — ज्ञानोत्पत्तिश्च
ज्ञानोत्पत्तिभ्रान्तिश्च सर्वे खलु अकामैरपि अवश्यागीकार्येव, अन्यथा
प्रत्यक्षानुत्पादप्रसंगापत्तिरिति “न सार्वजनिकं दुःखम् एकं सोढुम् इह अर्हति।”
नूनं तदेतत्तु सर्ववादिना दुःखं सर्वं मिलित्वैव सहनीयम्।

याच “बुद्धिवृत्तिर्बुद्धेः अर्थाकारावस्थाविशेषः इति तदपि न उपपद्यते.
बुद्धौ विषयाभावात् तस्य विषयस्य च घटादेर्बाह्यत्वात् मायया आक्षेपोऽपि
समानाकारस्यैव न वस्तुतो विषयस्य तथानुभावात्. एतस्माद् वरं बुद्धेर्बहिःनिःसरणमेव
तथात्वे सिद्धान्तहानिः बहिःनिःसरणाभावे बुद्धौ अर्थाकारो विषयेन्द्रियसम्पर्काद्
इति सौत्रान्तिकमतप्रवेशः” इति वाल्लभमतस्य सौत्रान्तिकान्तिकतापत्तिं प्रदर्शिता
सा खलु बाह्यार्थानुमेयवादिना सौत्रान्तिके तावद् न प्रदर्शयितुं शक्या, यस्माद्
बुद्धेर्बहिर्निस्सरणे बोद्धुं बुद्धिरहित्यापत्त्या बाह्यार्थानुमितिरूपा बुद्धिरपि नोदीयात्
यदितुं वेदान्तपरिभाषोक्तरीत्या तडागकुल्याकेदाराधिष्ठानेषु प्रवहमानजलवत् न बुद्धेरेव
बहिर्निस्सरणं किन्तु बुद्धिवृत्तेरिति बहिर्निस्सरणमिव कश्चन ऐन्द्रियकप्रणाइया
विषयदेशसंगम इति प्रस्तूयेत, तदापि न स संगमो अशभेदेन तडागदेशत्यागपूर्वक
केदारदेशावस्थानजलस्येव बुद्धिवृत्तेरपि सम्भवति यस्मात् स्वदेशावस्थितबुद्धिवृत्ते
अशेन स्वाधिष्ठाने बोद्धरि अवस्थानं अशेन च विषयाधिष्ठानेऽपि अवस्थानं,
तदा एतयोर्द्वयोर्अशयोर्ऐक्यं वा भेदो वा? ऐक्ये तु “अहं घटो घटद्रष्टा
च” इति प्रतीत्यापत्तिर्भेदे तु तादृशेन भिन्नेन अशेन देहात् छिन्नेन करेणेव
वस्तुग्रहणसामर्थ्यहानिर्दुर्वीर्यं. नापि दर्पणे बिम्बाकारितासदभावे दर्पणस्य बिम्बदेशे
गमनम् अथवा बिम्बस्य दर्पणदेशे गमनम् आवश्यकम् इति केनापि उपदेष्टुं
शक्यम्

सर्वथातु सौत्रान्तिकचिन्तनकाले वाल्लभवेदान्तस्य अजातत्वेन एतयोर्मतयो
मिश्रो यद् मोनमिव आसीद् श्रीमद्भिः पारसनाथमहाभागैस्तु स्यासाधारणवैदुष्येन

अपिच “इन्द्रियार्थसन्निकर्षाद् मनसि यद् ज्ञान जायते तत् किं मनःपरिणामरूपम्? किंवा मनःसमवायी मनोधर्मः? किंवा मनसि अर्थाकारोपः? प्रथमे निर्विकल्पक मनःपरिणाम, सविकल्पक च बुद्धिपरिणामः इति गौरवम् वृत्तिरपि बुद्ध्यवस्थाविशेषएव तै अमीक्रियते” इति यद् उच्यते तत्रापि वाल्लभमतीयप्रक्रियानुरोधाद् एतेषा विकल्पानां न एकसत्त्वे अपरासत्त्वरूपविरुद्धकल्पता तस्माद् इन्द्रियार्थसन्निकर्षाद् मनसि जायमान निर्विकल्पक ज्ञान हि आदौतु विषयोपरञ्चितमनस साधारणपरिणामविशेषरूपएव स परिणामविशेषो जायमानो मनसमवायितया मनोधर्मरूपोऽपि कुतो न भवेत्! भवतु च तेन मनसि सस्काररूपेण अवस्थितस्य वस्तुविषयकसकल्पविकल्पोद्बोधनम् तेषाञ्च पुन बुद्धि प्रति मनसा कृतेन प्रदर्शनेन बुद्धौ सविकल्पकज्ञानोत्पत्तिरपि भवित्री ननु कल्पनागौरवम् इति चेत् न, यथा सौत्रान्तिकनये ज्ञानातिरिक्तज्ञेयमीकारेऽपि न कल्पनागौरव तथैव वाल्लभनयेऽपि सौत्रान्तिकेन सोढव्यमेव

किञ्च “माया यदि भगवतो व्यामोहिका शक्तिः तर्हि सर्वस्य विज्ञानस्य भ्रान्तत्वापत्तिः. यदि सर्वभवनरूपाशक्तिः तर्हि विज्ञानस्य भ्रमत्वानापत्तिः” इति या आपत्ति प्रदर्शिता तत्रापि बाह्यविषय-तद्ग्राहकत्वाह्याभ्यन्तरकरण-तथाभूतकरणोपहितजीवचैतन्यम् एतेषा च मिथ सयोगवियोगादिव्यापारानुकूल्य च एतमादिसर्वं भगवत् सर्वभवनसामर्थ्यरूपमायाया कार्यम् एतद्वैपरीत्येन बाह्यवस्तुनि स्वभासकानुभूतिवैपरीत्य बाह्यवस्त्वभासके ज्ञाने स्वावभासितवस्तुवैपरीत्य च व्यामोहिकाया मायाया कार्यम् इति न कापि अनुपपत्ति

किञ्च “वाल्लभमते ज्ञान जड चेतन वा? जडत्वे विषयप्रकाशनासम्भवात्, चेतनत्वे आत्मना जडत्वापत्तेः, एकत्र चैतन्यद्वयानमीकारात्, अथ चैतन्य चेतनस्य आत्मना धर्मएव इति मतं तर्हि शरीरादिसत्तास्य आत्मनि अप्यासात् आत्मचैतन्येनैव प्रकाशासम्भवाद् अत बुद्धिपुत्या मानसे ज्ञाने अर्थांशेण” इति यद् आपादितं तत्र तादात्म्यादिनि वाल्लभमते एव प्रदर्शनालोपायेन तावद् न उपपद्यते, सर्वस्यापि जडचेतनरूपस्य जगता ग्रहणादात्म्यमीकारेण परस्परतादात्म्यस्यापि अभ्युत्पत्तयेनैव तादात्म्यस्य च भेदसहिष्यभेदरूपतयापि अमीकारात् भेदव्यवहारोप-

पत्तये तावत् प्रक्रियातु उपपादनीयैव वाल्लभैरपि तत्र क्रते चावाकमत सर्वेषामपि वादिना मतेषु — ज्ञानाद्वैतवादिनो वा भवन्तु ज्ञानज्ञेयद्वैतवादिनो वा — एते जडरूपाएव चित्ताहकारमनोबुद्धयश्चक्षुस्त्वश्राणरसनश्रवणेन्द्रियाणि च भवन्ति तेष्वेतेषु — बिम्बप्रतिबिम्बन्यायेन वा भवतु अयोगोलकन्यायेन वा — ज्ञानोत्पत्तिरिति वा सर्वे खलु अकामैरपि अवश्यागीकार्येव, अन्यथा प्रत्यक्षानुत्पादप्रसंगापत्तिरिति “न सार्वजनिकं दुःखम् एकं सोढुम् इह अर्हति।” नूनं तदेतत्तु सर्ववादिना दुःखं सर्वे मिलित्वैव सहनीयम्।

याच “बुद्धिवृत्तिं बुद्धेः अर्थाकारावस्थाविरोधः. इति तदपि न उपपद्यते बुद्धौ विषयाभावात् तस्य विषयस्य च घटादे वाह्यत्वात् मायया आक्षेपोऽपि समानाकारस्येव न वस्तुतो विषयस्य तथानुभावात् एतस्माद् वरं बुद्धे बहिर्निस्सरणमेव तथात्वे सिद्धान्तहानि बहिर्निस्सरणाभावे बुद्धौ अर्थाकारो विषयेन्द्रियसम्पर्कादिति सौत्रान्तिकमतप्रवेशः.” इति वाल्लभमतस्य सौत्रान्तिकान्तिकतापत्तिं प्रदर्शिता सा खलु वाह्यार्थानुमेयवादिना सौत्रान्तिकैः तावद् न प्रदर्शयितुं शक्या, यस्माद् बुद्धे बहिर्निस्सरणे बोद्धुं बुद्धिराहित्यापत्त्या वाह्यार्थानुमितिरूपा बुद्धिरपि नोदीयात् यदितु वेदान्तपरिभाषोक्तरीत्या तडागकुल्याकेदाराधिष्ठानेषु प्रवहमानजलवत् न बुद्धेरेव बहिर्निस्सरणं किन्तु बुद्धिवृत्तेरिति बहिर्निस्सरणमिव कश्चन ऐन्द्रियकप्रणाड्या अशेन स्वाधिष्ठाने बोद्धरि अवस्थानं अशेन च विषयाधिष्ठानेऽपि अवस्थानं, तदा एतयो द्वयोः अशयो ऐक्यं वा भेदो वा? ऐक्ये तु “अहं घटो घटद्रष्टा च” इति प्रतीत्यापत्तिः भेदे तु तादृशेन भिन्नेन अशेन देहात् छिन्नेन करेणेनेव वस्तुग्रहणसामर्थ्यहानि दुर्वारिव नापि दर्पणे बिम्बाकारितासद्भावे दर्पणस्य बिम्बदेशे गमनम् अथवा बिम्बस्य दर्पणदेशे गमनम् आवश्यकम् इति केनापि उपदेष्टुं शक्यम्

सर्वथातु सौत्रान्तिकचिन्तनकाले वाल्लभवेदान्तस्य अज्ञातत्वेन एतयो मतयो मिथो यद् मौनमिव आसीद् श्रीमद्भिः पारसनाथमहाभागेस्तु स्वासाधारणवैदुष्येन

सौत्रान्तिकबाल्लभवेदान्तिनौ परस्परमतविषयकं मौनं सेवमानौ मिथो वाग्व्यवहारव्यापृतौ
कृतौ. तदेतद् महते उपकाराय सर्वेषामेव कृते भवेदिति भृशम् स्वकार्तृण्यं
प्रकाशयन् विरमामि.



Dharmakīrti and Vallabha on Pratyakṣa : Juxtaposition

Dr. Mangala Chinchore

In the classical history of Indian philosophical traditions, we find that Pratyakṣa plays a very important role and hence there is unanimity in assigning the status of an independent Pramāṇa to Pratyakṣa (means of cognition and / or justification). In this consideration there is no differentiation possible between Cārvāka, Śramanic and Brāhmanical traditions. This is mainly because, common-sensically as well as philosophically, it is the easiest and simplest mode of getting access to reality—both internal and external—directly.

However, if one undertakes an in depth study it becomes clear that though there is consensus in accepting Pratyakṣa as an independent Pramāṇa, the nature and status of it advocated by the various philosophical traditions and their numerous adherents, is not the same. And hence, there are various conceptions and interpretations of Pratyakṣa. There may be certain similarities and dissimilarities, too. Very many times similarities are emphasized, but dissimilarities also need to be paid enough attention to, if one wants to understand uniqueness of a particular philosopher or a tradition. Hence, it becomes interesting and important to investigate into such

differences of opinion and critically examine the reasons behind the respective strands

In the present paper, I am going to pay attention to two such views, viz of Dharmakīrti, a well known Buddhist scholar from Mahayana tradition and of Vallabha, a spokes-man of Vedānta especially Suddhavānta-Vedānta. I have chosen these traditions, because Buddhism and Vedānta both have considerably influenced our day to-day life and practices right from ancient times and even today are living traditions. More importantly, they were predominant philosophical trends of thought, such that all the rest of the traditions of Indian classical period were influenced by them in one way or the other, and hence borrowed some points and concepts from them in due course of time. Thus, both in thought and practice they have made significant contributions.

Historically, though Dharmakīrti (7th Cen AD) and Vallabha (15th Cen AD) were neither contemporaries, immediate predecessors and successors, nor have they involved into debates and controversies directly or indirectly, nor even Vallabha criticises the views of Dharmakīrti in general or with regard to Pratyakṣa specifically, still it is pertinent to juxtapose their views. It is because, perhaps, Dharmakīrti attempts to give a methodologically comprehensive and appropriate analysis of Pratyakṣa within the camp of Buddhism for the first time. In comparison to his predecessors like, Aśaṅga, Vasubandhu, Dinnāga¹ etc it is distinct, and with

regard to his successors also, it seems, it is unique. It is distinct in number of ways and hence followers of him, it seems, have not made any major alteration and modification in the analysis and explanation of Pratyaksa given by Dharmakīrti, while writing the commentaries. Various philosophers wrote commentaries by just adding further explanatory note/s, but the core remained almost untouched. Thus, the impact of Dharmakīrti's views on his followers and successors within the Buddhist tradition is considerably noticeable, but even on the later non-Buddhist philosophers² too it is not negligible. On the other hand, Vallabha is proclaimed to be a true spokesman and as an authentic representative of Vedānta and hence is called as the founder of *Suddha advaita* (Vedānta in the purest/unqualified form). He represents a deferent school of Vedānta. He has attempted, it seems, to analyze and explain Vedantic conception of Pratyaksa in a simplest way and transparently. Thus, the choice of selecting the two representatives of respective traditions is not arbitrary but backed by a philosophical consideration. To compare and contrast the views of Dharmakīrti and Vallabha with reference to Pratyaksa and find out similarities and dissimilarities, along with their contentions is the aim of the present paper, which I wish to undertake in the following two sections. In the first section, I shall consider their analysis of Pratyaksa and point out some of the similarities or dissimilarities. On this background, in the second section, I shall inquire into the reasons behind their differences of opinion and corresponding perspectival variations anchored

SECTION - I

Analyses of Pratyaksa : Similarities and Dissimilarities

As is well known, the word Pratyaksa is used generally in two senses, i.e. as a Pramā (cognition) and Pramāna (means of cognition and/or justification). For both Buddhists and Vedāntins in general, there is a distinction between the two. It is Pramā, which is cognitively much more important for both, yet it is Pramāna that is essential indeed for acquisition of the former, but it is methodologically secondary. For, unless there is an instrument to cognise (Pramāna), there is no possibility of cognition (Pramā). Further Pramāna determines both form (Ākāra) and content (Āśaya) of the cognition (Pramā). Hence, obviously, in comparison to Pramā, Pramāna is logically primarily important, on the other hand, Pramā is epistemically primary. Nonetheless, there can be and actually is a difference of opinion with regard to the autonomy of Pramāna. One may advocate that the nature and number of Pramāna/s are not determined independently by themselves, but by either Prameyas or Pramāṇa⁴. Yet, an inquiry into epistemic/cognitive considerations begins primarily from Pramā, and Pramāna/s derivatively, is a point to be noted. However, we cannot go into the details of this issue here.

All the philosophical traditions of Indian origin hold a

view that knowledge is essential not only for the destruction of and freedom from Avidyā/Ajñāna negatively, but for emancipation (Mukti or Nirvāṇa) by understanding the true nature of reality, positively. And this is true with regard to both Buddhism and Vedānta, as well. There are, perhaps, four important considerations commonly acceptable to both-

- 1 There is a possibility to know the ultimate truth, it is not unknowable
- 2 There exists something 'real' to know and it can be known directly, hence Pratyakṣa Pramāṇa is upheld
- 3 Such cognition of truth is basically Nirvikalpaka (indeterminate) in nature
- 4 Savikalpaka (determinate) is not a legitimate kind of perception

Let us discuss these points of similarity

Our existence, continuation and growth as a human being is in some way or the other essentially connected to knowledge. And we are minimally being endowed with sense organs, which enable us to have access to the external world and other things remaining the same, cognition derived from them is authentic and reliable. To have sensation is a sign of our existence psycho physically as well as epistemically. Our co relation with the external world could legitimately be established via experience. And hence, there is a need to accept direct and immediate avenue to actual world we live in and our being essentially co related with it. It is this,

perhaps, which compels them to advocate Pratyaksa as a Pramāna, minimally

Further, both uphold the primacy and decisive significance of Nirvikalpaka Pratyaksa (indeterminate-perception) The very definition of Pratyaksa given by Dharmakīrti⁵ specifically is such that it excludes anything imaginarily conceived (Kalpanā apodha) and deceitful (Abhrānta) in nature It only concentrates on veridical kind of it, bereft of any kind of non reliability, viz illusion, hallucination, dream experience, or even ideation and conception, etc That is why it is non shareable, incommunicable It is knowledge acquired directly through acquaintance and hence is a pure form of sensation A similar kind of conception of Pratyaksa also is seen at the hands of Vedāntins in general and Vallabha⁶ tradition in particular According to Vallabha, Pratyaksa is free from words, because what we experience directly cannot be expressed truly Such an experience is pure and simple There is a need and necessity of sense organs for getting direct cognition of the external world, which is acknowledged by both, Vallabha and Dharmakīrti

Both hold a view that Savikalpaka Pratyaksa (determinate-perception) cannot be considered as a true case of it, because it is not a simple and authentic representation of reality as such Reality as it is, exists in the world and without any adulteration could be known / apprehended directly Since, in order of being existence is prior as contrasted to its

knowing and still further its communicating, Nirvikalpa is cognitively primarily important. There is no reflective thought essential for the cognition of reality, as it truly exists. Without intervention of thought/s and expressions—verbally or non verbally—i.e. without the help of signs and symbols or words, we can know existence appropriately in a simpler way directly. Hence, Savikalpaka Pratyaksa is not a true kind of cognition of the ultimate reality but it is a distortive understanding. For the sake of communication and/or explanation of whatever we have cognised directly, we take help of expressions, but they are our ways of understanding and interpretation of facts, and not what is true basically.

Moreover, it is neither the form (Ākara) nor relatedness (Sambandha) or any kind of determination that is essential for proper understanding of the ultimate reality. If a question is raised: Can Pratyaksa be used as an access to ultimate reality without earlier experience or conception/s? To this both, Buddhist in general and Dharmakīrti in particular on the one hand and Vallabha specifically and Vedāntins in general on the other hand, agree on the point that the autonomy of direct cognition needs to be stressed universally. In order to make sense of a particular experience, earlier experience of it is not essential. For, it is only in the context of incidence of direct cognition, existential reality could be revealed with simplicity, clarity and distinctness, and not on the basis of its prior experience.

One more point of similarity between them needs to

be paid attention to, viz knowledge of the ultimate reality (Paramārtha Sat) is such that there cannot be a distinction between knower (Jnata) object (Jñeya) and knowledge (Jnana) at the time of its incidence. Such a three fold distinction is pertinent only on the general level of communication, interpretation and explanation of our experience of reality, which is conventionally true (Lok Samvrtti Sat). Ultimately however, all of them are convergent, and hence such a distinction itself is not vital. At the moment of incidence of cognition discrimination and distinction of the above sort, is simply unavailable and hence it is primarily redundant and futile. It is only when we wish to justify our knowledge claim/s or communicate them to others, it becomes essential to put it into an epistemic framework and its categories of understanding. Further, for incidence or occasioning of an experience, no other person is essential to be present. Nor for its being reflectively interpreted and communicated, we require another person as Naiyāyikas hold. I can very well communicate and explain to myself, in order to better understand, what I have cognised. Thus, privacy of incidence of cognition and its subjectivity needs to be maintained going against the so called sway of objectivity.

Lastly, but not least importantly, both hold a view that we have a disposition to cognise and we are endowed with sense organs. This opens the possibility to comprehend reality, but unless and until something is given objectively to comprehend, we cannot utilize our capacities. Hence,

independently of us world can exist, but anyone knows it directly only through perception with the help of sense organs. Although we are very many times passive recipients of the comprehension/s and are capable of revelation of ultimate reality, yet whatever we cognise directly just because it is given to us, may not be true and authentic manifestation of the ultimate reality as such. And hence, deception can be there in our experiential cognition. So, there is a need to discriminate between veridical and non veridical cognition. So long as we are alive there is a permanent possibility of deception and misunderstanding, but it is only through Pratyaksa that we can be free from such bewitchments and misconceptions with regard to reality, as it exists.

After knowing the points of similarity, let us turn to consider some points of dissimilarity. They are as follows

1. **Status of Pratyaksa.** To begin with, the very status of Pratyaksa as a Pramāna, for Vedantins is secondary not only enumeratively, but also functionally. When there is a clash between the two kinds of cognition, viz. acquired through Sruti and Pratyaksa, it is Sruti that enjoys an exclusive prerogative, context freely. And, when we attempt to justify our directly apprehended knowledge claim/s, Sruti is the touchstone of it ultimately. Though Vallabha admits Pratyaksa⁷ as a Pramana along with the other three, viz. Sruti (Authority/Testimony), Aitiha (Tradition) and Anumana (Inference), it is only within the framework of Sruti that the remaining three have to be made

sense of and not independently. Thus, Śruti not only puts a constraint on the nature and function of Pratyakṣa and thus operates as a determiner, but going one step ahead even they are ready to subsume Pratyakṣa under Śruti⁸. This implies that the autonomy and independence of Pratyakṣa is relative to and delimited by Śruti.

On the contrary, for Buddhists in general and Dharmakīrti in particular, the status of Pratyakṣa is completely independent and autonomous for its' functioning, and so is Anumāna, or vice versa. As they admit only two Pramāṇas⁹, viz. Pratyakṣa (perception) and Anumāna (inference), over and above these two no other means, like Śruti or Aitihya, need to be admitted. Hence, the question of reduction or subsumption of Pratyakṣa to any other Pramāṇa simply does not arise. Even though enumeratively Pratyakṣa is prior, such a priority is not determinative of the nature and status of Anumāna. For, enumerative priorities cannot be determinative of cognitive and/or justificatory priorities. Further, since Anumāna is independent, it cannot be subsumed under or reduced to Pratyakṣa either.

ii. Meaning of Nirvikalpaka: Although both of them define Pratyakṣa in terms of Nirvikalpaka Pratyakṣa (indeterminate-knowledge) and deny Savikalpaka Pratyakṣa (determinate-knowledge) as a true case of Pratyakṣa, they differ on the nature of direct cognition itself. According to Vallabha, Pratyakṣa is Indriyātmaka (consisting of and originating from Indriyas)

only, and hence Pratyaksa-Pramā (direct-cognition), its nature and structure, is determined by the sense organs. This restrictive understanding of the meaning of Pratyaksa will not be and indeed is not acceptable to Buddhists in general and Dharmakīrti in particular. According to him, the content of cognition need not be determined by the channels (Āyatanaś /Indriyas)¹⁰, through which it is acquired. For, it is possible to comprehend directly and immediately even without Indriyas, say for example, in the case of Mānasa Pratyaksa, Sva samvedana or Yogī-Pratyaksa etc¹¹, we do not necessarily require sense organs. It is the content in its exhaustive form and characteristic way that is to be taken into account while defining Pratyaksa. By its very nature and definition of it, it is Kalpanā-apodha (free from mental construction like ideas, thoughts concepts, imagination etc) and Abhrānta (devoid of fictitious and erroneous modes of it like illusion, hallucination, dream, etc), as necessary and sufficient features of it. Generally, the true nature of it is reflected in its defining features, which will enable anybody to differentiate it from indirect (A-paroksa) cognition. And more importantly, Indriya/s are not the causal determiners of the complete nature of direct cognition, but they can open the possibility of it. Hence, they are sufficient conditions but not necessary as well. Be that as it may. For fear of digression we cannot afford to linger over this point here.

iii. Nature of Pratyakṣa: Pratyakṣa is not monotonously and restrictively to be understood, as Indriya Pratyakṣa only, as

Vallabha seems to be doing According to Dharmakīrti, Pratyakṣa is of four kinds viz Indriya, Manasa¹⁷, Sva samvedana¹³ and Yogī¹⁴ Except the first one the remaining three, seem to be neglected by Vallabha-Vedāntins, and hence the nature and treatment of Pratyakṣa at their hands seems to remain incomplete

Further, even restricting to the consideration of Indriya-Pratyakṣa, unlike Vedāntins, Buddhists hold a view that Indriyas are five and not six Manas (mind) is not an Indriya (Physical organ), but a faculty of comprehension and has independent existence, apart from the other sense organs The nature and function of Manas is not similar to our organismic physical body, it is qualitatively different altogether It is through mind that we cognise various mental states, such as pain, pleasure, aversion, attraction etc, which cannot be cognised by sense organs Secondly, Sva Samvedana too cannot be considered within the framework of Indriya Pratyakṣa, because I can cognise that I am cognizing, without the involvement of sense organs or of mind, and hence is an independent kind of Pratyakṣa Similarly, Yogī Pratyakṣa advocated by Buddhists, is neglected by Vedāntins Yogī Pratyakṣa is that kind of cognition, which enables us to know about past, present, etc and about the subtleties of existence, which are impossible to be analysed within the framework of Indriya / Manasa / Yogī Pratyakṣa

iv. Object of Pratyakṣa: Although both are of the view that

Pratyaksa enables us to comprehend reality truly, for Buddhists such a reality consists of unique, particular, momentary features (Svalaksanas), which are susceptible to change (Anityatā) and are non substantial (Anātmata) in nature. On the contrary, for Vallabha, reality is Nitya and Śaśvata (eternal and permanent). And it consists only of universal transcendental principle, i.e. Brahman. According to Buddhists, particularity and uniqueness is a built in nature of Svalaksana/s,¹⁵ i.e. ontological existence. And hence, differentiation and distinction is given to us and we do not fabricate it due to our Avidyā or Māya, as Vedāntins, it seems, attempt to argue. To discriminate and differentiate is embedded in the phenomenal/empirical world, which is not ultimately true nature of reality, is the contention of Vedāntins. It is wrong to hold that differences and distinctions don't exist ontologically, but are creations of our mind and its webs, according to Buddhists. Rather, distinctions and differentiations are given to us and determined by the very nature of ontological reality and are not always the products of our wild imagination. Hence, even though both are ready to accept Nirvikalpaka Pratyaksa, the meaning and nature of it at their hands is different. According to Buddhists Nirvikalpaka is incommunicable, not because of non existence of differentia and uniqueness, but due to generality of the nature of words. Whereas for Vedāntins, it seems, that reality is incommunicable because of its uniformly being one and hence, no differences are ultimately real. Differentiations totally being products of mind and language, the truly real is 'neti neti' i.e. not so discriminated.

v Nature of Savikalpaka Even though, *prima facie*, both deny Savikalpaka Pratyaksa as a legitimate variety of it, the meaning of Savikalpaka too seems to be different Whenever a distinction between part and whole (Aṁsa and Aṁsin) is held, it is significant conventionally (Lok Vyavahāra Sat) in the phenomenal world only and it is a product of the play of God (Prabhu lila) for Vedantins like Vallabha Whereas, Buddhists in general and Dharmakīrti in particular, argues that Savikalpaka is not a true case of Pratyaksa at all but is articulation and formulation of already cognised something directly (Adhyavaseya), and hence it is to be considered appropriately under Anumana Since for cognition of something directly and its justification, Pratyaksa is enough Such a knowledge claim of the object of cognition directly (Grahya) can alone be demonstrated or established (Adhyavaseya) by the corresponding object so acquired (Artha sarūpya) As when we try to explain and communicate about our cognition of the ultimate reality it is not a matter of dogma but requires proof (Adhyavaseya), in order to be claimed as a true piece of knowledge It is like truth but not truth, though it is not illusion (Bhrama) for that reason Thus, Savikalpaka is neither illusion nor fictitious one, but truth attempted to be captured with approximation in thoughts and words, based on our understanding of the facts conventionally (Lok Samvṛiti Sat) There is nothing like a play of God or otherwise. There is continuity experienced by us but it is relative and contextual, which could be made sense of only within the framework of change (Anityatā) and non substantiality

(Anatmatā) and not independently of the two, according to Buddhists

vi. Role of Nirvikalpaka. The true nature of Pratyakṣa is Nirvikalpaka, which according to Vedāntins like Vallabha is determined by the nature of Brahman. Brahman alone is Sat (real), Cit (conscious) and Ānanda (bliss) Svarūpa and is one and only one (Ekam). Naturally, comprehension of truth which is made available to us through Nirvikalpaka Pratyakṣa will have to be uniformly the same or identical. Moreover, the truth will be eternal and the same, since the reality captured by it is Nitya (eternal) and reliable. It is the transcendental unity preserved by the very nature of Brahman and is experienced directly. Since, Brahman manifest everywhere as Sat (real), Cit (consciousness) and Ānanda (bliss) Svarūpa, anything that is objectively experienced by us is also of that kind. Further, Brahman is Nitya (eternal), Eka (one) and Anirvacanīya (impossible to be described). Correspondingly our cognition of it, also exhibits such features of it.

In contrast to this, Buddhists also advocate primacy of Nirvikalpaka Pratyakṣa, but it is because of its uniqueness and extreme particularity. Further, they hold that the world is not constituted of transcendental principle one or many but the plurality and variety is its built in feature. On the contrary, Vedāntins like Vallabha hold a view that corresponding to our direct cognition we cannot acquire objects in the

real world (A-prāpyakārī), even though such a truth can have continued existence (Sātātya and Nairantarya), which Buddhists will not be ready to admit. According to Buddhists, as mentioned above, Svalaksana/s being momentary we can have objects corresponding to our cognitions acquired directly (Prāpyakārī). Repeatability is not only denied but is improbable as well. For Vedāntins it is not an Indriya (sense organ), which knows the object, but through sense organs it is the Buddhī (intellect), which reveals it. And, Buddhī is of three kinds viz. Sāttvikī, Rājasī and Tāmasī¹⁶, hence we have correspondingly three kinds of comprehensions. Such a classification of Buddhī and corresponding to it of cognitions cannot be held in the Buddhist framework, as according to them any Buddhī is an articulated cognition, whether it be Sāttvikī or otherwise. Nor like Vedāntins will they be ready to hold that only Sāttvikī-Buddhī is Nirvikalpaka Pratyakṣa, and the rest two are Savikalpaka. For them, anything, which is Kalpanā podha and Bhrānta, is Savikalpaka and anything, which is Savikalpaka, obviously cannot be Nirvikalpaka. The difference between Nirvikalpaka and Savikalpaka is only of the stages, the former is cognition prior to communication, while as the latter is after its' being cognised and/or communicated, and not of kinds. On the contrary, it is not stages of cognition but of its kinds, one belonging to the realm of pure nature of Brahman being comprehended and another of our day-to-day empirical facts being cognised, according to Vallabha.

vii. Process of Pratyakṣa: Lastly, but not least importantly,

coming to the process of Pratyakṣa Dharmakīrti's analysis of Pratyakṣa is not process oriented, nor does he give a detailed explanation of the process of each kind of Pratyakṣa. Rather, he is much more interested in the content and prefers to give a qualitative analysis of it. He stresses on the cognitive and justificatory (both) role of Pratyakṣa, and classifies Pratyakṣa (Nirvikalpaka) into four kinds viz Indriya, Manasa, Sva samvedana and Yogī, as mentioned above. In each case, the process is different, and hence it is redundant and futile to discuss the process of cognition carried out separately in each kind. Even when we restrict to his analysis of Indriya Pratyakṣa we find that he stresses on the object of cognition and respectively its content. And on that basis he analyses the nature of it and not on the basis of sense organs correspondingly determining its kind. For the simple reason that Indriyas alone don't shape and determine direct cognitions, hence any kind of Pratyakṣa is not necessarily determined by Indriyas. Without Indriyas, Mind (Manas) can enable us to comprehend mental states, and hence, Manasa Pratyakṣa is a separate category of Pratyakṣa. Similarly, in case of Sva samvedana, we cognise that we are cognizing i.e. cognition of cognitive process / cognitive states of existence and consciousness can be explained. In Yogī Pratyakṣa, one can instantaneously contemplate, intuitively know and clearly but insightfully comprehend the future or subtleties which normally otherwise we cannot cognise with the help of sense organs or mind. Thus, in each kind of Pratyakṣa, the process of cognizing will be different. What is minimally at stake is given to know (Grahya) and someone

knows (Grahaka)¹⁷ momentarily, and at that moment they turn out to be convergent, united and are inseparable (Aikya) in fact ontologically. As the object of perception is free from discrimination and construction, so is its comprehension. Thus Nirvikalpakatva of Pratyaksa is determined by the sort of unique object that is comprehended in it.

On the other hand, in the case of Vallabha Vedānta we find a detailed discussion of the process of perception, which seems to be a synthesis of Samkhya views on the one hand, Nyaya views on the other¹⁸. In the entire analysis of Pratyaksa, it seems that it is the knower (Pramatā / Jñāta) that is at the center. For, the process of perception¹⁹ begins due to the favour of God towards Antaryāmin (inner controller / knower), which initiates (Manas) Mind. Mind becomes ready for particular action being undertaken, Manas further initiates the concerned sense organ / s (Indriyas), when a particular sense organ is favoured by Gods grace (Devatanukulyena) then only it comes into contact with the object of cognition. This results into reflection of indeterminate cognition Nirvikalpaka Pratyaksa particularly. Then, after there is interplay of the three kinds of qualities (Gunas) in the intellect (Buddhi), intellect may benefit (Anugraha) the respective sense organ either partially or totally, depending on which mental states manifest (Vṛtti) and that leads to determinate cognition (Savikalpaka). But so long as inner emotions like attachment, aversion or neutrality do not provoke (Prerana), inner and external activities like effort will not

emerge. This is necessary for actual external activity taking place in terms of acceptance or rejection or neutrality, ending into gain or loss, which is responsible for sorrow, happiness, or indifference. It means, when there is involvement of intellect (Buddhī) along with mental states (Vṛtti) it gives rise to Savikalpaka. Thus, determination with the help of form, quality, number, name etc. is due to admixture of Buddhī and Vṛtti, and not because of the object comprehended that possesses such attributes. Further, five important factors²⁰ are involved in any action including cognition, viz. Sarīra (body) as a Adhusthāna (substratum), Jīva (soul) as a Kartā (Agent), instruments (Karana) such as sight etc. external sense organs action of Prāṇa etc., Cestā (vital air), Kāla (time) and God's will called Daiva (destiny) or the inner controller (Antaryāmi) of all living beings. All the five together are the instrumental determiners/conditions, along with the Brahman, which is always a constitutive condition. When cognitive action takes place a fraction and mixture of them appropriately is done. Thus, Vallabha believes that the operation of sense organs is not possible without presiding of deities of the respective the sense organs and their grace. Further, he holds, it seems, not only we can perceive external world but even perception of self and God is possible, through Pratyakṣa.

This is totally impossible to be made sense of within the framework of Buddhism, leave apart its acceptability. For them, neither God exists nor self is real, hence perception of them is out of question. Moreover these, above mentioned,

five factors, which are the instrumental conditions and the Brahman (transcendental principle) as the constitutive condition, also cannot be accepted by any Buddhist, including Dharmakīrti. For Buddhists Anityatā, Anātmata and Duhkha is the true nature of reality. Hence, ultimately no causal and substantial / transcendental framework of analysis will help us to understand and comprehend reality directly and truly. It is Pratitya samutpada (inter connectedness), which can help to explain the nature of cognition and our knowledge of the reality, but there is nothing mystical. It is an event, which cannot be explained mechanically or totally as engineered deliberately and purposively. There is a possibility of contingency. Generally it is the external world given to us, from which explanatorily the process begins, and not by the grace of Paramatma (God) or from Antaryamin / Jnata (knower). The object of direct comprehension is not engineered or fabricated by our wild imagination completely, which has its own distinct and unique existence. But, so too I am not a passive recipient. Perception too being an event, neither an action nor a process, it neither requires any action by involvement of or initiation from any agent, human or divine. Apart from other major differences, roughly speaking, it could be said that whereas Buddhists in general and Dharmakīrti in particular present an event centric analysis of perception, on the contrary, Vedāntins like Vallabha basically put forth an agent centric analysis of it.

With this background of the discussion of similarities

and dissimilarities, we propose to inquire into the reasons behind the respective strands and for that we turn to the second section

SECTION II

Reasons Behind the Perspectival Differences:

In the last section we have dealt with the views of Dharmakīrti and Vallabha with regard to the conception of Pratyakṣa and various issues concerning it, viz definition, nature, status, role, conditions, process, kinds, etc. Now in this section, I shall attempt to inquire into why such similarities and dissimilarities are noticeable. At the outset it is clear that Dharmakīrti being chronologically prior to Vallabha, some considerations of Pratyakṣa are bound to be originated in his analysis and the latter being influenced by the former, however unknowingly it may be. Further, it is not altogether impossible that Dharmakīrti's some views are borrowed or brought in by Vallabha, if not directly by front door at least by back door, even though the former belongs to a non Brāhmanical tradition. It was a normal practice, as evident in the classical period of Indian history of ideas. It was never considered as wrong to accept whatever is good, even though it may be originated in the opposite camp. One can at least see influence and impact of predecessors on successors irrespective of the consideration of the camp to which one belongs. And hence, such similarities are often noticeable, and to this trend perhaps even Vallabha is not an exception. That is why he retained the analysis of Nirvikalpa pratyakṣa

as a core of ultimate reality to be cognized directly through Pratyaksa and its primacy over Savikalpaka. Nonetheless, their analysis and interpretations of it differ due to their differential ontological strands and influence of their respective predecessors. Let us try to investigate into them briefly in what follows.

(A) Prāmānya / A pramānya Consideration. According to Buddhists in general and Dharmakīrti in particular, Aprāmānyam Svataḥ (non reliability is an intrinsic nature of knowledge in its origination), but it becomes reliable only when it fulfills certain conditions of its authenticity (Pramānyam Parataḥ)²¹. Exactly opposite is the view of Vedāntins, including Vallabha. According to them Pramānya is Svataḥ (knowledge by its very nature is authentic and reliable), but due to external conditions conducive to pollution and adulteration it becomes unreliable (Aprāmānyam Parataḥ)²². Thus, they disagree on the Prāmānya (authenticity and reliability of knowledge) and Aprāmānya issue. For Buddhists any piece of information gathered through cognition direct or indirect in order to be called as a knowledge claim worth the name, has to fulfill certain conditions of its reliability. Conditions of cognition and conditions of its reliability are different, and that is the basic point of difference between them. Knowledge, according to Dharmakīrti by its intrinsic nature is not authentic but after going through certain examination, it becomes viable, acceptable and reliable. Such conditions are three, viz. Avisamvādatva (non inconsistency), Avijñātārtha prakāśaka

iva (knowing something hitherto unknown) and Vyavahartavya-
 tva (pragmatic efficacy)²³ Further, such cognition in order
 to be true-has to fulfill additionally two more conditions
 in order to be true, viz Artha-kriyā-kāritva (ability to provoke
 an action) and Arthasārūpya (correspondence) Thus, what
 is viable and acceptable need not be true as well The last
 two conditions are pertinent only within the framework of
 Pratyaksa and need not necessarily be fulfilled in the case
 of indirect cognition Perceptual cognition (Pratyaksa), thus,
 it seems, has to undergo five conditions for it's being reliable,
 and prove its worth as true, but by its very nature it is
 not true in its incidence

For Vallabha-Vedāntins, as pointed out earlier, Prāmānyam
 Svātah (knowledge by its very nature is self evident) For
 its reliability it does not have to pass through any tests
 and examinations, as it is consisting of and determined by
 Brahman, how can it be unreliable? Naturally, conditions
 of cognition alone are necessary and sufficient to be considered
 Any cognition in its very emergence is not only acceptable
 and reliable but true as well, and this holds good even
 with regard to Pratyaksa Moreover, this is for the simple
 reason that for Vallabha Śruti is the primarily important Pramāna,
 such that its authenticity and reliability cannot be challenged
 and all other Pramānas (i.e. three, including Pratyaksa) have
 to function and operate only within the parameters of Śruti
 It means if there is any clash between Śruti and Pratyaksa,
 it is the former, which will supersede Its nature being authentic,

reliability of it cannot be challenged, contested and questioned critically. Such is not the case with regard to Buddhist consideration of Pramānas/Pramā/Satyatva of Pramā. Going a step ahead, Buddhists are even ready to examine the thoughts of the Buddha, they are not held to be automatically authentic and authoritative, because and in so far as they are put forth by a particular person or accepted by a tradition. One can find out one's own way disregarding the route laid down by the Buddha, in changing circumstances and situations, if it is essential. Although, circumstantial forces compel one to live, act and experience certain things in a particular way, it is not ultimately and context freely true. Neither the notion of truth is fixed and final, eternal and permanent, nor are our comprehensions of existential facts eternal and permanent. Hence, any comprehension, direct or indirect, by its very nature is liable to be unreliable (Apramāna). In contrast to this, for Vallabha in particular and Vedantins in general, cognition of the Brahman cannot be challenged, though it can be directly made available, one will have to establish such a claim within the framework of Sruti. Moreover, one will have to follow a particular way laid down by the tradition (Ātithya), then only it will be possible to have such a kind of experience of ultimate reality directly. This seems to be dogmatic, from a Buddhist point of view. Be that as it may.

(B) Pramāna Samplava V / S Pramāna Vyavastha
Vedantins are ready to advocate Pratyaksa to be given secondary status as compared to Sruti. For them, justificatory efficacy

of Śruti is much more stronger and indispensable as compared to Pratyakṣa, because one's sense organs can have limitation as well as possibility to be deceived is not large, due to involvement of mind and various states of it. So context-freely Pratyakṣa is not an independent mode of cognition and its justification is not built into it. Rather, all the Pramāṇas are cognitively important but justificatorily Śruti is primarily important to all of them. Functioning of all Pramāṇas, jointly and collaboratively is admissible to them, as they uphold Pramāṇa-Samplava. For them, Pramāṇas - their nature and number is not determined by Prameyas (knowables), but by the Pramātā (knower). Since there is one and only one object of cognition ultimately i.e. Brahman, neither the distinction between Prameyas primarily nor of Pramā derivatively, is pertinent. And in different contexts, which Pramāṇa is appropriate to be used, is decided by the choice of the knower (Pramātā). This amounts to the primacy of Pramātā over Prameya. Hence, even though they accept the four Pramāṇas, all of them jointly or distributively enable us to give knowledge of the same ultimate reality, unitarily. This is a kind of Pramā-Samplava advocated by them.

On the contrary, as pointed out earlier, Buddhists not only vehemently criticise Pramāṇa Samplava²¹ but also their ontology does not permit them to accept it. Since, according to them as pointed out earlier, number and nature of Pramāṇas are determined by Prameyas. Since, reality basically is unique, susceptible to change and essenceless, the mode to cognise

(Pramāṇa) such a reality must also be restrictive in its operation. Now, reality may either be comprehended as it is or as we conceive, construct, imagine, and communicate it to be the case. Prameya determines Pramāṇa, and accordingly for them Prameyas are more important than Pramāṇas. There are two mutually exclusive sorts of knowable (Prameyas) and there are correspondingly two mutually exclusive kinds of Pramāṇas. Their functions too are mutually exclusive and jointly exhaustive. They advocate a kind of Pramāṇa vyavasthā. Thus, there would be no circularity between Prama, Pramāṇa and Prameya relation. One kind of Prameyas (Svalaksanas) are truly real, whereas the other kind of Prameyas (Samānya laksanas) are distortively construed or imagined by us. Hence, respectively we have two sorts of Pramāṇas to know them separately. None of them alone can enable us to cognise both the sorts of knowable. And, over and above these two kinds of knowables, there is nothing real worth to be comprehended, hence they are exhaustive.

(C) Authority Text / Tradition / Person V/S Rationality:

Buddhists do not admit any God. Nor do they admit any tradition. Vedic (Śruti) or otherwise or text to be source of inspiration. Acceptance of Vedas is the crux of Vallabha's interpretation of the conception of Pramāṇas primarily and of Pratyakṣa particularly. Grace of god is an important factor to initiate the entire cognitive process and ultimately it culminates also into the cognition of Brahman (God). Our cognition of determinate world and objects in it too is dependent

upon His Will Thus, it is He who sees Himself in the true case of perception In order to experience Him indeterminately we have to do Bhakti But even though we are cognizing something in determinate mode of it, it is (Līlā) the play of God

For Buddhists, self as a substance or transcendental entity is not ontologically true Even though in our day-to day activities conventionally, we claim that we know, act, etc., such expressions are significant only in the phenomenal world (Lok Saṁvṛti Sat) Hence, truly insightfully what we cognise is that there is nothing like self or soul It is due to our ignorance, misunderstanding (Avidyā) we construct the idea of it Similarly, God does not exist, it is only an idea constructed by our mind And since both are not ontologically real, the question of content and process of their perception is redundant and futile

Further, Indriyas (sense organs) have a disposition to capture whatever comes in their acquaintance There is no need of the grace of God to inspire or initiate them to function Nor mind (Manas) and various modes (Vṛti) of it are capable of determining the nature of cognition For, the nature of cognition is determined by objects themselves, according to Buddhists, and not by our knowledge of them Similarly, in each case of perceptual cognition, mind has strictly no role to play Likewise, according to them, the contention of such Vedāntins as Vallabha that mind endowed

with Sattvikī Vṛti is disposed to indeterminate cognition is untenable one. For Buddhists determinateness and indeterminateness of cognition is not decided by mind and its Vṛti (modes) but independently of the knower context freely, by the kinds of knowables and their features. Hence, even though Savikalpaka Pratyakṣa is admitted as a kind of Pratyakṣa, Buddhists hold, it is not regulated by mind in the sense in which Vallabhas are claiming.

(D) Nature of the Ultimate Reality According to Buddhists truth is determined by its correspondence with reality (Artha sarūpya) and pragmatic efficacy (Artha kṛyā karitva) of our cognition. And Pratyakṣa enables us to have access to it. Independently of us each particular real exists, in the given moment of its existence. I may happen to chance upon it or not. Further even though we cognise every unique real through indeterminate kind of (Nirvikalpaka) perception, such a cognition can bring forth true nature of anything through Anityata (impermanence), Anatmatā (non substantiality) and Duhkha (pain and suffering), and lead to insightful understanding in the form of Nairatmya Darśana, which according to Buddhists is the true nature of reality, and that cannot be confused with Kutastha Nitya Brahman of Vallabha Vedantins.

(E) Determinism V/S Indeterminism Vallabha Vedantins it seems are attempting to give a causal analysis of perception, which cannot be accepted by Buddhists. One can

discuss context-free conditions but not contextual causes, as they will be determined by situations. For Buddhist philosophers in general and Dharmakīrti is particular, the role of Pratyayas is predominant in Pratyaksa. Pratyayas are of four kinds viz Ālambana, Adhipati, Samānāntara and Hetu (Sahabhu). All of them are necessary and sufficient conditions of perception of any kind. Ālambana (object of cognition / sensation) unless there is something to cognise, the very possibility of perceptual cognition will not arise. Adhipati (capacity to cognise / receptive disposition) unless there are appropriately receptive sense organs, there can be no perceptual cognition either. Samānāntara (necessity to co exist or have parallel existence of the two) unless both the object of cognition (Grāhya), which has a disposition to impress and the receptive mechanism (Grāhaka), which has a disposition to capture impressions, simultaneously exist at least for one moment, there cannot be any perception. And lastly, Hetu / Sahabhu / Sahakāri Pratyayas are those auxiliary factors like light etc., which open the possibility of occasioning / incidence of cognition in a transparent way in any context of direct cognition. All the four Pratyayas jointly contribute to perceptual cognition, but they cannot be misunderstood as causes. Dharmakīrti frankly admits direct-cognition of reality and uniquely particulars to be objects of perceptual cognition. But such objects exist independently of the knower. Reality exists in its own way and is neither dependent on or determined by our knowledge and thoughts. Perceptual cognition, according to him, is private in its incidence but that does not deprive it from its objectivity. Pratyayas

are common general conditions of incidence of perceptual cognition. But Pratyayas are non-causal and non-intentional in nature. We cannot go into the details of this issue here.

(F) Use of Knowledge: Lastly, Dharmakīrti emphasises that Pratyaksa enables us to have direct cognition, but in it Heyopādeyatā (critical discrimination) is involved on the one hand and Samyaktva (insightful comprehension) on the other, in order to use such a cognition for Nirvana, and not merely for Duhkha Nivṛtti. Perception for humans is not a passive reception of states of affairs mechanically. Rather, human beings can use their freedom to cognise directly and immediately through acceptance and rejection (Heya and Upādeya) of what is given. It is not determined by mind or subjective contextualities. Rather, it is oriented towards Nirvana (emancipation). It is not saddled negatively only into Duhkha Nirodha, but positively leads to Nirvana, which seems to be contrary to Vedantic conception. According to Vedantins like Valiabhā, such knowledge itself is Mokṣa, which is opposite side of Duhkha Nivṛtti.

Further, capacities of human cognition are not determined by God's grace or human psychological attitudes, but human beings are rational and able to discriminate between good and bad, right and wrong, etc., on the basis of proper goals and aspirations of life on the one hand and the means to be used for their realization, on the other. Dharmakīrti stresses on Jñāna (cognition) as an important avenue of emancipation.

for human beings and Pratyaksa plays an important role in it. It is authority, which is challenged by rationality. Experience directly is much more important than traditional blind and fixed regulations, which Vallabha-Vedāntins seems to be stressing on. Neither Bhakti nor Śruti as explained by Vedāntins is essential for making sense of one's life and experiences in it. No prior experience, mine or someone else's, is essential and inevitable to make sense of direct experience of truth, is clearly and properly pointed out by Dharmakīrti.

Thus, Dharmakīrti's analysis of Pratyaksa appears to be more rational than traditional. Vallabha is trying to keep himself within the boundaries of tradition and testimony of the Vedas, hence attempting a kind of synthesis - prevalent thoughts of Brāhmanical traditions within the framework of Vedānta. It is a unique attempt of synthesis, but we cannot deal in this paper with its significance in the History of Ideas.²⁵

Notes and References:

- 1 Whenever one attempts to study Buddhist logic and epistemology, Dinnaga and Dharmakīrti are said to be the founders of the systematic account of it. Although within the Buddhist camp, Nāgārjuna is said to be the founder of Mahayana Buddhism and hence he has established it systematically as an independent philosophical system. Yet proper analysis and theories of logic and epistemology are dealt with starting from Dinnaga only. There are differences of opinion amongst Dinnaga and Dharmakīrti. But,

in the present context, we cannot dive deep into the controversy between Dinnaga and Dharmakīrti. Nor can we hope to concentrate on the conceptual changes historically or otherwise within the Buddhist tradition with regard to Pratyakṣa. To investigate into such intra school controversies lies outside the scope of the present paper.

2 If one compares later Buddhist scholars after Dharmakīrti on Pratyakṣa, say for example Dharmottara, Prajñākara Gupta, Manoratha Nandin, Moksakara Gupta, Santaraksita, Kamalsila, Vinatadeva, etc. one finds that at least for 5 to 6 centuries the impact of Dharmakīrti's views is clearly seen. Dharmakīrti appears to be a predominant and influential philosopher such that not only within Buddhist camp after him but even non Buddhist traditions like Nyaya, Vedānta, Sāṃkhya, Jainism etc. his views were brought in, if not directly borrowed, at least by back door. This is noticeable to such an extent that later on almost in all the non Buddhist traditions some or other concept, idea, notion etc., is attempted to be brought in. For example Savikalpaka Nirvikalpaka disjunction of Pratyakṣa pioneered by Buddhists seems to have attracted attention of all the later traditions.

3 Although Śaṅkarācārya is the earliest founder of the systematic philosophical tradition of Vedānta, Vallabha has attempted to save Vedānta from its onslaught from Mohammedans and Pauranic traditions. We are told that it is he who revived Vedānta from socio political upheavals and tried to bring back the original status of philosophical thinking and living mode of life and practices to Vedānta. Please see in this context, *A History of Indian Philosophy*, Dasgupta, S N, Vol No IV pp 371-81.

- 4 Buddhist Conception of Prameya', Chunchore, M R (Forthcoming)
- 5 Kalpanapodham abhramtam pratyksam / Nyaya Bindu, Dharmakīrti, p 8
- 6 Prasthana Ratnakara pp 6 20
- 7 Sṛu pratyakṣam atihyam anumānam catustayam / Ibid, II u 9
- 8 Ibid II u 12
- 9 Dvividham samyag jñanam / pratyakṣam anumānaśca / Nyaya Bindu, Dharmakīrti, pp 7 8
- 10 Ibid pp 8 13, See also Pramāna Vārtika, Dharmakīrti, Ch II, K 191 172 pp 158 72
- 11 Nyaya Bindu, Dharmakīrti, pp 12 20
- 12 Ibid, p 13
- 13 Ibid, p 14
- 14 Ibid, p 14
- 15 Manam dvividham Viśaya darvidhyat / Pramāna Vartika, Ch II K 1 pp 98 101
- 16 Prasthana Ratnakara pp 127 130
- 17 The meaning and interpretation of the word 'Grahya' and 'Grahaka' at the hands of Buddhism is different from all other Indian philosophical traditions especially Nyaya. We cannot deal the details of it in the present paper
- 18 A History of Indian Philosophy, Dasgupta, S N Vol No IV pp 336 70
- 19 Ibid, pp 147 8
- 20 Ibid, Introduction pp 65 66
- 21 Pramāna Vārtika, Dharmakīrti, Ch I pp 319
- 22 A Critical survey of Indian Philosophy, Sharma, C D pp 377 85
- 23 'Dharmakīrti on Criteria of Knowledge', Chunchore, M R Indian

24 'Pramana Samplava V/S Viplava a Glimpse into Nyaya Buddhist Controversy', Chinchore, MR Santaraksita His Life and Works, Tibet House, Delhi, p 41 55

25 I am thankful to Sri Sharad Goswamiji for inviting me to the Seminar and giving me a chance to write this paper I am also grateful to all the participants in the Seminar, who have asked me questions, which has enabled me to modify my views and provided impetus to write this paper

+

संगोष्ठ्युत्तरलेखन

गो.श्या.म.

डॉ मंगलाजी चिचोरेके, आचार्य धर्मकीर्तिक विचार और वाल्लभ वेदान्तके प्रत्यक्षप्रमाके स्वरूप विषय और प्रामाण्य के तुलनात्मक विमर्शके बारेमे, प्रस्तुत आलेखपत्रमे लेखिकाका प्रतिपाद्य विषयका गम्भीर अध्ययन तथा तुलनात्मक विमर्शकी आदर्श रीति प्रकट हुयी है. तदर्थ विचारगोष्ठीमे सहभागी बननेवाले सभी निश्चयेन उपकृत हुवे है

फिरभी मेरे कुछ विचार इस संगोष्ठ्युत्तरलेखनमे मै भी अवश्य प्रकट करना चाहूंगा

इतनी बात तो विलकुल स्पष्ट है कि वाल्लभ वेदान्तकी चाहे तत्त्वमीमासा हो, प्रमाणमीमासा हो अथवा धर्ममीमासा हो वह श्रुति आदि शास्त्रोंके 'वचनोंपर मुख्यतया इसीलिये अवलम्बित होती है क्योंकि वाल्लभ वेदान्त

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यका मूलतः शास्त्रव्याख्यारूप चिन्तन है वह उनका कोई मौलिक चिन्तन नहीं. अतएव विदुषी मगलाजीका यह कहना कि "Thus, Dharmakīrti's analysis of Pratyakṣa appears to be more rational than traditional Vallabha is trying to keep himself within the boundaries of tradition and testimony of the Vedas" तो इस विधानके साथ तो किसी भी तरहकी असहमति प्रकट करनेका कोई प्रश्न ही नहीं उठता यह तो हमें हृदयेन धन्यवादप्रदानाई प्रशंसा ही लगती है साथ ही साथ यह स्पष्टीकरण अवश्य देना चाहूंगा कि आचार्य धर्मकीर्तिकी 'रेशनल् एनॅलसीस्' यदि उनकी स्वयंकी हो तो उसका बुद्धमतके रूपमें प्रामाण्य अस्वीकार्य हो जायेगा यदि वह बौद्ध मतकी सीमाके भीतर दी गयी बौद्ध अवधारणाओंकी तार्किक उपपत्ति हो तो परम्पराप्राप्त बौद्ध मतको आचार्य धर्मकीर्तिनी भी भगवान् बुद्धके उपदेशोंके शब्दप्रामाण्यके आधारपर ही समझ-स्वीकार कर उसका युक्तिओसे उपपादन करना चाहा होगा तब तो वाल्लभ वेदान्तसे इस अर्थमें उनका कोई विशेष अन्तर सिद्ध नहीं होगा वैसे यह एक भारतीय वास्तविकता है कि परमतनिराकरणमें हम सभी तार्किक अभिगम अपना कर चलते हैं परन्तु परम्पराके प्रति अपनी निष्ठा तो परम्पराप्राप्त वचनराशीका — बोले या बिनबोले — स्वतः प्रामाण्य मान कर ही क्योंकि, स्वाभाविकरूपेण, बौद्ध और वाल्लभ मतोंके बीच चलती चर्चामें बुद्धवचन या वेदवचन तो प्रमाणतया प्रस्तुत नहीं किये जा सकते स्वयंके, परन्तु, परम्परागत मतको तो शब्दप्रामाण्यके आधारपर ही स्वीकारना पड़ता है भारतमें, अतएव, सभी दार्शनिकोंके अपने-अपने सम्प्रदाय होते हैं. किसी भी सम्प्रदायसे न जुड़नेवाले दार्शनिकोंकी गणना अगुलियोपर करने जानेपर अगुली ही अधिक रहेगी अगुलिपर्वोंकी आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

विदुषी मगलाजीका कहना है "It is authority, which is challenged by rationality Experience directly is much more important than traditional blind and fixed regulations, which Vallabha-Vedāntins seems to be stressing on Neither Bhaktu nor Śruti

as explained by Vedantins is essential for making sense of one's life and experiences in it. No prior experience, mine or someone else's, is essential and inevitable to make sense of direct experience of truth, is clearly and properly pointed out by Dharmakīrti ' पर मुझे लगता यह विधान अर्धसत्य है पूर्णसत्य नहीं क्योंकि आचार्य धर्मकीर्ति अपनी तर्कप्रवणता द्वारा श्रुतिआदिकी ओधोरीटिको ही चलेज कर रहे है—भगवान् बुद्ध या बौद्ध योगियोके वचनोकी ओधोरीटिको नहीं—वैसे आचार्य धर्मकीर्तिके लिये तो यह सर्वथा उचित ही था फिरभी बौद्ध योगिओके प्रत्यक्षकी वकालतमे, शायद विदुषी भगलाजी भी इतना तो स्वीकारेगी ही, कि आचार्य धर्मकीर्तिने भी—

“अविसवादन शब्देऽपि अभिप्रायनिवेदनाद् वक्तृव्यापारविषयो यो अर्थो बुद्धी प्रकाशते प्रामाण्यं तत्र शब्दस्य न अर्थतत्त्वनिबन्धनम् प्रामाण्यं व्यवहारेण शास्त्रं मोहनिवर्तनम् अज्ञातार्थप्रकाशो वा स्वरूपाधिगते पर प्राप्त सामान्यविज्ञानम् अविज्ञाते स्वलक्षणे यद् ज्ञानम् इति अभिप्रायात् स्वलक्षणविचास्त तद्वत् प्रमाणं भगवान् अभूतविनिवृत्तये भूतोक्ति साधनापेक्षा ततो युक्ता प्रमाणात् ”

(प्रमा वार्ति ११३-९)

अपने इस प्रतिपादनमे ज्ञेयाधिक अनुपेधका त्याग कर किसी विशेष प्रकारके ज्ञातामें उसके योगी होनेकी श्रद्धाके विवश ही आर्यसत्यकी चतुष्टयीको 'traditional blind and fixed regulations' की तरह स्वीकार लिया है। न केवल इतना प्रत्युत उस योगिप्रत्यक्षको निर्विकल्पक मान कर निजाभ्युपगत लोकसाधारण निर्विकल्पक प्रत्यक्षकी प्रामाणिकतापर भी सशयचिह्न लगा दिया क्योंकि योगिओको हुवा प्रत्यक्ष उनकेलिये कदाचित् निर्विकल्पक प्रत्यक्ष हो पर उस प्रत्यक्षमे अनुभूत आर्यसत्यचतुष्टयी या प्रतीत्यसमुत्पाद आदिका अविसवादि ज्ञान हमे तो उन योगिओके उपदेशोके शब्दप्रामाण्यको स्वीकारनेपर ही शक्य

बनता है, जब तक हमारे भीतर वैसा योगबल सिद्ध न हो पाये सामान्यलक्षणप्रतिपादक "सर्वं दुःख, सर्वं स्वलक्षण, सर्वं क्षणिक, सर्वं शून्यम्" सदृश शब्दोंमें अभिलप्त विधानोंको, बदतोंव्याघात हो जाता होनेसे, अभिलापससर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीतिरूपा कल्पनासे वर्जित अभ्रान्त निर्विकल्पक प्रत्यक्ष तो किसी भी असर्वज्ञ मनुष्यको हो ही नहीं सकता भूत/भावी या इन्द्रियसे अग्राह्य सूक्ष्म पदार्थोंके बारेमें योगिजनको होते प्रत्यक्षके उपदेशवचनोका न तो अर्थसारूप्य और न सफलप्रवृत्तिजननरूप अविस्वाद ही ज्ञात हो सकता है क्योंकि वह यदि सम्भव होता तो सवृत्तिसत्यकी तृतीयकोटिके अनुधावनकी अपेक्षा ही उभर न पाती। फिरभी इन विधानोंका जो प्रामाण्य मानना पड़ा है वह तो श्रद्धावश ही है तर्कवश नहीं रही बात उपदेशगत शब्दोंकी पश्चात्कालीन वस्तुमात्रकी सुखरूपता सामान्यलक्षणानुरूपता स्थिरता या द्रव्यात्मता के तार्किक अपोहन द्वारा दुःखरूपता स्वलक्षणता आदिकी उपपत्ति या परार्थानुमिति की तो वह तो वैदिक वचनोद्धार प्रतिपादित अर्थके बारेमें श्रुतिप्रामाण्यवादिओने भी प्रस्तुत की ही है यहा लक्ष्यमें रखने लायक कथा यह है कि प्रमाणवार्तिकमें "हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदको य प्रमाणम् अस्मी इष्टो नतु सर्वस्य वेदक दूर पश्यतु वा मा वा तत्त्वम् इष्टन्तु पश्यतु, प्रमाण दूरदर्शी चेद् एतान् गृध्रान् उपास्महे" (प्रमा वार्ति १।३४-३५) ऐसे तार्किक दृष्टिकोणका घण्टाघोष कर चुकनेके बावजूद न्यायविन्दुमें भी उसी गृध्राविशेष योगिप्रत्यक्षके प्रामाण्यका पार्श्वद्वारे प्रवेशन योगी पुरुषके वचनोके शब्दप्रामाण्योपजीवनके लिये करा दिया गया है क्योंकि वहा पुन तर्कके बजाय गृध्राविशेष सामर्थ्यको ही योगिप्रत्यक्षतया न केवल प्रमाण अपितु निर्विकल्पकप्रत्यक्ष भी मान लिया गया है यह —

“समाधिबलप्रभव भूतभाविबर्तमानाना यथा देवाद्यधिष्ठानप्रभावेन सत्यानि स्वप्नज्ञानानि भूतभाविविविधविषयाणि अविभ्रमाणि उत्पद्यन्ते तथैव योगबलेन ध्येयाना ज्ञानम् अतीतानागतदूरसान्तराणुभूतविषयाणा प्रकाशक ज्योतिरूपम् उत्पद्यते यथा वा भगवत शक्यमुने उपदेशो भाविदशनिमित्त-सत्योपलब्धि-मातृचेटकालक्षय-

न्यायबिन्दुविस्तारव्याख्याके आधारपर यही फलित होता है. बौद्ध मतमे योगिप्रत्यक्षके निरूपक वचनोकी प्रामाण्यरक्षाके हेतु ब्राह्मणपरम्पराकी तरह देवकृपा होनेपर स्वप्नभ्रमको भी यहा अविभ्रमतया बिरदाया गया है, मानवकी गरिमाके तुच्छीकरणद्वारा। जहां तक ऐसी भविष्यवाणियोंके प्रामाण्यका प्रश्न है तो वह तो शब्दप्रामाण्यवादी चिन्तनमे भी एक नहीं अनेक मिल ही सकती है. बिदुषी मंगलाजीका कहना है कि “Buddhists are even ready to examine the thoughts of the Buddha; they are not held to be automatically authentic and authoritative, because and in so far as they are put forth by a particular person or accepted by a tradition” इसे पूरी निष्ठासे प्राचीन बौद्धोंने स्वीकारा होता तो योगिप्रत्यक्षको निर्विकल्पक प्रत्यक्ष माननेके व्यायामकी अपेक्षा ही होनी नहीं चाहिये थी.

आज तो हम देख सकते है कि वीतरागिता या योगसमाधि, जैसे साधारण मानवको असुलभ उत्कर्ष, के बिना भी इन्फ्रारेड रेज़् अल्ट्रावायोलेट रेज़् एक्स रेज़् या हाई रेडियो-फ्रिक्वेसीस् वैब्ज् के ग्राहक उपकरणोके उपयोग करनेवाले अतिराग राग मोह द्वेष असूया से ग्रस्त गर्हित मनुष्यमें भी ये सामर्थ्य सर्वसाधारणतया प्रकट हो पाती है. ऐसी स्थितिमे इनके प्रत्यक्षको ‘योगिप्रत्यक्ष’ मानना या नहीं?

आलेखपत्रमे यह भी कहा गया है कि “capacities of human cognition are not determined by God’s grace or human psychological attitudes, but human beings are rational and able to discriminate between good and bad, right and wrong” इस निकषकी वास्तविकताकी परीक्षा तो तभी सम्भव हो सकती है, जब

कोई स्वयं अपने विवेकके बलपर मार्क्सिस् द सेड के 'डाइग् मेन एंड प्रीस्ट' कथाके नायककी तरह निर्वाणाभिमुख कलेवाली बौद्ध जीवनप्रणालीके आदर्शको ठुकरा देता हो और तबभी उसे आचार्य धर्मकीर्तिके चिन्तनके आधारपर उचित ठहराया जा सकता हो वैसे हमारे अस्तित्वका अभिन्ननिमित्तोपादानभूत भगवान् न सही, आर्यसत्योके अनुसरणार्थ, हमारे जैसा ही पुरुष, पर जो बोधिको प्राप्त कर चुका हो, उसकी कृपा तो बुद्ध-धम्म-सघके त्रिशरण लेनेवाले बौद्धोंने भी मान्य रखी ही है

ज्ञानोपयोगकी चर्चमें जो "Perception for humans is not a passive reception of states of affairs mechanically Rather, human beings can use their freedom to cognise directly and immediately through acceptance and rejection (Heya and Upādeya) of what is given" इस विषयमें अविद्यासे आरम्भ कर दुःखपर्यन्त द्वादशायतनके प्रतीत्यसमुत्पादनियमके अकुशसे स्वतन्त्र तो मानवीय प्रत्यक्षानुभूति, विवेक या स्वाधीनता हो नहीं सकती उसे ऊपरसे लादा गया नियम न मान कर मानवीय व्यक्तित्वका घटक मान चलनेपर स्वातन्त्र्यबोध अपहृत नहीं होता ऐसी वकालत करने जानेपर तो प्रतीत्यसमुत्पादनियमके सदृश ही ब्रह्मवादियोंके मतमें भी जागतिक लीलाविधानमें जो काल-कर्म-स्वभाव-प्रकृति-पुरुषका परिवेश है उसे हमारे व्यक्तित्वका घटक ही माना गया ऊपरसे लादी पराधीनता नहीं अतः जीवात्मा व्यक्तिकी अपने घटकके आधीन होनेके तथ्यके साथ ही साथ वैयक्तिक सदसद्विवेक अभिलषितफलेच्छा तदनुकूलप्रयत्न तथा फलानुभूति का स्वातन्त्र्य तो मान्य रखा ही गया है अवधेय है कि वाल्लभ वेदान्तमें अशिरूप ब्राह्मिक लीलाविधानका अद्वैत, अशोके ज्ञानेच्छाप्रयत्नफलानुभूतिके वैयक्तिक द्वैतको मिथ्या मान कर नहीं प्रत्युत परमार्थ सत्य मान कर प्रस्तावित किया गया है इसकी तुलना ईसा मसीहके प्रसिद्ध उद्गार, जिसे बायबलके पुराने ईसाई अंग्रेजी-अनुवादक "The kingdom of God is within you" की पदावलीमें प्रस्तुत करते थे, उसके उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है परमेश्वरका ऐसा स्वरूप

तो वाल्लभ वेदान्तकी धारणासे अधिक सनिकृष्ट था इधर अब बायबलके विद्वान् ईसाके उद्गारका वास्तविक अंग्रेजी अनुवाद “The kingdom of God is among you” मानने लगे हैं मुझे लगता है यह बौद्धोके भगवान्की धारणाके अधिक सनिकृष्ट है इसे ही वेदोपनिषदोकी पदावलीमे देखना हो तो “अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानाम् एकः सन् बहुधा विचारः अन्तःप्रविष्टः कर्तारम् एतत् त्वष्टार रूपाणि विकुर्वन्त विपश्चिः सहैव सन्त न विजानन्ति देवाः” (तैत्ति आर ३।१।१-५) उपलब्ध होती है इस ऐसे भगवान्के पराधीन होनेमे विप्रतिपत्ति तो द्वैतमोहकी भ्रान्तिके वश ही हो सकती है क्योंकि ऐसा ब्रह्म परमात्मा भगवान् जीवात्माके अपने ‘स्व’की परिधिसे बहिर्भूत हो तो हमारी स्वाधीनताके विलोपका प्रसंग उठ सकता है यह तो ‘द किंग्डम् आफ् गोड इज् विदिन् यू’ वाला उद्घोष है

बौद्ध मतमे प्रत्यक्षप्रमाके उत्पन्न होनेकी प्रक्रिया नियत कारणोसे जन्य न हो कर चतुर्विध—आलम्बन अधिपति समनन्तर तथा हेतु—प्रत्ययोका सायोगिक सघातरूप माना गया है इस सन्दर्भको विदुषी मगलाजीने बहुत अच्छे ढंगे उभारा है वे कहती है

“unless both the object of cognition (Grāhya), which has a disposition to impress and the receptive mechanism (Grahaka), which has a disposition to capture impressions, simultaneously exist at least for one moment, there cannot be any perception And lastly, Hetu / Sahabhu / Sahaka -riPratyayas are those auxiliary factors like light etc , which open the possibility of occasioning / incidence of cognition in a transparent way in any context of direct cognition All the four Pratyayas jointly contribute to perceptual cognition, but they

cannot to be misunderstood as causes Dharmakīrti frankly admits direct cognition of reality and uniquely particulars to be objects of perceptual cognition But such objects exist independently of the knower Reality exists in its own way and is neither dependent on or determined by our knowledge and thoughts Pratyayas are non causal and non intentional in nature "

यह वस्तुतः बौद्ध दर्शनकी बड़ी प्राञ्जल प्रस्तुति है इसके साथ, पर, मैं यह और जोड़ना चाहूंगा कि यह सारी प्रत्यक्षमीमांसा तत्त्वशास्त्रीय और प्रामाण्यशास्त्रीय है प्रत्यक्षानुभूति केवल मानव प्राणीके एकाधिकारवाली अनुभूति तो है नहीं हम डारविन्के विकासवादको माने या न माने पर इतना तो ध्रुव निश्चित है कि एककोशीय जीवकणसे लेकर अनेक इन्द्रियोवाले जटिल बहुकोशीय प्राणिओमें प्राथमिक प्रत्यक्ष तो स्पर्शन ही होता है साथ ही साथ बहुविध प्राणिओके भीतर अस्थिर 'आलयविज्ञान' माने या स्थिरचैतन्य 'आत्मा' मानें अथवा अपने पर्यावरणके प्रति सवेदनशील एककोशीय बहुकोशीय जीवकण (लीविंग सेल्) माने किसी भी सूत्रमें सजीव प्राणीके भीतर जिजीविषाका मोह या सहज प्रवृत्ति तो कूट-कूट कर भरी हुयी है अतएव जीवनार्थ अपने बाह्य पर्यावरणको स्पर्शद्वारा जान कर खाद्य हो तो खा कर अथवा मारक या खादक हो तो वहासे सक-भाग कर प्राणी बचना चाहता है इस प्रक्रियामें स्पर्शन प्रत्यक्षके अपर्याप्त सुक्षादायी होनेके कारण ही प्राप्यकारी/अप्राप्यकारी जो भी मानो ऐसी चक्षु प्राण और श्रवण इन्द्रिया प्रस्फुटित हुयी हैं परन्तु दूरे ही देख-सूँघ-सुन लेना भी अपनी जिजीविषाकेलिये पर्याप्त सिद्ध न होनेके कारण ही स्पृष्ट दृष्ट आघ्रात श्रुत और अन्तमें आस्वादित बाह्यार्थोंकी स्मृति और तदर्थ संस्कार की भी अपेक्षा प्रत्यभिज्ञानके हेतु प्राणिसृष्टिमें उभरी अन्तमें यही प्रत्यभिज्ञा ही और आगे बढ़ कर अनुमिति आदि अनेक परोक्ष प्रमाओके रूपमें

भी विकसित हुयी है

इसमे इन्द्रियोंसे उत्पन्न होती निर्विकल्पक अनुभूतिको तो यथार्थ मानना और मनुष्य आदि अनेक प्राणिओमे पनपी उन्हीं स्पर्श आदिमेसे विकसित विकल्पानुभूतिकी विविध अवस्थाओको प्रामाणिक न मानना अटपटा लगता है अर्थात् इन्द्रियोंकी अर्थक्रियाकारिताको अधिकाधिक सक्षम बनानेवाले 'व्रैन' / अहंकार मन बुद्धि या चित्त के क्रियाकलापोंको अविश्वसनीय माननेकी दार्शनिक अवधारणा मनुष्य पशुके अलावा अन्य किसी भी सरीसृप कीट मत्स्य पशु या पक्षी को मान्य हो ऐसा प्राणिसमुदायके वैज्ञानिक अध्ययन करनेपर प्रतीत तो नहीं होता मेरा कहनेका तात्पर्य यह है कि प्राणिओके बीच अपवादरूपा ऐसी अनघड़ धारणा अन्तमे इस दार्शनिक बुद्धिमान पशुको सवृत्ति(व्यवहार) और परमार्थ का द्वैत खड़ा करने बाधित करती है तथाकथित अबुद्धिमान पशुओसे अपने श्रेष्ठ होनेके दावेको बरकरार रखनेकी निरर्थक उकसाती है। वैसे मानवके श्रेष्ठ प्राणी होनेकी कथा उतनी आपत्तिजनक नहीं है जितनी कि मनुष्येतर प्राणिसाधारण निर्विकल्पक प्रत्यक्षको परमार्थ मानना—और वह मानव पशुओमे जिस बुद्धिमत्ताके कारण शक्य बनता है उस बुद्धिकी अनितरसाधारण अर्थक्रियाको मिथ्या मानना निश्चित निजमूलके उच्छेदका अविवेक लगता है

बुद्धिकी अर्थक्रिया तो यही है कि एकमेव अद्वितीय सत्, चाहे वह क्षणिक हो या चिरस्थायी, के विविध विकल्पोंको ग्रहण करना, उन्हें सस्कारात्मना धारण करना, इन्द्रियोंसे अर्थोपलब्धिके बाद शीघ्र ही स्मृतिरूपेण उभारना, उसके आधारपर उपलब्ध अर्थको उराकी हेयोपादेयताके साथ पहचान पाना, इन्द्रियार्थोंके साक्षात् उपलब्ध न होनेपर भी उनकी आसन्न उपलब्धिके हेतु परोक्षमे भी उनकी विद्यमानताके प्रति सभान होना

अपवादरूपेण घटित होती भ्रम या स्वप्न की अनुभूतियोंकी अर्थव्यभिचारिताके कारण अपनी वाछिततम बुद्धिपर आत्मविश्वास खो देना बुद्धिमान मनुष्यके

लिये अवाञ्छनीय विवेक या अविवेक ही है। यह तो कुछ ऐसी बात है कि सरकारी डाकव्यवस्थाके समानान्तर जब कानूनी प्रावधानके बिना बिनसरकारी कूरियर सर्विस शुरू हुयी तो उसके विरुद्ध निषेधाज्ञा न्यायालयमे मागी गयी और वह अदालतकी निषेध-आज्ञा सर्विस-एजेसीस्को सरकारी डाकसे न भिजवा कर कूरियर सर्विसके जरिये ही भिजवायी गयी। बुद्धिमान प्राणीका बौद्धिक विकल्पोकी तुलनामे ऐन्द्रियक निर्विकल्पक उपलब्धिका पक्षपाती होना बुद्धिका उपयोग किया बिना अशक्य ही होगा॥

परमार्थ सत्य और उसके प्रमारूप अवभासन के बारेमे बौद्धों द्वारा प्रस्तावित निकषोके मझा हुवा प्रतिपादन करते हुवे आलेखपत्रमे "According to Buddhists truth is determined by its correspondence with reality (Artha sārūpya) and pragmatic efficacy (Artha kriyā ka 'ntva) of our cognition And Pratyaksa enables us to have access to it Independently of us each particular real exists, in the given moment of its existence" विधान किया गया है इसे तो कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता यदि वाल्लभ वेदान्त या अन्य भी कोई चिन्तन इसे अपने मतवादी दुराग्रहके वश इन्कारना भी चाहे तो पुन व्यवहार और परमार्थ के द्वैतकी उलझनमें उन्हें फसना ही पड़ेगा। मुझे नहीं लगता कि इस विषयमे बौद्ध मत और वाल्लभ मत के बीच कोई गम्भीर मतभेद अत खोजा जा सकता हो यहा तो प्रष्टव्य केवल इतना ही है कि

क प्रामाण्यनिकषका बटवारा ज्ञानके अर्थसारूप्य और ज्ञेयार्थके अर्थक्रियाकारितारूप के बीच न्यायपूर्ण तरीके से क्यों नहीं किया जाता ?

ख एक ओर ज्ञेयार्थमूलक ज्ञानप्रामाण्यकी शपथ खा कर दूसरी ओर अर्थसारूप्य होनेके उत्तरदायित्वकी तरह सफलप्रवृत्तिजनक होनेका उत्तरदायित्व भी ज्ञेयार्थके बजाय ज्ञानपर ही क्यों लाद

दिया गया है? अतिशय मोहक अद्भुत या विकराल वस्तुका सहसा साक्षात्कार होनेपर ज्ञानमे रही प्रवृत्तिजननक्षमताका उपरोध या स्तम्भन हो जाता है पर एतावता वस्तुनिष्ठ अर्थक्रियाके जननकी क्षमताका उपरोध नहीं हो जाता भीरु व्यक्ति बाघको देख कर न भी दौड़ पाये तो भूखा बाघ छोड़ देगा क्या?

ग इस प्रामाण्यनिकवको या तो मानवेतरप्राणिसाधारण इन्द्रियजन्य निर्विकल्पकानुभूति या किसी योगिरूप लोकोत्तरमानवके विशेषाधिकारक सविकल्पकानुभूति के बीच ही क्यों बाट दिया गया है?

घ मानवीय बुद्धिसामर्थ्यपर इतना अधिक अविश्वास कोई स्वयं मानव हो कर कैसे प्रकट कर सकता है?

अतएव विदुषी मगलाजीका यह विधान—

“Further, Indriyas (sense organs) have a disposition to capture whatever comes in their acquaintance There is no need of the grace of God to inspire or initiate them to function Nor mind (Manas) and various modes (Vritti) of it are capable of determining the nature of cognition For, the nature of cognition is determined by objects themselves, according to Buddhists, and not by our knowledge of them Similarly, in each case of perceptual cognition, mind has strictly no role to play ”

मुझे सन्तोषदायक नहीं लगता है क्योंकि पुन इसमें हम देख सकते हैं मानवेतरप्राणिसाधारण बाह्यार्थ-ग्राहक इन्द्रियोंकी वक्राततमें मानवकी अनन्यसाधारण

बुद्धि और उसकी विविध वृत्तिओ की सामर्थ्यके साथ पक्षपाती दृष्टिकोण अपनाया गया है।

वैसे सातवे आसमानपर बैठा हुवा परमेश्वर परमार्थ हो या न हो इसी तरह प्रमाणवार्तिकके मगलाचरण विधूतकल्पनाजालगम्भीरोदारमूर्तये नमः समन्तभद्राय समन्तस्फुरणत्विये” मे निरूपित नमस्कार काने जैसा कोई भगवान् अथवा ऐसे कोई विशेष बोधिसत्व भी परमार्थत कहीं विद्यमान हो या न हो. औपनिषदिक ब्रह्म तो आत्मसवेदनगोचर “सत्यं ज्ञानम् अनन्त ब्रह्म” (तैत्ति.उप.२।१) वचनोक्त स्वरूपलक्षणबलपर सिद्ध माना गया है. निर्विकल्पक प्रत्यक्षके बलपर भी उसे “अन्न ब्रह्म इति व्यजानात्... प्राणो ब्रह्म इति व्यजानात्... मनो ब्रह्म इति व्यजानात्... विज्ञानं ब्रह्म इति व्यजानात्... आनन्दो ब्रह्म इति व्यजानात्” (तैत्ति उप ३।२-६) वचनोमे तत्तद् अर्थक्रियाकारी होनेके रूपमें सिद्ध माना जा सकता है यो कार्य-कारणभावापन्न ब्रह्मके कार्यलक्षणके बलपर भी उसे समझा सकता है. “असन्नेव स भवति अराद् ब्रह्म इति वेद चेत्. अस्ति ब्रह्म इति चेद् वेद सन्तम् एन ततो विदुः” (तैत्ति.उप.२।६) वचनोक्त ‘स्ववचननिराकृति’(न्या बि.५२)रूप वदतोव्याघात दोषोद्भावक लक्षणतया भी ब्रह्म अस्वीकार्य नहीं हो सकता.

तब अवशिष्ट रह जाता है प्रश्न : क्षणिकता और/अथवा कूटस्थस्थिरता का. बौद्धोके मतमे क्षणिकता और कूटस्थस्थिरता के बीच द्वैतका जो विकल्प जो खड़ा किया गया है उसे तो औपनिषदिक चिन्तन भी निश्चयेन मिथ्या मानेगा. पर “द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे... मर्त्यं च अमृतं च, स्थितं च यत्, सत् च त्वत् च” (बृह उप.२।३।१) श्रुतिवचनके अनुसार ब्रह्मको तो उभयरूप माना गया है. अत क्षणिकता या नित्यता दोनों ही पारमार्थिकी हो सकती है, स्वरूप और लीला के प्रभेदवश. अत ऐसे इस ब्रह्मके बारेमे तो आपत्ति उठनी तो नहीं चाहिये. यदि लॉ ऑफ़ नॉन्-कॉन्ट्राडिक्शन्के अनुरोधकी दुहाई औपनिषदिक चिन्तनके विरोधमे आपत्तिके रूपमे उठायी जाती हो तो ऐसी दुहाई देनेवालेको फिर लॉ ऑफ़ एक्सक्लुसिविटी मिडिलका

भी पालन करना पड़ेगा तब तो परमार्थ और अपरमार्थ के बीच सवृत्तिका अर्थहीन अन्तर्गड्ढ प्रस्तावित नहीं करना चाहिये अतः यदि प्रतीत्यसमुत्पन्न सभी पदार्थ क्षणिक हों तो भी प्रतीत्यसमुत्पादनियमको यदि कूटस्थस्थिर नहीं माना गया तो निर्विकल्पकप्रत्यक्षावगत क्षणिक परमार्थसत् भी असत् सिद्ध हो जायेगे। अतएव विदुषी मगलाजीका यह कहना कि "Similarly, God does not exist, it is only an idea constructed by our mind. And since both are not ontologically real, the question of content and process of their perception is redundant and futile" तो यह तो मुझे औपनिषदिक ब्रह्मकी अपेक्षा निर्माणकाय सभोगकाय और धर्मकाय रूपी त्रिविध बुद्धोके कल्पनामात्र होनेका एहसास दिलवाते है नकि औपनिषदिक ब्रह्मके

आलेखपत्रमे प्रमाणसम्प्लव और प्रमाणव्यवस्था के मुद्देपर प्रमेयविवेकावलम्बी प्रामाण्यको व्यवस्थारूप और प्रमातृ/प्रमाणके विवेकपर अवलम्बित होती प्रमेयताको प्रमाणसम्प्लवरूप माना गया है यह पुनः प्रमेयके स्वलक्षण और सामान्यलक्षण होनेका द्वैविध्य मानवीय बुद्धिने अपने अवधारणसौकर्यार्थ घड़े द्वैधीभावपर ही अवलम्बित क्यों नहीं मान लेना? क्योंकि अनेकानेक स्वलक्षणोमे एक स्वलक्षणत्वरूप सामान्यलक्षण न होनेपर उसका स्वलक्षणत्व ही सिद्ध नहीं हो पाता इसी तरह सभी तत्तत्सामान्यलक्षणतया ज्ञेय पदार्थोमे अपना-अपना विशेष स्वत्व अनुभूत न होनेपर एक सामान्यका इतर सामान्यसे प्रभेद ही सिद्ध नहीं होगा एतावता प्रत्येक स्वलक्षण सामान्यलक्षणात्मक होता है और प्रत्येक सामान्यलक्षण स्वलक्षणात्मक ही फिरभी इन दोनोंके भेदसहिष्णु अभेदरूप तादात्म्यके स्थानपर आत्यन्तिक प्रभेद तो बुद्धिकल्पित एक आपवादिक मिथ्या विकल्प है जिसे परमार्थ माननेपर बौद्ध मतमे जैसे अभ्युपगतबाध होता है ऐसे ही अपरमार्थ माननेपर भी अभ्युपगतबाध होगा

वाल्तभ वेदान्त प्रमाणसम्प्लवकारी है या प्रमाणव्यवस्थाकारी? इस प्रश्नके समाधानतया कहना चाहुंगा कि वाल्तभ वेदान्तमे क्योंकि एकमेवाद्वितीय

सत्यज्ञानान्त ब्रह्म ही विविध नाम-रूप-कर्मोंको लीलया धारण कर सृष्ट्यात्मना प्रकट हुवा है ऐसा श्रुत्यादिप्रमाणचतुष्टयीके स्वतःप्रामाण्यके (द्रष्ट "शब्दएव प्रमाण तत्रापि अलौकिकज्ञापकमेव तत् स्वतः सिद्धप्रमाणभाव प्रमाण" त दी नि प्र ११७) आधारपर माना गया है अतः जागतिक नाम-रूप-कर्मोंके ब्राह्मिक पहलु—उनका सत्यज्ञानान्तोपादानक होना आदि—या स्वयं ब्रह्म के बारेमें प्रत्यक्षको स्वतःप्रमाण माननेकी कथा तो दूर परतःप्रमाण भी नहीं माना गया है लोकमें प्रादुर्भूत ब्रह्मके नाम-रूप-कर्मोंके बारेमें प्रत्यक्ष अनुमिति शब्द आदिको परतःप्रमाण ही (द्रष्ट प्र २ प्रमा परि तर ६) माना गया है अतः लोकावगत वस्तुके लौकिक स्वरूपको जाननेको लौकिक प्रयोजनौपयिक व्यवहारको सम्पादन करनेको वाल्लभ वेदान्त श्रुत्यादिके शब्दोंके मार्गपर दौड़नेका निरर्थक व्यायाम नहीं करना चाहता अतः सुस्पष्टतया देखा सकता है कि प्रमेयप्रभेदाश्रित प्रमाणव्यवस्था वाल्लभ वेदान्तमें भी अशुभुपगत है जबकि बौद्ध मतमें तो योगिप्रत्यक्षमें अनुभूतिगोचर होनेवाले भूत भावी सूक्ष्म देवयोनि देवलोक आदि अनेक ज्ञेयार्थोंके बजाय ज्ञाताके प्रभेदरूप योगीपर अवलम्बित हो कर उसे निर्विकल्पक प्रत्यक्षतुल्य माना गया है अतः आलेखपत्रमें वाल्लभ वेदान्तके बारेमें जो मन्तव्य दिया गया कि 'Hence, even though they accept the four Pramāṇas, all of them jointly or distributively enable us to give knowledge of the same ultimate reality, unitarily This is a kind of Pramā Samplava advocated by them Prameya determines Pramāna " वह मुझे अनालोचित कथा लगती है इसी तरह प्रस्तुत आलेखपत्रमें प्रमाणोंका प्रामाण्य स्वतः होता है या परतः इस मुद्देपर भी भाट्टोंके मतमें वाल्लभ वेदान्तका जो अन्तर्भाव 'the view of Vedāntins, including Vallabha According to them Pramāṇya is Svataḥ (knowledge by its very nature is authentic and reliable), but due to external conditions conducive to pollution and adulteration it becomes unreliable (Apramāṇyam Parataḥ) ' मान लिया गया है वह भी अनवधानताप्रयुक्त है प्रस्थानरत्नाकरमें सुस्पष्टतया भाट्टोंसे पृथक् अर्धजरीती

स्वीकारा गयी है

अन्तमे वाल्लभ वेदान्तके उत्तरवर्ती होनेके कारण उसपर आचार्य धर्मकीर्तिके प्रभाव पड़नेकी बात भी मुझे बहुत गम्भीर नहीं लगती है क्योंकि कितने सारे उपनिषदोंके वचनमे ब्रह्मको एकमेवाद्वितीय सच्चिदानन्दैकरस माना गया है, भगवद्गीतामे भी “सर्वभूतेषु येन एकं भावम् अव्ययम् ईक्षते अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकं, पृथक्त्वेन तु यद् ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान् वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तद् ज्ञानं विद्धि राजसम्” (भग.गीता.१८।२०-२१) औपनिषदिक धारणाओंके अर्थदोहनमे स्वीकारा ही गया. अतएव ब्रह्मसूत्रकारको “तदनन्यत्वम् आरम्भणशब्दादिभ्यः” (ब्र.सू.२।१।१४) यो औपनिषदिक हेतुनिर्दर्शनपूर्वक प्रतिज्ञा करनी पड़ी. ब्रह्मसूत्रभाष्यरूप भागवतमे तो “स्यात् सादृश्यभ्रमः तावद् विकल्पे सति वस्तुनो जाग्रत्स्वाप्नी यथा स्वप्ने तथा विधिनिषेधता. भावाद्वैतं क्रियाद्वैतं द्रव्याद्वैतं तथा आत्मनो वर्तयन् स्वानुभूत्या इह त्रीन् स्वप्नान् धुनुते मुनिः. कार्यकारणवस्तुवैक्यमर्शनं पटतन्तुवद् अवस्तुत्वाद् विकल्पस्य ‘भावद्वैतं’ तद् उच्यते”, “मम, अंग! माया गुणमयी अनेकधा विकल्पबुद्धीन् च गुणैः विधत्ते” (भाग.पुरा.७।१५।६१-६३, ११।२२।३०) जैसी प्रमाणचतुष्टयीकी सुस्पष्ट उक्तियोंके अनुरोधवश आचार्य धर्मकीर्तिके ग्रन्थोंका अवगाहन करने या न करने दोनों ही अवस्थाओंमे ब्राह्मिक सत्की अद्वितीय एकतासे अत्यन्त पृथक्तया अवभासित होनेवाले अब्राह्मिक विकल्पोको तो मिथ्या या अपारमार्थिक माननेके अलावा कोई गति ही बच नहीं जाती. अतः लगता नहीं कि एतदर्थ आचार्य धर्मकीर्तिका प्रभाव महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके चिन्तनमें खोजा जाये. जहा सवाद खोजनेकी बात है तो वह अनुमोदनीय ही लगती है इस स्पष्टीकरणके साथ कि वाल्लभ वेदान्तमे जीवात्मा और अन्तःकरण के सघातमे घटकतया अन्तर्निहित नामात्मक शब्द एक सम्भाव्य अनुभूतिके रूपमे विद्यमान रहते हैं परन्तु रूप और/अथवा कर्म के इन्द्रियजन्य अवभासनमे वह सम्भाव्य अनुभूति बुद्धिमें सात्त्विक गुणके उद्रेकवश यथार्थतया प्रकट हो जाती है. अन्यथा केवल सस्कार या परोक्षानुभूति ही रह जाती है. बुद्धिगत राजस या तामस गुणोंके उद्रेक होनेपर वह नामात्मिका विकल्पानुभूति इन्द्रियगोचरतया

भासित होती होनेपर भी होती केवल बौद्धिक अवभासनरूपा ही

मुझे इस विषयमें ऐसी तरहका याथार्थ्य बुद्धिमें अवभासित होता है यह एक वास्तविकता है कि ब्रह्मसूत्रभाष्यमें जो यत् किञ्चित् बौद्ध मतके साथ वाल्लभ वेदान्त विचारविनिमयमें उतरा उसके बाद अत्यल्प चर्चा प्रस्थानरत्नाकरमें बौद्धोंके साथ वाल्लभ वेदान्तकी हुयी यहा मेरे लघुभ्राता चिरजीवी शरद् गोस्वामीका मैं हृदयसे आभार मानना चाहूंगा कि उन्होंने प्रत्यक्षप्रमाणपर सगोष्ठि आयोजित करके श्रीपात्सनाथ द्विवेदीजी, श्रीअम्बिकादत्त शर्माजी तथा विदुषी मंगला चिचोरेजी जैसे बौद्ध दर्शनके परिनिष्ठित विद्वानोंको आमंत्रित कर बरसोसे इन दोनों मतोंके चले आ रहे मौनव्रतको तुड़वाया

मुझे यह स्वीकार करनेमें तनिक भी सकोच नहीं होता कि इन तीनोंके बौद्ध दर्शनसम्बन्धी ज्ञानकी तुलनामें बौद्ध दर्शन या ग्रन्थों के बारेमें मेरी जानकारी तो केवल पल्लवग्राहि अध्ययनकी सी है पर “नभ पतन्ति आत्मसम पतत्रिण” न्यायके अनुसार किसी भी अवस्थामें इन दोनों मतोंके बीच आपसमें एक-दूजेके साथ मौनपालनका व्रत तोड़ने और तोड़ते रहनेकेलिये ही यह सगोष्ठ्युत्तरलेखन प्रस्तुत करना मुझे आवश्यक लगता है अत एतदर्थ विदुषी मंगला चिचोरेजी आदि सभीके सहयोगकेलिये उनके प्रति भी हार्दिक कृतज्ञताज्ञापनके साथ इस सगोष्ठ्युत्तरलेखनका यहा उपसंहार करता हूँ



अध्यक्षस्थानीय समापन वक्तव्य

प्रो वशिष्ठनारायण झा

भैयायिक लक्षण किसी बातको समझनेकेलिये बनाते है और जब लक्षण नहीं चाहते है तब सम्मुग्धाकार ज्ञानसे सन्तुष्ट होना चाहते है ये दोनोंमे फर्क है मुझे लगता है कि लक्षणकी परम्परा जब तक इस देशमे जीवित है तब तक दार्शनिक परम्परामे जीव है और जब यह परम्परा लुप्त हो जायगी तब शायद सम्मुग्धाकार ज्ञान ही रह जायगा यही कारण है कि प्रस्थानरत्नाकरकार लक्षण देते है बिना लक्षणके हम किसी वस्तुका स्वरूप हम नहीं जान सकते है इसीलिये खण्डन हो चाहे मण्डन हो यह सब शास्त्रीय प्रक्रिया विषयको समझनेकेलिये होती है और मुझको लगता है इस तरहके सेमिनार्सका यही उद्देश्य होना चाहिये कि हम एक-दूसरेके विचारोको अधिकसे अधिक समझे इसीलिये हमारी परम्पराने एक-दूसरेके मतको समझनेकेलिये एक प्रारूप बनाया है उस प्रारूपको सभीने अपनाया है वह प्रारूप है प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता और प्रमिति इन चार बिन्दुओंपर यदि सारी चर्चाएँ केन्द्रित हो जाती है तो “चतुर्षु अर्थतत्त्व परिसमाप्यते”

अब देखिये, प्रस्थानरत्नाकरमे भी वही बात है उन्होंने भी प्रथम प्रमाणप्रकरण लिया है फिर प्रमेयप्रकरण लिया है

कोई भी जब अपने दर्शनका ढांचा बनाता है तब उसके पीछे कुछ *प्रीसपोजिशन* होते हैं मुझको लगता है कि कोई भी दार्शनिक परम्परा *प्रीसपोजिशन* रहित नहीं हो सकती है और हम

दर्शनको समझनेमें तभी विफल होते हैं जब हम उसकी प्राग्धारणाओंको

अतः यदि वाल्लभवेदान्तको हमें समझना है तो इस वेदान्तके प्रीसपोजिशनस् को समझना होगा जैसे “पुरुषएव इदं सर्वं यच्च भूतं यच्च भव्यम्” इति “भूत-भविष्यद्-भवदव्यवहारदशायामपि सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वकथनेन च सर्वदा ब्रह्मेव प्रमेयम्” यह सब कुछ ब्रह्म ही है, ईश्वर है, कृष्ण है तो हमको यदि घटका प्रत्यक्ष होता है तब वह आशिक प्रत्यक्ष इसलिये है क्योंकि घटप्रत्यक्षमें हमें कृष्ण दिखलाई नहीं देता है तो अन्ततोगत्वा घटमें भी हमें कृष्णका दर्शन हो इस माईक्मे वृक्षमें हमें कृष्णका दर्शन हो तब वह दर्शन सम्पूर्ण दर्शन कहलायेगा मुझे लगता है कि इस तरहसे यदि हम इन प्रस्थानोंको नहीं देखेंगे तब तक हम उनको समझ नहीं पायेंगे

प्रमाणके बारेमें वात्स्यायनमें भी वही बात है वहां भी प्रमाण भावप्रधान भी है और कारणप्रधान भी है जब भावव्युत्पत्ति है तब उसका अर्थ ज्ञान होता है जब कारणव्युत्पत्ति है तब

गो श्या म : अतएव हमारे यहां ‘कृष्ण’ शब्दकी परिभाषामें यह कह दिया गया है कि “‘कृषि’-‘भू’वाचक शब्दों ‘ण’-‘च’ निर्वृत्तिवाचक तयो ऐक्य पर ब्रह्म ‘कृष्ण’ इति अभिधीयते” तो घटमें घटकी जो सत्ता है वह ‘कृष्’ है और उससे जलपान करनेका जो मझा आ रहा है वह ‘ण’ है

वी एन् झा : तो मेरा कहना यह है कि हमें सबसे पहले उन प्राग्धारणाओंको समझना चाहिये कि जिसके आधारपर वह दर्शन खड़ा है दूसरे क्रममें हमें यह देखना चाहिये कि उन प्राग्धारणाओंका आधार क्या है जैसे कि आपने शास्त्रके कुछ वचनोंको लिया और उसके आधारपर

कोई प्राग्धारणा बनाई अब आपको उस प्राग्धारणाके अनुसार सारे प्राकार खड़े करने है यह कार्य सभी दर्शन करते है अब आप किसी दूसरे दर्शनको ले ले उनकी प्राग्धारण तो वह नहीं है जो आपने अपने दर्शनमे सोची है जैसे नैयायिकको ले ले नैयायिकतो अनेकसे अनेककी उत्पत्ति मानता है न्यायमे तो प्रारम्भमे ही अनेक है अतः जब तक हम नैयायिककी इस सोचका अवगमन नहीं करते है तब तक हम न्यायदर्शनको नहीं समझ पायेगे कि वह ऐसी बातें क्यों करता है

समस्या कहा होती है कि नैयायिक तो वेदको भी प्रमाण मानता है जिसके आधारपर आप एक तत्त्वकी बात लाते है नैयायिक अब क्या करेगा वह कहता है कि वेद दो तरहका होता है एक यथार्थकथनपरक और एक *मेटाफोरिकल्* लौकिक भाषाके बारेमे भी हमारा ऐसा ही अनुभव है लौकिक भाषा भी दो तरहकी होती है एक तो तथ्यका निरूपण करनेवाली होती है और दूसरी *मेटाफोरिकल्* होती है अब वेदमे कौनसे वचन *मेटाफोरिकल्* है कौनसे वचन वर्णनात्मक है उनका पृथक्करण जब तक हम नहीं कर पायेगे तब तक हम यह नहीं समझ पायेगे कि नैयायिक वेदको प्रमाण मानते हुवे भी यह क्यों कहता है कि अनेकसे अनेककी उत्पत्ति हुयी है तो वह क्या करता है “पुरोहितो यमराजा सवृत्त” तो ये जितने *आइडेन्टिटी स्टेटमेन्ट्स* है, एकत्वबोधक वाक्योंको अर्थवाद समझकर उसकी व्याख्या उस तरह करेगे इसमे आप आपत्ति नहीं कर सकते हे क्योंकि आप भी वही करते है आप यदि कहते हे कि वेदकी भाषा एक ही है, उसमे *मेटाफर* है ही नहीं तब तो आपका कहना सही हो सकता है लेकिन आप तो यह नहीं कहते हे आप भी यह मानते हे कि भाषा *मेटाफोरिकल्* भी होती है और वस्तुवर्णनात्मक भाषा भी होती है तो जब तक इस *डायकोटोमी*को आप स्वीकारते हे तो यह छूट उनकेलिये भी है कि वो किसको

अर्थवाद समझे और किसको वर्णनात्मक

अतः आपने सही कहा कि इन चर्चासत्रोंमें हमें यह देखना चाहिये कि कौन क्या कह रहा है और वह कहनेके पीछे उसके प्रीसपोजिशन क्या है

गो श्याम : आपकी बातमें सुर मिलाते हुये मैं एक अपनी बात कहना चाहता हूँ कि हम जब सन्ध्याके बाद ब्रह्मयज्ञ करते हैं तब उसमें केवल ब्रह्मसूत्रका ही पाठ नहीं करते हैं 'प्रमाण-प्रमेय-सशय प्रयोजन-दुष्टान्त-सिद्धान्त-अवयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभासच्छल-जाति-निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानाद् निश्चयसाधिगमः' इन न्यायसूत्रोंका भी क्रमशः पाठ करते हैं क्योंकि ब्रह्मका वह भी एक पहलु है ऐसा हम स्वीकारते हैं

वी एन् झा : तो इन वचनोंके साथ हम इस चर्चासत्रका समापन करते हैं अन्तमें, सर्वसम्मतिसे मैं यह विश्वासके साथ कह सकता हूँ कि यह चर्चासत्र अपने उद्देश्यमें पूर्णतः सफल रहा है और इसी तरह चर्चासत्रकी यह शृंखला ईश्वरकी कृपासे आगे बढ़ती रहे

+

सगोष्ठ्युत्तरकृतज्ञताज्ञापन

गो श्याम

प्रस्तुत प्रत्यक्षप्रमाणविषयक चर्चागोष्ठीके अन्तिम सत्रकी अध्यक्षता स्वीकार

कर अतीव उद्बोधक अध्यक्षवक्तव्य प्रदान कर इस चर्चागोष्ठीको सफल बनानेवाले श्रीवशिष्ठनारायण झा महोदयका हार्दिक आभार मानना औपचारिकताके केवल निर्वाहार्थ न हो कर अपने हृदयके भावोको अनभिव्यक्त न रख पानेके असामर्थ्यवश भी है।

५

जबसे इस तरहकी चर्चागोष्ठीका आयोजन प्रारम्भ हुवा तभीसे श्रीमान् झा महोदयका सर्वविध सहयोग—किस विषयके हेतु किस विद्वान्को आमन्त्रित करना, स्वयं उनका भी सक्रिय एवं सोत्साह सम्मिलित होना, चर्चार्थ अपेक्षित स्थलका सुझाव और सुविधा जुटवा देना आदि—अनेक रूपोंमें मिलता रहा, इससे उक्तण हो पाना तो शक्य ही नहीं।

प्रस्तुत अध्यक्षीय वक्तव्यके बाद किसी तरहका वक्तव्य प्रस्तुत करना विचारगोष्ठीकी मर्यादाके विपरीत न जाता हो तो एक बात अवश्य कहना चाहूँगा

जैसाकि आदरणीय श्रीमान् झा महोदयका कहना है कि चर्चकि अन्तर्गत जिस वैचारिक प्रस्थानके साथ चर्चा चल रही हो उसके प्रीसपोज़िशनस्को समझनेकी मनोवृत्ति न होनेपर भलीभाँति चर्चा हो नहीं पाती यह वस्तुतः सभीके लिये हृदयसे अंगीकरणीय सुझाव है अतएव नैयायिकोंका प्रीसपोज़िशनस् वाल्लभ वेदान्तिओंको अवश्य ही बुद्धिगत रखना चाहिये कि मीमांस्य विषयका लक्षण प्रतिवादी समझ पाये ऐसा प्रस्तुत कर के ही फिर प्रमाण या प्रमाणों को प्रस्तुत करना चाहिये अन्यथा वादि-प्रतिवादी दोनोंके ही भीतर सम्मुग्धाकाखाली अवधारणाओंके बारेमें विवाद चलते रहनेसे किसी तरहका फलदायी विचार उभर नहीं पायेगा

दूसरी बात कि जैसे वाल्लभ वेदान्त लौकिक व्यवहारमें भाषाके अन्तर्गत अभिधा और गौणी वृत्ति स्वीकारता है वैसे ही सृष्टिके अनेक कारणभूत पदार्थोंसे अनेक कार्यभूत पदार्थोंकी उत्पत्तिकी सम्मुष्टिके हेतु न्यायमत वेदोंका प्रामाण्य स्वीकारनेके ही कारण उपनिषदोंमें जहाँ भी एकमेव अद्वितीय ब्रह्मसे सृष्टिकी उत्पत्तिका प्रतिपादन मिलता हो वहाँ गौणी वृत्तिद्वारा अभिप्रेत

तात्पर्यकी उट्टकना करना चाहेगा यह नैयायिकनीति हम वाल्लभोको भी समझनी ही पड़ेगी यदि नैयायिकोके साथ विचारविनिमय हम करना चाहते हा तो यह निश्चय ही दोनोके लिये उपकारक भी होगा ही

न्याय-वैशेषिक मतके साथ जबभी वाल्लभ वेदान्तको चर्चामे उतरना हो तो श्रीमान् झा महोदयके इन अतिमहत्त्वपूर्ण सुझावोको कदापि विस्मृत नहीं करना चाहिये

किसी भी नैयायिक या वैशेषिक विचारकर्तासे जब हम यह अपेक्षा रखते है कि वह हमारी वाल्लभ वेदान्तकी सविशेष प्राग्धारणा क्या है वह समझनेका प्रयास करे वे क्या है? वे है श्रुति स्मृति सूत्र पुराण आदि शास्त्र केवल यथार्थप्रतिपादनपर शब्दराशी होनेके कारण वाल्लभ वेदान्तमे प्रमाण नहीं माने जाते हे अपितु प्रत्यक्ष अनुमान आदि लौकिक प्रमाणोसे अवगत न होनेवाले प्रमेयके प्रतिपादनमे तत्पर शब्दराशी होनेके कारण ही प्रमाणतया मान्य किये गये है अत लौकिक प्रमाणोसे विरुद्ध जाते अभिधातृतिसे प्रतिपादितार्थका लौकिक प्रमाणोसे वाध ही सम्भव नहीं अतएव गौणवृत्तिकी कल्पनाका वहा प्रसंग ही उपस्थित नहीं होता

अब हमारी ऐसी प्राग्धारणाओको नैयायिक-वैशेषिक विद्वान् समझनेका प्रयास करे यह माग हम तभी प्रस्तुत कर सकते हैं जब न्याय-वैशेषिक मतकी प्राग्धारणाओको हम भी समझनेका प्रयास कोरे अत चर्चाकी समापनगोष्ठीमे इस बहुमूल्य सुझावका हम हृदयेन समादर करते है

अवशिष्ट रही श्रीमान् झा महोदयके इस विधानकी बात कि मीमांस्य तत्त्वके सुपरिभाषित न होनेपर चर्चामे कितना भी कालक्षेप क्यों न किया जाये, बोध तो सम्मुग्धाकार ही होगा निश्चयाकारक नहीं यह भी लौकिक विषयोकी बाबतमे अतीव स्पष्ट तथा स्वीकार्य कथा होनेपर भी जैसे प्रत्यक्षमे नैयायिकोंने योगलक्षणा प्रत्यासत्ति भी एक स्वीकारी ही है और इस योगलक्षणा प्रत्यासत्तिद्वारा प्रकट होता ज्ञान लौकिक सयोग समवाय तादात्म्य या स्वरूप आदि सम्बन्धोंके वश प्रकट होती बौद्धिक धारणाओसे घिरी वैचारिक प्रक्रियामे

जैसे सम्मुग्धाकार ज्ञान ही प्रकट कर पायेगा. तद्वत् श्रुत्यादि शास्त्रोके द्वारा प्रतिपाद्य विषयके बारेमें भी लौकिक धारणाओसे धिरी वैचारिक प्रक्रियामें सम्मुग्धाकार ज्ञान ही प्रकट कर पायेगा इसे तो स्वीकारना ही पड़ेगा. क्योंकि श्रुत्यादि शास्त्रोका अभिप्रेतार्थ क्या हो सकता है वह वाक्यार्थमीमासाद्वारा सुस्पष्टतया निर्धारित किया जा सकता है. पर लौकिक बुद्धिद्वारा अलौकिक प्रमेयके साक्षात्कारसे पूर्व वह सुनिर्धारित बोध भी सम्मुग्धाकारक ही होगा. किसी भी पदार्थकी परिभाषामें सौ-दोसौ अवच्छेदकता आदि लगा कर दिये गये लक्षण जैसे अनधीतन्याय बुद्धिमान् पुरुषके भीतर सम्मुग्धाकार ज्ञान ही प्रकट कर पाते हैं, तद्वत् ही.

अतएव भारतीय उपनिषदों और यूनानी चिन्तक सुक्रात की तर्जपर कभी न कभी यह भी स्वीकारना ही पड़ता है कि “यद् वाचा अनभ्युदितं येन वाग् अभ्युद्यते... यद् मनसा न मनुते येन आहुः मनो मतम्, तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यद् इदम् उपासते... यस्य अमतं मतं तस्य, मतं यस्य न वेद स.. अविज्ञात विज्ञानता विज्ञातम् अविज्ञानताम्” (केनोप. ४-११). उपनिषद् अपनी बात यहां समाप्त कर देता तो बात सरल हो जाती परन्तु ऐसा विधान करनेके बाद उपनिषद् यह और कहते हैं कि “इह चेद् अवेदीद् अथ सत्यम् अस्ति, न चेद् इह अवेदीद् महती विनष्टिः! भूतेषु-भूतेषु विचित्य धीरा. प्रेत्य अस्माद् लोकाद् अमृता. भवन्ति” (केनोप. १३). अतः उपनिषदेकशरण वाल्लभ वेदान्तिके पास उपनिषदोंके ऐसे विधानसे सहमत या असहमत होनेवाले सभी विचारकोंके भीतर ब्रह्मदर्शन करनेके अलावा और ऐसे मतभेदोंको भी भगवल्लीलाके सम्मुग्धाकारक भावके साथ देखनेके अलावा कोई मार्गान्तर ही शेष नहीं बचता !

परन्तु किसी भी स्थितिमें इन विचारगोष्ठियोंमें श्रीमान् झा महोदयके सौत्साह उपस्थित हो कर सर्वविध सहयोग प्रदान करनेके औदार्यको तो भगवत्कृपाका ही अनुभाव मान कर हम अपनी आत्यन्तिक कृतज्ञता ही प्रकट करना चाहेंगे. इति शम्.



॥ परिशिष्ट ॥

चक्षुका चाक्षुषविषयदेशमें प्राप्यप्रकाशकारित्व
(एक वाल्लभ दृष्टिकोण)

“चक्षुर्यत्र न गच्छति” श्रुतिरिति ग्राह्य प्रमाण परम्
श्रीकृष्ण स्वयमेत्य द्वापरयुगे चक्षु प्रकाश्योऽभवत् ।
प्राप्याप्राप्य विकाशकत्वविषये वादस्तु यश्चाक्षिणि
मच्चक्षुर्हि वृणातु तत्र स हरि सन्देहहारी परः ॥

उपक्रम :

इन्द्रियोके बारेमें, नामतः चक्षु और श्रोत्र के बारेमें, विभिन्न चिन्तनोंमें पर्याप्त मतभेद दृष्टिगोचर होता है कि ये इन्द्रिया विषयदेशमें पहुँच कर अपने विषयोको प्रकाशित करती हैं या विषयदेशमें पहुँचे बिना ही

‘प्राप्य-प्रकाशकारित्व’ पदावलीमें ‘प्राप्य’ पद “‘आप्त्’=व्याप्ती” स्वादिगणपठित धातुके साथ ‘प्र’उपसर्गके साथ निष्पन्न होनेसे ‘ल्यप्’प्रत्ययान्त प्रयोग है तदनुसार प्राप्यप्रकाशकारिताको स्वीकारनेपर चक्षुरादिद्वारा प्रकाश्य विषयके देश-कालमें इन इन्द्रियोंका विद्यमान होना अपरिहार्य हो जाता है विषय और इन्द्रिय के देश और काल में, परन्तु, मात्र सामानाधिकरण्याकी स्वीकृति जितनी छोटी सी कथा इस चर्चामें प्रमुख विवादास्पद मुद्दा नहीं है क्योंकि उनके बीच परस्पर सयोगरूपा या अन्यादृशी किसी प्रत्यासत्तिके अभावमें ये इन्द्रिया समानदेशकालवर्ती होनेपर भी विषयप्रकाशनमें सक्षम नहीं हो पाती

यह प्राप्यप्रकाशकारिताकी चर्चा ऐसा लगता है कि न्यायसूत्रकार

गौतम ऋषिने ही इदम्प्रथमतया छोड़ी होगी बादमे बाह्य चिन्तक बौद्ध-जैनोंके द्वारा इसके प्रत्याख्यानवश यह चर्चा और अधिक जोरशोरसे बढती चली गयी^१ अतएव श्लोकवार्तिककार श्रीकुमारिल भट्ट भी कहते है “सम्बद्ध वर्तमान च गृह्यते चक्षुरादिना सामान्य वा विशेषो वा ग्राह्य नातोऽत्र कल्प्यते” (श्लो वा प्र सू ८४)

अत विषय और इन्द्रिय के बीच दो द्रव्योकी तरह सयोगरूपा प्रत्यासत्ति स्वीकारनी, अथवा वर्णाकृति और दर्पणादि उपाधि की तरह विम्बप्रतिविम्बभावरूपा प्रत्यासत्ति स्वीकारनी, अथवा सस्कार और स्मृति की तरह उद्दीपक-उद्दीप्यभावरूपा प्रत्यासत्ति स्वीकारनी, अथवा त्वचा-नासिकादि इन्द्रिय और गन्धस्पर्शादि की तरह ग्राह्य-ग्राहकभावरूपा प्रत्यासत्ति, अथवा घट तथा प्रदीपादि की तरह प्रकाश्य-प्रकाशकभावरूपा अथवा आत्मचेतना और अहकार की तरह अधिष्ठान-आरोपरूपा इतरेतराध्यासरूपा प्रत्यासक्ति स्वीकारनी? ये सभी मौलिक मुद्दे हे जो एतद्विषयक विवादको पर्याप्त जटिल बना देते है

साथ हि साथ इस चर्चामे एक दूसरा गम्भीर मुद्दा यह भी उलझा हुवा है कि इन्द्रियोका सयोग धर्मिभूत विषयके साथ आवश्यक मानना या उस विषयके धर्मभूत जात्याकृति-गुण-क्रिया आदिके साथ भी क्या इसे सयोग या तत्परम्पराप्रयुक्त बाह्य सम्बन्ध द्वारा शक्य मानना अथवा अन्य ही कोई आभ्यन्तर सम्बन्ध द्वारा शक्य मानना? अर्थात् धर्मि या धर्म के बीच क्या कोई एक ही वास्तविक होता है और अन्य या तो उस अनुभूत वस्तुभूतका ऐन्द्रियक या मानसिक संपात या संयोजन अथवा व्यवहारानुगुण हमारी केवल कल्पना होती है? या फिर दोना ही वस्तुभूत होते है?

पूर्वयांक्तिक कोटिक्रम .

मानमेयरहस्यश्लोकवार्तिककार श्रीगुप्त लक्ष्मीपुर श्रीनिवासाचार्यने अपने

इस ग्रन्थरत्नमें इस विवादका संकलन सविस्तर किया है. वे कहते हैं—

“अप्राप्यकारिणी श्रोत्रचक्षुषी इति सौगताः।
चक्षुर्मात्रं विदुर् जैनाः. सर्वे अन्ये प्राप्तिवादिनः॥
एवम् इन्द्रियवृत्तान्ते विकल्पो अत्र निरूपितः।”
(मा.मे.र.श्लो.वा.२६।९)

यह काश्मीरवैभाषिक मतके आचार्य वसुबन्धुके स्वोपज्ञभाष्योपेत अभिधर्मकोश में उपलब्ध होते प्रस्तुत वचनके आधारपर भी स्फुट होता ही है—

“‘चक्षु श्रोत्र और मन अप्राप्त अर्थके प्रकाशक होते हैं. जबकि अन्य तीन घ्राणेन्द्रिय रसनेन्द्रिय और त्वगिन्द्रिय प्राप्त वस्तुओंकी प्रकाशिका होती हैं’ अब यदि चक्षुको अप्राप्त विषयका प्रकाशक माना जाये तो दूरवर्ती तथा किसी व्यवधानकी ओटमें रही भी सभी अप्राप्त वस्तुओंका प्रकाशन चक्षुद्वारा हो जाना चाहिये. इस आपत्तिके निराकरणतया यह कहा जा सकता है कि लोहचुम्बक अप्राप्त लोहधातुका आकर्षक होनेपर भी सभी लोहधातुओंको तो अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर लेता.

और वैसे तो प्राप्त विषयोंके प्रकाशनका नियम स्वीकार कर चलें तब भी ऐसी आपत्ति तो उठायी ही जा सकती है कि सभी प्राप्त विषयोंका प्रकाशन कहाँ होता है? उदाहरणतया नेत्रगत अज्जन या शलाका आदि कहाँ नयनगोचर होते हैं?

अतः जैसे घ्राण आदि इन्द्रियां प्राप्त वस्तुओंका प्रकाशन करती होनेपर भी, उनके साथ रहती सभी गन्ध आदिकी

प्रकाशिका नहीं हो पाती, इसी तरह चक्षु भी अप्राप्त वस्तुकी प्रकाशिका होनेपर भी सभी अप्राप्त वस्तुओंकी प्रकाशिका न होती हो तो क्या आपत्ति है!''^२

इस उत्तरप्रत्युत्तरमें प्रतिज्ञात अर्थकी प्रक्रिया या उपपत्ति देनेके बजाय केवल प्रतिबन्दि उत्तर द्वारा आक्षेपनिरसनकी मनोवृत्ति झलकती है. फिरभी बाह्य वस्तुओंको द्रव्य न मान कर रूपगुणकर्मोंका क्षणिक संघात मानना, अथवा उन्हें प्रत्यक्षग्राह्य न मान कर अनुमेय मानना, या उनका आन्तरिक ज्ञापितसे पृथक् अस्तित्व ही न स्वीकारना, अथवा उन्हें सद-असत्-सदसद्-उभयविलक्षण यों चारों कोटिओंसे विलक्षण संवृतिसन्मात्र मानना यों वैभाषिक सौत्रान्तिक या योगाचार अथवा माध्यमिक किसी भी दृष्टिकोणसे देखा जाये तो प्राप्य वस्तुके ही सिद्ध न होनेसे चक्षु श्रोत्र या मन की प्राप्यप्रकाशकारिता न होना बौद्ध सिद्धान्तसे सुसंगत कथा तो है ही. फिरभी बाह्यद्रव्यास्तित्ववादी नैयायिक-वैशेषिक-भाट्ट-प्राभाकरोंने इस विवादमें चक्षुकी प्राप्यप्रकाशकारिताकी उपपत्ति खोजते हुवे कुछ विशेष प्रक्रियाका भी प्रतिपादन किया है. वह ऐसे कि जो इन्द्रिय जिस द्रव्यसे निर्मित होती वह उस द्रव्यकी या उसके विशेषगुणकी ग्राहिका बन पाती है. ऐसी प्रक्रियाके ऊहके साथ उसकी उपपत्तिके कुछ हेतु भी दिये गये हैं यथा : (क)चक्षुका बाह्येन्द्रिय होना, (ख)प्रदीपप्रभाकी तरह व्यवहितार्थका अप्रकाशक होना; तथा, (ग)चक्षु इन्द्रियका तेजस होना.

यह जैसा कि 'नैयायिक' 'वैशेषिक' 'भाट्ट' एवं 'प्राभाकरों' द्वारा भी कहा गया है तदनुसार उसपर दृष्टिपात कर लेना चाहिये—

“चक्षु और श्रोत्र अपने विषयोंको पा लेनेके बाद उपलब्धिके हेतु बनते हैं, जनक होनेके साथ स्वविषयोंकी अप्राप्तिमें उपलब्धिके हेतु न बन पानेके कारण. कुम्भकार और मृत्तिका

की तरह."

१० "चक्षु प्राप्त अर्थकी प्रकाशिका होती है, व्यवहित अर्थकी अप्रकाशिका होनेसे प्रदीपकी तरह." — "चक्षु तेजस होती है, परकीय स्पर्शकी व्यञ्जिका न होनेपर भी परकीय रूपकी व्यञ्जिका होनेसे. प्रदीपकी तरह. अथवा प्रभाकी तरह सोचनेपर स्पर्शके साथ 'परकीय' विशेषणके बिना भी काम चल सकता है."

११ "बुद्धि इन्द्रियाधीन हो कर जब कोई ज्ञान उत्पन्न करती है तब उसे 'प्रत्यक्ष' कहा जाता है. इस प्रक्रियाकी उपपत्तिके हेतु जो या जैसा प्रमाणफलभाव विचार जाय उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता, हर सूरतमें विद्यमान वस्तुका ही उपलम्भ होता होनेसे. उदाहरणतया चाहे इन्द्रियोंको प्रमाण मान कर उनकी अर्थके साथ संगति मानी जाय, अथवा मनकी इन्द्रियोंके साथ संगतिको स्वीकारी जाय, अथवा केवल आत्मा ही से सब कुछ होता हुआ मान लिया जाय, सर्वथा ज्ञानको फल एवं किसी तरहके व्यापारको प्रमाणतया मानना ही पड़ता है. क्योंकि व्यापारके अभावमें फलरूप ज्ञान उत्पन्न नहीं होता. इन्द्रियोंके साथ सर्वात्मना ग्राह्यार्थका सम्बन्ध तो जुड़ता नहीं है जिससे कि प्राप्यकारी माननेके कारण सर्वार्थबोध क्यों नहीं होता ऐसा प्रश्न या आक्षेप उठाया जा सकता है. इन्द्रियोंका केवल प्राप्तिरूप सम्बन्ध ही थोड़े स्वीकारा गया है जो ऐसी बात कही जा सके! अन्यथा प्रमाका करण इन्द्रिय होती हैं ऐसा कहने मात्रसे त्वगिन्द्रियसे रूपका ज्ञान भी हो जाना चाहिये था, क्योंकि त्वगिन्द्रियको 'करण' तो माना न. जैसे प्रमाणताकी निष्पत्ति इन्द्रिय और ग्राह्यार्थ की आपसी योग्यतापर निर्भर होती है. इसी तरह प्रमाणफलके बारेमें योग्यता आदि हेतु तो स्वीकारने ही पड़ेंगे. संयोग वैसे उभयनिष्ठ होता है फिरभी उसका अन्यतराश्रित

व्यपदेश तो वाग्व्यवहारसिद्ध ही है.”

“यहां एक आशंका होती है कि जो वस्तु दूरदेशमें अवस्थित हो उसकी दूरी ऐसी स्थितिमें प्रतीत होनी नहीं चाहिये क्योंकि जब चक्षुकिरणें वस्तुदेशमें पहुंच ही गयी हों तो दूरी कहाँ रह जायेगी? जैसे त्वगिन्द्रिय जब विषयदेशमें पहुंच कर वस्तुका अनुभव प्राप्त करती है, तब वह वस्तु दूरवर्तितया अनुभूत नहीं होनी चाहिये.

इसी तरह सभी संयोग गमनक्रियावश सम्पन्न होते हैं और यह तो समीपतम समीपतर समीप दूर दूरतर और दूरतम के पूर्वापरक्रमके अनुसार ही शक्य होता है. अतः समीप और दूर अवस्थित दो पदार्थोंका एककालमें ग्रहण शक्य नहीं रह पायेगा. इसके समाधानतया यह कहा जा सकता है कि द्रष्टाके कर्मावृष्टवश भोगायतनरूप शरीरकी अपेक्षासे विषयोंकी अनुभूतिरूप जैसा भोग नियत हो तदनुसार दूरदेश अन्तराल और समीप आदि अनेक विषयोंकी एककालिक अनुभूति शक्य है. जहां तक क्रमानुसारिताके परिहारपूर्वक एककालमें होती अनुभूतिका प्रश्न है तो वहां कुछ बातें ज्ञातव्य हैं.

यहां किसी मतके अनुसार बाह्य प्रकाशकिरणों जो सभी बाह्य विषयोंको एक साथ घेरे रहती हैं, उनके साथ चाक्षुष किरणें एकीभूत हो कर एककालमें सभी समीप-दूरवर्ती विषयोंका प्रकाशन कर पाती हैं. ऐसा, परन्तु, होनेपर तो अतिदूरवर्ती व्यवहित विषयोंका भी प्रकाशन शक्य हो जाना चाहिये था.

अतः पूर्वोक्त समाधान कुछ मतोंको अग्राह्य लगता है. परन्तु नयनकिरणोंकी अतिद्रुतगामिताके कारण पूर्वापरक्रम गृहीत नहीं हो पाता ऐसी अन्य कुछ मतोंकी धारणा है.

इसे भी अन्य चिन्तक संनिवृष्ट ल शक्य

माननेपर भी हजारों योजनाकी दूरीपर अवस्थित विषयोंके बारेमें शक्य नहीं मानते हैं.

इन सारी बातोंके समाधानतया हम तो यही कहना चाहेंगे कि नयनकिरणोंसे एकीभूत बाह्य प्रकाशकी किरणें द्रष्टाके कर्मावृष्टवशात् जो दर्शन शक्य हो उसीका प्रकाशन करती हैं, अन्योका नहीं”^१.

इस तरह हमने देखा कि नैयायिक वैशेषिक भाट्ट तथा प्राभाकरों ने चक्षुर्गाह्य वस्तुका प्रकाशन विषयदेशमें चक्षुकी प्राप्तिके पूर्वक जो निर्धारित किया उसकी प्रक्रिया तथा उपपत्ति भी समझानेका भरसक प्रयास किया ही है.

आर्हत दर्शनके अनुसार, परन्तु, न्याय-वैशेषिकादिके मतोंका नेगम अर्थात्, प्रस्तुत विचार्यविषय बाह्यार्थके सन्दर्भमें कहना हो तो, ‘स्याद अस्ति’ नयमे अन्तर्भाव स्वीकारा गया है^२. अतः बाह्यार्थके केवल अस्तित्वकी धारणाका अवलम्बन करनेवाले नयको दुर्नय माना जाता होनेसे तन्मूलक धारणाओके साथ आर्हतोंका सहमत न हो पाना असहज नहीं माना जा सकता. अतः न्यायकुमुदचन्द्रोदयकार श्रीप्रभाचन्द्र इन युक्तियोंकी जो समीक्षा करते हैं उनका सारानुवाद भी यहां प्रस्तुत करना चाहेंगे :

“यह ‘बाह्येन्द्रिय’ किसे कहा जा रहा है? क्या बाह्यार्थके ग्रहणार्थ जो अभिमुख हो उसे अथवा बाह्यदेशमें जो अवस्थित हो उसे?... यदि प्रथम कल्प स्वीकारते हैं तो मनको भी बाह्येन्द्रिय मानना पड़ेगा; क्योंकि वह भी अप्राप्तकारी होनेपर भी बाह्यार्थके ग्रहणार्थ अभिमुख तो होता ही है. दूसरे कल्पको स्वीकारनेपर यह जिज्ञासितव्य हो जाता है कि नयनगोलक या नेत्ररश्मि मेंसे किसे बाह्य देशमें अवस्थित मानना?

नयनरश्मिओंको बहिर्देशमें अवस्थित माननेपर क्या उन्हें बहिर्देशमें आश्रित मानना या बहिर्देशमें केवल प्रकाशनक्रियामें प्रवृत्त मानना ? नयनरश्मिओंको बाह्य देशमें आश्रित तो स्वयं पूर्वपक्षीने भी माना नहीं है अतः अपसिद्धान्त हो जाता है दूसरे कल्प अर्थात् बहिर्देशमें प्रकाशनक्रियामें प्रवृत्त मानना इसलिये ग्राह्य नहीं लगता क्योंकि स्वयं इस तरहकी नयनरश्मिओंका अस्तित्व ही सन्दिग्ध है अतः उन रश्मिओंका विषयप्रकाशनार्थ बहिर्देशमें प्रवृत्त होना भी स्वयं असिद्ध हेतु बन जाता है नयनगोलकोंका तो बहिर्देशमें अवस्थान प्रत्यक्षबाधित ही है बाह्यार्थके देशसे असम्बद्ध, क्योंकि, शरीरप्रदेश ही नयनगोलक प्रत्यक्षतया प्रतीत होते हैं

इसके अलावा चक्षु अपने गोलक होनेके स्वभावमें या रश्मि होनेके रूपमें यहा धर्मित्वेन अभिप्रेत है ? गोलक होनेके स्वभाववश स्वीकारा जाये तो वह प्रत्यक्षसे विरुद्ध ही है प्रत्यक्ष प्रतीतिके बलपर चक्षु बाह्यार्थदेशसे असम्बद्ध शरीरके प्रदेशमें ही उपलब्ध होती होनेसे अन्यथा चाक्षुष प्रत्यक्षके कालमें पलकोंके भीतर नयनगोलक गायब हो जाने चाहिये थे यदि रश्मीरूपतया विवक्षित हो तो रश्मीरूप तो धर्म ही सिद्ध नहीं; क्योंकि, रश्मीरूप चक्षु किसी भी प्रमाणसे प्रसिद्ध नहीं होती क्योंकि नयनरश्मिओंके साधक प्रमाण प्रत्यक्ष या अनुमान तो हो सकते नहीं प्रत्यक्ष तो हो ही नहीं सकता क्योंकि ऐसी नयनरश्मि कहीं बाह्यार्थतया प्रतीत होती नहीं यदि ऐसी रश्मि प्रत्यक्षतः प्रतीत होती हो तो फिर विषादका फोड़ विषय भी नहीं रह जाना चाहिये था नीला रंग नीले रंगके रूपमें दिखलायी देता हो तब किसे विप्रतिपत्ति हो सकती है ?

^१प्रत्यक्षानुभूति इन्द्रियायक सनिकपस जन्म मानी गयी है और बाह्यार्थदेशमें विद्यमान नयनरश्मिओंके साध दूसरी इन्द्रियोंका

संनिकर्य तो हो नहीं सकता है कि जिससे वहां उन रश्मिओंका प्रत्यक्ष पैदा हो पाये. अतः अन्ततः अनवस्थादोष भी यहां आ पड़ेगा. प्रत्यक्षदर्शनके अभावमें अनुमानद्वारा भी अतएव इन रश्मिओंकी सिद्धि शक्य नहीं... एतावता रश्मिओंकी सत्ता सिद्ध करनेको जो अनुमान प्रस्तुत किया गया कि 'चक्षु रश्मिवाली होती हैं तेजरा होनेके कारण' उसका भी निरसन हो जाता है... क्योंकि यह रश्मिवत्ता गोलकरूप चक्षुकी अभिप्रेत है या तद्व्यतिरिक्त किसी वस्तुकी? चक्षुगोलकसे व्यतिरिक्त किसी वस्तुका रश्मियुक्त होना तो न केवल असिद्ध ही है प्रत्युत ऐसा कहनेसे अपसिद्धान्तका प्रसंग भी आ पड़ता है. गोलकरूप चक्षुको रश्मियुक्त सिद्ध करना हो तो पक्ष ही प्रत्यक्षवाधित हो जाता है क्योंकि नयनगोलकोंमें चमकीली प्रभा कोई दिखलायी नहीं देती.

"अब उन रश्मिओंको अदृश्य मान कर चलें तो अनुद्भूतरूपस्पर्शवती होनेके कारण प्रत्यक्षवाधके प्रसंगसे बचा जा सकता था परन्तु ऐसी रश्मि तब रूपप्रकाशक कैसे सिद्ध हो पायेंगी? क्योंकि चक्षु रूपप्रकाशक हो नहीं सकती अनुद्भूतरूपवाली होनेके कारण जलसे संयुक्त अनलकी तरह. ऐसा कोई भी तेजोद्रव्य जिसमें न तो उद्भूत रूप हो और न उद्भूत स्पर्श हो कहीं दिखलायी नहीं देता... बिल्ली आदि जानवरोंकी आंखोंमें प्रत्यक्षतः रश्मियां प्रतीत होती हैं अतः कोई विरोध नहीं, ऐसा कहना हो तो कहो परन्तु जिन जानवरोंकी आंखोंमें रश्मियां दिखलायी न देती हों उनमें रश्मियां कैसे मानी जा सकती हैं?..."

"इसके अलावा जो रश्मियुक्त पदार्थ होते हैं उन्हें बाह्यार्थके प्रकाशक होनेमें बाह्यालोककी अपेक्षा नहीं होती जैसे प्रदीपको... अतः जो हेतु एतदर्थ दिया गया कि चक्षु तेजस होनेके कारण रश्मियुक्त होती हैं वह भी सिद्ध नहीं हो पाता...

अनुमानत भी यह बाधित लगता है—जैसे कि चक्षु तैजस नहीं होती चमकीले रूप और स्पर्श से रहित होनेके कारण. जो इस तरह चमकीले रूप और स्पर्श से रहित होते हैं वे तैजस नहीं होते जैसे मृत्पिण्डादि

‘चक्षुके द्वारा अन्धकार भी गृहीत होता है अतः उसे तैजस माना नहीं जा सकता आलोकसे अन्धकार गृहीत नहीं हो पाता ठीक वैसे ही अतः तमप्रकाशक होनेके कारण चक्षुको तैजस् नहीं माना जा सकता ..

‘चक्षुको प्राप्यकारी माननेपर क्या विषय चक्षुके देश तक आता है या चक्षु विषयके देश पर्यन्त जाती है? प्रथम कल्प तो प्रत्यक्षसे बाधित है. . द्वितीय कल्पमें भी प्रत्यक्षविरोध दिखलायी देता है क्योंकि प्रत्यक्षतया विषयके प्रति चक्षुका गमन सिद्ध नहीं होता. यहाँ विरोधी अनुमान भी दिया जा सकता है कि चक्षु स्वयं जा कर बाह्यार्थके साथ सम्बद्ध नहीं होती, इन्द्रिय होनेके कारण त्वचाकी तरह ही.

‘अतः दृष्टीतिका अतिक्रमण करके चक्षुके साथ जुड़ी किसी वस्तुका विषयके साथ सम्बन्ध माननेके बजाय प्रतीतिके बलपर विषयसे असम्बद्ध चक्षु ही विषयकी प्रकाशक होती है ऐसे स्वीकारमें क्या आपत्ति है? व्यर्थ ही प्रतीतिका अपलाप करनेसे लाभ क्या !. .

‘विषयदेशमें जा कर चक्षु अर्थको छोटित करती हो तो... काच मेघ पारदर्शी यस्त्र स्वच्छ जल स्फटिक आदिके द्वारा व्ययहित यस्तुओंका या तो उपलब्ध नहीं होना चाहिये अथवा इन व्ययधानोंके बावजूद चक्षु उन व्ययहित यस्तुओंतक जाती हो तो व्ययधानरूप पदार्थोंका भान नहीं होना चाहिये, क्योंकि चक्षु वहाँसे आगे पहुँच गयी होती है इन काच आदि अवयवियोंके द्वारा प्रतिबन्ध क्यों नहीं होता? यदि इनके आपार जानक कारण चक्षुकी रश्मियाँ अर्धदेश तक जाती

हों तो कमसे कम कांच आदिसे व्यवहितार्थकी उपलब्धिके समय तो व्यवधायक कांच आदि अनुपलम्भ अवश्य ही होना चाहिये...

“इससे यह सिद्ध हुआ कि कमलके शतपत्रोंके वेधमें जैसे क्रमिकता अनुभूत नहीं होती उसी तरह समीपस्थ वृक्षकी शाखा और दूरस्थ चन्द्रमा के अनुभवमें भी वह दुर्लक्ष्य हो जाती है, यह समाधान भी निरस्त हो जाता है...

“चक्षुको प्राप्यकारी माननेपर चक्षुके विषयके बारेमें संशय या विपर्यास तो होने ही नहीं चाहियें, क्योंकि चक्षुसे गृह्यमाण वस्तुके सामान्य धर्मोंकी तरह विशेष धर्म भी दूर नहीं रह जाते होनेसे उनका संनिकृष्ट वस्तुकी तरह ग्रहण हो जाना चाहिये संनिकृष्ट होनेपर भी चक्षुके द्वारा सामान्य ही गृहीत होता है विशेष नहीं ऐसा तो कहा नहीं जा सकता”^५

जैनोके सप्तभगिमोपेत सिद्धान्तमें शाकरोका अन्तर्भाव, प्रस्तुत विचार्यविषय बाह्यार्थके सन्दर्भमें सोचना हो तो, स्याद् नास्ति” रूप सग्रहनयमें आहर्तोंद्वारा स्वीकारा गया है इससे अलग हट कर बौद्धोका अन्तर्भाव कजुसूत्राकृत, अर्थात् प्रस्तुत बाह्यार्थके सन्दर्भमें सोचना हो तो, “स्याद् अवक्तव्यम्” नयमें स्वीकारा गया है^६ यह यद्यपि अन्तिम माध्यमिकोंके मतके साथ सगत कथा नहीं लगती है फिरभी योगाचार मतकी दृष्टिसे बौद्धोंका अन्तर्भाव “स्याद् नास्ति” कल्पके अन्तर्गत अधिक सुसगत लगता है वैसे “स्याद् अवक्तव्यम्” कल्पको कोटित्रयविनिर्मुक्त माननेके बजाय चतुष्कोटिविनिर्मुक्त मान कर चला जाये तो उसमें माध्यमिक बौद्धोंका अन्तर्भाव भी शक्य हो जायेगा. शाकर वेदान्तमें मिथ्यात्व वैसे तो “सद्भिन्नत्वे सति असद्भिन्नत्वे सति सदसद्भिन्नत्वम्” (अद्वै सि मिथ्या निरु प्रक) कोटित्रयविनिर्मुक्त रूप ही माना गया है. फिरभी शाकर वेदान्तका भी अन्तर्भाव चतुर्थ “स्याद् अवक्तव्यम्” कल्पमें ही अधिक युक्ततर माना जा सकता है क्योंकि

ब्रह्मज्ञानजन्य बाधसे पहले बाह्यार्थग्राही प्रत्यक्षका व्यावहारिक प्रामाण्य माध्यमिक बौद्धोंकी ही तरह शाकर वेदान्तको अभीष्ट है परन्तु बाधज्ञानके बाद तो स्वयं विवरणप्रमेयसंग्रहकार भी शून्यताके बारेमें किसी तरहकी विप्रतिपत्ति नहीं देखते हैं “बाधप्रतियोगित्वसिद्धये तत्प्रतीतिकाले सदसद्वैलक्षण्यागीकारात् बाधाद् ऊर्ध्वन्तु भवत्येव शून्यत्व, विनष्टस्य शून्यताया कस्यापि अविवादाद्” (विव प्रमे स १।७५/डी) अतएव हम देख सकते हैं कि न केवल चक्षु और श्रोत्र इन्द्रियोंका प्रत्युत अन्त करणवृत्तिका भी बाह्य विषयदेशमें गमनपूर्वक व्यावहारिक प्राप्यकारित्व शाकर वेदान्तमें प्रतिपादित किया गया है एतावता बाह्यार्थकी परमार्थदृष्ट्या शून्यता तथा व्यवहारदृष्ट्या सवृत्तिसत्योपम व्यावहारिकसत्ता या तदपरपर्यायरूप मिथ्यात्व भी अंगीकृत है तदनुसार शाकर वेदान्तमें अविद्याकल्पित बाह्यार्थदेशमें आविद्यक बाह्यार्थकाराकारिताको सम्पन्न करने नेत्रवृत्ति तथा अन्तकरणवृत्ति दोनोंको प्राप्यप्रकाशकारी माना गया है यह सुतरा ध्यातव्य है कि शाकर वेदान्ताभिमत प्रक्रियामें यहाँ चमत्कारपूर्ण वैलक्षण्य है और अतएव बौद्ध मताभिप्रेत प्रक्रियासे यह सर्वथा विपरीत ही सिद्ध होती है एतदर्थ विवरणप्रमेयसंग्रह तथा वेदान्तपरिभाषा के ये अंश अवलोकनीय हैं—

“सर्वगत चिदात्माको आवृत कर के अवस्थित भावरूपा अविद्या ही जगत्के विविध आकारोंमें परिणत होती है वहाँ शरीरके भीतर स्थित ‘अन्त करण’खण्ड अविद्याका चिद्वर्त धमाधमसे प्रेरित हो कर नेत्रादिके द्वारा बाहर निकल कर यथाचित घट आदि विषयोंमें व्याप्त हो जानपर घट आदि आकारोंमें आकारित हो जाता है जैसे लोकमें तलायमें भरा हुआ जल उसकी भीतमें रहे छिद्रोंमेंसे बाहर यह कर नालियोंमें यहता हुआ क्यारियों तक पहुँच कर उनमें भर जाता है य क्यारिया घटुष्काण हों तो घटुष्काण, त्रिकाण हों तो त्रिकोण; और यतुल हों तो यतुल आकार भी जल ग्रहण

कर लेता है यह तथ्य है कि विलकुल तलावके जलकी ही तरह अन्तःकरण धीमे-धीमे नहीं बहता वह ऐसी तरह नहीं बहता कि अतिदूरवर्ती चन्द्र नक्षत्र ध्रुव आदि तक पहुँच ही न पाये। वह तो सूर्यकी किरणोंकी तरह तेजस होनेके कारण शीघ्र ही दीर्घप्रभाके आकारमें परिणत हो जाता है अतएव किरणोंकी ही तरह सहसा संकुचित भी हो पाता है सावयव होनेके कारण अन्तःकरण दूधकी तरह अन्यथाभावापन्न भी अर्थात् परिणत हो पाता है इस परिणतिके वश अन्तःकरण देहके भीतर और घट आदि विषयमें भी भलीभाँति व्याप्त हो कर देह, घट; और, उन दोनोंके बीचमें रहे अन्तरालमें भी अविच्छिन्न दण्डायमान हो कर अवस्थित हो जाता है यहाँ देहावच्छिन्न अन्तःकरणके भागको 'अहंकार' ख्य 'कर्ता' कहा जाता है देह और विषय के बीच दण्डायमान अन्तःकरणके भागको 'वृत्तिज्ञान' भिधा 'क्रिया' कहा जाता है इसी तरह विषयके व्यापक अन्तःकरणके भागको बाह्यार्थके ज्ञानका कर्म (=विषय) बनानेवाला 'अभिव्यक्तियोग्य' कहा जाता है इस तरह तीन भागोंवाले अन्तःकरणके अतिशय स्वच्छ होनेके कारण उसमें चैतन्य अभिव्यक्त हो पाता है यह अभिव्यक्त चैतन्य एक होनेपर भी अपने अभिव्यज्जक अन्तःकरणरूपी उपाधिके भेदवश तीन तरह निरूपित होता है - कर्तावाले भागमें घिरा चिदश प्रमाता, क्रियावाले भागमें घिरा चिदश प्रमाण, विषयगत योग्यताधायक भागमें घिरा चिदश प्रमिति यों प्रमाता, प्रमाण और प्रमिति में कोई साक्य नहीं हो पाता "

“ज्ञानेन्द्रिया—घ्राण रसना चक्षु श्रोत्र और त्वचा यों—पञ्चसंख्याक होती हैं ये सारी अपने-अपने विषयोंसे संयुक्त हो कर ही प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न करती हैं इनमें घ्राण रसना और त्वचा इन्द्रिया अपने-अपने स्थानोंपर ही रहती

हुयी गन्ध रस स्पर्श के उपलम्भ उत्पन्न कर पाती है जबकि चक्षु और श्रोत्र तो स्वतएव विषयदेश पर्यन्त जा कर अपने-अपने विषयोंको गृहीत करते हैं श्रवणेन्द्रिय भी चक्षुकी ही तरह परिच्छिन्न होनेके कारण भेरी आदिके देश तक पहुच कर उसके शब्द सुन लेती है”^{१७}

इस तरह हम देख सकते हे कि शाकर वेदान्त न केवल चक्षुकी अपितु श्रोत्र और अन्तकरण, जिसे बौद्ध दर्शनमे ‘मन’ कहा गया है, यो तीनोंको ही प्राप्यप्रकाशकारी मानता है वह भी बाह्यार्थकी कल्पितता तथा बाह्यदेशमे व्यावहारिकी विद्यमानता यो परस्पर दोनो विरोधाभासी धारणाओके समन्वयार्थ कितनी विलक्षण प्रक्रियाके अवलम्बन द्वारा प्रस्तावित यह प्रतिपादन है।

माध्व वेदान्त, परन्तु, इस प्रक्रियाका प्रत्याख्यान करना चाहता है श्रीमद्वादिराजतीर्थ अपने विवरणव्रणमे उल्लिखित अन्तकरणवृत्तिके बाह्य विषयदेशमे गमनकी आलोचना इन शब्दोमे करते है—

“विवरणकारका प्रतिपादन उचित माना जा सकता था यदि घट आदिका अधिष्ठानभूत चैतन्य घटादिज्ञानरूप होता तो, वह तो उपपन्न ही नहीं होता अतः चैतन्य यदि घटादिज्ञानरूप हो तो यह बताना पड़ेगा कि अनुभवसे विपरीत ऐसी कल्पना करनेका औचित्य क्या है? यदि दृग् और दृश्य के बीच दूसरा कोई सम्बन्ध उपपन्न नहीं होता होनेसे अध्यासरूप सम्बन्धको शक्य बनाने ऐसी धारणा प्रस्तुत कानी अभीष्ट हो तो क्या घटाकारिका वृत्तिके अध्यास न होनेपर भी उसे घटज्ञान मानना या नहीं? अध्यास न होनेकी स्थितिमें तो घटाकारिका वृत्तिसे भी घटविषयक अज्ञानकी निवृत्ति स्वीकारमें भी कोई बाधा नहीं रह जायेगी. प्रथम कल्पमें

यह भी स्पष्ट करना चाहिये कि आध्यात्मिकी घटाकारिका वृत्तिकी घटज्ञानरूपता कैसे हो सकती है? यह तो कह नहीं सकते कि घटाकारिका होनेके कारण ही, क्योंकि तब तो आवश्यक होनेसे तत्तद्-विषयाकारिका वृत्तिओंको ही तत्तद्-विषयकज्ञान मान लेना पर्याप्त होनेसे विषयाधिष्ठानभूत चैतन्यको भी ज्ञान मानना निरर्थक ही सिद्ध होगा. अन्यथा किसी एक घटको भी अपर घटका ज्ञान माननेमें भी कुछ आपत्तिजनक रह नहीं जायेगा. इसके अलावा किसी भी तरह विशेष आकारोंसे रहित ऐसे रूप संख्या सामान्य अभाव आदि विषयोंके ज्ञानोंको तो ज्ञान ही माना नहीं जा सकेगा. परोक्षज्ञानद्वारा क्योंकि चक्षु आदि इन्द्रियरूप करणोंके सहकारके बिना ही बाह्यार्थसे असम्बद्ध अन्तःकरण बाह्यार्थके आकारग्रहणार्थ सक्षम न होनेसे ऐसे ज्ञानको ज्ञान मानना शक्य नहीं रह जायेगा. जो अन्तःकरण स्वतः ही निराकार हो वह तो तत्तद्-करणरूपा इन्द्रियोंद्वारा ही तत्तद् इन्द्रियोंसे गम्य विषयोंका आकार किस या कैसी प्रणालीद्वारा ले पायेगा? तलावका जल नालीसे बह कर क्यारीमें पहुँचनेपर क्यारियोंके आकारमें आकारित हो जाता है, उस तरह क्या अन्तःकरण आकारग्रहण कर पायेगा?... तलावमें रही सीढ़ियोंके कारण भला कभी तलावका जल क्यारी तक पहुँच सकता है क्या? वह तो नालीद्वारा ही पहुँच पाता है. एतावता सिद्ध हुआ कि क्यारियोंतक यदि जलको पहुँचाना हो तो तलावके बाहर रही हुयी ही कोई प्रणाली अपरिहार्यतया अपनायी पड़ेगी. अतएव तो अन्तःकरणसे बाह्य चक्षु आदि इन्द्रियरूप पदार्थोंकी आवश्यकता स्वीकारनी ही पड़ती है और वह उचित भी है ही...

एक दूसरी बात यह भी है कि घटाकारिका वृत्ति घटविषयक अज्ञानको तो दूर कर सकती है परन्तु घटसे

भिन्न ऐसे चैतन्यके बारेमें जो अज्ञान हो उसे कैसे दूर कर पायेगी? अब यदि कहा जाये कि वही वृत्ति चैतन्यको भी अपना विषय बना लेगी तो यह वृत्ति अपनेमें अनध्यस्त निराकार चैतन्यको कैसे विषय बना पायेगी? उसके उल्लेखपुर सर बना पायेगी ऐसा कहते हो तो सर्वत्र उसीसे सारे ज्ञान उत्पन्न हो जायेंगे फिर निरर्थक ही अननुभवसिद्ध आकाराध्यासकी कल्पना करनेसे लाभ क्या?

यहा यह भी प्रष्टव्य होता है कि नीरूप चैतन्यके बारेमें चाक्षुष वृत्ति उत्पन्न कैसे हो सकती है? यदि कहा जाये कि उस घटाकारिका वृत्तिके विषयीभूत घटमें चैतन्यके अनुस्यूत होनेके कारण तो, तब तो उसमें आकाश और गुरुत्व भी अनुस्यूत होते ही हैं, सो उन्हें क्यों वह वृत्ति अपना विषय नहीं बना लेती? जैसे घट-पटके समूहावलम्बी ज्ञानके अनुव्यवसायमें घट और पट दोनों विषय बनते हैं, ठीक उसी तरह 'घट और उसके अधिष्ठानभूत चैतन्य' को मैं देख-जान रहा हूँ ऐसा अनुव्यवसाय क्यों होता नहीं? ."^६.

इस तरह हमने देखा कि विवरणव्रणकार कैसे अन्तःकरणवृत्तिकी प्राप्यकारिताकी समालोचना करते हैं वैसे तो न्यायकुमुदचन्द्रोदयकारकी युक्तियोंका भी समाधान प्रस्तुत किये बिना चाक्षुष वृत्तिके बहिर्निष्क्रमणकी कल्पना भी सहसा हृदयरुद्ध नहीं हो पाती है

दुग्धराशिवत् पानेकगम्य माधुर्यसे भरपूर अपने तत्त्वामुक्ताकलाप और उसपर स्वोपज्ञ सर्वाधिसिद्धि व्याख्यामे श्रीमान् वेकटनाथ वेदान्तदेशिकने भी इस विषयपर बोद्ध युक्तियोंकी समालोचना प्रस्तुत की है जिनमे जैन युक्तियोंका भी थोड़ा-बहुत समाधान तो झलकता ही है. फिरभी उमे पूर्ण सन्तोषकारी तो माना नहीं जा सकता है. हम देख चुके हैं कि चक्षुकी अप्राप्यकारिताके बारेमें जैन और बोद्ध दृष्टिकोण एक ही हैं. थोत्र इन्द्रियोंको, पान्तु, जैन चिन्तक प्राप्यकारी मानते हैं

और बोद्ध उसे भी मनकी तरह अप्राप्यकारी ही अतः पूर्वोदाहृत युक्तियोंके विरुद्ध श्रीवेदान्तदेशिककी प्रतियुक्तियोंका विमर्श भी यहाँ अवधारणीय बन जाता है—

प्राप्यग्राहीन्द्रियत्वाद् विमतम् इतरवत् प्राप्ति उक्तप्रकारा
वृत्ति इष्टेर् न रुन्धे विरलपटनयाद् अम्युकाचादिरञ्ज ।
नो चेद् गृह्येत योग्य समम् इह निखिल निष्फले छादकादौ
स्थैर्यं तद्योग्यभावो नहि गलति समा सन्तति त्वन्यतेऽपि ॥

इसकी स्वोपज्ञा सर्वार्थसिद्धि व्याख्यामे ग्रन्थकार कहते हैं कि बाह्य चिन्तको द्वारा यह जो युक्ति दी जाती है कि इन्द्रिया यदि देहके भीतर हों तो चक्षु और श्रोत्र द्वारा दूरस्थ विषयोंका ग्रहण कैसे उपपन्न हो पायेगा? उसके समाधानतया यह ज्ञातव्य है कि वृत्तिद्वारा सम्बन्ध जुड़ता होनेसे यह शक्य है यह शका उठ सकती है कि देहके भीतर भरी रहनेवाली वृत्ति दूरस्थ विषयोंका ग्रहण कैसे कर पायेगी, क्योंकि धर्म कभी धर्मिक बाहर तो विद्यमान रह नहीं सकता यद्यपि हैतुकगतिसे हठात्कारके साथ अप्राप्यकारितापर भार देना ही हो तोभी 'दिवीव चक्षु आततम्' ऐसे आगमिक व्यवहारस्वास्थ्यमे कोई बाधा दिखलायी नहीं देती होनेसे वृत्तिद्वारा प्राप्ति कही जा सकती है बाह्य चिन्तकोंका यह कहना कि 'स्वग्राह्य विषयके प्रकाशनार्थ चक्षुवृत्तिका नयनगोलकसे बाहर प्रसरण माननेपर, वह या तो क्रमशः एक-एक विषयका ग्रहण करते हुवे अग्रसर होगी या युगपत् सकल विषयोंका ये दोनों ही कल्प, परन्तु, दूरस्थ विषयोंकी प्राप्तिके हेतु उपपन्न नहीं हो पाते अतः मनकी तरह रूपग्राहक चक्षु और शब्दग्राहक श्रोत्र भी अप्राप्यग्राही ही होते हैं' उनकी इस धारणाके विरोधमे यह प्रत्यनुमान दिया जा सकता है कि 'प्राप्याप्राप्यत्वके विवादका विषय चक्षु अपने विषयको प्राप्त करके ही रूप आदिकी ग्राहिका बन पाती है, इन्द्रिय होनेके कारण त्वगिन्द्रियकी तरह' जो कुछ इन्द्रियद्वारा गृहीत होता है उस वस्तुका अपनेको ग्रहण करनेवाली

इन्द्रियके साथ कुछ न कुछ सम्बन्ध तो अवश्य होना ही चाहिये अन्यथा असम्बद्धका ग्रहण मान लेनेपर तो अव्यवस्था हो जायेगी यह तो ठीक है कि सभी सम्बद्ध विषयोका ग्रहण भी इन्द्रिया नहीं करती अतः वैसी अव्यवस्था तो स्वसम्बद्धार्थग्राहितावादिओके मतमें भी समानतया आपादित की जा सकती है परन्तु सूर्योदय होनेके साथ ही उसकी प्रभा जैसे सारी दिशाओमें व्याप्त हो जाती है, वैसे ही उतने ही वेगसे नयनकिरण भी यदि सर्वत्र व्याप्त हो जाती हो तो उसमें विस्मयकी कौन सी बात हो सकती है। कमलके शतपत्राके वेधमें जैसे यौगपद्यका आभास होता है वैसे ही यहाँ भी शक्य हो सकता है कुछ लोग जो कहते हैं 'चक्षुसे निष्क्रमण होते ही चक्षुकिरणे चन्द्र-सूर्यके बहुदेशव्यापी बाह्य प्रकाशसे सवलित हो कर एक पृथु अवयवी बन जाती है और इसी सम्बन्धके कारण चक्षुके खुलते ही दूरस्थ विषयका ग्रहण ओर दूरस्थ तथा समीपस्थ दोनोंका युगपद् ग्रहण भी उपपन्न हो जाता है' यह किन्तु युक्तियुक्त विधान नहीं है, चक्षुसे निष्क्रमणके बाद सौर आदि प्रकाशके साथ सवलनकी कल्पनामें गौरवदोष प्रकट होता है^१

बौद्ध मतके तर्कोंके निरसनार्थ दिये गये इस समाधानमें न्यायकुमुदचन्द्रोदयकी भी कतिपय युक्तियोका समाधान तो उपलब्ध होता है परन्तु फिरभी बहुत सारी युक्तियाँ अभी अप्रत्याख्यात ही अवशिष्ट हैं अस्तु

इस विवादमें साध्यमतीय ईश्वरकृष्णकी कारिकाओंपर उपलब्ध होती प्राचीनतर, सम्भवतः धातानेश भोजराजविरचिता युक्तिदीपिका व्याख्यामें 'कुछ' निरूपित हुआ उसे भी दृष्टिगत कर लेना उपकारक होगा, कोटिः किं अवधारणार्थं ही तदनुसार—

“बुद्धि की इन्द्रिया ‘बुद्धीन्द्रिय’ कहलाती है इनमें बुद्धीन्द्रिय होनेकी यात क्या है? कहा जाता है—शब्द आदि

विषयोंकी प्रतिपत्तिमें ये इन्द्रियां द्वाररूप होती हैं। क्योंकि अन्तःकरणकी तो बहिर्वृत्ति हो नहीं सकती। अतः बाह्य शब्द आदि विषयोंके साक्षाद् ग्रहणार्थ वह तो सक्षम हो नहीं पाता। इसलिये श्रोत्र आदि रूप साक्षाद् बाह्य विषयोंके प्रकाशनमें समर्थ कोई कारणान्तर अपेक्षित होता है। अतः ये इन्द्रियां ही एक प्रणाली बन कर अन्तःकरणको विषयग्रहण करवा देती हैं। अतः ठीक ही तो कहा कि बुद्धिको बाह्य विषयोंकी प्रतिपत्तिमें ये इन्द्रियां द्वारभूत होती हैं अतः इन्हें 'बुद्धीन्द्रियां' कहना उचित है।

बुद्धिके इन करणोंकी किन अर्थोंमें वृत्ति मानी गयी है और उनके लक्षण क्या माने गये हैं? कहा जाता है... शब्द स्पर्श रूप रस तथा गन्ध जो परस्पर भिन्न-भिन्न पांच तरहके विषय होते हैं उनके बारेमें श्रोत्र त्वचा चक्षु जिह्वा और घ्राण इन्द्रियोंद्वारा श्रवण स्पर्शन दर्शन आस्वादन आघ्राण रूपी व्यापारोंको 'वृत्ति' कहा जाता है... यह जो पूछा गया कि उनके लक्षण क्या हैं, उसका उत्तर है : इन इन्द्रियों द्वारा अपने-अपने विषयोंका आलोचनमात्र अभीष्ट है। 'आलोचन' और 'ग्रहण' ये दोनों पर्यायवाचक पद हैं... अतः ठीक ही तो कहा कि इनकी ग्राहिका ये इन्द्रिय होती हैं। ये इन्द्रियां उन-उन विषयोंकी प्रदीपकी तरह प्रकाशिका नहीं होती, इन्द्रियवृत्ति केवल ग्राहिका होती हैं अर्थात् प्रत्ययरूप नहीं, परन्तु इन ग्रहण, प्रत्यय और प्रकाश में परस्पर प्रभेद क्या होता है? समथानरूपेण यह अवघेय है कि विषयके साथ सम्पर्क होनेपर उन-उन विषयोंके रूपोंको धारण कर पाना ही इन्द्रियवृत्तिओंका ग्रहणरूप व्यापार होता है। बादमें विषय और इन्द्रियवृत्ति का अनुकारी जो निश्चय

होता है कि 'यह गाय है, यह श्वेत वर्णकी है, और दीड़ रही है' इस प्रत्यय समझना चाहिये विषयके सात सम्पर्क छूट जानेपर श्रोत्र आदि वृत्तिओंमें जो विषयाकार निवृत्त होता है, वह तो वर्तमानकालता है अतः ग्रहणके अनुभवसे जो सस्काराधान होता है और जिसके कारण त्रैकालिकी स्मृति बन पाती है उस 'प्रत्यय' कहते हैं यही इन दानोंके बीच रही विशिष्टता है अब बाह्य जो प्रकाश होता है वह विषयाकाराकारित नहीं होता घट आदि विषयोंके सस्कारद्वारा तथा व्यवधायक पार्थिव छाया रूप धर्मके अपहरणद्वारा भी प्रकाश व्यञ्जक हो कर चक्षुका उपकारी बन जाता है

अतः यह उपपन्न होता है कि प्रदीप आदि प्रकाशक होते हैं, श्रोत्र आदि इन्द्रिया ग्राहिका होती हैं और अन्तःकरण व्यवसायक होता है"^{१०}

यो वाचस्पति मिश्रसे भी पूर्वकालिक साख्यकारिकाके व्याख्याता युक्तिदीपिकाकारने जो यह निरूपण चक्षु और चक्षुर्ग्राह्य विषय के बारेमें किया है, इसके आधारपर इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि इनके अनुसार इन्द्रिया केवल ग्राहिका ही होती है, प्रकाशिका नहीं प्रकाश्य प्रकाशकभाव सम्बन्ध तो वर्णरूपाकृति, तद्वद् वस्तु और सौर आदि ज्योतिष्मान् वस्तुओंके बीच ही माना गया है अतएव सम्भवतः इन्हीं धारानोःशकृत शैवसिद्धान्तप्रतिपादक तत्त्वप्रकाश ग्रन्थ, जिसपर श्रीकुमारस्वामिकृत तात्पर्यदीपिका व्याख्या भी उपलब्ध है, उसमें भी —

“मनका व्यापार इच्छारूप होता है अतएव मनके भीतर ही सकल्प होता है बुद्धीन्द्रिया पाच होती हैं श्रोत्र त्वचा वृष्टि जिह्वा और नासिका इनके ग्राह्य होते हैं शब्द स्पर्श रूप रस और गन्ध इन इन्द्रियोंके व्यापार शब्द आदिके ग्रहणरूप होते हैं इन शब्दादिका

ग्रहण शब्दादिके आकारोंको धारण कर लेना है और इसे ही 'इन्द्रियोंका व्यापार' कहा जाता है" ।

एतावता देखा जा सकता है कि राजा भोजके अनुसार साख्य और शैव दोनों ही मतोंमें विषयेन्द्रियके बीच ज्ञानानुकूला प्रत्यासत्ति ग्राह्यग्राहकभावरूपा स्वीकारी गयी है इस प्रतिपादनशैलीमें विषयेन्द्रियके बीच बिम्ब-प्रतिबिम्बभावरूपा प्रत्यासत्तिके विपरीत विषय वास्तविक आकारघटक होता है तथा वृत्ति विषयाकाराकारित हो जाती है, ऐसी प्रत्यासत्ति स्वीकारी गयी है आप्तभाषामें इसके लिये एक बहुत उपयुक्त पद plasticity उपलब्ध होता है कि जिसके अनुसार कुछ द्रव्योंमें यथायथ अनेकाकारधारणकी क्षमता मानी जाती है साख्य और शैव मतोंकी भोजराजकृत व्याख्याके अनुसार इन्द्रियोंमें वेसी ही अनेकाकारधारणक्षमता होती है अतएव इसीके कारण ही विषय ओर इन्द्रियों के बीच ग्राह्यग्राहकभावरूपा प्रत्यासत्तिकी कल्पना की गयी है जहां तक बाह्य प्रकाश विषयाकाराकारित होता है या नहीं इस समस्याके समाधानकी बात है तो स्पष्ट है यह तो सर्वथा तथ्यविपरीत विधान ही है क्योंकि बाह्य आलोककी रश्मियां यदि विषयाकाराकारित न हो पाती हों तो दर्पणमें प्रतिबिम्ब कैसे प्रकट हो सकता है? क्योंकि अन्धकारवाले प्रकोष्ठमें द्रष्टाके अराम्मुखीन दर्पणमें भी दर्पणासम्मुख आलोकवाले प्रकोष्ठान्तरमें विद्यमान वस्तुओंका प्रतिबिम्ब आलोकरश्मिओंके द्वारा प्रकट होता ही है यह आलोकरश्मिओंके विषयाकाराकारित हुये बिना कथमपि शक्य नहीं इसी तरह आधुनिक उपकरण फिल्म-प्रोजेक्टरमें भी तो पारदर्शी फिल्मके पृष्ठभागसे आलोकरश्मिओंका प्रक्षेपण जब पर्देपर किया जाता है तब अर्थात् सफेद पर्दे तक रंग तथा आकृति को प्रकाशकिरणे अपने साथ ले जाती है और परावृत्त हो कर उन्हें पुनः चक्षुर्ग्राह्य भी बनाती है अतः बाह्यआलोकरश्मिओंके विषयाकाराकारित न होनेकी कथा तो सर्वथा तथ्यविपरीत ही है

जहां तक चक्षु इन्द्रियके विषयदेशमें पहुँचे बिना या पहुँच कर

विषयको प्रकाशित करनेके विवादके बारेमें वाल्लभ वेदान्तके अभिप्रायका प्रश्न है तो गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरणने प्रस्थानरत्नाकर के प्रमाकरणस्वरूपनिरूपक कल्लोलके तृतीय तरंगके, तथा, ब्रह्मसूत्रके द्वितीयाध्यायके चतुर्थपादके सातव सूत्रके अणुभाष्यप्रकाश के आधारपर उनका विमर्श करना चाहें। इस विमर्श करनेसे पहले, परन्तु, स्वयं महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य द्वारा जो कुछ इस विषयमें प्रतिपादित किया गया है, उसे पहले दृष्टिगोचर कर लेना उपयुक्त होगा उसके बाद श्रीपुरुषोत्तमचरणकी विशद विवेचनाका अवलोकन प्राप्तावसर चिन्तन होगा।

वाल्लभ दृष्टिकोण :

भागवततृतीयस्कन्धकी सुबोधिनी व्याख्यामें महाप्रभु कहते हैं—

“ज्ञानप्रधान महत् तत्त्वसे क्रियाशक्तिवाला अहंकार समुत्पन्न हुआ यह तीन तरहका ही उत्पन्न होता है स्वयं उत्पत्तिकी प्रक्रिया ही यहा भेदिका बन जाती है क्योंकि मूलप्रकृतिके परिणामरूप ये विकार तीन गुणोंवाले तो होते ही हैं अहंकार वैकारिक अर्थात् सात्त्विक भी होता है और राजस तामस भी ऐसे त्रिविध अहंकारसे मन इन्द्रिय और पञ्चमहाभूतोंकी उत्पत्ति होती है, इनमें पञ्चतन्मात्राओंका भी अन्तर्भाव जान लेना चाहिये बुद्धितत्त्वकी उत्पत्ति होती है राजस अहंकारसे यह बुद्धि निर्विषयिका नहीं होती, अतः बुद्धि किसीभी विषयके बारेमें पैदा हो सकती है मन जैसे इन्द्रियोंका प्रेरक होता है, वैसे ही इन्द्रियोंपर अनुग्रह करना बुद्धिका कार्य है अतएव बुद्धिद्वारा अनुगृहीत ही इन्द्रिया कुछ भी जान या कर पाती हैं बुद्धिके तारतम्यवश ही, अतएव, इन्द्रियोंसे पैदा होते ज्ञान और क्रिया में भी तारतम्य प्रकट हो जाता है यह तो हुआ बुद्धिका कार्यानुसारि लक्षण बुद्धिका

स्वरूपलक्षण 'द्रव्यस्फुरणविज्ञान' माना गया है : घट आदि द्रव्योंके स्फुरण होनेपर शब्द, संस्कार अथवा आलोक द्वारा जो विशिष्ट ज्ञान पैदा होता है वह बुद्धि है। क्योंकि केवल चक्षुसे पैदा होनेवाले ज्ञानमें तारतम्य हो नहीं सकता। स्वतःस्फुरण तो योगज धर्मोंसे भी शक्य होता है, अतः द्रव्यके स्फुरण होनेके बाद जो विज्ञान पैदा होता है उसे ही बुद्धिका स्वरूपलक्षण माना गया है। इन्हें 'तैजस' कहा गया है, क्योंकि इन्द्रियां चाहे ज्ञानकी करण हों या क्रियाकी, दोनों तरहकी होती तो हैं राजस ही। ज्ञानकी करण बननेवाली इन्द्रियां सात्त्विक हों और और क्रियाकी करण बननेवाली तामस हों ऐसे नहीं मान लेना चाहिये... जैसे ज्ञानके मूलमें बुद्धि होती है वैसे ही क्रियाके मूलमें प्राणतत्त्व भी होता है... बुद्धि राजसी होती है सो बुद्धिके द्वारा अनुगृहीत इन्द्रियां सभी राजसी होती हैं... बुद्धिकी तरह प्राण भी सर्वेन्द्रियोंका अनुग्राहक होता है... अब रूपका लक्षण जान लेना चाहिये। वह द्रव्यकी आकृतिके जैसी आकृतिवाला होता है। घट आदि द्रव्योंकी जो भी आकृति होती है वही रूपकी भी होती है। वह जैसे पृथुबुध्नोदराकार होता है, वैसे ही रूप भी होता है। अतएव पटके उदाहरणमें वह आतानवितानात्मक भी होता है। यहां 'द्रव्यके जैसी आकृति' कही जाती होनेसे यह फलित होता है कि द्रव्य रूपके जैसी आकृतिवाला नहीं होता। अर्थात् द्रव्यको उपमेय नहीं कहा जा रहा है। इसके अलावा रूप द्रव्यका गुण भी होता है। प्रतीति परन्तु उसकी होती है सर्वदा उपसर्जनतया ही। शब्द आदि तन्मात्राओंके बारेमें ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनकी तो प्रतीति स्वतन्त्रतया भी शक्य होती है। व्यक्तिकी संस्था ही रूपकी भी संस्था होती है, क्योंकि व्यक्ति

वक्र हो तो रूप भी वक्र हो जाता है. रूपवान् द्रव्यके उपविष्ट होनेपर रूप भी उपविष्ट हो जाता है... इसे 'तेजका तेजस्त्व' भी कहा जा सकता है, क्योंकि वह रूपतन्मात्रारूप होता है. अर्थात् उसकी सूक्ष्मावस्था. अब चक्षु वह इन्द्रिय है कि जिसका विषय तेजका कोई विशेष गुण होता है... यहां रूपको तेजका एक विशेष गुण माना गया है''^२.

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणद्वारा श्रीमद्भागवतव्याख्याके रूपमें दिये गये इस प्रतिपादनके अवलोकन करनेपर जो एक बात स्पष्ट समझमें आती है वह यह कि इन्द्रियग्राह्य रूपतन्मात्रा तथा रूप आदिकी ग्राहिका इन्द्रिया राजस अहकारके विकाररूपतया उत्पन्न होते हैं. इनमें रूपतन्मात्रा और चक्षुरिन्द्रिय दोनों ही तैजस द्रव्यके विकार हैं. अतः तैजस द्रव्य होनेके कारण चक्षुरिन्द्रियोकी जैसे किरण हो सकती है वैसे ही प्रत्येक रूपवद् द्रव्यकी भी किरणें समानन्यायेन हो सकती हैं अल्पत्व/बहुत्ववशात् झटिति कही प्रतीति सुकर हो और कहीं दुष्कर हो वह अन्य कथा है. इस पक्षके विस्तृत विवेचनसे पहले परन्तु अब गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरणकृत एतद्विषयक विवेचनाको दृष्टिगत कर लेना अति आवश्यक है.

गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरण द्वारा प्रस्तुत विवेचना :

तदनुसार सर्वप्रथम प्रस्थानरत्नाकरमें जो प्रतिपादन उपलब्ध होता है उसे देख लेना उपकारक होगा —

“इन्द्रिय और विषय के सयोगसे निर्विकल्पक ज्ञान जब प्रकट होता है तब इन्द्रियदेशमें बुद्धियुक्ति प्रकट हो कर इन्द्रियपर अनुग्रह करती है. उसके बाद ज्ञान सविकल्पक बन पाता है. बुद्धि यदि इन्द्रियोपर अनुग्रह न करती

हो तो सविकल्पक ज्ञान प्रकट नहीं हो पाता. वृत्त्यन्तरवशा
 पूर्ववृत्तिके नाश होनेपर सविकल्पक ज्ञान संस्कारात्मना
 अवस्थित हो जाता है. इन्हीं संस्कारोंके रूपमें अवस्थित
 विषयोंका उद्बोधकोंके द्वारा उद्बोधन होनेपर राजस रागादिगुणोंके
 कारण स्मृतिजनक संस्कार प्रबल हो जाते हैं. पश्चात्
 तमोगुणोंके बुद्धिमें प्रबल होनेपर स्वोपस्थापित अर्थसे माया
 वास्तविक विषयाकारको आवृत कर उस मायिक पदार्थके
 ज्ञानको नयनगोलकके अग्रभागपर जय आरोपित करती
 है. तब भ्रम पैदा होता है... अतः बुद्धिस्थ गुणोंसे जन्य
 बुद्धिकी अवस्थाविशेषरूपा ही वृत्ति होती है... इस वृत्तिके
 प्राकट्यका क्रम यों समझना चाहिये : हमारे भीतर विराजमान
 अन्तर्यामिरूप परमेश्वर जब मनको किसी कार्यके हेतु
 प्रेरित करता है, तब वह तत्तद् इन्द्रियोंको प्रेरणा देनेको
 तत्तद् इन्द्रियोंके साथ संयुक्त हो जाता है... बादमें विषयसमृष्ट
 इन्द्रियोंमें पहले इन्द्रियावच्छिन्न मनमें निर्विकल्पक ज्ञान
 पैदा होता है. उसके बाद तत्तद् इन्द्रियदेशमें बुद्धिवृत्ति
 पैदा होती है. तब बुद्धिके द्वारा भी उन इन्द्रियोंपर अनुग्रह
 किये जानेपर सविकल्पक ज्ञान पैदा होता है. चाक्षुष
 ज्ञानमें तो नयनकिरण विषयदेश पर्यन्त गमन करती हैं.
 जबकि इन्द्रियान्तरोंमें किरण न होनेके कारण इन्द्रियद्वारोंसे
 ही विषय मन तक पहुँचते हैं. दोनों ही प्रकारके ज्ञानोंमें
 विषयेन्द्रियोंके बीच घटित होते स्पर्श आदि ही व्यापार
 घनते हैं. यहां एक ऐसी आशंका उठ सकती कि नयनोंकी
 किरण स्वीकारनेपर इन्द्रियोंके चारों ओर 'अणवश्च'
 (ब्र.सू.२।४।७) में अभ्युपपन्न अणुत्वकी धारणा निरस्त
 हो जायेगी. यह आशंका परन्तु निराधार है, क्योंकि सूर्यमण्डल,
 चाहे जितना भी महत्परिमाण क्यों न हो, उसकी किरणों
 जिस विस्तारमें व्याप्त होती हैं उतना तो महत्परिमाण

उसका होता नहीं है और सूर्यका ही कोई क्षुद्र अशु हमारे भीतर नयनरूप इन्द्रियके रूपमें निर्मित हुवा होनेसे उसके किरणोंकी भी कल्पना करनेमें कोई शास्त्रीय बाधक दिखलायी नहीं देता

अथवा 'गुणाद् वा आलोकवत्' (ब्र सू २।३।२५) ब्रह्मसूत्रके अनुसार क्योंकि आलोकको गुणरूप माना गया है अतः तैजस चक्षुके आलोकरूप गुणको विषयदेशमें व्याप्त होनेमें कोई बाधा नहीं होनी चाहिये अतः नयनकिरणोंके विषयदेश पर्यन्त गमनद्वारा ही चाक्षुष प्रत्यक्षकी प्रक्रिया उचित लगती है

कुछ लोगोंका कहना है कि मायाके कार्यरूप तमका आलोकके द्वारा प्रतिबन्ध हो जानेपर ज्योतीरूप सूर्य देवताकी किरणोंद्वारा अव्यवहित सन्मुख देशमें अवस्थित घटका विशिष्ट पृथुबुध्मोदराकार रूप अणुपरिमाण चक्षु तक पहुँचाया जाता है तब सत्त्वप्रधान बुद्धिके भीतर भी वह आकार सम्पन्न हो जाता है. और तब अणुरूप जीवके प्रति ज्ञानात्मक आध्यात्मिक चाक्षुष घटकी अभिव्यक्ति होती है दूरस्थ गन्ध या शब्द आदि तो वायुद्वारा घ्राण या श्रवण इन्द्रियों तक पहुँचाये जाते हैं तब अन्तःसत्त्वात्मिका बुद्धि भी वैसे ही आकारसे सम्पन्न होनेपर ज्ञानात्मक आध्यात्मिक गन्ध-शब्द आदिकी अभिव्यक्ति ही घ्राणज या श्रावण प्रत्यक्षोंके रूपमें घटित होती है. आध्यात्मिक और आधिर्भातिक के बीच अभेद होनेके कारण यादृच्छ घटके अगृहीत रहनेपर भी यह आपत्तिजनक बात नहीं है.

यहाँ इस विषयमें यह अवधेय है कि सर्वप्रथम तमोजनन विषयदेशमें नहीं प्रत्युत नयनदेशमें भाग्यतपुत्राण (११।२।१३-४) में प्रतिपादित किया गया है. ज्योतीरूप सूक्ष्मद्वारा पुरुषचक्षु पर्यन्त विषयरूपका प्रापण भी रागत नहीं. क्योंकि अनेक

द्रष्टाओं तक विषयरूपके प्रापणकी कल्पना करनेपर अन्तम कभी विषय स्वयं नीरूप रह जायेगा इसके अलावा साझको सूर्यास्तक बाद सूर्यकिरणोंके अभावमें घट दिखलायी देना भी वन्द हो जाना चाहिये भागवतपुराणमें वायुके बारेमें 'नेतृत्व द्रव्यशब्दयो' (भाग पुरा ३।२६।२७) जैसा विधान उपलब्ध होता है ऐसा तेजोद्रव्यके बारेमें उपलब्ध न होता होनेसे भी यह धारणा अशब्द ही है

इसके अलावा यह भी यहाँ विचारणीय होता है कि चक्षु पर्यन्त रूपका प्रापण चक्षुम प्रतिविम्ब पैदा करनेके रूपमें ही स्वीकारना पड़ेगा प्रतिविम्ब तो मायिक होते हैं वास्तविक नहीं अतः बुद्धिके भीतर भी उन्हीं मायिक प्रतिविम्बोंको आकारसमर्पक मानना पड़ेगा अतः उक्त आध्यात्मिक रूप भी मनोमय होनेसे मायामय ही सिद्ध होगा ऐसा कि जिसकी सत्यता न होनेपर भी केवल अर्थक्रियाकारिता मात्र सोची जा सकती हो" १३

इसी तरह ब्रह्मसूत्राणुभाष्यके "अणव च" (ब्रसू २।४।७) के प्रकाशमें भी श्रीपुरुषोत्तमचरणने अणुपरिमाण चक्षुरिन्द्रियका कौन सा गुण विषयदेशको प्राप्त करता है कि जिसके कारण उसे प्राप्यप्रकाशकारी मानना इस विषयमें यो समझाया है कि चक्षुके तैजस होनेके कारण उसमें रूपतन्मात्रा गुण ऐसा हो सकता है कि जो विषयदेश पर्यन्त गमन कर सकता है प्रकाशकार यह भी कहते हैं कि "यन्न स्मृशन्ति न विदु मनोबुद्धीन्द्रियासवः" (भाग पुरा ६।१६।२३) इस नारदकृत उपदेशमें मन आदिके बारेमें यह कहा गया है कि न वे तो ब्रह्मका स्पर्श कर पाते हैं और न ही ब्रह्मको जान ही पाते हैं एतावता इतना तो सिद्ध होता ही है कि मन आदि इन्द्रियोंमें स्पर्शपूर्वक ज्ञानजननसामर्थ्य भागवतको अभीष्ट तो है ही अन्यथा ब्रह्मके बारेमें अप्रसक्तका प्रतिपेक्ष स्वीकारना पड़ेगा अतः स्पर्शरूप व्यापार ही इनका स्वीकारना चाहिये,

इन्हे अणुपरिमाण माना गया होनेसे उस स्पर्शका प्रत्यक्ष चाहे न भी होता हो तब भी स्वाभाविक रूपसे दूरदेशवर्ती वस्तुका जब चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है, तब उस दूरदेशवर्तीकी वस्तुकी चक्षुरिन्द्रियदेशमे प्राप्ति शक्य न होनेपर चक्षुरिन्द्रियकी ही विषयदेशमे प्राप्ति अन्यथानुपपत्तिके बलपर स्वीकारनी पड़ेगी अन्यथा स्पर्शके बिना भी प्रत्यक्ष उत्पन्न हो सकता है ऐसा गलेपित होगा

उक्त विवेचनाका विमर्श :

इस समग्र प्रतिपादनमे कुछ बातें विचारणीय लगती हैं

सर्वप्रथम तो यह कि श्रुत्यादि शास्त्रोमे चक्षुकी विषयदेशमे प्राप्तिके बाद स्पर्शकी बात कहीं कण्ठोक्त है या नहीं? अर्थात् श्रौत अर्थापत्तिके बलपर ही यदि यह धारणा स्वीकारी गयी हो तो उसकी अन्यथोपपत्ति शक्य है या नहीं? रामानुज सम्प्रदायके श्रीवेदान्तदेशिकने अवश्य ही “‘दिवीय चक्षु आततम्’ ऐसे आगमिक व्यवहारस्वारस्यमें कोई बाधा दिखलायी नहीं देती होनेसे वृत्तिद्वारा प्राप्ति कही जा सकती है” (पूर्वोद्धृत) ऐसे विधान द्वारा चाक्षुषवृत्तिकी विषयदेशमे प्राप्यकारिताको श्रुतिप्रमाणमूलकतया प्रस्तुत किया है इसे श्रीपुरुषोत्तमचरणके शब्दोंमे कहना हो तो सोर आदि बाह्यालोकाकी तरह नयनकिरणे भी स्वाश्रयाधिकदेशवर्ती गुण होती है अतः स्वग्राह्य वस्तुदेशमे चक्षुगुणकी व्याप्ति भी इसी श्रुतिवचनके आधारपर प्रस्तावित की जा सकती है मुझे परन्तु यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि “तद् विष्णो परम पद सदा पश्यन्ति मूर्य दिवीय चक्षु आततम्” (ऋक्संहि १।५।२१।२०) इस श्रुतिवचनमे ‘दिवि’ पदके साथ प्रयुक्त सप्तमी विभक्तिको ओपरलेपिक या अभिव्यापक चक्षुके आधारके रूपमें लेना उपपन्न नहीं होता, अर्थात् समग्र नभोविस्तारमें नयनकिरणोंको सयोग सम्बन्धके साथ विस्तृत मानना या समग्र नभोविस्तारमें नयनकिरणोंको अभिव्याप्त मानना ये दोनों ही अतीव विलक्षणकल्पना लगती हैं इसके बजाय ऐसा अर्थ सोचना ऋजुतर लगता है कि

नभमे जो कुछ आतत हो, व्याप्त हो, अथवा विद्यमान हो उदा.
नक्षत्र, प्रकाश अथवा स्वयं नभोविस्तार को ही चक्षु जेसे देख पाती
है, ऐसे ही सूरिगण भी विष्णुके परम पदको सदा देख पाते हैं

ऐसा अर्थ न स्वीकारनेपर या तो “यथा दिवि आतत चक्षु पश्यन्ति” ऐसा
अन्वय सोचनेपर चक्षुको ‘पश्यन्ति’ क्रियापदके कर्मके रूपमें मानना
पड़ेगा, अथवा तो “यथा दिवि आतत चक्षु पश्यति” ऐसा अन्वय सोचनेपर
“किं पश्यति?” आकाशकी पूर्ति ही हो नहीं पायेगी प्रस्तावित
अर्थ स्वीकारनेपर, जबकि, “तरणि विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृद् असि सूर्यो
विश्वम् आभासि रोचनम्” (ऋक्संहि १।१।५.०।४) वचनमें कण्ठोक्त ‘विश्व
रोचनम् आभासि’ प्रयोगके साथ सवाद भी सिद्ध हो जाता है ‘विश्व रोचन’का
अर्थ श्रीसायणाचार्य “रोचमानम् अन्तरिक्षम्” करते हैं और उसे अथवा तद्वर्ती
अन्य पदार्थोंको भी यहाँ ‘आततम्’ पदसे परामृष्ट मानना उपयुक्त
होगा

यदि “मोक्षे इच्छा अस्ति” प्रयोगकी तरह ‘दिवि’पदमें भी
वैषयिकाधाररूपमें सप्तमी विभक्ति ली जाये तो ‘चक्षु’को विशेष्य बना
कर ‘आततम्’को उसका विशेषण मानना अथवा ‘चक्षु’को उद्देश्य मान
कर ‘आततम्’को उसका विधेय मानना? यदि विशेषणतया स्वीकारते
हैं तो पुन “यथा दिवि आतत चक्षु (जना पश्यन्ति तथा) सूर्य विष्णो परम
पद पश्यन्ति” अन्वय गलतपतित होता है यदि ‘चक्षु’को उद्देश्य बना कर ‘आततम्’को विषय
मानते हैं तो सामान्य जनाकी चक्षु तो आकाशमें आतत हो कर भी विष्णुके उस परमपदके
दर्शनकी कर्त्री तो हो नहीं सकती अतः “सूरिगण विष्णुके उस परमपदको सर्वदा देख पाते हैं
जैसे चक्षु आकाशमें आतत-व्याप्त होती हैं” ऐसे विचित्र अर्थकी कल्पना करनेपर
तो उपमोपमेयभाव ही स्पष्ट नहीं हो पाता

दूसरी जो बात यहाँ अवधेय है वह यह कि महाप्रभु चक्षुःन्द्रियकी
तरह ही रूपतन्मात्राको भी तैजस मानते हैं अतः कोई विनिगमना

नहीं रह जाती कि क्यों तैजस होनेके कारण चक्षुरिन्द्रिय ही विषयदेशपर्यन्त धावन करती है और क्यों चक्षुर्ग्राह्य विषयकी रूपतन्मात्रा चक्षुर्देश पर्यन्त आगमन नहीं कर पाती ?

तीसरी बात यह भी विचारणीय है कि सूर्यका ही कोई अशविशेष जब हमारे नयनोके रूपमे जो प्रकट हुवा है और रूपतन्मात्राके साथ संयुक्त होनेपर तत्तादात्म्यापन्न सूर्यकी किरणे क्यों उस रूपतन्मात्राको नयनदेश तक नहीं पहुँचा देती ? क्यों नयनरश्मिओंको रूपतन्मात्राके प्रदेश पर्यन्त गमन करना पड़ता है ? श्रुति तो स्पष्ट शब्दोमे “उद् उ त्व जातवेदस देव वहन्ति केतव इमे विश्वाय सूर्यम्” (ऋक्संहि १।१।५०।१) विधानद्वारा सप्तरश्मिओको ‘केतव’-प्रज्ञापक मान कर सभी दृष्टिमान प्राणिओंको नयनोद्वारा दर्शनक्रियामे सक्षम बनानेवाले सूर्यदेवका वहन करनेवाली मानती है मूल सूर्यरश्मिया जिस कार्यको सम्पन्न कर ही रही हो उन्हें अशभूत नयनरश्मिओसे करवानेमे क्या लाभ ? यदि युक्तिदीपिकाकारकी तरह ग्राहकोपकरण और प्रकाशकोपकरण का प्रभेद करना यहा अभीष्ट हो तो पुन न्यायकुमुदचन्द्रोदयकी युक्तियोंका भी समाधान खोजना पड़ेगा नयनरश्मिओंको अनुद्भूतरूपस्पर्शवाली माननेके बजाय उद्भूतरूपस्पर्शवाली सूर्यरश्मिओंसे वह कार्य क्यों सम्पन्न होता हुवा न मान लेना ? श्रीप्रभाचन्द्रकी इस युक्तिमे पर्याप्त बल है कि जो स्वयं रश्मियुक्त हो उसे बाह्य आलोककी अपेक्षा क्यों होगी ? यदि अपर्याप्त रश्मिवाली होनेके कारण बाह्य आलोककी अपेक्षा माननी पड़ती हो तो उसी कारणसे वह वस्तुग्रहणमे भी अक्षम सिद्ध होगी उदाहरणतया अमावस्याकी रात्रिके अन्धकारमे तारागणोंके मन्दालोकमे बहुधा विषयका स्फुट अवभासन नहीं हो पाता इसी तरह अन्धकारकी चक्षुर्ग्राह्यता भी अल्परश्मिवत्तासे उपपन्न तो हो सकती है नयनरश्मिओंकी वही अल्पता परन्तु, जैसाकि श्रुतिमे स्पष्ट शब्दोंमे निरूपित किया गया है, “अप त्वे तावयो यथा नक्षत्रा यन्ति अक्षुभि सूर्याय विश्वचक्षसे” (ऋक्संहि १।१।५०।२) अर्थात् अल्परश्मिवाले नक्षत्रोंके सारे मन्द प्रकाश

सौर प्रकाशम निवृत्त हो जाते ह ऐसे ही नयनाकी भी अल्परश्मिवत्ता सौर आलोकमे अकिञ्चित्कर हो जानी चाहिये थी इसके विपरीत "द्वो विस्वाव सूर्यम्" वचनमे स्पष्ट शब्दोमे सार आलोकको नयनोंको दर्शनसामर्थ्य प्रदान करनेवाला माना गया है उल्लिखित वचनके भाष्यमे श्रीसायणाचार्य भी कहते है कि "विश्वचक्षसे विश्वस्य सर्वस्य प्रकाशकस्य सूर्याय सूर्यस्य आगमन दृष्ट्वा तस्मिन् नक्षत्राणि च रात्रिभि सह सूर्य आगमिष्यति इति भीत्या पलायन्ते" (तत्रैव) स्वयं श्रीपुरुषोत्तमचरणने भी "चक्षुषो अतैजसत्वात् तैजसत्वपक्षेऽपि प्रौढत्वाभावेन परावृत्त्यभावात्" (अवता प्रति-बिम्बा) इतना तो स्वीकारा ही है अत जो नयनरश्मिया परावृत्तिकम न हो दर्शनक्षम कैसे हो पायेगी! इसके अलावा अपरावृत्त नयनरश्मिओका विषयदेशमें पर्यवसान स्वीकारनेपर नयनगोलकके साथ सम्बन्धविच्छेद भी स्वीकारना पड़ेगा ऐसी स्थितिमे पुन विषयावधारण चक्षुरश्मिओसे अकल्प्य सिद्ध होगा

अत इन बातोंका विचार करनेपर जो श्रीपुरुषोत्तमचरणने "केषाञ्चित् प्रक्रिया"के रूपमें जो विवेचना उद्धृत की है वह वाल्लभ मतमे, मेरी नम्र धारणाके अनुसार, अधिक सुसंगत होनी चाहिये थी, बजाय कि न्यायवैशेषिकादि अनुमानप्रधान चिन्तनोके द्वारा प्रस्तावित प्राप्यप्रकाशकारिताकी प्रक्रियापर अवलम्बित होनेके

श्रीपुरुषोत्तमचरणने एक विरोधी युक्ति यह भी दी है कि आलोकको इस प्रक्रियामे जो तमोजननमें प्रतिबन्धरूप स्वीकारा गया है वह श्रीमद्भागवतके "यथाहि भानो उदयो नृचक्षुषा तमो निहन्त्याद्" (भाग पुरा ११।२।३४) वचनसे विरुद्ध है इस बारेमे कहा जा सकता है कि शैत्यनिवारक अग्नि यदि शैत्योत्पत्तिमे प्रतिबन्धक भी होती हो तो कोई आपत्तिजनक बात होनी तो नहीं चाहिये थी तमोजनन विषयदेशमें नहीं प्रत्युत नयनदेशमे होता है, ऐसा इस वचनद्वारा प्रतिज्ञात देशनियम तो स्वयं ग्रन्थकारद्वारा अन्यकारवादमे उद्धृत "यद् वाधसे गुहाध्वान्त प्रदीपप्रभया

यथा” (भाग पुरा १०।५।१२०) वचनमे नयनोके वजाय गुहाप्रदेशमे ही उसे आरोपित तथा भगवत्स्वरूपालोकसे प्रतिबद्ध भी माना गया होनेसे पुन विचारणीय ही लगता है स्वयं श्रीमद्भागवतके “यथा घनो अर्कप्रभवो अर्कदर्शितो हि अर्काशभूतस्य च चक्षुष तम” (भाग पुरा १२।४।३२) वचनमे घनको अमायिक=अर्कप्रभव अमायादर्शित=अर्कदर्शित और अर्काशभूत चक्षुके लिये तमोरूप भी माना है यह तो स्पष्ट ही है कि घन द्रष्टाके नयनोमे नहीं प्रत्युत नभोदेशमे ही अवस्थित होता है अत मायिक तमोविशेष नयनवर्ती होता है परन्तु एतावता सर्वविध तमस् न तो मायिक ही होते है और नियततया नयनगोलकमे अध्यारोपित ही रही बात सूर्यरश्मिओद्वारा विषयरूपके नयनपर्यन्त आनयन करनेपर विषयके नीरूपताकी तो “दीप चक्षु तथा रूप ज्योतिषो न पृथग् भवेत्” (भाग पुरा १२।४।२४) वचनके अनुसार यह आपत्ति तो रूपतन्मात्रा और चक्षुरिन्द्रिय दोनोंपर समानरूपेण आपादित या निवारित होगी नयनरश्मिया पलकोको बन्द करनेपर यदि झटिति पुनरावृत्त हो पाती हों तो रूपतन्मात्रा भी वैसा व्यवहार क्यों नहीं कर पायेगी ?

श्रीपुरुषोत्तमचरणने एक युक्ति यह जो दी है कि सूर्यरश्मिओंद्वारा रूपके नयनपर्यन्त प्रापणकी प्रक्रियामे सूर्यास्तके बाद रूपवद् वस्तुका दर्शन शक्य नहीं रह जायेगा इस सन्दर्भमे ऋग्वेदकी “व्युच्छन्ती हि रश्मिभि विश्वम् आभासि रोचन ता त्वाम् उप वसुयवो गोभिः” (ऋक्संहिता १।१।४९।४) श्रुतिमे सूर्यके साथ जुड़ी यदि उषा भी सर्व रूपवद् वस्तुओंके प्रदर्शनमे सक्षम होती हो तो सन्ध्या भी उन्नी सूर्यसे जुड़ी होनेके कारण कुछ काल पर्यन्त तो सूर्यास्तके बाद भी रूपवद् वस्तुका प्रकारान कर ही सकती है सूर्योदयके बाद गृहके जिस अन्तःप्रकोष्ठमे सूर्यरश्मिया प्रविष्ट नहीं हो पाती वहा भी सूर्यालोक तो अन्धकारको निवृत्त करता ही है यही न्याय सूर्योदयसे पूर्व ओर सूर्यास्तके बाद भी कुछ काल तक प्रकट होनेवाला या रहनेवाला सूर्यालोक प्रत्यक्षसिद्ध ही होनेसे बहुत विचारणीय नहीं लगता

आदित्यरश्मिओंकी रूपप्रापकताके अशाब्द होनेका विधान भी अशतो उपर्युद्धत श्रुतिवचनोसे भी समाहित तो हो ही जाता है प्रतिबिम्ब उत्तरके रूपमें, परन्तु, यह भी तो कहा ही जा सकता है कि नयनरश्मिओंकी विषयदेशमें प्राप्ति भी किसी निःसदिग्ध शास्त्रवचनद्वारा सिद्ध होती तो, वह वचन ही उद्धृत करनेसे सारे विवाद शान्त हो सकते थे, ऐसे युक्तिप्रतियुक्तिके परिश्रमकी कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती।

यह जो श्रीपुरुषोत्तमचरणने कहा कि चक्षु पर्यन्त रूपका प्रापण चक्षुम प्रतिबिम्ब पैदा करनेके रूपमें ही स्वीकारना पड़ेगा इस सन्दर्भमें स्वयं ग्रन्थकारके दो वचन मननीय प्रतीत होते हैं

१ “प्रतिबिम्बस्तु अदण्डवारितत्वाद् भवति तेन मायापि प्रत्यायतीति चक्षुषा भूयोज्ञानम् उत्पद्यते ”

(प्रस्था रत्ना प्रमा कल्लो तृती तर)

२ “किञ्च शलाकाव्यवहितस्थाल्युदके खण्डितमुखावलोकनोत्तर शलाकाया तदुक्तान्तस्तलभागे प्रवेशने मुखम् अखण्डितम् अवलोक्यते, शलाका च अन्तःसिकतादिवत् तेन अन्तर्जल मध्यदेशे प्रतिबिम्बोद्भव इति निश्चीयते परावृत्य ग्रहणे तु तत् न स्यात् किम्बहुना पराक्षिण स्वप्रतिबिम्बदर्शनात् स्वाक्षण्यापि तथैव इति निश्चयात्, प्रतिबिम्बोत्तरमेव सर्वस्य चक्षुर्गोचरीभाव इत्यपि सुधीभिः आकलनीयम् ”

(अत्र वादा प्रति बिम्ब वा)

ऐसे अभ्युपगमके बाद भी ग्रन्थकार यह कहना कि प्रतिबिम्ब तो मायिक होते हैं वास्तविक नहीं अतः बुद्धिके भीतर भी उन्हीं मायिक प्रतिबिम्बोंको आकारसम्पर्क मानना पड़ेगा गम्भीर आक्षेप नहीं लगता अतः यह जो कहा कि उक्त आध्यात्मिक रूप भी मनोमय होनेसे मायामय ही सिद्ध होगा ऐसा कि जिसकी सत्यता न होनेपर

भी केवल अर्थक्रियाकारिता मात्र सोची जा सकती हो यहा तो वदतोव्याघात दोष हो जाता है जैसे आधुनिक चक्षुर्विज्ञानके अनुसार नयनगोलकोंके भीतर सम्पन्न होती दर्शनकी प्रक्रियामे वहा नयनगोलकोंमे समुद्भूत विषयप्रतिबिम्बका विषयप्रत्यक्षके साथ किसी भी तरहका कार्यकारणभावरूप सम्बन्ध नहीं होता वह प्रतिबिम्ब तो नयनगोलकके बाह्यावरणपर ही घटित होता है नेत्रोके अन्तःपटलपर तो विषयससृष्ट बाह्यालोकरश्मियोके परावर्तनके बाद सयोगसम्बन्धवश ही बाह्यविषयका चाक्षुष आभास होता है वह भी उस नेत्रपटलसे मष्तिष्कके पश्चाद्वर्तिभागमे अवस्थित चाक्षुषकेन्द्रमे पहुचनेवाली नाडिकाओंके भलीभाति काम करनेपर ही

इस सन्दर्भमे अनिर्दिष्टनामा 'केवाञ्चित् = कुछ लोग' कहते है अशमे उद्धृत विधान कि "आध्यात्मिक और आधिभौतिक के बीच अभेद होनेके कारण बाह्य घटके अगृहीत रहनेपर भी यह आपत्तिजनक बात नहीं है" इसमे भी वाल्लभ दृष्टिकोणके अनुसार थोड़ा सशोधन अपेक्षित लगता है वह यह कि चक्षुर्ग्राह्य वस्तुओके आधिभौतिक और आध्यात्मिक रूपोमे एकान्तिक अभेद तो अनवसरपराहत है परन्तु ब्रह्मदृष्टिसे "सर्व सर्वमयम्" (नृसिहोत्ता ताप उप ९) वचनोक्त तादात्म्य तो अवश्य ही मान्य होगा ही यह, परन्तु, लौकिक अनुभूतिका विषय न हो कर ब्रह्मानुभूतिके अगतया गोचर होता है अतः उस मोलिक तादात्म्यकी अविज्ञात अर्थक्रियाकारिता स्वीकार्य होनेके बावजूद अनुभूतिगोचरता यहा विवक्षित मानी नहीं जा सकती अतः सम्बन्धमीमासा यहा सावधानतया करनी पड़ेगी तदनुसार हम समझ सकते है कि बाह्य रूपवद् वस्तुके साथ बाह्यालोकके सयोग होनेपर वहा तादात्म्येन विद्यमान रूपतन्मात्राओके साथ भी बाह्यालोकरश्मिओका सयुक्ततादात्म्य सम्बन्ध जुड़ता है अतः वस्तुनिष्ठ रूपतन्मात्राओंके आकारादिसे आकारित बाह्यरश्मिया परावृत्त हो कर नयनगोलके अन्तःपटलसे, आधुनिक विज्ञानाभिमत भाषाका प्रयोग करना हो तो, सयुक्त होती है तब वे विषयाकाराकारित

बाह्य सौर आदि आलोककी रश्मियां चाक्षुष संवेदना उत्पन्न करती हैं. अतः प्रस्थानरत्नाकरोक्त "तत्र चक्षुषा द्रव्यग्रहे संयोगएव प्रत्यासक्तिः" (तत्रैव) विधान असम्यक् नहीं परन्तु अपर्याप्त अवश्य लगता है. महाप्रभुने रूपतन्मात्रा और द्रव्य के बीच तादात्म्य स्वीकारा है और द्रव्यग्रहण रूपग्रहणपूर्वक ही शक्य होनेसे यहां संयुक्ततादात्म्यसंयोग सम्बन्ध स्वीकारना अधिक उपयुक्त लगता है.

वैसे प्रस्थानरत्नाकर में ग्रन्थकारने १.संयोग २.तादात्म्य ३.संयुक्ततादात्म्य ४.संयुक्तविशेषणतादात्म्य और ५.स्वरूप यों पांच ही सम्बन्ध स्वीकारे हैं. इस चाक्षुषप्रक्रियाकी उपपत्तिके हेतु, परन्तु, यदि इन सम्बन्धोंके अलावा भी सम्बन्धोंका ऊह करना हो तो किया जाना चाहिये. बाह्यआलोकरश्मिओंके साथ अपने धर्मके संयोगवश रूपतन्मात्रामें तादात्म्यापन्न हो कर उन रश्मिओंसे भी संयुक्ततादात्म्य सम्बन्धवश जुड़ जाती है. अपने चक्षुर्ग्राह्य धर्ममें तादात्म्यसम्बन्धवश वृत्तिमान रूपतन्मात्रा इन रश्मिओंके साथ पुन तादात्म्यापन्न हो कर नेत्रान्तर्भूत दृष्टिपटलसे संयुक्त होती हैं तब चक्षुरिन्द्रिय द्रव्यग्रहणमें सक्षम हो पाती हैं. यों परम्परासम्बन्धद्वारक यह कार्यकारणभाव मायिक नहीं होता प्रत्युत वास्तविक ही होता है. फिरभी चाक्षुष द्रव्यका आधिभौतिक स्वरूप जड़ होता है जबकि इस चाक्षुष द्रव्यका आध्यात्मिक स्वरूप सदंशभूत जड़ इन्द्रियान्तकरण और चिदंशभूत जीवात्मा के परस्पर संयोग तथा इतरेतरतादात्म्याध्यास के वश चिदचिदग्रन्थिरूप होता है.

प्रस्थानरत्नाकरमें चक्षुकी अप्राप्यप्रकाशकारिता और मायाद्वारक प्रतिबिम्बप्रक्रिया के निरसनार्थ श्रीमद्भागवतके "चक्षुः त्वष्टरि संयोज्य त्वष्टारमपि चक्षुषि" (भाग.पुरा.११।१५।२०) इस वचनके आधारपर तत्तत्प्रतियोगिक संयोगद्वयको हेतुतया स्वीकारा गया है. यह सम्बन्ध आवश्यक नहीं कि साक्षात् संयोगरूप ही हो, क्योंकि प्रदर्शित प्रक्रियाके अनुसार यह त्वष्टृचक्षुस्संयोग त्वष्टारश्मिसंयोगद्वारक भी हो सकती है,

दोनोंके बीच अर्थात् रश्मि-तद्गान्के बीच धर्मधर्मिभावप्रयुक्त तादात्म्यसम्बन्धव-
शात् इस तादात्म्यका अनुल्लेख “सर्वं खलु इदं ब्रह्म”/“तत् त्वम्
असि” (छान्दो उप ३।१।४।१ — ६।८।१०) वचनान्ते कार्यकारणभाव और
अशाशिवभाव प्रयुक्त रूपभेदका अनुल्लेख जैसे पारस्परिक तादात्म्यसम्बन्धवशात्
आपत्तिजनक नहीं होता तद्वत् समझ लेना चाहिये

निष्कर्ष :

प्रस्तुत विषयके उपसंहार करनेसे पूर्व यही विवक्षित है कि
चक्षुको विषयदेशमे पहुँचा कर प्राप्यकारी मानना शास्त्रदृष्ट्या अपरिहार्य
नहीं लगता यह प्रत्यक्ष प्रयोग एवं निरीक्षण से विरुद्ध भी है
श्रीपुरुषोत्तमचरणका प्राप्यप्रकाशकारित्वपर भार देना सर्वथा उचित ही
है यह चक्षुकिरणोंकी विषयदेशमे प्राप्तिकी कल्पनापर अवलम्बित करनेके
बजाय बाह्य आलोककिरणोंकी चक्षुर्देशमे प्राप्तिकल्पना द्वारा अधिक
सोपपत्तिक प्रतीत होती है

यह तो निर्विवाद तथ्य है कि श्रीपुरुषोत्तमचरणके शास्त्रावगाहन
तथा आचार्यवाणी के अवगाहनका दशांश भी यदि प्रस्तुत निबन्धकारका
होता वह अपने-आपको कृतकृत्य मान कर स्वयंको श्रीपुरुषोत्तमचरणके
विधानोंकी आलोचनाका अधिकारी मान लेता। यहाँ जो विमर्श प्रस्तुत
किया गया है वह अपने-आपको इस विषयमे अधिकारी होनेकी अहम्मान्यताके
वश नहीं परन्तु स्वयं ग्रन्थकारके “युक्तिसिद्धस्य यस्य कस्यापि
आदरणीयत्वात्” (अवता वादा अन्धका वा) उपदेश और आदेश को
हृदयारूढ कर के ही श्रीपुरुषोत्तमचरण प्रस्तुत निबन्धकारके सप्तम
पूर्वपुरुष श्रीविठ्ठलराय गोस्वामीके विद्यागुरु है अतः प्रस्तुत निबन्धकारका
भी उनके प्रति औपनिषदिक मनोभाव “तु हि न पिता यो अस्माकम्
अविद्याया पर पर तारयसि” (प्रश्नोप ६।८) अतीव मनोरूढ है अतः
अपने सहज अज्ञानवश इस निरूपणमे कोई खलन हुवा हो तो
श्रीपुरुषोत्तमचरण तथा सभी विद्वज्जनों से हार्दिक क्षमाप्रार्थनाके साथ

-----+-----

उद्धृत वचनोक्ते सन्दर्भं तथा उनका मूलरूप

१५५ 'न अर्थालोको ज्ञानस्य निमित्तम् अव्यतिरेकात्' बाह्यो विषय प्रकाश च न चक्षुर्ज्ञानस्य साक्षात्कारण, देशकालादिवत् व्यवहितकारणत्वं न निवार्यते ज्ञानावर्णादिकषयोपसामग्याम् आराद उपकारित्वेन अञ्जनादिवत् चक्षुरूपकारित्वेन च अभ्युपगमात् कुत पुन साक्षात् न कारणत्वम् इति आह 'अव्यतिरेकाद्' व्यतिरेकाभावात् नहि तदभावे भावलक्षणो अन्यथैव हेतुफलभावनिरचयनिमित्तम् अपितु तदभावेऽपि अभावलक्षणो व्यतिरेकोऽपि योगिना च अतीतानामतार्थग्रहणे किम् अर्थस्य निमित्तत्वं, निमित्तत्वे च अर्थक्रियाकारित्वेन सत्त्वाद् अतीतानामतत्त्वशक्तिः " — "सन्निकर्षोऽपि यदि योग्यतातिरिक्त सयोगादिसम्बन्धं तर्हि स चक्षुषो अर्थेन सह नास्ति, अप्राप्यकारित्वात् तस्य दृश्यते हि काचाग्रस्फटिकादिव्यवहितस्यापि अर्थस्य चक्षुषा उपलब्धिः अथ प्राप्यकारि चक्षुः कारणत्वाद् वास्यादिवद् इति ब्रूये तर्हि अयस्कान्ताकर्षणोपलेन लोहासन्निकृष्टेन व्यभिचारः न च सद्युक्तसयोगादि सन्निकर्षं तत्र कल्पयितुं शक्यते, अतिप्रसगात्" (श्रीहेमचन्द्राचार्यकृताया प्रमाणमीमांसाया १११२५ — १११२९)

१५६ "अप्राप्तार्थानि अक्षिप्तश्रोत्राणि, त्रयम् अन्यथा यदि अप्राप्तविषयं चक्षुः, कस्माद् न सर्वम् अप्राप्तं पश्यति, दूरं तिरस्कृतं च कथं तावद् अयस्कान्तो न सर्वम् अप्राप्तम् अयम् । प्राप्तविषयेऽपि च एतत् समानं कस्माद् न सर्वं प्राप्तं पश्यति अञ्जनं शलाका वा । यथाच प्राणादीनां हि प्राप्तो विषयो ननु सर्वं, सहभूगन्धाद्यग्रहणाद्, एव चक्षुषोऽपि अप्राप्तं स्यात् ननु सर्वं" (आचार्यसुबन्धुज्जिते अभिधर्मकोशे १४३)

१५७ "चक्षुःश्रोत्रे प्राप्य स्वविषये कार्यं कुरुतो, जनकत्वे सति तदप्राप्तौ अजनकत्वात् यद्यद् जनकं सद् यदप्राप्तौ यन्न जनयति तत् तदप्राप्तावेव तद् जनयति यथा कुम्भजनकः कुम्भकारो मृदो अप्राप्तौ अनुकुर्वन् कुम्भं तदप्राप्तावेव करोति तथाच एतत्" (न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकाया १११४)

"प्राप्तप्रकाशकं चक्षुः व्यवहितार्थप्रकाशकत्वात् प्रदीपवद्" — ननु चक्षुषः तैजसत्वे किं मानम् इति चेत्, चक्षुः तैजस परकीयस्पर्शव्यञ्जकत्वे सति परकीयरूपव्यञ्जकत्वात् प्रदीपवद् अथवा प्रभाया दृष्टान्तत्वसम्भवाद् आद्यं 'परकीये'ति न

देयम्” (प्ररास्तापादकन्दल्यां : साधर्म्यवैधर्म्यप्रकरणे न्यायमुक्तावल्यां : कारि.४२).

“...बुद्धि तत्र इन्द्रियाधीना तेन प्रत्यक्षम् अश्नुते. प्रमाणफलभावश्च यथेष्टं परिकल्प्यतां सर्वथापि अनिमित्तत्वं विद्यमानोपलम्भनात्. यद्वा इन्द्रियं प्रमाण स्यात् तस्य वा अर्थेन संगति. मनसो वा इन्द्रियै. योगे आत्मना सर्वैव वा. तदा ज्ञानं फलं तत्र व्यापारात् च प्रमाणता. व्यापारो न यदा तेषां तदा न उत्पद्यते फलम्. नच सर्वात्मना अक्षेण सम्बन्धो अर्थस्य विद्यते येन सर्वार्थबोध. स्यात् तत्प्रमाणाभिधायिनाम्. प्राप्तिमात्रं हि सम्बन्धो न इन्द्रियस्य अभ्युपेयते, मा भूत् कारणमात्रेण त्वचा रूपावधारणम्. यथा प्रमाणनिष्पत्तौ योग्यत्वाद् इन्द्रियार्थयो. नियता संगति. हेतु. फलेऽपि एवं भविष्यति. योगस्य द्वयाश्रयत्वेऽपि भवति अन्यतराश्रयो व्यपदेश.” (श्लोकवार्तिके प्रत्यक्षसूत्रे : ५८-६५).

“ननु एवं दूरे अर्थ इति सान्तरालग्रहणं न स्यात्, प्राप्तौ सत्त्वा दूरत्वासम्भवात् प्राप्यकारित्वात् स्पर्शनवत्. किञ्च संयोगस्य गतिनिबन्धनत्वाद् गतिमता च क्रमेण आसन्नदूगमनाद् समकालम् आसेदुषा दवीयसा च अर्थानां ग्रहणं न उपपद्यते. उच्यते भोगायतनपेक्षया सान्तरालग्रहणं तावद् उपपन्नम् समसमयसवेदने तु केचित् परिहारम् एव वर्णयन्ति सक्त्वान् अर्थान् प्राप्य युगपदुपस्थितेन बाह्येन तेजसा एकीभूता ते चाक्षुषा रश्मयो युगपद् ग्रहणहेतव इति. तद् अन्ये दूषयन्ति इत्थं प्राप्तौ अभ्युपगम्यमानायां अतिदूरव्यवहितानामपि ग्रहणं दुर्निवारम्. अन्येतु आहुः क्षेपीयस्तया तेषां रश्मीनां कालभेदानवग्रहाद् योगपद्याभिमान इति. तद् अपरे न अनुमन्यन्ते अतिसन्निकृष्टेषु वस्तुषु गतिकालभेद पद्यापत्रशतभेदवत् मा नाम अवसायि. अनेकयोजनसहस्रान्तरितेषु भूमिष्ठेषु अर्थेषु ध्रुवे च सदैव कालभेदानवसायो न बुद्धिम् अनुरञ्जयति. वयन्तु वदामो अदृष्टसापेक्षत्वाद् अदोषः. नयनरश्मिभिः एकीभूतेऽपि बाह्ये तेजसि यावानेव तस्य भागो अदृष्टवशेन उपलब्धिहेतुतया उपात्तः तावानेव उपलब्धये प्रभवति न सर्वम् इति.” (प्रकरणपञ्चिकायाः ६।१३४).

^४द्रष्टव्य : स्याद्वादमञ्जर्या : २८.

“किम् इदं बाह्येन्द्रियत्वं नाम ? बहिरर्थग्रहणाभिमुख्य, बहिर्देशावस्थायित्व... वा स्यात् ? तत्र आद्यविकल्पे मनसा अनेकान्त, तस्य अप्राप्यकारित्वेऽपि बहिरर्थग्रहणाभिमुख्यतो बाह्येन्द्रियत्वसद्भावात्. द्वितीयविकल्पेऽपि रश्मिरूपस्य गोलकस्वभावस्य वा चक्षुषो बहिर्देशे अवस्थायित्वं स्यात् ? प्रथमपक्षे किमिदं

तत्र तस्य अवस्थायित्वम् — आश्रितत्व प्रकाशकत्वेन प्रवृत्ति वा ? तत्र आद्यविकल्पे
 अपसिद्धान्तो, रश्मिरूपस्य चक्षुषो भवता बहिर्देशाश्रितत्वस्य अनभ्युपगमात्,
 गोलकान्तार्गततेजोद्रव्याश्रया हि रश्मयो भवन्ति, प्रतिज्ञाता द्वितीयकल्पे तु असिद्धो
 हेतु, रश्मिरूपस्य चक्षुषो ग्राहकप्रमाणाभावात् प्रकाशकत्वेन बहिर्देशे तत्प्रवृत्ते असिद्धे,
 गोलकस्वभावस्य तु चक्षुषो बहिर्देशावस्थायित्वे प्रत्यक्षबाधा, अर्धदिशासम्बद्धस्य
 शरीरप्रदेशाएव प्रत्यक्षत प्रतीते धर्मित्वेन च अत्र उपात्त चक्षु गोलकस्वभाव
 रश्मिरूप वा ? प्रथमपक्षे प्रत्यक्षविरोधो अर्थेन असम्बद्धस्य अर्धदिशापरिहारेण
 शरीरप्रदेशाएव गोलकस्वभावस्य चक्षुष प्रत्यक्षत प्रतीते अन्यथा तद्रहितत्वेन
 नयनपक्षमप्रदेशस्य उपलम्भ स्यात् द्वितीयपक्षे तु धर्मिणो असिद्धि, रश्मिरूपस्य
 चक्षुष कुतश्चित् प्रमाणाद् अप्रसिद्धे तत्साधक हि प्रमाण प्रत्यक्षम् अनुमान
 वा स्यात् ? न तावत् प्रत्यक्षम्, अर्थवत् तत्र तत्स्वरूपाप्रतीते न खलु रश्मय
 प्रत्यक्षत प्रतीयन्ते, विप्रतिपत्त्यभावप्रसंगात् नहि नीले नीलतया प्रतीयमाने कश्चिद्
 विप्रतिपद्यते किञ्च इन्द्रियार्थसन्निकर्षज प्रत्यक्ष भवन्मते नच अर्धदेशे विद्यमाने
 तै अपरेन्द्रियस्य सन्निकर्षो अस्ति, यत् तत्र प्रत्यक्षम् उत्पद्येत अनवस्थाप्रसंगात्
 अनुमानतोऽपि अतएव एतेन यद् उक्त रश्मिप्रसाधकम् अनुमान 'रश्मिवत्
 चक्षु तैजसत्वाद्' इति तत् प्रत्याख्यात रश्मिवत्ता गोलकरूपस्य चक्षुष प्रसाध्यते
 तद्व्यतिरिक्तस्य वा ? न तावद् व्यतिरिक्तस्य तस्य असिद्धस्वरूपत्वाद्
 अपसिद्धान्तप्रसंगात् च गोलकरूपस्य तु तत्साधने पक्षस्य प्रत्यक्षप्रत्यक्षबाधा,
 प्रभासुखभारहितस्य गोलकस्य प्रत्यक्षत प्रतीते अथ अदृश्या तद्दर्शय
 अनुद्भूतरूपस्पर्शवत्त्वाद् अतो न अस्य प्रत्यक्षबाधा, कथम् एव रूपप्रकाशकत्वं
 तस्य स्यात् ? तथाहि चक्षु रूपप्रकाशक न भवति अनुद्भूतरूपत्वाद् जलरायुक्तानलवत्
 नच अनुद्भूतरूपस्पर्शं तेजोद्रव्यं क्वचित् प्रतीयते अथ मार्जारादिचक्षुषो प्रत्यक्षत
 प्रतीयन्ते रश्मय तत् कथं तद्विरोध ? यदि नाम तत्र प्रतीयन्ते अन्यत्र किम्
 आयातम् ? यद् रश्मिवत् तद् तदर्थप्रकाशने न आलोकापेक्ष यथा प्रदीपो
 रश्मिवत् च भवद्भि अभिप्रेत चक्षुरिति यदपि 'तैजसत्वाद्' इति साधनम्
 उक्त तदपि अयुक्तम् असिद्धत्वाद् अनुमानबाध च तथाहि चक्षु तैजस
 न भवति भासुरूपोष्णस्पर्शरहितत्वात् यद्यत् तथाविध तत्तत् तैजस न भवति
 यथा मृत्पिण्डादि भासुरूपोष्णस्पर्शरहित च चक्षु तस्मात् तैजस न भवतीति
 तथा न तैजस चक्षु तमप्रकाशकत्वात् यत् पुन तैजस न तद् न तमप्रकाशक
 यथा आलोक तमप्रकाशक च चक्षु तस्माद् न तैजसम् इति किञ्च
 अस्य प्राप्यकारित्वे विषय चक्षुर्देशम् आगच्छेत् चक्षु वा विषयदेशम् ? तत्र
 आद्यविकल्पे प्रत्यक्षबाधा द्वितीयविकल्पेऽपि अध्यक्षविरोधो विषय प्रति चक्षुषो

गमनाद्वतीते. चक्षु गत्वा न अर्थेन अभिसम्बद्धयते इन्द्रियत्वात् त्वगादिवद् इति अनुमानविरोधः च तदविशेषेऽपि दृष्टातिरूपेण कस्यचित् तत्र गत्वा सम्बन्धाभ्युपगमे यथाप्रतीतिरिति असम्बद्धा एव किं न अभ्युपगम्यते? अतः प्रतीत्यपलापेन^१. किञ्च चक्षु गत्वा अर्थं चेद् द्योतयति तर्हि . काचाभ्रपटलस्वच्छोदकस्फटिकाद्यन्तरितार्थानाम् उपलम्भः स्यात् चक्षुषः तत्र गच्छतः काचाद्यवयविना प्रतिबन्धात्? अथ काचादिकं भित्त्वा चक्षुःसमयो अर्थं दिशः गच्छन्ति तर्हि तदव्यवहितार्थोपलम्भसमये काचादेः अनुपलम्भः... एतेन शाखाचन्द्रमसो क्रमेण अनुभवेऽपि आशुवृत्त्या उत्पलपत्रशतव्यति-
भेदवद् युगपत्प्रतिपत्त्यभिमानो भ्रान्तिनिवन्धन इति प्रत्याख्यातम्... शरीरमेक्षया चक्षुर्विषयस्य सनिकृष्टविप्रकृतोपपत्तेः दूरनिकटादिव्यवहारानुपपत्तेः. तथाहि यद् इन्द्रियसनिकर्षेण प्रतीयते न तत्र दूरनिकटादिव्यवहारो यथा रसादौ, इन्द्रियसनिकर्षेण प्रतीयते च चक्षुर्विषय इति. प्राप्यकारित्वे च चक्षुषः सशयविपर्यासानुपपत्तिः, सामान्यवद् विशेषाणामपि सनिकृष्टानाम् उपलम्भसम्भवात् विशेषानुपलब्धिनिमित्तो हि सशयो विपर्यासः च न च चक्षुषा सनिकृष्टत्वाविशेषेऽपि सामान्यमेव उपलभ्यते न विशेष इति अभिधातव्यम्, विशेषाभावात्” (न्यायकुमुदचन्द्रोदये. १प्रत्यक्षपरिच्छेदे लघीयस्त्रये : ११४)

^१द्रष्टव्यः स्याद्वादमञ्जरी २८

“सर्वगतं चिदात्मानम् आवृत्य स्थिता भावरूपा अविद्या विविधजगदाकारेण विवर्तते तत्र शरीरमध्ये स्थितो ‘अन्तःकरण’ख्यो अविद्याविवर्तो धर्माधर्मप्रतिरो-
नेत्रादिद्वारा निर्गत्य यथोचितं घटादिविषयान् व्याप्य तत्तदाकारो भवति यथा लोके पूर्णतटाकस्थम् उदकं सेतुगतच्छिद्राद् निर्गत्य कुल्याप्रवाहरूपेण केदारान् प्रविश्य चतुष्कोणत्वेन त्रिकोणत्वेन वर्तुलत्वेन वा तत्तत्केदारानुसारि अवतिष्ठते तद्वत् नहि उदकवद् अन्तःकरणं परिस्यन्दते येन अतिदूरवर्तिचन्द्रनक्षत्रध्रुवादिप्राप्ति-
ज्ञातं न सिध्येत् किन्तर्हि? सूर्यरश्मिवत् तैजसत्वाद् दीर्घप्रभाकारेण परिणमते अतएव रश्मिवत् सहसा सकोचोऽपि उपपन्नः उपपन्नश्च अन्तःकरणस्य क्षीरादिवत् सावयवत्वात् परिणामः तच्च परिणतम् अन्तःकरणं देहाभ्यन्तरो घटादौ च सम्यग् व्याप्य देहघटयोः मध्येदेशेऽपि दण्डायमानम् अविच्छिन्नं व्यवतिष्ठते तत्र देहावच्छिन्नान्तःकरणभागो ‘अहंकार’ख्यः ‘कर्ता’ इति उच्यते देहविषयमध्यवर्तिदण्डा-
यमानं तद्भागो ‘वृत्तिज्ञाना’भिधा ‘क्रिया’ इति उच्यते विषयव्यापकं तद्भागो विषयस्य ज्ञानकर्मात्मसम्पादकम् ‘अभिव्यक्तियोग्यम्’ इति उच्यते तस्य त्रिभागस्य अन्तःकरणस्य अतिस्वच्छत्वात् नैतन्म तत्र अभिव्यज्यते तस्य अभिव्यक्तस्य

चैतन्यस्य एकत्वेऽपि अभिव्यञ्जकान्त करणभेदात् त्रिधा व्यपदेशो भवति कर्तृभागा-
वच्छिन्न चिदश प्रमाता, क्रियाभागावच्छिन्न चिदश प्रमाण, विषयगतयोग्यत्वभागाव-
च्छिन्न चिदश प्रमितिरिति प्रमातृप्रमाणप्रमितीनाम् असाकर्यम् ” (विवरणप्रमेयसंग्र-
हे १।११३/ए)

“इन्द्रियाणि पञ्च घ्राणरसनचक्षुश्रोत्रत्वगात्मकानि सर्वाणि च स्वस्वविषयसमु-
क्तान्येव प्रत्यक्षज्ञान जनयन्ति तत्र घ्राणरसनत्वगात्मकानि इन्द्रियाणि स्वस्थानस्थितान्येव
गन्धरसस्पर्शोपलम्भान् जनयन्ति चक्षुश्रोत्रे तु स्वतएव विषयदेश गत्वा स्वस्वविषय
गृह्णीत, श्रोत्रस्यापि चक्षुरादिवत् परिच्छिन्नतया भेदादिदेशगमनसम्भवात् ” (वेदान्तप-
रिभाषाया १)

“किञ्च स्याद् एतद् एव यदि घटाद्यधिष्ठानचैतन्यस्य घटादिज्ञानत्व
स्यात् तदेव तावद् अनुपपन्नम् तथाहि चैतन्यस्य घटादिज्ञानत्व वदन् प्रष्टव्य कस्माद्
इदम् अनानुभविक कल्प्यते? दृष्टृश्ययो सम्बन्धन्तरायोगाद् अध्यासरूपसम्बन्धघटनार्थ
येत् तत्र वक्तव्य अध्याससम्बन्धविधुरा घटवृत्तिरपि घटज्ञान भवति न वा?
न तावद् द्वितीय पटवृत्त्यापि घटाज्ञाननिवृत्त्यापातात् आद्ये कथं तस्य तज्ज्ञानता?
तदाकारत्वाद् इति चेद् न, तथा सति तवापि आवश्यकत्वात् तत्तदाकारतत्तदवृत्तैरेव
तत्तज्ज्ञात्वसम्भवेन अधिष्ठानचैतन्यस्यापि तज्ज्ञानत्वागीकारवैयर्थ्यापातात् घटान्तर-
स्यापि अपरघटीयत्वापातात् च आकारविशेषरहितरूपसख्यासामान्याभावादिज्ञानाना
ज्ञानत्वाभावापातात् च परोक्षज्ञानेन चक्षुरादिकरणसहकाराभावेन अर्थासम्बद्धान्त कर-
णस्य तदाकारत्वासम्भवेन परोक्षज्ञानस्य तज्ज्ञानत्वायोगात् च स्वतो निराकारस्य
अन्तःकरणस्य कुल्यादिद्वारा बहिर्निर्गुततटाकजलस्य केदारसम्बन्धात् तदाकारइव
चक्षुरादिकरणद्वारा बहिर्निर्गतस्य तत्तत्करणसम्बद्धान्तसम्बन्धादेव हि तत्तदाकार
नहि तटाकान्तर्वर्तिसोपानपरम्परा बाह्यपुद्गल जलस्य केदारगमनद्वारा वा किन्तु
उभयसम्बन्धिकुल्यैव तथा अन्तःकरणबाह्यपदार्थसम्बद्धचक्षुरादैरेव त्वयापि द्वातरया
उक्तत्वाद् युक्तत्वात् च किञ्च घटाकारवृत्त्या घटाविद्या निवर्तता चैतन्याविद्या
कुतो निवर्तेत भिन्नविषयत्वात्? यदिच सैव वृत्ति चैतन्यमपि विषयीकरोति
इति मतं तर्हि किम् इदं वृत्ते स्वानध्यस्तनिराकारचैतन्यविषयीकरण नाम? तदुल्लेख
चेत् तर्हि सर्वत्र तनेव तत्तज्ज्ञानत्वसम्भवेन किम् अनानुभविककाराध्यासकल्पनया?
किञ्च कथम् इदं नीरूपचैतन्यविषयकत्वं चाक्षुषवृत्ते? स्वविषयकघटानुस्यूतत्वात्
चेत् तर्हि तादृशगगन गुरुत्वं वा कुतो न विषय? घटपटसमूहालम्बनज्ञानानुव्यवसायवद्
'घटतदधिष्ठानचैतन्ये अहं जानामि' इति अनुव्यवसायापातात् च ”
(श्रीवादिप्रजयतिकृते विवरणव्रणे पृ १०-११)

गमनाप्रतीति. चक्षु गत्वा न अर्थेन अभिसम्बद्धयते इन्द्रियत्वात् त्वगादिवद्
 इति अनुमानविरोध च. तदविशेषेऽपि दृष्टातिक्रमेण कस्यचित् तत्र गत्वा सम्बन्धाभ्युपगमे
 यथाप्रतीति असम्बद्धा एव किं न अभ्युपगम्यते? अल प्रतीत्यपलापेन!.. किञ्च
 चक्षु गत्वा अर्थं चेद् द्योतयति तर्हि... काचाभ्रपटलस्वच्छोदकस्फटिकाद्यन्तरितार्थानाम्
 उपलम्भ स्यात् चक्षुष तत्र गच्छत काचाद्यवयविना प्रतिबन्धात्? अथ काचादिक
 भित्त्वा चक्षूरसमयो अर्थदेश गच्छन्ति तर्हि तदव्यवहितार्थोपलम्भसमये काचादे
 अनुपलम्भ... एतेन शाखाचन्द्रमसो क्रमेण अनुभवेऽपि आशुवृत्त्या उत्पलपत्रशतव्यति-
 भेदवद् युगपत्प्रतिपत्त्यभिमानो भ्रान्तिनिबन्धन इति प्रत्याख्यातम्... शरीरपेक्षया
 चक्षुर्विषयस्य सनिकृष्टविप्रकृष्टतोपपत्ते दूरनिकटादिव्यवहारानुपपत्ते. तथाहि यद्
 इन्द्रियसनिकर्षेण प्रतीयते न तत्र दूरनिकटादिव्यवहारो यथा रसादौ, इन्द्रियसनिकर्षेण
 प्रतीयते च चक्षुर्विषय इति. प्राप्यकारित्वे च चक्षुष सशयविपर्यासानुपपत्ति,
 सामान्यवद् विशेषाणामपि सनिकृष्टानाम् उपलम्भसम्भवात्. विशेषानुपलब्धिनिमित्तो
 हि सशयो विपर्यास च. नच चक्षुषा सनिकृष्टत्वाविशेषेऽपि सामान्यमेव उपलभ्यते
 न विशेष इति अभिधातव्यम्, विशेषाभावात्” (न्यायकुमुदचन्द्रोदये १प्रत्यक्षपरिच्छेदे
 लघीयस्त्रये : १।४)

‘द्रष्टव्य : स्याद्वादमञ्जरी . २८

“सर्वगत चिदात्मानम् आवृत्य स्थिता भावरूपा अविद्या विविधजगदाकारेण
 विवर्तते. तत्र शरीरमध्ये स्थितो ‘अन्तःकरण’ ह्यो अविद्याविवर्तो धर्माधर्मिप्रतिरो
 नेत्रादिद्वारा निर्गत्य यथोचित घटादिविषयान् व्याप्य तत्तदाकारो भवति यथा
 लोके पूर्णतटाकस्थम् उदकं सेतुगतच्छिद्राद् निर्गत्य कुल्याप्रवाहरूपेण केदरान्
 प्रविश्य चतुष्कोणत्वेन त्रिकोणत्वेन वर्तुलत्वेन वा तत्तत्केदारानुसारि अवतिष्ठते
 तद्वत् नहि उदकवद् अन्तःकरणं परिस्सन्दते येन अतिदूरवर्तिचन्द्रनक्षत्रध्रुवादिप्राप्ति
 झटति न सिध्येत्. किन्तर्हि? सूर्यरश्मिवत् तैजसत्वाद् दीर्घप्रभाकारेण परिणमते
 अतएव रश्मिवत् सहसा सक्तेचोऽपि उपपन्न. उपपन्नश्च अन्तःकरणस्य क्षीरादिवत्
 सावयवत्वात् परिणाम तच्च परिणतम् अन्तःकरणं देहाभ्यन्तरे घटादौ च सम्यग्
 व्याप्य देहघटयो मध्येदेशेऽपि दण्डायमानम् अविच्छिन्नं व्यवतिष्ठते तत्र
 देहानविच्छिन्नान्तःकरणभागो ‘अहकारा’ ह्य ‘कर्ता’ इति उच्यते. देहविषयमध्यवर्तिदण्डा-
 यमान तद्भागो ‘वृत्तिज्ञाना’भिधा ‘क्रिया’ इति उच्यते. विषयव्यापकं तद्भागो
 विषयस्य ज्ञानकर्मत्वसम्पादकम् ‘अभिव्यक्तियोग्यम्’ इति उच्यते. तस्य त्रिभागास्य
 अन्तःकरणस्य अतिस्वच्छत्वात् चैतन्यं तत्र अभिव्यज्यते. तस्य अभिव्यक्तस्य

नैतन्यस्य एकत्वेऽपि अभिव्यञ्जकान्त करणभेदात् त्रिधा व्यपदेशो भवति कर्तृभागा-
वच्छिन्न चिदश प्रमाता, क्रियाभागावच्छिन्न चिदश प्रमाण, विषयगतयोग्यत्वभागाव-
च्छिन्न चिदश प्रमितिरिति प्रमातृप्रमाणप्रमितीनाम् असाकर्यम्” (विवरणप्रमेयसग्र-
हे १।११३/ए)

“इन्द्रियाणि पञ्च घ्राणरसनचक्षुश्रोत्रत्वगात्मकानि सर्वाणि च स्वस्वविषयसयु-
क्तान्येव प्रत्यक्षज्ञान जनयन्ति तत्र घ्राणरसनत्वगात्मकानि इन्द्रियाणि स्वस्थानस्थितान्येव
गन्धरसस्पर्शोपलम्भान् जनयन्ति चक्षुश्रोत्रे तु स्वतएव विषयदेश गत्वा स्वस्वविषय
गृहीत, श्रोत्रस्यापि चक्षुरादिवत् परिच्छिन्नतया भेदादिदेशगमनसम्भवात्” (वेदान्तप-
रिभाषाया १)

“किञ्च स्याद् एतद् एव यदि घटाद्यधिष्ठानचैतन्यस्य घटादिज्ञानत्व
स्यात् तदेव तावद् अनुपपन्नम् तथाहि चैतन्यस्य घटादिज्ञानत्व वदन् प्रष्टव्य कस्माद्
इदम् अनानुभविक कल्प्यते? दृष्टृश्ययो सम्बन्धन्तरयोगाद् अध्यासरूपसम्बन्धघटनार्थ
चेत् तत्र वक्तव्य अध्याससम्बन्धविधुरा घटवृत्तिरपि घटज्ञान भवति न वा?
न तावद् द्वितीय पटवृत्त्यापि घटाज्ञाननिवृत्त्यापातात् आद्ये कथं तस्य तज्ज्ञानता?
तदाकारत्वाद् इति चेद् न, तथा सति तवापि आवश्यकत्वात् तत्तदाकारतत्तदयुत्तरेव
तत्तज्ज्ञात्वसम्भवेन अधिष्ठानचैतन्यस्यापि तज्ज्ञानत्वागीकारवैयर्थ्यापातात् घटान्तर-
स्यापि अपरघटीयत्वापातात् च आकारविशेषरहितरूपसख्यासामान्याभावादिज्ञानाना
ज्ञानत्वाभावापातात् च परोक्षज्ञानेन चक्षुरादिकरणसहकाराभावेन अर्थासम्बद्धान्त कर-
णस्य तदाकारत्वासम्भवेन परोक्षज्ञानस्य तज्ज्ञानत्वायोगात् च स्वतो निराकारस्य
अन्तकरणस्य कुल्यादिद्वारा बहिर्निःसृततटाकजलस्य केदारसम्बन्धात् तदाकारइव
चक्षुरादिकरणद्वारा बहिर्निर्गतस्य तत्तत्करणसम्बद्धार्थसम्बन्धादेव हि तत्तदाकार
नहि तटाकान्तर्वर्तिसोपानपरम्परा बाह्यपुरद्वार जलस्य केदारगमनद्वार वा किन्तु
उभयसम्बन्धिकुल्यैव तथा अन्तकरणबाह्यपदार्थसम्बद्धचक्षुरादेरेव त्वयापि द्वारतया
उक्तत्वाद् युक्तत्वात् च किञ्च घटाकारवृत्त्या घटाविद्या निवर्तता चैतन्याविद्या
कुतो निवर्तत भिन्नविषयत्वात्? यदिच सैव वृत्ति चैतन्यमपि विषयीकरोति
इति मतं तर्हि किम् इदं व्युत्तं स्वानध्यस्तनिराकारचैतन्यविषयीकरण नाम? तदुल्लेख
चेत् तर्हि सर्वत्र तमेव तत्तज्ज्ञानत्वसम्भवेन किम् अनानुभविककाराध्यासकल्पनया?
किञ्च कथम् इदं नीरूपचैतन्यविषयकत्वं चाक्षुषवृत्ते? स्वविषयकघटानुस्यूतत्वात्
चेत् तर्हि तादृशगमन गुरुत्वं वा कुतो न विषय? घटपटसमूहात्मनज्ञानानुव्यवसायवद्
‘घटादद्यधिष्ठानचैतन्ये अहं जानामि’ इति अनुव्यवसायापातात् च ”
(श्रीवाटिराजयतिवृत्ते विवरणव्रणे पृ ९०-९१)

गमनप्रतीति. चक्षु. गत्वा न अर्थेन अभिसम्बद्धयते इन्द्रियत्वात् त्वगादिवद्
 इति अनुमानविरोध. च. तदविशेषेऽपि दृष्टातिक्रमेण कस्यचित् तत्र गत्वा सम्बन्धाभ्युपगमे
 यथाप्रतीति असम्बद्धएव किं न अभ्युपगम्यते? अतं प्रतीत्यपलापेन!... किञ्च
 चक्षु गत्वा अर्थं चेद् द्योतयति तर्हि... काचाप्रपटलस्वच्छोदकस्फटिकाद्यन्तरितार्थानाम्
 उपलम्भ स्यात् चक्षुष तत्र गच्छत. काचाद्यवयविना प्रतिबन्धात्? अथ काचादिकं
 भित्त्वा चक्षूरुभयो अर्थद्विशं गच्छन्ति तर्हि तद्व्यवहितार्थोपलम्भसमये काचादे
 अनुपलम्भ... एतेन शाखाचन्द्रमसो. क्रमेण अनुभवेऽपि आशुवृत्त्या उत्पलपत्रशतव्यति-
 भेदवद् युगपत्प्रतिपत्त्यभिमानो भ्रान्तिनिबन्धन इति प्रत्याख्यातम्... शरीरापेक्षया
 चक्षुर्विषयस्य सनिकृष्टविप्रकृष्टतोपपत्ते. दूनिकटादिव्यवहारानुपपत्ते. तथाहि यद्
 इन्द्रियसनिकर्षेण प्रतीयते न तत्र दूनिकटादिव्यवहारो यथा रसादौ, इन्द्रियसनिकर्षेण
 प्रतीयते च चक्षुर्विषय इति. प्राप्यकारित्वे च चक्षुष. संशयविपर्यासानुपपत्ति,
 सामान्यवद् विशेषाणामपि सनिकृष्टानाम् उपलम्भसम्भवात्. विशेषानुपलब्धिनिमित्तो
 हि सशयो विपर्यास च. नच चक्षुषा सनिकृष्टत्वाविशेषेऽपि सामान्यमेव उपलभ्यते
 न विशेष इति अभिधातव्यम्, विशेषाभावात्” (न्यायकुमुदचन्द्रोदये. १प्रत्यक्षपरिच्छेदे
 लघीयस्त्रये : ११४).

^६द्रष्टव्य : स्याद्वादमञ्जरी : २८.

^७“सर्वगत चिदात्मानम् आवृत्य स्थिता भावरूपा अविद्या विविधजगदाकारेण
 विवर्तते. तत्र शरीरमध्ये स्थितो ‘अन्तःकरण’ख्यो अविद्याविवर्तो धर्माधर्मप्रेरितो
 नेत्रादिद्वारा निर्गत्य यथोचित घटादिविषयान् व्याप्य तत्तदाकारो भवति. यथा
 लोके पूर्णतटाकस्थम् उदकं सेतुगतच्छिद्राद् निर्गत्य कुल्याप्रवाहरूपेण केदारम्
 प्रविश्य चतुष्कोणत्वेन त्रिकोणत्वेन वर्तुलत्वेन वा तत्तत्केदारानुसारि अवतिष्ठते
 तद्वत्. नहि उदकवद् अन्तःकरणं परिस्यन्दते येन अतिसूक्ष्मवर्तिचन्द्रनक्षत्रध्रुवादिप्राप्ति
 झटति न सिध्येत् किन्तर्हि? सूर्यरश्मिवत् तैजसत्वाद् दीर्घप्रभाकारेण परिणमते.
 अतएव रश्मिवत् सहसा सकोचोऽपि उपपन्न. उपपन्नश्च अन्तःकरणस्य क्षीरादिवत्
 सावयवत्वात् परिणाम तच्च परिणतम् अन्तःकरणं देहाभ्यन्तरे घटादौ च सम्यग्
 व्याप्य देहघटयो. मध्येदेशेऽपि दण्डायमानम् अविच्छिन्नं व्यवतिष्ठते. तत्र
 देहावच्छिन्नान्तःकरणभागो ‘अहकार’ख्य ‘कर्ता’ इति उच्यते. देहविषयमध्यवर्तिदण्डा-
 यमान तदभागो ‘वृत्तिज्ञाना’भिधा ‘क्रिया’ इति उच्यते. विषयव्यापक तदभागो
 विषयस्य ज्ञानकर्मत्वसम्पादकम् ‘अभिव्यक्तियोग्यम्’ इति उच्यते. तस्य त्रिभागस्य
 अन्तःकरणस्य अतिस्वच्छत्वात् चैतन्यं तत्र अभिव्यज्यते. तस्य अभिव्यक्तस्य

‘रूपादिषु पञ्चानाम् आलोचनमात्रम् इष्यते वृत्तिः’ ‘आलोचन’=ग्रहणम् इति अनर्थान्तरम् तत्तु ग्रहणरूपं नतु प्रकाशक प्रदीपवद् इत्यत्र को हेतु इति ? उच्यते न कारणान्तरप्रसंगात् यदि प्रदीपवद् इन्द्रिय प्रकाशक स्यात् तेन तथा प्रकाशितेषु घटादिषु अर्थेषु करणान्तरमार्गणमेव अत्रापि स्यात् तस्माद् युक्तम् एतद् ग्राहकम् इन्द्रियं नतु प्रदीपवत् प्रकाशकम् इति ग्रहणप्रकाशानाम् इदानीं को भेदः ? उच्यते—विषयसम्पर्कात् ताद्रूप्यापत्तिः इन्द्रियवृत्तिः ग्रहणम् तथा विषयेन्द्रियवृत्त्यनुकारेण निश्चयो ‘गौ अयं शुक्लो धावति’ इत्येवमादि प्रत्यय तथा विषयसम्पर्कापगमे श्रोत्रादिवृत्ते ताद्रूप्यापगमो वर्तमानकालता, ग्रहणस्य अनुभवानु सस्काराधानं तत्पूर्विका च स्मृति इति त्रिकालविषया प्रत्ययस्य इति अयम् अनयो विशेषः बाह्यस्तु प्रकाशो न विषयरूपापन्नं सस्कारानु घटादीनां व्यवधानरूप पार्थिवं छायालक्षणं धर्मम् अपहृत्य व्यञ्जकत्वाय कल्पते, चक्षुषो अनुग्रहाय” (श्रीभोजराजकृताया युक्तिदीपिकाया ३१२६-२८)

“इच्छारूपं हि मनो व्यापारः तस्य भवति सकल्पो बुद्ध्यक्षणाणि श्रोत्रं त्वम् दृष्ट्वा जिह्वा च नासा च ग्राह्या तेषां शब्दस्पर्शो रूपरसश्च गन्धश्च शब्दादीनां ग्रहणं व्यापारः कीर्तितः क्रमाद् एषाम् शब्द आदि येषां ते शब्दादयः तेषां ग्रहणं तदाकारभजनम् एषाम् इन्द्रियाणां व्यापारः उक्तं तत्त्वज्ञैः इति अर्थः” (श्रीभोजराजकृते तत्त्वप्रकाशे ४१७-९)

“ज्ञानप्रधानाद् महत्तत्त्वात् क्रियाशान्तिः अहंकारः समुत्पन्नः स च त्रिविधः उत्पत्त्यैव सत्त्वैव समपद्यतः, क्रिया हि भेदिका कारणभूतः गुणत्रयः कार्ये भिन्नतयैव उत्पादितवती ‘वैकारिकः’=सात्त्विकः ‘तैजसो’=राजसतामसश्च यतः त्रिविधाद् मनसः इन्द्रियाणां भूतानां च सम्भवः ‘महता’=तन्मात्राणामपि बुद्धेः उत्पत्तिम् आह ‘तैजसानु’ इति ‘विकुर्वाणाद्’=राजसाद् बुद्धितत्त्वम् अभूत् ‘सति’=विषये वा, सर्वविषयिकैव बुद्धिः उत्पद्यत इति यथा इन्द्रियप्रेरकत्वं मनसः तथा इन्द्रियानुग्राहकत्वं बुद्धेः बुद्ध्यैव अनुगृहीतानि इन्द्रियाणि पश्यन्ति कुर्वन्ति च अतएव बुद्धितारतम्येन इन्द्रियज्ञानक्रिययोः तारतम्यम् एतत् कार्यानुसारि लक्षणं ‘द्रव्यस्फुरणविज्ञानम्’ इति स्वरूपलक्षणम् द्रव्यस्य घटादेः स्फुरणे सति शब्देन, सस्कारेण, आलोचनेन वा यद् विशिष्टज्ञानं, यस्मात् केवलं चक्षुषा ज्ञाने तारतम्यं न स्यात् स्वतस्स्फुरणयोगजधर्मादिभिरेपि भवति अतो द्रव्यस्फुरणैव विज्ञानं बुद्धेः लक्षणम् ‘तैजसानि’ इति, ज्ञानकरणकानि क्रियाकरणकानि च उभयविधान्यपि राजसान्येव, नतु ज्ञानकरणकानि सात्त्विकानि क्रियाकरणकानि तामसानि वा

“यदि एवम् इन्द्रियाणि देहान्तस्थानि तदा कथं चक्षुरश्रोत्रयो दूरस्थग्रहन्त्वम्... वृत्तिद्वारा सम्बन्धाद्... ननु वृत्तिः यदि स्वरूपं देहपरिच्छिन्नत्वात् न दूरस्थे वृत्तिः, धर्मोऽपि न धर्मिणम् अतिवर्तत... भूते सह इति वा चोपरयन्ति इतिवद् वा... यद्यपि अग्राप्यकारित्वं हेतुकात्या हठात्कारेण वक्तुं शक्यं, तथापि ‘दिवीच चक्षुराततम्’ इत्याद्यागमिकव्यवहारस्यारस्यवाधाभावाद् वृत्तिद्वारा प्राप्त्युक्तिः... ‘सर्वे प्राणाः अनूत्क्रामन्ति’ इति श्रुते संकोचकाभावात्... तत्र बाह्ये एवम् उच्यते ‘वृत्तिप्रसारेण क्रमयोगपटविकल्पायोगाद् दूरस्थविषया प्राप्तिः न भवतीत्यतो यद् रूपग्राहकम् इन्द्रियं तद् अग्राप्यग्राहि यथा मनः’ इति. तत्र तावत् प्रत्यनुमानम् आह—ग्राप्यग्राहि इन्द्रियत्वाद् विमतम् इतरवत् प्राप्ति उक्तप्रकारा वृत्ति दृष्टे न रूपे विरलपटनयाद् अम्बुकाचादि अच्छो नोवेद गृह्येत योम्य सममिह निखिल निष्फले छादकादौ स्थैर्यं तद्योग्यभावो नहि गलति समा सन्तति. त्वन्तेऽपि. अतिप्रसंगो असम्बद्धग्रहणे स्यात् सम तु इदं सम्बद्धग्रहणेऽपीति न सदं योप्यान्वितग्रहाद्. गृहीतस्य इष्यते कश्चित् सम्बन्धो अव्यभिचारतो न सम्बद्धस्य सर्वस्य ग्रहणं व्यभिचारतः... ननु उन्मिषितमात्रं चक्षुः चन्द्रं गमयति. नच एकस्मिन् क्षणे तावान् देशो वृत्त्या लघयितुं क्षमः. क्रमेण प्रतिपरमाश्रयवच्छेदं विलम्ब्य गमनात् प्रतीतिरपि विलम्बेत. दूरसन्नग्रहणकाल-तारम्यं च स्यात्. मैव, उदत्येव सवितरि सकलदिग्व्यापिन्यां प्रभायामिव इन्द्रियवृत्ते तादृशवेगातिशयस्य अविस्मयनीयतया पद्मपत्ररातवेधनीत्या योगपट्याभिमानोपपत्तेः... यत्तु कैश्चिद् उच्यते निष्क्रान्तमात्रमेव चाक्षुषं तेजो बाह्येन बहुदेशव्यापिना चन्द्रसूर्यादिज्योतिषा सवलितं तावत् प्रथिमानम् अवयविनम् आरभते तेनच सम्बन्धाद् उन्मिषितस्य दूरस्थग्रहणं दूरसन्नयो युगपद्ग्रहणं च सिद्धयेद् इति तद् अयुक्तं निष्क्रमणकल्पनस्य गुरुत्वाद् अनिष्क्रान्तमेव किं न अवयविनम् आरभेत आन्तरनिष्क्रमणवद् बाह्यप्रवेशोपपत्तेः. अपिच अस्मिन् पक्षे त्रिभुवनविवरव्यापिना तेजसा सह चाक्षुषतेजस्सवलनात् तेन सम्बद्धं सर्वं युगपद् भासेत पश्चाद्भागादिस्थितं च...” (तत्त्वमुक्ताकलापसर्वार्थसिद्धौ : १।४०).

“द्विविधानि इन्द्रियाणि बुद्धीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि च... बुद्धे इन्द्रियाणि बुद्धीन्द्रियाणि. किं पुन एतानि बुद्धे इति? उच्यते—शब्दादिविषयप्रतिपत्तौ द्वारम्. कस्मात्? अबहिर्वृत्तित्वात्. अन्तःकरणस्य नास्ति बहिर्वृत्तिः इत्यतो न अलम् एतत् साक्षात् शब्दादीन् अर्थान् प्रतिपत्तुम्. तस्मात् श्रोत्रादिलक्षणं साक्षाद् बाह्यविषयप्रकाशनसमर्थं कारणान्तरम् अपेक्षते. तत्प्रणालिकया तस्य विषयग्रहणम् तस्माद् युक्तम् उक्तं बुद्धे. बाह्यविषयकप्रतिपत्तौ द्वारभूतत्वाद् बुद्धीन्द्रियाणि इति ..

‘रूपादिषु पञ्चानाम् आलोचनमात्रम् इष्यते वृत्ति’ ‘आलोचन’=ग्रहणम् इति अनर्थान्तरम् तत्तु ग्रहरूपं नतु प्रकाशक प्रदीपवद् इत्यत्र को हेतु इति ? उच्यते न कारणान्तरप्रसगात् यदि प्रदीपवद् इन्द्रिय प्रकाशक स्यात् तेन तथा प्रकाशितेषु घटादिषु अर्थेषु करणान्तरमार्गमेव अत्रापि स्यात् तस्माद् युक्तम् एतद् ग्राहकम् इन्द्रियं नतु प्रदीपवत् प्रकाशकम् इति ग्रहणप्रकाशानाम् इदानीं को भेद ? उच्यते—विषयराम्पकात् ताद्रूप्यापत्ति इन्द्रियवृत्ति ग्रहणम् तथा विषयेन्द्रियवृत्त्यनुकारेण निश्चयो ‘गो अयं शुक्लो धावति’ इत्येवमादि प्रत्यय तथा विषयसम्पर्कागमे श्रोत्रादिवृत्ते ताद्रूप्यापगमो वर्तमानकालता, ग्रहणस्य अनुभवान्तु सस्काराधानं तत्पूर्विका च स्मृति इति त्रिकालविषया प्रत्ययस्य इति अयम् अनयो विशेष बाह्यस्तु प्रकाशो न विषयरूपापन्नं सस्कारान्तु घटादीनां व्यवधानरूप पार्थिव छायालक्षण धर्मम् अपहृत्य व्यञ्जकत्वाय कल्पते, चक्षुषो अनुग्रहाय” (श्रीभोजराजकृताया युक्तिदीपिकाया ३१२६-२८)

“इच्छारूपं हि मनो व्यापार तस्य भवति सकल्पो बुद्धचक्षाणि श्रोत्रं त्वं दृग् जिह्वा च नासा च ग्राह्या तेषां शब्द स्पर्श रूप रसश्च गन्ध च शब्दादीनां ग्रहणं व्यापार कीर्तितं क्रमाद् एषाम् शब्द आदि येषां ते शब्दादयः तेषां ग्रहणं तदाकारभजनम् एषाम् इन्द्रियाणां व्यापार उक्तं तत्त्वत्रै इति अर्थ” (श्रीभोजराजकृते तत्त्वप्रकाशे ४७-९)

“ज्ञानप्रधानाद् महत्तत्त्वात् क्रियाशक्ति अहंकार समुत्पन्नं सच्च त्रिविधं उत्पत्यैव तथैव समपद्यत, क्रिया हि भेदिका कारणभूत गुणत्रयं कार्यं भिन्नतथैव उत्पादितवती ‘वैकारिक’=सात्त्विक ‘तैजसो’=राजसतामस च यत् त्रिविधाद् मनस इन्द्रियाणां भूतानां च सम्भव ‘महता’=तन्मात्राणामपि बुद्धे उत्पत्तिम् आह ‘तैजसात्तु’ इति ‘विकुर्वाणाद्’=राजसाद् बुद्धितत्त्वम् अभूत् ‘सति’=विषये वा, सर्वविषयिकैव बुद्धि उत्पद्यतइति यथा इन्द्रियप्रेरकत्वं मनस तथा इन्द्रियानुग्राहकत्वं बुद्धेः बुद्धयेव अनुगृहीतानि इन्द्रियाणि पश्यन्ति कुर्वन्ति च अतएव बुद्धितारताम्येन इन्द्रियज्ञानक्रिययो तारताम्यम् एतत् कार्यानुसारि लक्षणं ‘द्रव्यस्फुरणविज्ञानम्’ इति स्वरूपलक्षणम् द्रव्यस्य ध्याये स्फुरणे सति शब्देन, सस्कारेण, आलोकेन वा यद् विशिष्टज्ञानं, यस्मात् केवलं चक्षुषा ज्ञाने तारताम्यं न स्यात् स्वतस्फुरण योगजधर्मादिभिरपि भवति अतो द्रव्यस्फुरणैव विज्ञानं बुद्धेः लक्षणम् ‘तैजसानि’ इति, ज्ञानकरणकानि क्रियाकरणकानि च उभयविधान्यापि राजसान्येव, नतु ज्ञानकरणकानि सात्त्विकानि क्रियाकरणकानि तामसानि वा

क्रियाया प्राणो मूल ज्ञाने बुद्धि बुद्धि राजसीति तदनुगृहीतानि इन्द्रियाणि सर्वाणि राजसान्येव प्राणोऽपि सर्वेन्द्रियानुग्राहक रूपस्य लक्षणम् आह 'द्रव्याकृतित्वम्' इति द्रव्यस्य घटादे या आकृति सैव रूपस्य पृथुबुधोदराकार रूपमपि आतानवितानात्मक च द्रव्यस्येव आकृतिरिति द्रव्यस्य तु न उपमेयत्वम् अतो रूपस्यैव लक्षणम् 'गुणता' = सर्वदा उपसजनतया प्रतीति न एव शब्दादिषु स्वतन्त्रतयापि प्रतीयमानत्वात् व्यक्ते सस्यैव सस्था यस्य, यदि व्यक्ति वक्रा भवेद् रूपमपि वक्र भवेदिति उपविष्टे रूपवति रूपम् उपविष्ट भवति 'तेजसश्च तेजस्त्व' रूपतन्मात्रत्व सूक्ष्मावस्था इति अर्थ 'तेजोगुणविशेषो अर्थो यस्य तत् चक्षु उच्यते' = तेजोगुणविशेषो रूपम्" (श्रीवत्सभाचार्यकृताया भागवतसुबोधि-न्या ३।२६।२३-४८)

१३५ "यदा विषयेन्द्रियसयोगात् निर्विकल्पक तदा इन्द्रियदेशे बुद्धे वृत्ति तथा इन्द्रियानुग्रहे सविकल्पकम्, अननुग्रहे तु न वृत्त्यन्तरेण पूर्ववृत्ते नाशे सविकल्पकस्य सस्काररूपेण अवस्थान, तस्य उद्बोधके उद्बोधे मायोपस्थापित-मायिकार्थ-सहकृता स्मृति, राजसै रागादिभि सस्काराबल्ये मायया विषयावरणपूर्वक मायिकपदार्थसहितस्य ज्ञानस्य गोलकाग्रभागे क्षेपे भ्रम अत बुद्धिगुणजन्या तदवस्था वृत्ति सा यदा अनुगृह्णाति तदा वक्ष्यमाणप्रक्रियया सविकल्पक ज्ञान जन्यते तत्र अय क्रमो दैवानुकूल्येन अन्तर्यामिणा मन कार्यार्थ प्रेर्यते, तत् च इन्द्रियप्रेरणाय तत्तदिन्द्रियेण सयुज्यते तत्र तत्तदिन्द्रियदेवतानुकूल्ये विषयससृष्टे इन्द्रियै स्वावच्छिन्ने मनसि पूर्व निर्विकल्पकम् उत्पाद्यते तदा इन्द्रियदेशे बुद्धे वृत्ति ततो बुद्ध्यापि वृत्तिद्वारा तदनुग्रहे सविकल्पक भवति चाक्षुषेतु नयनकिरणा विषयपर्यन्त गच्छन्ति, इन्द्रियान्तरे तु किरणाभावाद् इन्द्रियेण सह विषय मन प्राप्नोति तदा, क्रमेण सहैव वा, निर्विकल्पक सविकल्पक च तत्तदिन्द्रियससृष्टे मनसि उत्पाद्यते ज्ञानद्वयेऽपि विषयेन्द्रियस्पर्शादिक व्यापार नच नयनकिरणाङ्गीकारे चक्षुषो व्यापकत्वापत्त्या 'अणव च' (ब्र सू २।४।७) इति सूत्रविरोध शक्नीय, अर्चीरूपाणा किरणाना सूर्यमण्डलाद् भेदस्य 'आदित्यो वा एष' (महाना उप १२।२) इति अनुवाके श्रावणात् तै अखिलमेरुत्तदेशदेशान् व्याप्नुवानस्य आदित्यमण्डलस्य दशसहस्रयोजन-परिमाणस्मरणेन तेषा तत्परिणामाबाधकत्ववत् सूर्याध्यात्मिकचक्षुष किरणानामपि तथात्वेन सूत्रविरोधात् गुणाद् वा आलोकवद्' (ब्र सू २।३।२५) इति सूत्रे आलोकस्य गुणत्वाङ्गीकारात् तैजसस्य चक्षुष आलोकरूपगुणव्याप्यङ्गीकारेऽपि अदोष या पुन आलोकेन मायाकार्यतमोजननप्रतिबन्धे कृते ज्योतीरूपसूर्यदेवतया अण्वात्मकचक्षुषि सन्मुखाव्यवहित-देशस्थ-पृथुबुधोदराकारे विशिष्टरूपे प्रापिते

सत्त्वप्रधानबुद्धे अन्तरेव तदाकारतासम्पत्तौ अणुरूप जीव प्रति ज्ञानाश्रिताध्याध्यात्मिक-
 पटाभिव्यक्तिरेव चाक्षुष, दूरस्थगन्धशब्दादयोस्तु वायुना घ्राणश्रोत्रसमीपप्रापणे
 अन्तःसत्त्वात्मकबुद्धे तदाकारतासम्पत्तौ ज्ञानाश्रिताध्यात्मिकगन्धशब्दाभिव्यक्तिरेव
 घ्राणज श्रावण च प्रत्यक्षमिति आध्यात्मिकाधिभौतिकयो अभेदात् न
 बाह्यपटाग्रहणनिबन्धनो दोष इति केपाञ्चित् प्रत्यक्षप्रक्रिया तत्र अलोकेन
 तमोजननप्रतिबन्धकथनम् अयुक्त, 'यथाहि भानो उदयो नूनक्षुपा तमो निहन्याद्'
 (भाग.पु.१.११२.८।३४) इति एकादशस्कन्धीयभगवद्वाक्ये तमोनिहन्तृत्वकथनात्
 एव ज्योतीरूपसूर्यदेवताया पुरुषचक्षुषि विषयनिष्ठरूपप्रापकत्वकथनमपि तथा, बहुषु
 पश्यत्सु तान्-तान् प्रति रूपे प्रापिते विषयस्य नीरूपताप्रसङ्गेन पाश्चात्याना
 तददर्शनप्रसङ्गात् सन्ध्यायाम् अस्तगते सूर्ये रूपप्रापकदेवताया गतत्वात् तदानीं
 घटाद्यदर्शनापत्ते च अतो 'नेतृत्व इव्यशब्दयो' (भाग.पुरा.३।२६।३७) इतिवद्
 आदित्यरश्मीना रूपप्रापकत्वस्य अशब्दगोचरत्वात् सूर्यदेवताया रूपप्रापकत्वान्नीकार
 सर्वथा न युक्त किञ्च चक्षुषि रूपप्राप्तिश्च प्रतिबिम्बभवनरूपैव, सातु मायया
 'ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत' (भाग.पुरा.२।१।३३) इति वाक्यात्, तस्या विक्षेपकत्वात्
 च एवञ्च बुद्ध्याकारसमसमर्पकत्वपि प्रतिबिम्बस्यैव आध्यात्मिकरूपमपि मायामय
 मनोमयत्वात् तस्यच न सत्यता अर्थक्रियाकारित्वमात्रम् " (प्रस्थानरत्नाकरीयप्रत्यक्ष-
 प्रमाकरणप्रकरणे)

